महासमर-1

बन्धन

महासमर-1

बन्धन

नरेन्द्र कोहली

बृहस्पतिदेव पाठक
कृष्णमोहन श्रीमाली
तथा
अवधनारायण मुद्गल
के लिए

महासमर-1

बन्धन

यह असम्भव था।

घटना से पूर्व तो इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती थी; घटित हो जाने के बाद भी देवव्रत को इसका विश्वास नही हो रहा था। ऐसा सम्भव कैसे था?...

'असम्भव! असम्भव!' मन-ही-मन देवव्रत ने अनेक बार दुहराया।

पर राजा शान्तनु का रथ जा चुका था—सत्य यही था।

हस्तिनापुर का नगरद्वार 'वर्द्धमान' नव-वधू के समान सजाया गया था। राज्य के उच्च अधिकारी और असंख्य सामान्य जन, राजा की अगवानी के लिए नगर-द्वार पर उपस्थित थे। और उस सारे समुदाय के शीर्ष पर थे—देवव्रत! देवव्रत अधिकारी नहीं, प्रजा नहीं—पुत्र थे! शान्तनु के एकमात्र पुत्र! और रुकना तो दूर, राजा का रथ तनिक धीमा भी नही हुआ। राजा ने चलते हुए रथ में से भी खड़े होकर अधिकारियों और प्रजा का अभिवादन स्वीकार करने का कष्ट नहीं किया। किसी ने राजा की एक झलक भी नहीं देखी। रथ का कोई गवाक्ष नहीं खुला, कोई यवनिका नहीं हिली।

अहंकार!

प्रजा की इतनी उपेक्षा। यही अहंकार राजवंशों को खा जाता है।...प्रजा और अधिकारियों को भूल भी जायें तो...देवव्रत तो पुत्र हैं...राजा शान्तनु उनके पिता हैं...पिता। कैसे पिता हैं शान्तनु?...

देवव्रत की आँखों के सामने अपना शैशव घूम गया। पिता को छोड़कर माता अलग हो गयी थी। इस विलगाव के कारण उन दोनो मे से किसको कितनी पीड़ा हुई, यह देवव्रत नही जानते—पर स्वयं अपनी पीड़ा को वे कभी नहीं भूल पाये। प्रत्येक बालक के माता-पिता दोनों होते हैं—उनके माता-पिता, होकर भी नहीं थे। देवव्रत ने सदा यही पाया था कि न माँ सहज थीं, न पिता। माँ चाहती थीं कि देवव्रत पिता के पास रहें, ताकि पुरुकुल के योग्य उनका लालन-पालन हो। और पिता

कुछ इतने उद्भ्रान्त थे कि उन्हें ध्यान ही नहीं था कि उनका एक पुत्र भी है। पत्नी से वंचित होने की पीड़ा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने कभी सोचा ही नहीं कि अपने एकमात्र पुत्र को वे कितना वंचित कर रहे हैं।···देवव्रत का शैशव, बालावस्था, किशोरावस्था, तरुणाई—वय के ये सारे खण्ड विभिन्न ऋषियों के साथ उनके आश्रमों के कठोर अनुशासन में कट गये। तपस्वी गुरुओं के कठोर अनुशासन से निवद्ध कर्तव्यमिश्रित स्नेह उन्हें वहुत मिला, किन्तु माता-पिता का सर्वक्षमाशील वात्सल्य···

और तभी से देवव्रत के मन में परिवार, समाज और संसार को लेकर अनेक प्रश्न उठते रहे हैं।···परिवार क्या है? पति-पत्नी का परस्पर आकर्षण एक-दूसरे को सम्मान और स्वतन्त्रता देने में है या अपने सुख के लिए अन्य प्राणी को अपनी इच्छाओं का दास वना लेने में? यदि दूसरे पक्ष के सुख के लिए स्वयं को खपा देना परिवार का आधार है तो दूसरे पक्ष की कामना ही क्यों होती है? स्त्री-पुरुष विवाह क्यों करते हैं—अपनी रिक्ति को भरने के लिए या दूसरे पक्ष के अभावों को दूर करने के लिए, या परस्पर एक-दूसरे का सहारा वन, अपनी-अपनी अपूर्णता को पूर्णता में वदलने के लिए?···वात्सल्य क्या है? व्यक्ति, सन्तान अपने सुख के लिए चाहता है? क्या सन्तान वह खिलौना है, जिसे वालक अपने खेलने के लिए माँगता है? वालक को खिलौने का सुख कभी अभीप्ट नहीं हुआ। माता-पिता सन्तान के लिए स्वयं को नहीं तपाते—वे तपते हैं तो अपने अभावों से तपते हैं। खिलौना टूट जाये तो वच्चा इसलिए नहीं रोता कि खिलौने को टूटकर कष्ट हुआ होगा, वह तो इसलिए रोता है कि उसकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी है। जिससे खेलकर उसे सुख मिलता था, वह आधार नष्ट हो गया है।···

देवव्रत के मन में प्रश्नों के हथौड़े चलते ही रहते हैं—सन्तान-सुख,···वात्सल्य सुख···सुख है क्या? अपनी सुविधा को सुख मानते हैं या अपने अहंकार की पुष्टि को या मन की अनुकूलता को?···देवव्रत अपने मन की प्रतिकूलता को वहुत जल्दी अनुकूलता में वदल लेते हैं। किन्तु वात देवव्रत की नहीं है, वात तो राजा शान्तनु की है···

···माता के द्वारा पिता को सौंप दिये जाने के पश्चात् से राजा शान्तनु उनकी ओर कुछ उन्मुख हुए थे। देवव्रत को लगने लगा था कि वात्सल्य के कुछ छींटे उन पर भी पड़े थे। गृहस्थी के सुख की कुछ कल्पना उनके मन में भी जागने लगी थी। परिजनों के सम्वन्धों को सामाजिक आवश्यकता और कर्तव्य से हटकर भावात्मक स्तर पर वे भी देखने लगे थे—पर ऐसे ही समय में पिता की ओर से यह उपेक्षा··· देवव्रत के हाथ, पिता के चरण-स्पर्श के लिए उठे के उठे ही रह गये। पिता का रथ रुका ही नहीं···

देवव्रत का मन क्षुव्ध होकर जैसे उन पर धिक्कार वरसाने लगा था। वे किसी

ोई अपेक्षा करते ही क्यों हैं ? वे अपने भीतर ही सम्पूर्णता क्यों नहीं खोज लेते ?
आवश्यकता है उन्हें, किसी के प्यार की ? पिता ने प्यार से सिर पर हाथ फेरा
क्या और नहीं फेरा तो क्या ? ये अपेक्षाएं ही तो अन्ततः निराशा को जन्म देती
और निराशा दुख का कारण बनती है। दुख से बचना है तो अपेक्षाओं से बचना
होगा···उनका मन एक बार सदा के लिए क्यों नहीं मान लेता कि जीवन, मात्र एक
कठोर कर्तव्य है—जिसका निर्वाह करना ही पड़ता है। यह स्नेह, प्यार, वात्सल्य
···ये सब तो समयानुसार ओढ़े गये छल-छद्म मात्र हैं, जो दूसरों को भी धोखा देते
हैं और स्वयं अपने लिए भी छलों का प्रासाद खड़ा कर लेते हैं। पिता को अपनी
पत्नी प्रिय थी, इसलिए उसके मोह में अपने होंठों को सिए बैठे रहे। माँ ने एक के
पश्चात् एक कर, सात पुत्रों को गंगा में बहा दिया। पिता के मन में वात्सल्य होता,
तो माँ का हाथ न पकड़ लेते ?···हाँ ! देवव्रत की बारी आयी तो उन्होंने माँ का
हाथ पकड़ा भी था। पर पत्नी से दूर होने का इतना शोक हुआ उन्हें कि उनका एक
पुत्र अभी जीवित भी था···जिस पुत्र की रक्षा के लिए पत्नी की इच्छा के प्रतिकूल
चले थे···उसी पुत्र को भूल गये। उन्हें कभी ध्यान भी आया कि देवव्रत कहाँ है ?
···जीवित भी है या···पत्नी के वियोग में पगला कर ··

देवव्रत का प्रवाह अटका ··आज उनका भी तो व्यवहार उन्मत्त का-सा ही था
···कहीं पिता अस्वस्थ तो नहीं हैं?···स्थितियाँ बदलते ही सारे निष्कर्ष बदल जाते
हैं। यदि राजा सचमुच अस्वस्थ हैं, तो प्रजा द्वारा अपना स्वागत देखने के लिए या
प्रजा का अभिनन्दन स्वीकार करने के लिए वे कैसे रुकते। रोगी के लिए सामाजिक
व्यवहार आवश्यक नहीं होता। शिष्टाचार के नियम उसके लिए नहीं होते : औप-
चारिकता की अपेक्षा उससे नहीं की जाती।···यदि ऐसा न होता, तो देवव्रत को
खड़े देखकर भी सारथि वल्गा न खींचता और रथ हाँककर ले जाता ?···
असम्भव !

आत्मलीन देवव्रत अपने रथ तक आये।

"चलो।" उन्होंने सारथि को आदेश दिया, "पिताजी के पास।"

एक क्षण के लिए उनके मन में आया भी कि अधिकारियों और प्रजा से भी कह
दें कि राजा अस्वस्थ हैं।···पर बिना किसी प्रमाण के ऐसी बात कैसे कही जा
सकती है। यह तो उनका अनुमान मात्र था। पहले उनको पिता का आचरण दम्भपूर्ण
लग रहा था, अब एक उन्मत्त या रोगी का-सा।···जाने सच्चाई क्या है।···पिता
अस्वस्थ हों, उन्मत्त हों, क्षुब्ध हों···वे सारे सम्बन्धों से उदासीन हो उठते हैं···पता
नहीं, पिता का मन-तुरग एक दिशा में ही क्यों सरपट भागता है। उसके सुम बे
[illegible] हल्की-सी कंकड़ी भी आ जाये तो उसका सारा सन्तुलन बिगड़ जा

बन्धन ।

है। फिर वह न तो अपनी दिशा में ही अग्रसर हो सकता है और न किसी और दिशा का ध्यान उसे रहता है। पीठ के वल, भूमि पर पड़ा हुआ, चारों टाँगें आकाश की ओर उठाये, झटके खाता और देता रहता है, उसके मुख से यातना के सीत्कार ही फूटते हैं···

जब पिता, माँ के मोह में पड़े थे··· पता नहीं, वह प्रेम था या मोह! क्या अन्तर है प्रेम और मोह में?···कभी-कभी देवव्रत को मोह, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति·· सब अलग-अलग मूर्तिमान होते दिखायी देते हैं और कभी सब गडमड हो जाते हैं।··· इस समय तो वे यह भी स्पष्ट नहीं समझ पा रहे कि यह पिता का प्रमाद था या उन्माद···ऐसी अस्पष्ट-सी स्थिति में देवव्रत राज्य के अधिकारियों को क्या कह सकते हैं। वे लोग अपने राजा की अगवानी के लिए आये थे। राजा आ चुके हैं। नगर में प्रवेश कर चुके हैं। सम्भवत: इस समय अपने महल में होंगे। यदि थोड़ी देर रुककर, उन्होंने प्रजा का अभिवादन स्वीकार कर लिया होता तो प्रजा उन का जय-जयकार कर, उन पर पुष्प-वर्षा कर अपने-अपने घर लौट जाती।···राजा रुके नहीं हैं, तो प्रजा लौट तो जायेगी ही।

देवव्रत को लगा, वे स्वयं भी सहज नहीं हो पा रहे हैं। उनके भीतर के द्वन्द्व और असमंजस, उन्हें कुछ स्पष्ट निर्णय नहीं करने देते और वे निष्क्रिय-से खड़े रह जाते हैं। उनकी निष्क्रियता के भी तो अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। सम्भव है कि इस समय उनके इस प्रकार चुपचाप चले जाने के विषय में भी पीछे टीका-टिप्पणी हो रही हो। लोग राजा शान्तनु के आचरण के स्थान पर उन्हीं के आचरण की समीक्षा कर रहे हों।

पर अब देवव्रत लौट नहीं सकते थे। उनका रथ काफी आगे बढ़ आया था।

[2]

पिता के महल का वातावरण प्रवास से लौटे राजा के घर-जैसा नहीं था। उनसे मिलने आये मन्त्रियों, सेनापतियों, अधिकारियों, कुटुम्बियों और सेवकों की भीड़ वहाँ नहीं थी। उल्लास का खुला वातावरण भी नहीं था। मौन का तनाव कुछ अधिक कठोरता से व्याप्त था।

देवव्रत तेज डगों से चलते हुए द्वारपाल तक आये, "पिताजी के चरणों में मेरा प्रणाम निवेदित करो।"

चाहकर भी उनके मुख से 'चक्रवर्ती', 'सम्राट्' या 'राजा' जैसा शब्द नहीं निकला था। उनका ममत्व अपने पिता के लिए आन्दोलित था, चक्रवर्ती की चिन्ता उन्हें नहीं थी।

"युवराज!" द्वारपाल का स्वर अनुशासनबद्ध न होकर, आत्मीय था, "चक्र-

स्वस्य नहीं हैं।"

देवव्रत का अनुमान ठीक ही था। वस्तुतः पिता स्वस्थ नहीं थे। द्वार...
का प्रणाम निवेदित करने के लिए भीतर नहीं जा रहा था। सम्भवतः उसे ऐसा
आदेश दिया गया था। किन्तु, वह उन्हें भीतर जाने से रोक भी नहीं रहा था।

यदि पिता ने किसी के भी प्रवेश का निषेध किया है तो द्वारपाल का कर्तव्य है
कि उन्हें भीतर जाने से रोके; और यदि पिता ने ऐसा कोई आदेश नहीं दिया है तो
उसे चाहिए कि भीतर जाकर उनका प्रणाम निवेदित करे···पर देवव्रत की तर्क-
शृंखला यहीं रुक गयी। उन्हें लगा कि द्वारपाल के मन में भी कुछ स्पष्ट नहीं है।
यहाँ सब कुछ अस्पष्ट है। ऐसी अस्पष्टता और द्वन्द्व की स्थिति में बेचारा द्वारपाल
भी क्या करेगा—यही न कि न स्वयं भीतर जाने का साहस कर पायेगा और न
उन्हें रोकने की धृष्टता···

"राजवैद्य को सूचना दी गयी है क्या ?"

"नहीं !"

"क्यों ?"

"सम्भवतः चक्रवर्ती का यही आदेश है।"

देवव्रत कुछ सोचते हुए-से खड़े रहे।

"अमात्य कहाँ हैं ?" सहसा उन्होंने पूछा।

"वे चक्रवर्ती के साथ यहाँ नहीं आये थे।"

देवव्रत का माथा ठनका : अमात्य क्यों नहीं आये ? वे पिता के साथ गये थे।
वे अवश्य जानते होंगे कि पिता अस्वस्थ हैं। वे क्यों नहीं आये ? और राजवैद्य क्यों
नहीं बुलाये गये ?···

अनुमान से सब कुछ नहीं जाना जा सकता। पिता से साक्षात्कार करना ही
होगा।

देवव्रत ने कक्ष में प्रवेश किया।

पिता थके हुए-से, या असहाय रोगी के समान नहीं लेटे थे। वे अपने पलंग पर
औंधे मुँह पड़े थे। पहली दृष्टि में तो देवव्रत को लगा कि शायद पिता रो रहे हैं और
स्वयं को सँभालने के प्रयत्न में ही बिस्तर पर औंधे हो गये हैं···देवव्रत के पग पृथ्वी
से चिपक-से गये। कितने कष्ट में हैं पिता। हस्तिनापुर के चक्रवर्ती, पुरुराज, वीर-
वर शान्तनु अपने कक्ष में अकेले पड़े असहाय-से रो रहे हैं···मनुष्य कोई भी क्यों न
हो—बलवान, ज्ञानी, चक्रवर्ती···आखिर मनुष्य है। शरीर और मन के नियमों का
दास। संसार के सुख-दुख से मुक्ति नहीं है उसकी।···तो फिर जीवन में वह सुख-
दुख मानता ही क्यों है ? वह जीवन को कार्य-कारण के नियमों के अधीन क्यों नहीं
समझता ? जब यह सब अवश्यंभावी है तो इतने हाथ-पैर पटकने से क्या लाभ ?
क्यों लपकता है मनुष्य लोभ और लाभ की ओर ? क्या पा जायेगा वह उसमें ?

चक्रवर्ती शान्तनु स्वयं अपनी इच्छा से सुख पाने के लिए मृगया के लिए गये थे। क्या सुख मिला? पड़े हुए आहत मृग के समान हाथ-पैर पटक रहे हैं···कैसी पीड़ा है पिता को? कहीं आखेट में कोई गहरा घाव तो नहीं खा गये? पर नहीं। पिता शारीरिक घाव खाकर उसकी पीड़ा से रोनेवालों में से नहीं हैं। और यदि वैसा होता तो अमात्य साथ आये होते और इस समय यहाँ वैद्यों और शल्य चिकित्सकों का जमघट लगा होता···

सहसा शान्तनु ने करवट बदली और जैसे अपनी किसी भीतरी पीड़ा से विवश होकर, उन्होंने अपने वक्ष पर दो-तीन घूँसे लगाये, मानो किसी उठते हुए आवेग को दबा रहे हों। उनका गहरा निःश्वास उनकी पीड़ा का भी प्रतीक था और उत्तेजना का भी। उन्होंने अपने समूचे शरीर को अकड़ाया और सारे संयम और नियन्त्रण के बावजूद अपनी दोनों टाँगें उठाकर पलंग पर पटक दीं। लगा, वे अभी नियमित रूप से छटपटाते हुए हाथ-पैर पटकने लगेंगे।

तो पिता शारीरिक रूप से अस्वस्थ नहीं थे—देवव्रत ने सोचा—उनका मन उद्विग्न था। पर है तो उद्विग्नता भी रोग ही···

"पिताजी!" देवव्रत ने आगे बढ़, पिता के चरण छुए।

शान्तनु ने न उठकर पुत्र को गले से लगाया, न कोई आशीष दी। लोकाचार के अभ्यास की बाध्यता थी जैसे, अपनी हथेली देवव्रत के सिर पर रख दी।

देवव्रत ने देखा, पिता के चेहरे पर पीड़ा के तनाव की स्पष्ट रेखाएँ थीं। एक लम्बे प्रवास के बाद पुत्र को देखकर भी उनकी आँखों में वात्सल्य तो क्या एक हल्का-सा औपचारिक हास भी नहीं उतरा था। विचित्र भाव थे पिता की आकृति पर: कभी ताप से दग्ध होते हुए निरीह जीव की पराजय···कभी उग्र मानसिकता की दिग्दाह करने की व्यग्र हिंसा। दोनों में से एक भी भाव कुछ अधिक क्षणों तक टिक नहीं पाता था।···

देवव्रत को लगा, वे पिता से अपनी अवहेलना की शिकायत नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार पीड़ा में तड़पता हुआ मनुष्य, दूसरों की भावना का क्या सम्मान कर पायेगा।···फिर देवव्रत ने तो बहुत पहले ही स्वयं को समझा लिया था कि वे अपने पिता से···पिता से क्या, किसी से भी कोमलता और स्नेह की कोई अपेक्षा नहीं करेंगे।

"आप अस्वस्थ हैं पिताजी?"

शान्तनु ने एक क्षण के लिए स्थिर दृष्टि से पुत्र की ओर देखा और फिर जैसे सायास, अस्त-व्यस्त-से उठ खड़े हुए। अपने उत्तरीय को ठीक करने की व्यस्तता में इधर-उधर टहलते हुए, वे उत्तर को टालते रहे। देवव्रत के मन में जिज्ञासा जागी: वे प्रश्न को टाल रहे हैं, या स्वयं देवव्रत को ही टाल रहे हैं···और पिता की आँखों में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए उभरनेवाला अपने प्रति उपालम्भ का वह

मामाम···।
उपालम्भ का कारण ?
अस्वस्थ नहीं हूँ पुत्र !" शान्तनु अपना मन कुछ स्थिर करके बोले, "चिन्तित
चिन्ता से पीड़ित हूँ। चिन्ता की चिता का दाह सह रहा हूँ।"
देवव्रत के मन में आया, कहें, 'पिताजी ! आप उद्भ्रान्त लगते हैं। आपका
रण···।' पर देवव्रत ने कुछ कहा नहीं।

"राजवैद्य को सूचना क्यों नहीं दी गयी पिताजी ?"

"कोई लाभ नहीं।"

"कारण जान सकता हूँ ?" देवव्रत का स्वर अत्यन्त विनीत था।

"मुझे रोग नहीं, क्षोभ है। मेरी चिन्ता का समाधान वैद्य के पास नहीं है।"

"चक्रवर्ती सम्राटों को भी चिन्ताएँ होती हैं क्या ?" देवव्रत को लगा, अपने मन से पूछा गया यह प्रश्न असावधानीवश उनके मुख से सशब्द निकल गया था। पर प्रश्न का दूसरा भाग उन्होंने अपने मन में ही रोक लिया था, 'चिन्ताओं को दूर नहीं कर सकते तो ये साम्राज्य फिर किस काम के हैं ?'

शान्तनु ने पुत्र को नये सिरे से देखा : यह देवव्रत अनेक बार क्षत्रिय राजपुत्रों के समान नहीं, वनवासी वैरागियों के समान बातें करने लगता है। वनवासी ऋषियों के सान्निध्य में बिताया गया इसका आरम्भिक जीवन इसे राजपुत्रों की मानसिकता नहीं दे पाया है। शान्तनु को पहले इसका आभास हुआ होता तो वे पुत्र को आश्रमों में छोड़ने के स्थान पर, आचार्यों को ही राजमहल में बुला लेते।···न चाहते हुए भी वनवासियों के विरुद्ध उनका आक्रोश वाणी पा ही गया, "चक्रवर्ती सम्राटों को ही तो चिन्ताएँ होती हैं पुत्र ! कंगले वनवासियों के पास ऐसा होता ही क्या है, जिसकी वे चिन्ता करें।"

"अभाव की चिन्ता भी चिन्ता होती है पिताजी !" देवव्रत सहज भाव से बोले, "वरन् यह असुविधा भी होती है।"

पर अधिकांश कथ्य, शब्दों के असहयोग के कारण उनके मन में ही रह गया : यदि साम्राज्यों के साथ चिन्ताएँ ही जुड़ी हैं तो इतनी ललक से व्यक्ति साम्राज्य स्थापित करने के लिए लपकता ही क्यों है ? क्या मनुष्य इतनी-सी बात नहीं समझता कि उसका स्वार्थ किसमें है ? उसे किसका ग्रहण करना है, किसका त्याग ? यदि साम्राज्य चिन्ताओं का घर है तो मनुष्य को चाहिए कि वह उसे त्याज्य माने···

"होगी !" शान्तनु ने उनकी बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वे अपनी चिन्ता में कहीं और गहरे उतर गये थे, "जाने क्यों गंगा ने मेरे सात पुत्रों को जीवन-मुक्त कर दिया···।"

पिता जब भी इस घटना की ओर संकेत करते हैं, देवव्रत समझ नहीं पाते कि उनके मन में पत्नी की स्मृति जागी है या पुत्रों की। सात पुत्रों को जीवन-मुक्त

करनेवाले के लिए जो भाव पिता के मन में होना चाहिए था, उसका लेश मात्र भी शान्तनु के मन में नहीं था। कदाचित् उन सारी हृदय-विदारक घटनाओं के बाद भी आज तक उन्हें अपनी पत्नी के रूप की स्मृति मुग्ध करती थी। सन्तान को जीवन-मुक्त करनेवाली उस पत्नी से अब भी उन्हें वितृष्णा नहीं हुई थी। सन्तान भी उन्हें प्यारी रही होगी, तभी तो उन्होंने पत्नी को रुष्ट किया था; किन्तु सन्तान या पत्नी में से वे किसी एक को नहीं चाहते—दोनों को चाहते हैं। किन्तु यदि दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो किसे चुनेंगे वे?···देवव्रत समझ नहीं पा रहे थे।

"अब तुम मेरे एकमात्र पुत्र हो।" शान्तनु पुनः बोले, "और मुझे बार-बार लगता है कि एक पुत्र का पिता, पुत्रहीन व्यक्ति से भी अधिक दुखी होता है।"

"क्यों पिताजी?"

"पुत्र!" पहली बार शान्तनु का स्वर कुछ कोमल हुआ, "किसी मनुष्य के प्राण यदि एक निरीह और असहाय पक्षी में बन्द कर दिये जायें और पक्षी को स्वतन्त्र रूप से उड़ने के लिए मुक्त छोड़ दिया जाये तो उस व्यक्ति की स्थिति क्या होगी?"

देवव्रत ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे पिता की बात पूरी होने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

"आकाश में गरुड़, श्येन तथा अन्य हिंस्र पक्षी हैं। धरती पर स्थान-स्थान पर बहेलिये के जाल बिछे हैं। किसी के लक्षित बाण या लक्ष्य-भ्रष्ट शस्त्र का वह निशाना हो सकता है।···उस पक्षी की कोई हानि नहीं भी होती, तो भी आशंकाओं के कारण उस व्यक्ति की क्या स्थिति होगी, जिसके प्राण उसमें बन्द हैं; और यदि वह पक्षी मारा गया तो उस व्यक्ति का क्या होगा?" शान्तनु ने जैसे उत्तर पाने के लिए देवव्रत की ओर देखा; और फिर स्वयं ही बोले, "तुम मेरे एकमात्र पुत्र हो देवव्रत! मेरे प्राण तुममें बसते हैं। तुम एक क्षण के लिए भी मुझसे विलग होते हो तो मेरी आत्मा व्याकुल हो उठती है···।"

देवव्रत के मन में आया कि पिता का प्रतिवाद करें—यदि यह सच होता तो नगरद्वार पर अगवानी के लिए आये खड़े पुत्र की अवहेलना कर पिता अपने महल में न आ गये होते। उसे स्वस्थ और प्रसन्न पाकर, उन्होंने उसे वहीं गले लगा लिया होता···पुत्र इतना ही प्रिय था, तो उसे इस प्रकार नगर में अकेला छोड़कर नदियों के कछारों और बीहड़ वनों में मृगया का सुख पाने के लिए भटक न रहे होते।··· और अब, जब पुत्र सामने आया खड़ा है, तो उसे उत्साहपूर्वक गले लगाकर सन्तोष प्रकट करने के स्थान पर, उद्विग्नता को गले लगाये न पड़े होते।

पर देवव्रत ने यह सब कहा नहीं।

"तुम शस्त्रधारी योद्धा हो पुत्र!" शान्तनु पहले की तुलना में कुछ आश्वस्त

रहे थे, "सदा युद्धों के लिए सन्नद्ध रहते हो। पर कुशल से कुशल योद्धा भी
ी-न-किसी दिन युद्ध में वीरगति पाता ही है। यदि किसी दिन तुम्हें वीरगति
ली तो मेरा क्या होगा पुत्र? हस्तिनापुर के साम्राज्य का क्या होगा? हमारे वंश
ा क्या होगा? मेरी सद्गति कैसे होगी?..."

देवव्रत के कान खड़े हो गये। क्या पिता उनके विवाह का प्रस्ताव करनेवाले हैं? क्या वंश-वृद्धि के नाम पर पिता उनको, घेरकर गृहस्थी की बेड़ियां पहनाना चाहते हैं।...देवव्रत ने अपने शैशव में अपने माता-पिता के सम्बन्ध में, उनकी गृहस्थी के विषय में जो कुछ जाना और देखा-सुना है...उसके बाद उनके मन में गृहस्थी के लिए कोई विशेष आकर्षण नहीं रह गया था। अपनी माता और पिता की पीड़ा का लेशमात्र भी स्मरण होते ही, उनका मन इन सम्बन्धों से मुक्त होने के लिए पंख फड़फड़ाने लगता था। नारी का आकर्षक से आकर्षक रूप भी देवव्रत के मन में कहीं वितृष्णा जगा जाता था...देवव्रत ने अपने भीतर कभी ऐसी रिक्ति का अनुभव नहीं किया, जिसे भरने के लिए उन्हें नारी के सान्निध्य की आवश्यकता हो। आज तक किसी नारी का रूप उनकी आँखों में नहीं उतरा, जो उन्हें रात-रात भर जगाये रख सकता।...विवाह...अभी तो बार-बार उनका मन एक ही प्रश्न पूछ रहा है कि व्यक्ति विवाह करता ही क्यों है? शरीर सुख के लिए? वंश-वृद्धि के लिए? समाज और राष्ट्र के लिए? किसके लिए है यह सारा हाहाकार?...

"गंगा के जाने के बाद मैंने दूसरा विवाह नहीं किया।" शान्तनु कह रहे थे, "आज भी नहीं करना चाहता। पर एक पुत्र..." उन्होंने रुककर देवव्रत को देखा, "जिसका पुत्र होता ही नहीं, उसे कुछ छिनने का भय नहीं होता, पर जिसका एक ही पुत्र हो, वह सदा उसके लिए...।"

देवव्रत पिता से सहमत नहीं हो पा रहे थे: पिता को अपनी चिन्ता है या पुत्र की? उनकी चिन्ता अपने लिए है या पुत्र के लिए? उन्हें अपने पुत्र के लिए साम्राज्य चाहिए या अपने साम्राज्य के लिए पुत्र चाहिए? अपना वंश वे क्यों चलाना चाहते हैं—अपनी सद्गति के लिए?...पिता ने यह चिन्ता तो कभी नहीं की कि यदि उनका देहान्त हो गया तो उनके पुत्र का संरक्षक कौन होगा? यदि राज्य नष्ट हो गया तो पुत्र के उपभोग के लिए सम्पत्ति कहाँ से आयेगी?...वे क्यों नहीं सोचते कि जब वे स्वयं ही नहीं रहेंगे तो वंश का उन्हें करना ही क्या है? जब पुत्र ही नहीं रहेगा, तो साम्राज्य किसके लिए चाहिए उन्हें?

"आप मेरे विषय में चिन्ता न करें पिताजी!" देवव्रत समझ नहीं पा रहे कि वे पिता को आश्वासन दे रहे हैं या उपालम्भ, "इस पृथ्वी पर अभी ऐसा पु पैदा नहीं हुआ, जिसके हाथों मुझे वीरगति प्राप्त होने की कोई सम्भावना हो।"

"तुम्हारी वाणी सत्य हो पुत्र!" शान्तनु का स्वर अब भी उतना ही उत्स शून्य था, "किन्तु पिता का हृदय इतनी ही बात से सन्तुष्ट नहीं हो सकेगा

मन में जब यह सम्भावना अंकुरित होने लगती है कि नश्वर प्राणी के शरीर का नाश होना ही है, कहीं मेरा एकमात्र पुत्र असमय ही काल-कवलित हो गया तो··· मेरा हृदय फट-फट जाता है पुत्र ! इकलौती सन्तान के पिता की मनःस्थिति तुम समझ सकोगे क्या ?"

"आप विश्राम करें पिताजी !" देवव्रत बोले, "मृगया की थकान दूर हो जायेगी तो आपका मन भी कुछ स्थिर हो जायेगा। शरीर की अत्यधिक थकान से कभी-कभी मन अनावश्यक रूप से आशंकाग्रस्त हो जाता है।"

किन्तु देवव्रत स्पष्ट देख रहे थे कि उनके इस वाक्य ने पिता पर कोई प्रभाव नहीं डाला था। उनकी आँखें कैसे तो देख रही थीं, देवव्रत को : जैसे पूछ रही हों —'तू मेरी बात क्यों नहीं समझता देवव्रत ?'

[3]

देवव्रत अपने महल में लौट आये, पर उनका मन पिता के प्रासाद में ही रह गया ···पिता क्या सचमुच इस बात से भयभीत हैं कि उनका एक ही पुत्र है, और वह किसी दिन युद्ध में वीरगति पा जायेगा ? जिनके दो पुत्र होते हैं; क्या उन्हें यह चिन्ता नहीं सताती ? दो पुत्र भी तो युद्ध में वीरगति पा सकते हैं। दो ही क्यों, युद्ध में तो सैकड़ों-हजारों व्यक्ति वीरगति पा सकते हैं। किसी राजा के सौ पुत्र भी होंगे, तो युद्ध में सारे के सारे मारे जायेंगे। वंश का वंश ही नष्ट हो जायेगा। युद्ध ही क्यों, बिना युद्ध के भी—सगर के पुत्र कपिल मुनि के एक शाप से ही भस्म हो गये थे···पुत्रों की संख्या कितनी हो कि व्यक्ति निश्चिन्त हो सके कि उसका वंश नष्ट नहीं होगा ?···

देवव्रत मन-ही-मन हँस पड़े। पुत्रों की संख्या का क्या है···स्वयं चक्रवर्ती शान्तनु के आठ पुत्रों ने जन्म लिया था। क्या हुआ उनका ?···

पर व्यक्ति अपनी वंश-परम्परा को बनाये ही क्यों रखना चाहता है ?···जब देवव्रत इस संसार में नहीं रहेंगे तो इससे उन्हें क्या अन्तर पड़ेगा कि संसार में कोई ऐसा व्यक्ति है या नहीं, जो स्वयं को उनका वंशज मानता है ? क्या मनुष्य का दायित्व मात्र अपना शरीर रहने तक नहीं है ? यह धन-सम्पत्ति, सुख-भोग···सारा कुछ तो शरीर के लिए ही है। जब शरीर ही नहीं रहेगा···

देवव्रत को लगा, वे अपने मस्तिष्क में सदा घुमड़नेवाले प्रश्नों के चक्रव्यूह में फँसते जा रहे हैं। ऐसे प्रश्न सदा ही उनके मस्तिष्क में उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं। व्यक्ति का जीवन क्या है ? व्यक्ति जीवित क्यों रहना चाहता है ? क्यों डरता है वह मृत्यु से ?···

युद्धरत जातियों को सैनिकों की आवश्यकता होती है। कदाचित इसीलिए

यों ने इस प्रकार के सिद्धान्त बनाये थे कि पुत्र न होने पर व्यक्ति की सद्गति हीं होगी। किन्तु यह तो युद्धरत समाज का ही चिन्तन हो सकता है।...पुत्र के रूप में मनुष्य अपने ही जीवन का विकास करता है। वृद्धावस्था में जब वह दुर्बल और असहाय हो जाता है तो वह देखता है कि युवा पुत्र उसकी सेवा कर रहे हैं। उसकी रक्षा कर रहे हैं। उसकी सम्पत्ति की रक्षा कर रहे हैं...और यदि वह निर्धन है, तो उसका भरण-पोषण कर रहे हैं...। तो अपनी सुख-सुविधा के लिए ही तो पुत्र चाहता है वह। यदि उसके कुटुम्ब या समाज के लोग वृद्धावस्था में भी उसकी देख-भाल की सम्यक् व्यवस्था कर दें, तो भी वह अपने वंश को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इतना ही प्रयत्नशील होगा क्या?...देवव्रत के मन में कई तर्क और अनेक उदाहरण सिर उठा रहे थे...स्वयं देवव्रत की माता ने एक-एक कर अपने सात पुत्रों को गंगा को समर्पित किया था। उन्होंने तो वंश की वृद्धि की चिन्ता नहीं की थी ...देवव्रत स्वयं अपने मन को टटोलते हैं तो उन्हें अपने वंश के लिए कोई व्यग्रता दिखायी नही पड़ती...संन्यासियों को अपने वंश को अमर बनाने की चिन्ता नही होती, राजाओं को होती है...संसार से विदा होते हुए अपना राजपाट छोड़कर जाने का दुख सह्य नहीं होता राजाओं को। स्वयं तो काल से लड़ नही सकते, तो यह मार्ग ढूँढ़ा है उन्होंने। इतना सन्तोष तो रहे कि धन-सम्पत्ति अपने पुत्र के हाथों में छोड़कर आये हैं...शायद इसीलिए देवव्रत को अपने वंश की चिन्ता नहीं है, शान्तनु को है...तो क्या शान्तनु राजा हैं और देवव्रत सन्यासी?...देवव्रत का मन हुआ कि जोर से हँस पड़ें...

पर सहसा ही देवव्रत का मन दूसरी ओर चल निकला।...देवव्रत और शान्तनु के वंश में तो न कोई भेद है, न विरोध। देवव्रत की वंश-परम्परा भी तो चक्रवर्ती शान्तनु की ही वंश-परम्परा है।...तो फिर वंश की रक्षा के लिए पिता देवव्रत का विवाह करने की सोच रहे हैं क्या?

देवव्रत विचित्र मनःस्थिति मे पड़ गये थे। अपने विवाह के नाम से ही उनके सामने एक विराट प्रश्न-चिह्न आ खड़ा होता था। पिता ने ठीक कहा था कि जब माँ उन्हें छोड़कर चली गयी थी तो उन्होंने दूसरा विवाह नही किया था। पर दूसरा विवाह क्यो नही किया था?—इसलिए कि वे अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थे या...शायद माँ के साथ सम्बन्धों के कारण ही...अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति के कारण या अपनी पत्नी के प्रति वितृष्णा के कारण?...

उनके पिता ने माँ को गंगा-तट पर देखा था और तत्काल मुग्ध हो उठे थे। उनके विषय मे पिता ने कोई खोज, कोई पूछ-पड़ताल नही की थी। वह कौन थी? किसकी बेटी थी? कहाँ रहती थी? उसके सम्बन्धी और अभिभावक कौन थे? कहाँ थे? उसके साथ विवाह के लिए किसकी अनुमति की आवश्यकता थी?... पिता ने कुछ नही पूछा था...कुछ जानना नही चाहा था?...रक्त की शुद्धता के

लिए दृढ़ आग्रही आर्यों के इस सम्राट ने माँ के कुल-गोत्र को जानने का तनिक भी तो प्रयत्न नहीं किया था।···आर्य लोग नारी को स्वतन्त्र नहीं मानते। मनु कहते हैं कि नारी अपने पिता, पति अथवा पुत्र के अधीन होती है; किन्तु सम्राट् शान्तनु ने तो कभी जानना नहीं चाहा कि वे किसके अधीन थीं।···माँ के सौन्दर्य को देखकर पिता इतने अभिभूत हो गये थे कि उन्होंने उनसे तत्काल विवाह कर लिया था।

पर यह दैहिक आकर्षण गृहस्थी का आधार नहीं बन सका।·· देवव्रत के मन को यह प्रश्न निरन्तर परशु की धार के समान काटता रहता है···क्या मात्र दैहिक आकर्षण गृहस्थी का आधार बन सकता है? पर उन्हें कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देता। प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की ओर देह के सौन्दर्य को देखकर ही तो आकृष्ट होते हैं। पिता भी हुए थे। पर कहाँ चली गृहस्थी? क्या साथ रहना और सन्तानें उत्पन्न करना गृहस्थी है? शारीरिक आकर्षण में एक-दूसरे के साथ बँधे रहना और चाह-कर भी सम्बन्ध-विच्छेद न कर पाना तो यातना है···देवव्रत को सदा लगता है कि यह शारीरिक सौन्दर्य तो फन्दा है···बहेलिये का जाल! भोला पक्षी दाना चुगने के लिए आता है और जाल का पता उसे तब चलता है, जब वह उड़ने में असमर्थ हो चुका होता है। दुख का आवरण कितना मोहक बनाया है प्रकृति ने···पिता को देखते ही देवव्रत के मन में बार-बार एक ऐसे ही पक्षी का चित्र उभरता है, जिसके पंजे जाल की फाँस में बँध चुके हैं। पंखों पर लासा लग चुका है। वह पंख फड़फड़ा-कर रह जाता है, पर उड़ नहीं पाता। आत्मा मुक्त होने को फड़फड़ा रही है, विवेक बार-बार चेतावनी दे रहा है और आँखें मुग्ध भाव से दाने को देख रही हैं।···

देवव्रत की आँखों के सम्मुख कोई सुन्दर नारी-वदन आता है, तो उनका विवेक जैसे कशाघात करने लगता है—सावधान! सावधान!!

सुन्दर नारी-वदन ही क्यों, देवव्रत को इस संसार की प्रत्येक आकर्षक वस्तु एक चेतावनी-जैसी लगती है—! कई बार तो उन्हें लगता है कि उनके मन में आकर्षण और वितृष्णा के भाव चिपककर एक हो गये हैं। जहाँ कहीं आकर्षण जागता है, वितृष्णा अपने कान खड़े कर, उस मृग-शावक के समान उठ खड़ी होती है, जो प्रत्येक शब्द को आखेटक की पदचाप मानकर डर जाता है।···पता नहीं देवव्रत अपनी इन आशंकाओं से मुक्त क्यों नहीं हो पाते? क्यों वे अपने अन्य सम-वयस्कों के समान सुख के लिए लालायित नहीं हो पाते?···क्या यह भी अपनी माँ के कारण?···

कहते हैं कि माँ ने अपनी सात सन्तानों को एक-एक कर गंगा नदी को समर्पित कर दिया था।···पिता उन्हें रोक नहीं पाये थे। सन्तान के मोह में, माँ की मनमानी को रोकने का प्रयत्न करते, तो उन्हें भय था कि माँ उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर, उन्हे

ड़कर चली जातीं।···सन्तान का मोह! ओह! देवव्रत के लिए यह भी सुनी-नायी बात ही है। माँ के मन में कभी उनके लिए मोह नही जागा। गयीं तो गयीं। देवव्रत ने उन्हें फिर कभी नही देखा। माँ के मन में मोह नाम का कोई भाव ही नहीं था शायद। नारी-मन की तनिक-सी ममता कहीं माँ को छू गयी होती, तो वे इस प्रकार जन्म दे-देकर अपने सात पुत्रों को गंगा नदी को समर्पित कर देतीं? जिसके मन मे सात पुत्रों के लिए मोह नहीं जागा, वे देवव्रत के प्रति ही क्यों अनुरक्त होतीं

···माँ के मन में पति के प्रति ही कौन-सा अनुराग था? जिसके साथ इतने वर्षों तक पत्नी के रूप में रहीं, जिसकी आठ-आठ सन्तानो को जन्म दिया, उसकी किसी इच्छा का रत्ती-भर सम्मान नहीं था उनके मन मे। वे तो जैसे पति से लड़कर अलग होने का बहाना खोज रही थीं। अपनी सन्तानों को एक-एक कर जीवन-मुक्त करके अपने पति के मर्म को आहत करने का प्रयत्न कर रही थी···

जाने कैसी नारी थी वह! जाने किस बाध्यता में उसने चक्रवर्ती शान्तनु से विवाह किया था, जाने किस मजबूरी में आठ-आठ सन्तानों को जन्म दिया था···

···और पिता। पिता के साथ रहते हुए भी आज तक देवव्रत ने पिता के व्यवहार में अपने प्रति मोह का कभी कोई प्रमाण नहीं पाया। यदि सचमुच वे अपने एकमात्र पुत्र के सुरक्षित जीवन के लिए इतने ही आशंकित थे तो उन्हें नव-प्रसूता कुक्कुटी के समान अपने बच्चे पर पंखों को फैलाये, गर्दन अकड़ाये कुट-कुट करते हुए सशंक दृष्टि से इधर-उधर देखते हुए, पुत्र की रक्षा करनी चाहिए थी। और वे हैं कि उन्हें कभी पुत्र का ध्यान ही नहीं रहा···हाँ। देवव्रत को बताया गया है कि उसके जन्म के पश्चात् जब माँ ने उन्हें भी गंगा नदी को सौंपना चाहा तो पिता ने माँ की बाँह थाम ली थी। माँ ने चुपचाप देवव्रत को पिता की गोद में डाल दिया और स्वयं घर छोड़कर चली गयीं।···इस प्रसंग को लेकर, देवव्रत के मन मे बहुत बार ऊहापोह होता है, तो उन्हें लगता है कि शायद माँ ने इस घर को कभी अपना घर ही नहीं माना। तभी तो इस प्रकार छोड़कर जा सकीं। नहीं तो अपना घर ऐसे छोड़ा जाता है क्या?

देवव्रत सोचते हैं तो अपने माता-पिता, दोनों को ही अद्भुत पाते हैं। पिता नारी-सौन्दर्य के मोह मे बँधे, अपनी सन्तानों को मृत्यु की गोद में जाते देखते रहे—कुछ नही बोले। उनके लिए जीवन का एकमात्र सत्य, नारी-देह का आकर्षण ही है क्या?···देवव्रत जानते हैं कि कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनके नर अपनी सन्तानो की हत्या कर देते हैं, पर तब उनकी मादा, उन नरों से अपनी सन्तान की रक्षा के लिए संघर्ष करती हैं। मादाओं में केवल सर्पिणी ही अपनी सन्तानो को खा जाती है।

पर माँ सर्पिणी नही थीं!

कैसी होगी देवव्रत की माँ?

कहते हैं कि माँ में देव-जाति का सौन्दर्य अपूर्व रूप में विद्यमान था। अलौकिक

सौन्दर्य। तभी तो पिता अपने मोह और विवेक का सन्तुलन बनाये नहीं रख सके। ···लोगों का तो कहना है कि वे स्वयं शरीरधारिणी गंगा थीं, जो वसुओं को शाप-मुक्त करने आयी थीं। शायद ऐसा ही हो।···यदि माँ ने अपनी पहली सन्तान को गंगा में डुबोकर, अपने भी प्राण दे दिये होते, तो सारी किंवदन्तियों के बावजूद देव-व्रत यही मानते कि उनकी माँ, पिता के साथ रहकर प्रसन्न नहीं थीं। इसलिए शायद वे नहीं चाहती थीं कि उनकी सन्तान सम्राट् शान्तनु के महल में पले। किन्तु वे तो अपनी सन्तानों को जल-समाधि भी देती रहीं और चक्रवर्ती के साथ पत्नीवत् रहती भी रहीं।

शायद किंवदन्तियों में ही कोई सच्चाई हो कि वे स्वयं देवी गंगा थीं और किसी शापवश या किसी कर्तव्यवश भूलोक पर आयी थीं। नहीं तो मानवीय वृत्तियों को जीतना सहज है क्या। मानव-जाति की आज तक की सारी साधना क्या है—मानवीय सीमाओं का अतिक्रमण ही तो! आज तक न काम को जीत पायी मानव जाति और न वात्सल्य को। पर माँ···वात्सल्य की इतनी घोर उपेक्षा।

किन्तु देवव्रत साधारण मनुष्य हैं। वे देवलोक के विषय में कुछ नहीं जानते। अतीन्द्रिय संसार से उनका कोई परिचय नहीं है। जन्मान्तरवाद का प्रत्यक्ष अनुभव उनको नहीं है। वे तो इस भौतिक समाज और मानवीय ज्ञान एवं तर्क की परिधि के भीतर सोचते हैं। और जब वे सोचते हैं तो उनका मन कभी विषाद से फटने लगता है, कभी आश्चर्य से···

यह ठीक है कि माता-पिता ही सन्तान को जन्म देते हैं; पर सन्तान क्या उनकी ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, जिसे वे लोग जब चाहें नष्ट कर दें? क्या माँ को यह अधिकार था कि वे अपनी सन्तानों को इस प्रकार जीवन-मुक्त कर देतीं? यह जीवन किसकी सम्पत्ति है? कौन इसे उत्पन्न करता है? और किसे इसको नष्ट करने का अधिकार है? क्या सन्तति का जन्म प्रकृति का विधान नहीं है? क्या स्त्री-पुरुष उस विधान के उपकरण मात्र नहीं हैं? प्रकृति स्त्री-पुरुष के माध्यम से अपनी सृष्टि को आगे चलाती है; तो जीवन किसी स्त्री अथवा पुरुष की सम्पत्ति कैसे है? सन्तान—अपनी ही सही—पर क्या माता-पिता को इतना अधिकार दिया जा सकता है कि वे उसे जीवन-मुक्त कर दें?···और सामाजिक विधान क्या है? समाज चुपचाप कैसे देखता रहा कि चक्रवर्ती शान्तुन के पुत्र एक-एक कर जीवन-मुक्त किये जा रहे हैं?···और शासन-तन्त्र? शासन का विधान? क्या यह कृत्य निरीह हत्या की परिधि में नहीं आता? पर जब स्वयं चक्रवर्ती ही चुप रहे, जिनकी सन्तानें थीं—तो कोई और कैसे बोलता? सम्राट् के अतिरिक्त शासन-तन्त्र है ही कहाँ? पिता और सम्राट् दोनों ही चुप थे···

कैसा दाम्पत्य-जीवन रहा होगा, उनके माता-पिता का? पिता, अपनी सन्तान को जीवन-मुक्त करनेवाली के रूप के मोह-जाल में फँसे मानसिक दास के समान,

किसी वनस्पति के समान, अपने हृदय को वाणी दिये बिना, उस स्त्री के साथ
ने का कष्ट और सुख...सुख और कष्ट भोगते रहे। नारी-सुख।...देवव्रत के
न में वितृष्णा जागती है...

और माँ किस बाध्यता में रहती रहीं, पिता के साथ? हाँ! बाध्यता ही तो
रही होगी। नहीं तो क्यों नहीं वे सम्राट् को पति के रूप में अंगीकार कर, इस घर
को अपना घर मान, अपनी गृहस्थी बसा, सुखपूर्वक स्थायी रूप से रह सकीं यहाँ?
क्यों बार-बार सम्बन्ध-विच्छेद का बहाना ढूंढ़ती रहीं। सम्राट् के मर्म पर ऐसे क्रूर
आघात करती रहीं? और अन्ततः अवसर मिलते ही चली भी गयीं..

पिता जितने ही दुर्बल दिखायी देते हैं, माँ उतनी ही दृढ़, कठोर, अटल...

एक ही तथ्य के कितने भिन्न और विरोधी रूप हो सकते हैं...देवव्रत मुस्कराये
...दिव्य आकार दिया जाये, तो यही घटना उनकी माँ को कितना गौरव प्रदान
करती है; स्वयं देवी गंगा, वसुओं को शाप-मुक्त करने के लिए, नारी-देह धारण
कर पृथ्वी पर आयी और अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के विरुद्ध, एक साधारण मनुष्य
की पत्नी बनकर, उसकी सन्तानों को जन्म देती रहीं—उस मनुष्य की सन्तानों को,
जिससे उनको कोई लगाव नहीं था। कर्तव्य समझकर, अपनी इच्छा के विरुद्ध...

पर यदि वे स्वयं देवी गंगा ही थीं तो अपने दिव्य शरीर के साथ तो मानव की
पत्नी बन, उसकी सन्तानों को जन्म देने नहीं आयी होंगी। मानवी के रूप में कहीं
तो जन्म लिया होगा—पर कहाँ? उनके माता-पिता का किसी को पता नहीं।
उनके जन्म, शैशव, उनके सम्बन्धियों की कोई सूचना नहीं।...वे चक्रवर्ती को गंगा-
तट पर मिल गयी थीं—उनका कोई मायका नहीं, देवव्रत की ननिहाल नहीं ..और
फिर वे गयीं कहाँ?...

वे मानवी थीं या देवी—देवव्रत नहीं जानते, पर पिता के विषय में वे बहुधा
सोचते हैं—पिता का जीवन कैसा रहा होगा? पहले क्षण से ही उन्होंने पत्नी के
रूप-सौन्दर्य के सम्मुख दासत्व स्वीकार कर लिया था। शरीर का साहचर्य तो रहा
होगा, पर क्या कभी मन का साहचर्य भी उन्हें मिला? यदि पत्नी अपनी इच्छा का
तनिक भी विरोध होने पर घर छोड़ जाने को तैयार बैठी हो तो कैसा दाम्पत्य-जीवन
होगा?...जहाँ पति, पत्नी की ओर या तो लोभ की दृष्टि से देखे या भय से—वह
परिवार होगा क्या?

सुख क्या होता है? सुख का स्वरूप क्या है? वही, जिससे वंचित होने से पिता
डरते रहे? क्या सुख पाया पिता ने? जब तक साथ रहे, त्रस्त होकर रहे। साथ भी
रहे और तृषित भी रहे। जिस सुख के मोह से पिता, माँ को अपने घर लाये थे—
वह सुख बड़ा था, या उनके रुष्ट होने का, त्याग कर चली जाने का आतंक? माँ
निकट रहकर, पिता के मन में जिस कामना को बार-बार जगाया होगा—वि
उस कामना की यातना से अधिक तड़पे होंगे या सहवास के सुख से अधिक सुखी

सौन्दर्य। तभी तो पिता अपने मोह और विवेक का सन्तुलन बनाये नहीं रख सके। •••लोगों का तो कहना है कि वे स्वयं शरीरधारिणी गंगा थीं, जो वसुओं को शाप-मुक्त करने आयी थीं। शायद ऐसा ही हो।•••यदि माँ ने अपनी पहली सन्तान को गंगा में डुबोकर, अपने भी प्राण दे दिये होते, तो सारी किंवदन्तियों के बावजूद देवव्रत यही मानते कि उनकी माँ, पिता के साथ रहकर प्रसन्न नहीं थीं। इसलिए शायद वे नहीं चाहती थीं कि उनकी सन्तान सम्राट् शान्तनु के महल में पले। किन्तु वे तो अपनी सन्तानों को जल-समाधि भी देती रहीं और चक्रवर्ती के साथ पत्नीवत् रहती भी रहीं।

शायद किंवदन्तियों में ही कोई सच्चाई हो कि वे स्वयं देवी गंगा थीं और किसी शापवश या किसी कर्तव्यवश भूलोक पर आयी थीं। नहीं तो मानवीय वृत्तियों को जीतना सहज है क्या। मानव-जाति की आज तक की सारी साधना क्या है—मानवीय सीमाओं का अतिक्रमण ही तो! आज तक न काम को जीत पायी मानव जाति और न वात्सल्य को। पर माँ•••वात्सल्य की इतनी घोर उपेक्षा।

किन्तु देवव्रत साधारण मनुष्य हैं। वे देवलोक के विषय में कुछ नहीं जानते। अतीन्द्रिय संसार से उनका कोई परिचय नहीं है। जन्मान्तरवाद का प्रत्यक्ष अनुभव उनको नहीं है। वे तो इस भौतिक समाज और मानवीय ज्ञान एवं तर्क की परिधि के भीतर सोचते हैं। और जब वे सोचते हैं तो उनका मन कभी विषाद से फटने लगता है, कभी आश्चर्य से•••

यह ठीक है कि माता-पिता ही सन्तान को जन्म देते हैं; पर सन्तान क्या उनकी ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, जिसे वे लोग जब चाहें नष्ट कर दें? क्या माँ को यह अधिकार था कि वे अपनी सन्तानों को इस प्रकार जीवन-मुक्त कर देतीं? यह जीवन किसकी सम्पत्ति है? कौन इसे उत्पन्न करता है? और किसे इसको नष्ट करने का अधिकार है? क्या सन्तति का जन्म प्रकृति का विधान नहीं है? क्या स्त्री-पुरुष उस विधान के उपकरण मात्र नहीं हैं? प्रकृति स्त्री-पुरुष के माध्यम से अपनी सृष्टि को आगे चलाती है; तो जीवन किसी स्त्री अथवा पुरुष की सम्पत्ति कैसे है? सन्तान—अपनी ही सही—पर क्या माता-पिता को इतना अधिकार दिया जा सकता है कि वे उसे जीवन-मुक्त कर दें?•••और सामाजिक विधान क्या है? समाज चुपचाप कैसे देखता रहा कि चक्रवर्ती शान्तनु के पुत्र एक-एक कर जीवन-मुक्त किये जा रहे हैं?•••और शासन-तन्त्र? शासन का विधान? क्या यह कृत्य निरीह हत्या की परिधि में नहीं आता? पर जब स्वयं चक्रवर्ती ही चुप रहे, जिनकी सन्तानें थीं—तो कोई और कैसे बोलता? सम्राट् के अतिरिक्त शासन-तन्त्र है ही कहाँ? पिता और सम्राट् दोनों ही चुप थे•••

कैसा दाम्पत्य-जीवन रहा होगा, उनके माता-पिता का? पिता, अपनी सन्तान को जीवन-मुक्त करनेवाली के रूप के मोह-जाल में फँसे मानसिक दास के समान,

कसी वनस्पति के समान, अपने हृदय को वाणी दिये बिना, उस स्त्री के साथ
का कष्ट और सुख···सुख और कष्ट भोगते रहे। नारी-सुख।···देवव्रत के
में वितृष्णा जागती है···

और माँ किस बाध्यता में रहती रहीं, पिता के साथ ? हाँ ! बाध्यता ही तो
ही होगी। नहीं तो क्यों नहीं वे सम्राट् को पति के रूप में अंगीकार कर, इस घर
को अपना घर मान, अपनी गृहस्थी बसा, सुखपूर्वक स्थायी रूप से रह सकीं यहाँ ?
क्यों बार-बार सम्बन्ध-विच्छेद का बहाना ढूंढ़ती रहीं। सम्राट् के मर्म पर ऐसे क्रूर
आघात करती रहीं ? और अन्ततः अवसर मिलते ही चली भी गयीं···

पिता जितने ही दुर्बल दिखायी देते हैं, माँ उतनी ही दृढ़, कठोर, अटल···

एक ही तथ्य के कितने भिन्न और विरोधी रूप हो सकते हैं···देवव्रत मुस्कराये
···दिव्य आकार दिया जाये, तो यही घटना उनकी माँ को कितना गौरव प्रदान
करती है; स्वयं देवी गंगा, वसुओं को शाप-मुक्त करने के लिए, नारी-देह धारण
कर पृथ्वी पर आयीं और अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के विरुद्ध, एक साधारण मनुष्य
की पत्नी बनकर, उसकी सन्तानों को जन्म देती रहीं—उस मनुष्य की सन्तानों को,
जिससे उनको कोई लगाव नहीं था। कर्तव्य समझकर, अपनी इच्छा के विरुद्ध···

पर यदि वे स्वयं देवी गंगा ही थीं तो अपने दिव्य शरीर के साथ तो मानव की
पत्नी बन, उसकी सन्तानों को जन्म देने नहीं आयी होंगी। मानवी के रूप में कहीं
तो जन्म लिया होगा—पर कहाँ ? उनके माता-पिता का किसी को पता नहीं।
उनके जन्म, शैशव, उनके सम्बन्धियों की कोई सूचना नहीं।···वे चक्रवर्ती को गंगा-
ट पर मिल गयी थीं—उनका कोई मायका नहीं, देवव्रत की ननिहाल नहीं···और
फिर वे गयीं कहाँ ?···

वे मानवी थीं या देवी—देवव्रत नहीं जानते, पर पिता के विषय में वे बहुधा
सोचते हैं—पिता का जीवन कैसा रहा होगा ? पहले क्षण से ही उन्होंने पत्नी के
रूप-सौन्दर्य के सम्मुख दासत्व स्वीकार कर लिया था। शरीर का साहचर्य तो रहा
होगा, पर क्या कभी मन का साहचर्य भी उन्हें मिला ? यदि पत्नी अपनी इच्छा का
तनिक भी विरोध होने पर घर छोड़ जाने को तैयार बैठी हो तो कैसा दाम्पत्य-जीवन
होगा ?···जहाँ पति, पत्नी की ओर या तो लोभ की दृष्टि से देखे या भय से—वह
परिवार होगा क्या ?

सुख क्या होता है ? सुख का स्वरूप क्या है ? वही, जिससे वंचित होने से पित
डरते रहे ? क्या सुख पाया पिता ने ? जब तक साथ रहे, त्रस्त होकर रहे। साथ
रहे और तृषित भी रहे। जिस सुख के मोह से पिता, माँ को अपने घर लाये थे
वह सुख बड़ा था, या उनके रुष्ट होने का, त्याग कर चली जाने का आतंक ?
निकट रहकर, पिता के मन में जिस कामना को बार-बार जगाया होगा—
उस कामना की यातना से अधिक तड़पे होंगे या सहवास के सुख से अधिक सु

बन्धन

होंगे ?···

पिता के लिए देवव्रत के मन में कभी करुणा उभरती है, कभी दया। लोग कहते हैं कि सम्राट् शान्तनु ने अपनी पत्नी के चले जाने के बाद स्त्री-सुख सर्वथा त्याग दिया। वे इस ओर से वीतराग होकर, देवव्रत को प्राप्त करने तक, पितावत् प्रजा का पालन करते रहे।···सम्राट् शान्तनु के राज्य में कोई अन्याय नहीं था, अत्याचार नहीं था, स्वार्थ और दमन नहीं था···ठीक कहते हैं लोग। पर देवव्रत को लगता है कि आज भी पिता उसकी कामना में तड़प रहे हैं, जिसके मन में उनके लिए कभी कोई आकर्षण नहीं रहा···

संयम में शान्ति होती है, सन्तुलन होता है; किन्तु पिता तो माँ के चले जाने के बाद से भयंकर रूप से अशान्त रहे। उन्होंने आठ पुत्रों में से बचे हुए, अपने एकमात्र पुत्र की कभी सुध नहीं ली।···देवव्रत को उन्होंने जन्म के बाद से कभी नहीं देखा। कभी देखने की कामना नहीं की। देवव्रत वसिष्ठ के आश्रम में रहे, परशुराम के आश्रम में रहे, बृहस्पति के पास रहे, शुक्राचार्य के निकट रहे···आर्य और देव ऋषियों के आश्रमों में अनेक वर्ष बिताये देवव्रत ने। माता का उन्हें पता नहीं था, पिता उनकी ओर से सर्वथा उदासीन थे···तो क्या करते देवव्रत हस्तिनापुर लौटकर···क्या कहें देवव्रत—पिता के मन में माँ के लिए प्रेम था···या आसक्ति थी··· माँ के आचरण ने उनके मन में वितृष्णा जगायी थी या यह मात्र प्रतिक्रिया थी उस आसक्ति की ?

इतने दीर्घ काल तक पिता को याद नहीं आया कि उनका केवल एक पुत्र है। आज अचानक क्या हो गया कि वे अपने एकमात्र पुत्र के जीवन और अपनी वंश-परम्परा के लिए चिन्तित हो उठे हैं।

देवव्रत के मन में प्रश्नों का एक भरा पूरा वन उग आया था···

[4]

वृद्ध अमात्य का व्यवहार, पिता के व्यवहार से भी अधिक अप्रत्याशित था।

अमात्य के चेहरे पर चिन्ता की एक भी रेखा नहीं थी। उनका व्यवहार सर्वथा सहज और सामान्य था, जैसे या तो चक्रवर्ती किसी परेशानी में न हों, या फिर उनकी परेशानी से अमात्य का किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न हो।

अमात्य ने देवव्रतको सम्मानोचित आसन देकर सहास पूछा, "युवराज ने कैसे कष्ट किया ?"

देवव्रत क्षण-भर के लिए कुछ कह नहीं सके। वे समझ नहीं पा रहे थे कि चक्रवर्ती की अस्वस्थता को लेकर वे भ्रम में थे-या अमात्य अज्ञानी थे।

"चक्रवर्ती स्वस्थ नहीं हैं।" अन्त में देवव्रत ने धीरे से कहा।

"मुझे मालूम है युवराज !"

"तो फिर उनके उपचार की व्यवस्था क्यों नही की गयी ?"

"कौन करता युवराज ?"

"क्यों ? आप करते ।"

"उपचार मेरे वश का नहीं है ।"

"राजवैद्य के वश का तो है ।"

"उनके वश का भी नहीं है ।"

देवव्रत रुक गये । यदि पिता ने सच ही कहा है कि उन्हें वंश-रक्षा की चिन्ता है तो सचमुच यह रोग राजवैद्य के वश का नहीं है । ऐसी स्थिति में···पर मन्त्री को राजा की चिन्ता की गम्भीरता का तो पता होना ही चाहिए···

"तो किसके वश का है, अमात्य ?"

मन्त्री का हास सहसा लुप्त हो गया, जैसे वे कोई बहुत कठोर बात कहने जा रहे हों, "अब तो सबकुछ आपके ही हाथ में है युवराज !"···और धीरे से उन्होंने जोड़ा, "और सच पूछा जाये तो शायद आपके हाथ में भी नहीं है ।"

देवव्रत किंकर्तव्यविमूढ़-से खड़े रह गये···उनके हाथ में क्या था ?···आखिर मन्त्री क्या कहना चाहते हैं···

पुनः मन्त्री ही बोले, "युवराज ! महाराज काम-ज्वर से पीड़ित हैं । इसलिए राजवैद्य उनकी कोई सहायता नहीं कर सकते ।"

देवव्रत के मन में जैसे बहुत कुछ उलझ गया, और साथ ही बहुत कुछ सुलझ भी गया···तो इसलिए इतने वर्षों के पश्चात् अचानक पिता को याद आया है कि देवव्रत उनका एकमात्र पुत्र हैं ।—इस लम्बी अवधि में पिता न तो काम से विरक्त हुए थे, न उसका शमन कर पाये थे । उन्हें केवल कोई उपयुक्त पात्र नहीं मिला था···

माँ को देखकर भी पिता की यही अवस्था हुई होगी । तभी तो उन्होंने उनका परिचय तक पाने की आवश्यकता नहीं समझी और उनकी प्रत्येक शर्त स्वीकार की । पिता को जब काम-ज्वर होता है तो उसके ताप से सबसे पहले उनके विवेक को पक्षाघात हो जाता है ।···कौन है वह स्त्री, जिसने पिता की धमनियों में इतने वर्षों से सोये ज्वार को फिर से जगा दिया है ?···

"पर पिताजी ने इस विषय में मुझसे तो कुछ नहीं कहा···।"

"वयस्क पुत्र के सम्मुख अपने नये विवाह की इच्छा कौन पिता प्रकट कर सकता है, राजकुमार ?" मन्त्री का स्वर अब भी गम्भीर था, "यही तो चक्रव का द्वन्द्व है···।"

"क्या ?"

"वे इस कन्या के बिना जी नही सकेंगे, और उससे विवाह वे कर

बन्धन

पायेंगे।"

"विवाह क्यों नहीं कर पायेंगे ?" देवव्रत सहज भाव से कह गये, "क्या केवल इसलिए कि उनका एक वयस्क पुत्र भी है। पहले भी तो प्रौढ़ राजाओं ने नये विवाह किये हैं।"

"किये हैं।" मन्त्री बोले, "पर उसके लिए किसी-न-किसी को मूल्य भी चुकाना ही पड़ा है। ययाति ने फिर से युवावस्था की कामना की थी तो पुरु को वृद्धावस्था अंगीकार करनी पड़ी थी।"

देवव्रत ने ध्यान से मन्त्री को देखा। वे मन्त्री के चेहरे से वह सबकुछ पढ़ लेने का प्रयत्न कर रहे थे, जो मन्त्री की वाणी ने नहीं कहा था।

"क्या बात है अमात्य ?"

"युवराज !" मन्त्री बोले, "यमुना के तट पर दासराज नामक केवट-प्रमुख का स्थान है। उसकी पुत्री अत्यन्त रूपवती है। चक्रवर्ती ने पुत्री को देखते ही उसके पिता के सम्मुख पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखा था; किन्तु दासराज की शर्त को सुन-कर चुपचाप लौट आये।"

"ऐसी क्या शर्त है अमात्य ?"

"ऐसे अवसरों पर एक ही शर्त होती है युवराज !" मन्त्री बोले, "नयी रानी के पुत्र को राज्याधिकार और पहले पुत्र का अधिकारच्युत होना।···इसीलिए मैंने कहा था युवराज ! कि अब सबकुछ आपके ही वश में है···।"

देवव्रत समझ नहीं पाये कि वे क्या कहें···क्या मन्त्री उनके सामने यह प्रस्ताव रख रहे हैं कि वे अपने अधिकारों से उदासीन हो जाएं ? जो बात पिता अपने मुख से नहीं कह सके, क्या उसे ही वे मन्त्री के माध्यम से कहलवा रहे हैं ?···क्या पिता की यही इच्छा है ?···पर यदि पिता की यह इच्छा हो भी तो यह एक कामासक्त व्यक्ति की इच्छा है। आसक्ति की स्थिति में विवेक स्थिर नहीं रहता। और इस समय तो पिता भी समझ रहे हैं कि यह माँग उचित नहीं है।···वे जानते हैं कि यह उचित नहीं है, इसीलिए देवव्रत से कुछ कह नहीं सके, पर उनकी इच्छा है कि यह 'अनुचित' भी किसी प्रकार सम्भव हो जाये, तभी तो उन्होंने दूसरे पुत्र की इच्छा व्यक्त की थी। तभी तो मन्त्री ने उनके सामने प्रकारान्तर से यह प्रस्ताव रखा···

देवव्रत के मन में जैसे घृणा का उत्स फूट आया: यह है पिता का रूप। वात्सल्य-मूर्ति जनक और पिता। कामासक्ति का वेग इतना अबूझ और प्रहारक है कि पिता, पुत्र से इस प्रकार झूठ बोलता है। पिता यह नहीं कह सके कि अपनी पहली पत्नी से अलग होकर, संयम का जो कामरहित जीवन उन्होंने बिताया, वह मात्र एक प्रतिक्रिया थी।···पुरुष की समस्त आसक्ति नारी में है और जिस दिन वह नारी उसे छोड़ जाती है, उस दिन यह सारी सृष्टि उसके लिए माया का प्रपंच हो जाती है।···और जिस दिन फिर कोई नारी उसके सम्मुख आ खड़ी होती है, उस दिन

सृष्टि मोहिनी रूप धारण करके हँसने लगती है।···पिता ने अपने पिछले
व से कुछ नहीं सीखा। उन्होंने नहीं देखा कि यह आकर्षण प्रेम नहीं है, यह
क की हत्या है, यह मोहासक्ति का जाल है। माँ ने भी इसी आसक्ति के मूल्य
रूप में पिता को अपनी इच्छा का दास बनाया था। माँ के जाने के बाद पिता ने
नहीं सोचा कि उन्हें दासता से मुक्ति मिल गयी है, वे पुनः नयी स्वामिनी की
ोज में निकल पड़े। अब उन्हें मिली है दासराज की कन्या, जो अपने मूल्य के रूप
पिता से उनकी अगली पीढ़ी की भी दासता माँग रही है···ययाति ने पुरु से उसक
यौवन माँगा था तो स्पष्ट कहा था कि अभी यौवन के भोगों से उनकी तृप्ति ना
हुई है; इसलिए यदि पुरु उन्हें अपना यौवन दे दे तो वे उसे अपना राज्य दे देंगे'
और चक्रवर्ती शान्तनु अपने पुत्र से कह रहे हैं कि वे दूसरा पुत्र पाना चाहते हैं। वे
उनसे उनका पैतृक अधिकार छीनना चाहते हैं, वह भी पुत्र-प्रेम के नाम पर···वे
क्या करें, ऐसे पिता के लिए?···

लौटते हुए देवव्रत का मस्तक द्वन्द्वों के मारे झनझना रहा था···किस द्विविधा
में झोंक दिया पिता तुमने? देवव्रत भी जैसे एक देवव्रत न रहकर अनेक हो गये हैं।
एक मन कुछ कहता है, दूसरा कुछ और।···पिता कामासक्त हो रहे हैं तो हों।
विवाह करना चाहते हैं, करें। राज्य किसी और को देना चाहते हैं, दें। देवव्रत को
कोई आपत्ति नहीं है। देवव्रत किसी की इच्छा के मार्ग में विघ्न-स्वरूप नहीं आना
चाहते। देवव्रत को किसी का राज्य नहीं चाहिए।···पर अधिकार की बात देवव्रत
के मन में अधिक खटकती है। पौरव-वंश का यह राज्य, देवव्रत का अधिकार है।
वे इसके न्यायसिद्ध युवराज हैं। प्रजा उन्हें चाहती है।···यदि देवव्रत से उनकी
कोई निजी वस्तु माँगी जाती तो दान करने में उन्हें रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता।
किसी दीन-हीन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए त्याग करने में कोई बुराई नहीं है
···किन्तु किसी की अनुचित-असामयिक इच्छा के लिए अपना न्यायोचित अधिकार
छोड़ना धर्म-संगत है क्या?···जब माँ ने एक-एक कर सात पुत्रों को जीवन-मुक्ति
दी थी, तो पिता अपनी कामासक्ति के कारण अपने और अपनी सन्तानों के अधिकार
के विषय में कुछ नहीं कह सके थे।··आज फिर वे अपनी उसी कामासक्ति के
कारण देवव्रत के धर्म-संगत न्यायोचित अधिकार की बात नहीं सोच पा रहे हैं।
···ठीक है कि उन्होंने देवव्रत को अपना अधिकार त्यागने के लिए नहीं कहा है।
वे चाहें तो उन्हें पदच्युत भी कर सकते हैं, वह भी उन्होंने नहीं किया है··किन्तु
अपने पलंग पर औंधे मुँह लेट, हाथ-पैर पटक-पटककर अपनी पीड़ा का प्रदर्शन करते
हुए, क्या वे अपने पुत्र को अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य नहीं कर रहे कि वह अपना शासना-
धिकार त्याग दे···आज यदि देवव्रत अपना अधिकार नहीं छोड़ते तो आनेवाली
प्रत्येक पीढ़ी उन्हें पितृ-द्रोही के रूप में धिक्कारेगी कि वे अपने पिता के सुख के लिए
राज-सुख नहीं त्याग सके···राज-सुख···देवव्रत का मन इस शब्द पर अटक गया

···क्या होता है राज-सुख ? पिता चक्रवर्ती सम्राट् हैं। राज्य में उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई एक तिनका नहीं तोड़ सकता···पर क्या वे सुखी हैं ? चक्रवर्ती सम्राट् एक सामान्य युवती का अनुग्रह पाने के लिए हाथ-पैर पटक रहा है।···कहाँ है राज-सुख ? यदि राज्य से ही कोई सुखी हुआ होता···और जिस सुख के लिए आज वे इतने आतुर हो रहे हैं···वह भी कोई सुख है क्या ? ऐसा ही सुख पाने के लिए पिता पहले भी तड़पे होंगे।···पर कोई सुख मिला ? पिछले अनेक वर्षों से उस सुख से वंचित होकर तड़पते हुए तो उन्हें देवव्रत देख रहे हैं···कैसी बुद्धि पायी है मनुष्य ने···देवव्रत की आँखों के सामने प्रातःकाल का दृश्य घूम गया···

गोशाला में उनकी सबसे प्रिय गाय है—कपिला। एकदम निष्कलंक रंग, जैसे दूध की ही बनी हुई हो। इसी से देवव्रत ने उसका नाम कपिला रख छोड़ा है। बछड़ा भी उसका वैसा ही हुआ है—जैसे कपिला का बछड़ा न हो, कपास का गोलक हो। देवव्रत ने उसका नामकरण किया है—धवल। उनका ग्वाला सूरज उसे 'धौला' कहता है।

सुबह दूध दुहने के लिए जब सूरज धवल की रस्सी खोलने लगता है तो माँ के पास जाने की उतावली में धवल भयंकर उछल-कूद मचाता है। इतनी उछल-कूद कि कभी-कभी सूरज के लिए रस्सी खोलना असम्भव हो जाता है। उसी खींचतान में निमिष मात्र के काम में कई पल लग जाते हैं।···और देवव्रत के मन में हर बार आता है—कैसा नासमझ है धवल। सूरज उसी की इच्छा पूरी कर रहा है, और अपनी उतावली में धवल अपनी ही इच्छा के मार्ग में विघ्न उपस्थित कर रहा है। ···मनुष्य भी अपनी आकांक्षा की तीव्रता में भूल जाता है कि उसका हित किसमें है। वह नहीं जानता कि जिस इच्छा की पूर्ति के लिए वह सिर झुकाये वनैले सूअर के समान दौड़ लगा रहा है, उस इच्छा की पूर्ति उसे कितना सुख देगी और कितना दुख···यदि शान्तनु यह कुरु साम्राज्य पाकर भी सुखी नहीं हैं तो देवव्रत को ही इस राज्य से क्या मिल जायेगा···नहीं चाहिए देवव्रत को यह राज्य। पिता जिसे चाहें, दे दें। इस छोटे-से राज्य के लिए देवव्रत पितृ-द्रोही नहीं कहलायेंगे···

पर देवव्रत को लगा, उनके अपने मन के ही किसी और कोने में से कोई दूसरा ही स्वर उठ रहा है।···ठीक है, देवव्रत को राज्य का मोह नहीं है। वे बिना राज्य के भी सन्तुष्ट रह सकते हैं। वे अपनी इच्छा से अपना अधिकार छोड़ सकते हैं। व्यक्ति रूप में उनके इस त्याग को शायद सराहा भी जायेगा···किन्तु व्यक्ति का आदर्श समाज के आदर्शों से भिन्न होगा क्या? व्यक्ति देवव्रत त्याग करे, पर समाज के सामने भी वे यही आदर्श रखेंगे क्या ?···अपने अधिकारों के लिए लड़ना समाज का धर्म है, या अपने अधिकारों को त्यागना ?···हस्तिनापुर का राज्य पिता की कोई ऐसी निजी सम्पत्ति तो है नहीं कि वे इसे जब, जिसे चाहें दे दें; और किसी को उससे कोई अन्तर न पड़े। इस प्रकार राज्य का अपहरण कर जो व्यक्ति कल

ापुर के राज-सिंहासन पर बैठेगा, वह समाज के अधिकारों की क्या चिन्ता
...वह प्रजा के साथ क्या न्याय करेगा?...और सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है
वव्रत का क्षात्र-धर्म क्या कहता है? यदि कोई उनके राज्य का अपहरण करना
ह तो वे अपना अधिकार छोड़ देंगे क्या? इस प्रकार कहीं समाज, देश और राष्ट्र
ते हैं? संन्यासियों की त्याग-वृत्ति इस सृष्टि के क्रम को चलाये नहीं रख
कती। क्षात्र-धर्म तो समाज के पालन में है, अन्याय के प्रतिकार में है, अपहरण-
र्ता का विरोध करने में है...

पर यहाँ कौन अपहरण कर रहा है?...अपहरण ही तो है। सेना लेकर
आक्रमण न किया, एक वचन की आड़ में उनका राज्य छीन लिया। यह शत्रुता ही
तो है...देवव्रत को लगा, उनके मन में उस अज्ञात युवती और उसके पिता दास-
राज के विरुद्ध आक्रोश संचित हो रहा है, वे अजाने ही उन्हें अपना शत्रु मानने लगे
हैं।...पर तुरन्त ही वे सावधान हो गये।...वे उस युवती को नहीं जानते, न वह
युवती उन्हें जानती है, फिर उसके विरुद्ध मन में प्रतिहिंसा का भाव पालने का क्या
अर्थ?...सावधान देवव्रत! जो अपने मन में होता है, वही सारे संसार में भासित
होने लगता है। यदि वे अपने मन में प्रतिहिंसा पालेंगे तो उन्हें सब ओर अपने
विरुद्ध हिंसा ही होती दिखाई देगी...उस युवती का उनसे क्या विरोध! वह तो
चक्रवर्ती से एक अनुचित माँग की पूर्ति का मूल्य माँग रही है। राजाओं के इस
प्रकार के अनमेल विवाहों के पहले अपने दौहित्र के लिए राज्याकांक्षा तो प्रत्येक
कन्या का पिता करता ही है। केकयराज ने भी कैकेयी के कन्यादान से पूर्व चक्रवर्ती
दशरथ के सम्मुख यही शर्त रखी थी...पर राम ने न कभी भरत को अपना विरोधी
समझा, न भरत के नाना को...

पर अधिकार की रक्षा की बात?...देवव्रत को लगा, अब अधिकार पर
उनका अधिक बल नहीं है। समाज, देश और राष्ट्र अपने अधिकारों के लिए लड़ें;
पर देवव्रत अपना राज्याधिकार छोड़ सकते हैं। वे उस राज्याधिकार के लिए अपने
कुल में कलह क्यों करें, जो किसी को सुखी नहीं बना सका। देवव्रत तो सुख को
खोज रहे हैं, राज्य को नहीं।...शायद वे राज्य को छोड़कर ही अधिक सुखी हो
सकें। पिता को दासराज की पुत्री प्राप्त होगी—दासराज को अपने दौहित्र के लिए
राज्य मिलेगा। दोनों सुखी होंगे...देवव्रत के मन में राज्य की कोई कामना नहीं
है...

किन्तु तत्काल ही जैसे देवव्रत का मन बदल गया।...क्या सोच रहे हैं वे?
वे पिता को सुखी करना चाह रहे हैं; दासराज, उसकी पुत्री और उसके दौहित्र को
सुखी करना चाह रहे हैं...पर सुख है क्या? एक वृद्ध की एक युवती के लिए विवेक-
शून्य आसक्ति किसे सुख देगी? उनका दाम्पत्य जीवन, पिता को कितना काम-सुख
देगा और कितनी काम-यातना? पिता के मन में उस कन्या के लिए आसक्ति उनका

प्रेम नहीं है। सुख यदि कहीं मिलता है तो केवल प्रेम में मिलता है। प्रेम भी वह, जिसमें प्रतिदान की कामना ही न हो, केवल दान ही दान हो। पिता, इस प्रकार के प्रेम से परिचित ही नहीं हैं। वे पुनः काम-यातना में तड़पने की व्यवस्था कर रहे हैं।···और वह कन्या ! क्या सुख पायेगी वह ! केवट की कन्या, राजप्रासाद में आयेगी तो अपनी हीन-भावना से ही मर जायेगी। मरेगी नहीं तो दूसरों को मारने का प्रबन्ध करेगी। लोगों की दृष्टि और वाणी उसका परिहास करेगी और वह अपनी प्रतिहिंसा का बल निर्बलों पर प्रकट करेगी। उसके सामने सबसे निर्बल होंगे राजा शान्तनु। वह स्वयं भी पीड़ा पायेगी और उन्हें भी पीड़ित करेगी।···चक्रवर्ती का विवेक इस समय संज्ञा-शून्य है, अचेत है। वे नहीं जानते कि उनका सुख किस बात में है। अबोध बालक या उन्मादी व्यक्ति की इच्छाएं तो पूरी नहीं की जा सकतीं। यह तो उनके हित में नहीं है···और दासराज-कन्या तो मात्र प्रतिशोध ले रही है। उसे इसमें क्या सुख मिलेगा ?···यदि देवव्रत सचमुच अपने पिता को सुखी देखना चाहते हैं तो उन्हें पिता को इस कन्या के मोह-जाल से मुक्त करना होगा। वह कन्या तो उनकी यातना है। बालक अग्नि को पकड़ना चाहे तो उसकी इच्छा पूरी नहीं होने देनी चाहिए। और इस समय देवव्रत ही पिता को इस भावी आपत्ति से मुक्त रख सकते हैं···वे चाहें तो अपना राज्याधिकार त्यागना अस्वीकार कर दें ···पिता, न उस कन्या को पा सकेंगे, न काम-यातना भोगेंगे।···

किन्तु तभी उनके मन में एक भयंकर काली मूर्ति ठठा कर हँस पड़ी।

"कौन है तू ?" देवव्रत ने पूछा।

"मुझे नहीं पहचाना ?" काली मूर्ति हँसी, "मैं तेरे मन का कलुष हूँ। बहुत चतुर समझता है तू अपने-आपको। समझता है कि कुतर्कों और अतर्कों से तू पिता को पराजित कर देगा और जीवन का सुख-भोग करेगा। राज्याधिकार तू नहीं छोड़ेगा और वंश-वृद्धि के नाम पर अपना विवाह करेगा। स्पष्ट क्यों स्वीकार नहीं करता कि तुझे राज्य भी चाहिए और स्त्री-सुख भी···।"

"हे भगवान् !" देवव्रत ने अपना सिर पकड़ लिया, "मैं क्या सोच रहा हूँ।" उन्होंने अपना सिर उठाकर आकाश की ओर देखा, "क्या इच्छा है तेरी ?"

[5]

प्रातः बहुत जल्दी हस्तिनापुर का नगर-द्वार खुल गया और अश्वारोही सैनिकों के अनेक गुल्म द्वार से बाहर निकलकर मार्ग के दोनों ओर प्रयाण की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हो गए। सैनिक यद्यपि सशस्त्र थे, फिर भी वे युद्ध-वेश में न होकर मांगलिक वेश में थे, जैसे किसी समारोह के लिए तैयार हुए हों। अश्वारोहियों के पश्चात रथों की बारी आयी। सबसे आगेवाले रथ पर युवराज देवव्रत विराजमान

। दूसरा रथ सेनापति का था और तीसरा मन्त्री का। चौथा रथ सबसे बड़ा, विधासम्पन्न और अलंकृत था। किन्तु यह रथ खाली था। उसमें दो दासियाँ वश्य थीं; किन्तु स्पष्टतः यह रथ दासियों की सवारी के लिए नहीं था।

देवव्रत ने अपनी भुजा उठाकर प्रयाण का संकेत किया और उनका रथ सबसे आगे दौड़ चला। रथों के आगे बढ़ते ही, अश्वारोही उनके पीछे-पीछे चल पड़े। ऐसे अवसरों पर सामान्यतः सेना के साथ जो अन्न और वस्त्रों से भरे छकड़े चलते थे—वे इस छोटी-सी सेना के साथ नहीं थे।

हस्तिनापुर नगर गंगा के तट पर था; किन्तु हस्तिनापुर का राज्य मुख्यतः गंगा और यमुना के दोआब के बीच बसा हुआ था। गंगा के दोनों तटों के साथ-साथ आर्यों के प्रमुख नगर बसे हुए थे; इसलिए गंगा का जल उनके पीने, नहाने तथा खेतों को सींचने का ही प्रमुख स्रोत नहीं था, उनकी परिवहन-व्यवस्था भी बहुत कुछ गंगा के जल पर निर्भर करती थी। गंगा के कारण ही उनके नगर एक सूत्र में जुड़े हुए थे और आवश्यकता होने पर, स्थल-मार्ग की तुलना में जल-मार्ग से त्वरित यात्रा की जा सकती थी। किन्तु यमुना के साथ अभी उनका इतना गहरा सम्बन्ध नहीं हुआ था। वैसे तो मथुरा जैसा प्रसिद्ध नगर, यमुना के तट पर ही बसा हुआ था; किन्तु उसमें परिवहन अधिक नहीं था। जलचरों की संख्या अधिक होने के कारण उसका जल बहुत सुरक्षित नहीं माना जाता था। यदा-कदा उसमें चलने-वाली नौकाएँ किसी-न-किसी विपत्ति में फँस जाया करती थीं। फिर भी केवटों की विभिन्न जातियाँ किसी-न-किसी रूप में यमुना से अपनी आजीविका प्राप्त करने का प्रयत्न निरन्तर कर ही रही थीं। यमुना में से मछलियाँ पकड़ने और नौकाएँ चलाने का अधिकांश कार्य ये केवट-जातियाँ ही करती थीं।

मध्याह्न के आस-पास देवव्रत का रथ यमुना-तट के एक केवट-ग्राम के बाहर रुक गया। उनके रुकते ही अन्य रथ और पीछे आनेवाले अश्वारोही भी रुक गये। यमुना-तट पर खेलनेवाले कुछ बच्चे और घाटों पर नहाते या कपड़े धोते हुए स्त्री-पुरुष, सैनिकों को देखकर चौंक उठे। कुछ क्षण स्तंभित रहने के पश्चात् वे घबराकर ग्राम की ओर भाग गये। नौकाओं में बैठे केवट स्त्री-पुरुषों ने अपनी नौकाएँ तटों से हटाकर मध्य धारा में डाल दीं, ताकि सैनिक उन तक न पहुँच सकें।

देवव्रत ने मुस्कराकर सेनापति की ओर देखा, "इन्हें अभय कर दो सेनापति।"

सेनापति के संकेत पर एक सैनिक ने उच्च स्वर में घोषणा की, "ग्राम-प्रमुख, पंच-गण तथा साधारण स्त्री-पुरुष सुनें। यह कोई सैनिक अभियान नहीं है, जिससे किसी की हानि की आशंका हो। यह हर्ष का अवसर है। कुरुओं के युवराज, राज-कुमार देवव्रत, अपने एक निजी कार्य से आपके प्रमुख दासराज से मिलने के लिए पधारे हैं। वे सारी प्रजा को अभय दे रहे हैं। प्रजा निर्द्वन्द्व भाव से अपने कार्य में लगी रहे।"

देवव्रत ने मन्त्री की ओर देखा, "अमात्य नेतृत्व करें।"

मन्त्री राजा शान्तनु के साथ यहाँ आ चुके थे, इसलिए मार्ग से भलीभाँति अवगत थे। वे आगे-आगे चले और दासराज के कुटीर के सामने आकर खड़े हो गये।

दासराज ने बाहर निकलकर स्वागत किया, "पधारें युवराज !"

"दासराज ! मैं एक विशेष प्रयोजन से उपस्थित हुआ हूँ।" दासराज द्वारा दिये गये आसन पर बैठने के पश्चात् देवव्रत बोले, "आशा है आप मुझे निराश नहीं करेंगे।"

"युवराज, आदेश करें।"

देवव्रत ने वृद्ध दासराज को देखा : उसके चेहरे पर न चिन्ता थी, न भय। वह अत्यन्त निर्द्वन्द्व भाव से बैठा प्रतीक्षा कर रहा था।

"मैं, अपने पिता चक्रवर्ती शान्तनु की रानी बनाने के लिए आपसे आपकी पुत्री देवी सत्यवती की याचना करने आया हूँ।"

"पुत्री है तो उसके लिए याचक भी आयेंगे ही।" दासराज हँसा, "वैसे यह मेरा सौभाग्य है कि याचना एक अत्यन्त सम्मानित कुल की ओर से आयी है।"

देवव्रत चुपचाप दासराज की ओर देखते रहे।

थोड़ी देर में दासराज ने सिर उठाकर देवव्रत को देखा, "यदि मैं कन्या-दान न करूँ तो याचना का स्वरूप क्या होगा—अपहरण ?"

देवव्रत को लगा, अपमान से उनका रोम-रोम सुलग उठा है···अपहरण करना होता तो इतनी याचना की क्या आवश्यकता थी। राजा शान्तनु या देवव्रत के संकेत-भर से, कन्या का हरण हो जाता; किन्तु आर्यों की मर्यादा उसकी अनुमति नहीं देती।

दूसरे ही क्षण देवव्रत को लगा···अपमान या क्रोध का कोई प्रसंग नहीं है। दासराज एक साधारण केवट है। बहुत सुशिक्षित भी नहीं है कि समझता हो कि उसके मुख से निकले शब्द किसी के मन में क्या भाव जगायेंगे।···वैसे भी बहुत सम्भव है कि अब तक उसके साथ राजाओं और सैनिकों का यही व्यवहार रहा हो।

···देवव्रत को अपने ऊपर भी कुछ आश्चर्य हुआ। इधर क्या हो गया है कि वे एक ही वस्तु, व्यक्ति या घटना के विषय में दो विरोधी दृष्टिकोणों से सोचने लगे हैं, जैसे वे एक व्यक्ति न हों···या उनके भीतर दो व्यक्ति बैठे हों और दोनों एक-दूसरे के निपट विरोधी ढंग से सोचते हों···

"नहीं ! हरण नहीं होगा।" देवव्रत बहुत स्पष्ट शब्दों और दृढ़ स्वर में बोले, "पर आप ऐसा क्यों सोचते हैं, दासराज !"

"युवराज ! मैं अपनी स्थिति को अच्छी तरह जानता हूँ।" दासराज ने बड़े निर्भीक स्वर में कहा, "सत्यवती मेरी कन्या है, पर उसकी रक्षा का मेरे पास कोई साधन नहीं है। आप समर्थ हैं। आपके पास सैनिक हैं, शासन-तन्त्र है। आप या राजा शान्तनु उसका हरण करना चाहें तो मैं कैसे रोक सकता हूँ।"

देवव्रत मुस्कराये, "दासराज आश्वस्त रहें। कोई आपकी कन्या का हरण नहीं करेगा। क्षत्रियों में कन्या के हरण का प्रचलन अवश्य है, किन्तु हरण वहीं होता है, जहाँ कन्या की रक्षा के लिए उसके पक्ष से लड़नेवाले सशस्त्र योद्धा हों। आपके पास अपने बचाव के लिए सशस्त्र योद्धा नहीं हैं : आपकी कन्या का हरण क्षत्रिय धर्म के अनुकूल नहीं है। आपने न कन्या के लिए स्वयंवर रचाया है, न आपकी कन्या वीर्यशुल्का है।"

"तो ?"

"कन्या तभी हमारे साथ जायेगी, जब आप अपनी इच्छा से मेरे पिता को भार्या के रूप में उसका दान करेंगे।"

"और यदि मैं स्वेच्छा से कन्या-दान न करूँ तो आप लौट जायेंगे ?"

"नहीं !" देवव्रत के मुख से अकस्मात् ही निकल गया। उनका चेहरा आरक्त हो गया, जैसे शरीर का सारा रक्त मस्तक की ओर दौड़ पड़ा हो···पर दूसरे ही क्षण जैसे ज्वार में भाटा आया। उनका मन कुछ शान्त हुआ और वाणी स्थिर, "मैं जानता हूँ, आप हमारी याचना अस्वीकार नहीं करेंगे।"

देवव्रत ने दासराज को देखा : इस बार प्रौढ़ वय का यह व्यक्ति उन्हें शालीन, दृढ़ और व्यावहारिक लगा। जाने प्रतिदिन कितने-कितने लोगों से उसे निपटना पड़ता होगा···और उनमें से अनेक लोग उससे कहीं अधिक समर्थ, बुद्धिमान, चतुर, ज्ञानी, धनवान, सत्तावान और शक्तिशाली होते होंगे। उन सबके साथ व्यवहार ने उसे सिखाया है कि किस प्रकार समर्थ लोगों को अप्रसन्न किये बिना, अपनी बात पर टिके रहना है और अपने स्वाभिमान की रक्षा करनी है।

"युवराज !" दासराज ने कहा, "मैं कुछ समझ नहीं पाया।"

"क्या दासराज ?"

"मेरी अस्वीकृति की दशा में न आप वापस लौटेंगे और न बल-प्रयोग करेंगे। ···तो क्या करेंगे आप ?"

"दासराज ! हम कन्या का मूल्य चुकायेंगे।" देवव्रत का स्वर दृढ़ किन्तु समझाने का भाव लिये हुए था, "आप कन्या के पिता हैं, कन्या-दान आप करेंगे ही। बात केवल इतनी-सी ही है कि वर आपको अनुकूल जँचना चाहिए। मैं जानता हूँ कि आपकी कसौटी पर खरे उतरने के मार्ग की जो बाधाएँ हैं, उन्हें दूर करने में मैं समर्थ हूँ। आप अपनी आपत्ति कहें।"

दासराज कुछ देर तक देवव्रत का चेहरा देखते रहे, फिर बोले, "किस मुख से

कहूँ। मैं संकोच से गड़ा जा रहा हूँ। कहीं ऐसा न हो कि अपने हित की रक्षा करने के प्रयत्न में मैं किसी और के प्रति अन्याय कर बैठूं। किसी और के प्रति···जो न दुष्ट है, न अन्यायी, और न ही मेरा शत्रु है। अपना हित करने में किसी दूसरे का अहित तो नहीं करना चाहिए न युवराज !"

"न्यायसंगत व्यवहार की माँग में किसी का भी अहित नहीं होता दासराज !" देवव्रत कुछ सोचते हुए बोले, "आप अपनी बात कहें।"

"युवराज ! आप भी अनुभव कर रहे होंगे," दासराज पुनः बोला, "कि यह स्थिति सामान्य नहीं है।"

"जी !"

"एक ओर कुरुपति हैं और दूसरी ओर यह केवट।" दासराज हँसा, "वर और कन्या के वय में अन्तर भी असाधारण है। फिर वर का पिता, कन्या के पिता से याचना नहीं कर रहा, वरन् वर का पुत्र कन्या के पिता से याचना कर रहा है।"

"इससे क्या अन्तर पड़ेगा दासराज ?"

"बहुत !" दासराज बोला, "जब पिता अपने पुत्र के लिए कन्या की याचना करे तो कन्या के पिता को उसके भविष्य की चिन्ता नहीं होती। पिता अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति पुत्र को देगा ही। पर युवराज ! वर्तमान स्थिति में मुझे अपनी पुत्री के भविष्य की चिन्ता करनी ही होगी।"

"क्यों दासराज !"

"क्योंकि पुत्र की सम्पत्ति पिता के पास लौट जाये, इसका कोई विधान नहीं है।"

"पर उसकी आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी ?"

"पड़ेगी।"

"कैसे ?"

"स्पष्ट कहूँ ?"

"निःसंकोच !"

"राजा शान्तनु किसी भी रूप में मेरी पुत्री सत्यवती के लिए उपयुक्त नहीं हैं···उनकी उपयुक्तता केवल इसी बात पर टिकी है कि वे देश के राजा हैं।"··· उसने रुककर देवव्रत की ओर देखा।

देवव्रत कुछ नहीं बोले।

"सत्यवती केवल यह सोचकर राजा की भार्या बनेगी कि उसकी दरिद्रावस्था समाप्त होगी और उसका पुत्र यमुना में नौकाएँ खेनेवाला केवट न होकर हस्तिनापुर का राजा होगा। पर···"

"पर क्या ?"

"पर हस्तिनापुर के राज्य का युवराज विद्यमान है। वह बुद्धिमान, योद्धा, शक्तिशाली और लोकप्रिय है। अपने पिता के पश्चात् वह राज्य, धन-सम्पत्ति, कुल-गोत्र सबका स्वामी होगा।" दासराज ने रुककर देवव्रत की ओर देखा, "ऐसे में मेरी पुत्री और उसकी सन्तानों का भविष्य क्या होगा युवराज! दासी-पुत्र का जीवन बिताने से केवट बने रहना क्या बुरा है?"

"नहीं!" देवव्रत पूरी दृढ़ता से बोले, "वे दासी-पुत्र नहीं होंगे।"

"तो क्या होंगे?"

"जो आप चाहें।" देवव्रत सहज भाव से बोले।

"मैं तो केवल इतना चाहूँगा कि जब मैं अपनी कन्या का हाथ चक्रवर्ती के हाथ में दे रहा हूँ तो वह चक्रवर्ती की रानी बनकर ही रहे। उसकी सन्तान, राजा की सन्तान हो।"

"ऐसा ही होगा दासराज!"

"प्रमाण?"

"आप क्या प्रमाण चाहते हैं?"

"सत्यवती का ज्येष्ठ पुत्र हस्तिनापुर का युवराज हो।"

"स्वीकार है।" देवव्रत बोले, "ऐसा ही होगा।"

आश्चर्य से दासराज का मुख खुल गया, "आप समझ रहे हैं युवराज! कि मैं क्या माँग रहा हूँ।"

"पूरी तरह से समझ रहा हूँ दासराज!" देवव्रत न केवल शान्त थे, वरन् मुस्करा रहे थे।

"आप युवराज नहीं रहेंगे। पिता के पश्चात् आपको राज्य नहीं मिलेगा। आप एक साधारण जन हो जायेंगे। कुरुओं का यह विराट् साम्राज्य आपका नहीं होगा...।"

देवव्रत को लगा कि वे दासराज की कुटिया में नहीं बैठे, वे जैसे किसी खुले स्थान में आ बैठे हैं, जहाँ कोई सीमा नहीं है, बन्धन नहीं है, स्वार्थ नहीं है, अर्जन नहीं है। यहाँ पृथ्वी का आकर्षण नहीं है, वायु का दबाव नहीं है। मन में लोभ नहीं है। ग्रहण नहीं है...

उनके मन में एक नारी-मूर्ति उभरी, जो फैलती-फैलती उनके सम्पूर्ण अस्तित्व में समा गयी और फिर दसों दिशाओं में उसका स्वर फैला, 'देवव्रत! तू बच गया। तेरा मन मुक्त हुआ। तू प्रपंच से छूट गया। तू सुखी रहेगा पुत्र! ग्रहण में केवल दुःख है। त्याग सात्विक है पुत्र। मैं तो तुझे इस मोह-चक्र से तभी मुक्त कर देती, जब तेरा जन्म हुआ था, पर तेरे पिता ने मेरी इच्छा पूरी नहीं होने दी...'

देवव्रत को लगा, वह नारी-मूर्ति उनकी माँ ही थीं...

बन्धन /

दासराज देवव्रत को देखता रहा; शायद देवव्रत की समझ में आ जाये कि वे क्या छोड़ रहे हैं। पर देवव्रत में कोई प्रतिक्रिया नहीं जागी। उनका चेहरा अधिक से अधिक शान्त होता गया, उनकी आत्मा अधिक से अधिक प्रसन्न होती चली गयीं…

"पर मैं कैसे इसका विश्वास करूँ?" अन्त में दासराज चिन्तित स्वर में बोला।

"मैं आपको वचन दे रहा हूँ।"

"मेरे पास सिवाय आपका वचन मान लेने के और कोई उपाय भी तो नहीं है।…"

"दासराज!" देवव्रत का स्वर आवेश में कुछ ऊँचा हो गया, "कुरुवंशियों का वचन ही प्रमाण होता है। ऐसा न होता तो चक्रवर्ती स्वयं आपको वचन देकर कन्या को ले जा सकते थे। तब देवव्रत के यहाँ आने की कोई आवश्यकता नहीं थी।"

"शान्त हों युवराज!" दासराज ने दीन मुद्रा बनाकर हाथ जोड़ दिये, "दासराज ने अपना जीवन कुरुवंशियों में नहीं बिताया, जिनका वचन ही प्रमाण होता है। वह तो आठों प्रहर उन लोगों में रहता आया है, जिनका वचन केवल पाखण्ड है। वचन को सत्य मान लेने का मुझे अभ्यास नहीं है युवराज!" वह रुककर सायास मुस्कराया, "वैसे भी एक असहाय निर्बल वृद्ध की आशंकाओं का बुरा न मानें। जहाँ ममता होती है, वहाँ आशंका होती है, और जहाँ आशंका होती है, वहाँ सन्देह भी होता है।"

"आशंकाओं को किसी का विश्वास कर आश्वस्त भी तो होना चाहिए।" देवव्रत का स्वर अब भी आहत था।

"आश्वस्त हुआ।" दासराज ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये, "किन्तु तर्क तो सुनेंगे आप?"

"क्यों नहीं!" देवव्रत ने तत्काल कहा, किन्तु उनका मन पुनः खटक गया …यह व्यवहारसिद्ध वृद्ध केवट अपने तर्कों से अब किस प्रपंच की रचना करने जा रहा है…

"कुरुवंशियों का वचन ही प्रमाण है।" दासराज बोला, "और यह भी आपने ही कहा है कि आपके स्थान पर चक्रवर्ती वचन नहीं दे सकते थे, इसलिए आपको आना पड़ा।"

"मैं सहमत हूँ।"

"तो इसका अर्थ है कि पुत्र के स्थान पर उसका पिता वचन नहीं दे सकता; क्योंकि यह सम्भावना हो सकती है कि पुत्र, पिता द्वारा दिये गये वचनों की रक्षा न करे…"

"कुरुवंश में इसका अर्थ है कि पुत्र के स्थान पर वचन देकर पिता पुत्र के प्रति अन्याय नहीं करना चाहता।"

"यही सही।" दासराज हँसा, "कुरुवंश में पिता, पुत्र के स्थान पर स्वयं वचन देना उचित नहीं समझता। इसीलिए चक्रवर्ती ने आपके स्थान पर वचन नहीं दिया।"

"जी!"

"आप भी अपने भावी पुत्रों के स्थान पर स्वयं वचन देना उचित नहीं मानेंगे।"

"जी!"

दासराज कुछ क्षणों तक मौन बैठा रहा और देवव्रत उसके मौन में से उसका मन्तव्य पढ़ने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में दासराज ही बोला, "आप सत्यवती के पुत्र के लिए अपना राज्याधिकार छोड़ रहे हैं।···मैं आपका विश्वास कर रहा हूँ; किन्तु कल आप विवाह करेंगे, आपके पुत्र होंगे, वे बड़े होंगे···" दासराज अपनी पूरी तन्मयता के साथ देवव्रत के चेहरे को देख रहा था, "सम्भव है कि वे आपसे सहमत न हों। सम्भव है कि वे अपना अधिकार माँगें। सम्भव है कि वे आपसे कहें कि आपको अपना राज्याधिकार, अपने जीवन का सुख और भोग छोड़ने का पूरा अधिकार है; किन्तु आपको क्या अधिकार है कि आप चक्रवर्ती शान्तनु के ज्येष्ठ पुत्र की ज्येष्ठतम सन्तान से हस्तिनापुर के राज्य का उत्तराधिकार छीन लें?··· आप अपने पुत्र के स्थान पर यह वचन कैसे दे रहे हैं कि वह अपने उचित, नैतिक, पारम्परिक और वैधानिक अधिकार की माँग नहीं करेगा?···"

दासराज ने अपनी बात समाप्त की और देवव्रत की ओर देखा। अपनी बात समाप्त करते-करते दासराज हाँफ गया था। उसे लग रहा था, जैसे मार्ग में बाधा-स्वरूप पड़ी भारी शिलाओं को हटा-हटाकर अपना मार्ग प्रशस्त कर आगे बढ़ने-वाला व्यक्ति दस डग चलते-चलते हाँफ जाता है, वैसे ही उसकी वाणी अपने संकोच और मर्यादा की शिलाओं को तोड़कर इतने शब्द कहने में ही हाँफ गयी थी···

उसकी दृष्टि देवव्रत पर टिकी थी: क्या कहते हैं देवव्रत? सम्भव है, वे मौन रह जायें, संभव है वे हँसकर टाल जायें, संभव है वे रुष्ट हो जायें···

और देवव्रत अपने मन के कल्पना-लोक में कहीं अपने पिता के चरणों में जा बैठे थे, 'पिता! मैंने आपको काम-सुख के अभाव में पीड़ित देखा।···मैंने आपको काम-यातना में तड़पते देखा। मैंने आपके सारे जीवन को कामासक्ति की यातना में असन्तुलित होते देखा।···आपने मुझे दर्शाया कि काम-सुख, काम-सुख नहीं है, दुख का प्रपंच है। यह तो मृगतृष्णा है। प्राणी उसकी कामना में कष्ट पाता है, अपने विवेक का वध कर क्षणिक सुख भोगता है और फिर उस भोग के मूल्य 'दुख' को सहन कर, पुनः उस सुख की कामना में तड़पता है···आपने मुझे इस कुचक्र से मुक्त

कर दिया पिता !···शायद मैं स्वयं अपने बल पर काम के बन्धन न तोड़ सकता। कदाचित् मैं भी उसके पाश में बँधा, बलि-पशु के समान ऐंठता और तड़पता रहता··· फिर पत्नी और सन्तान के मोह में कर्म के बन्धन में बँधता और इस दुश्चक्र से कभी मुक्त न हो पाता।···पिता। आपने मुझे यह यातना प्रत्यक्ष दर्शाई, उसका स्वरूप समझने में सहायता दी; और अब अन्त में मुझे उस यातना से सदा के लिए मुक्त हो जाने का अवसर प्रदान कर रहे हैं।···पिता। मैं आपको प्रणाम करता हूँ···'

"युवराज!" अपने शब्दों की कोई प्रतिध्वनि न पाकर दासराज ने पुनः पुकारा।

देवव्रत की आँखों में शून्य के स्थान पर दासराज की पहचान लौटी। उनके मुख पर सहज मुस्कान आयी और उल्लसित होकर उन्होंने कहा, "दासराज! मैं आपको वचन देता हूँ कि मेरा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र···कोई भी, कभी भी, आपसे, मुझसे, और आपकी पुत्री की सन्तान से अपने पैतृक राज्याधिकारी की माँग नहीं करेगा···" वे बिना रुके ही कहते गये, "मैं सूर्य, पृथ्वी और पवन को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन अविवाहित रहूँगा···।"

मन्त्री के शरीर पर जैसे बिजली गिरी, "गांगेय! युवराज! यह क्या किया आपने!"

देवव्रत के होंठों पर अपार्थिव मुस्कान थी, "मैंने स्वयं को बचा लिया अमात्य प्रवर! अब मेरे लिए जीवन न यम-फाँस है, न काम-पाश! मेरे मन में न स्त्री की कामना है, न सम्पत्ति की, न अधिकार की। माता मुझे जीवन-मुक्त कर आखिर और किन दुखों से बचाना चाहती थीं···।"

देवव्रत उदास नहीं थे, उनके चेहरे पर न कोई पश्चात्ताप था, न द्वन्द्व का अन्धकार। उनके चेहरे पर सफलता और मुक्ति का उल्लास था।

दासराज ने हाथ जोड़ दिये, "युवराज! आप मनुष्य नहीं हैं। आप देवता हैं। आप सचमुच पवित्र गंगा के पुत्र हैं, जो धरती के मल में से केवल इसलिए बहती है कि अपने दोनों किनारों को सींच सके। उन पर बसनेवाली भूखी प्रजा को अन्न, जल और जीवन दे सके। आप धन्य हैं देव।" उसका स्वर भर्रा आया, "और मैं ऐसा चांडाल हूँ, जिसने आप जैसे देव-पुरुष से उनके जीवन का सम्पूर्ण सुख छीन लिया। मैंने आपका सबकुछ छीन लिया···।"

देवव्रत ने दासराज के कन्धे पर प्रेमभरा हाथ रखा, "आप नहीं जानते दासराज! कि आपने मुझे क्या-क्या दे दिया। उठिए! मोह त्यागिए और अपनी पुत्री और मेरी माँ देवी सत्यवती की विदाई का प्रबन्ध कीजिए।"

[6]

सत्यवती को उसकी सखियाँ लेकर बाहर आयीं तो देवव्रत ने पहली बार उसे

देखा : उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि दासराज के इस कुटीर में ऐसी कन्या रहती आयी होगी। दासराज की ऐसी पुत्री ? न वैसा वर्ण, न वैसा रूप। दासराज की पत्नी भी साथ ही थी। उसके रूप में कुछ भी असाधारण नहीं था। सत्यवती सचमुच असाधारण सुन्दरी थी। केवट-कन्या तो यह लग ही नहीं रही थी। लगता था जैसे किसी आर्य राजकुमारी ने नाटक में अभिनय करने के लिए केवट-कन्या का नेपथ्य ग्रहण किया हो।...उसका वय पच्चीस वर्षों से ऊपर ही रहा होगा। सामान्यतः केवट-घरों में इस वय तक कन्याएँ अविवाहित नहीं रहतीं।...सम्भव है कि दासराज को कोई उपयुक्त वर न मिला हो...सम्भव है, सत्यवती किसी विशेष प्रकार के वर की इच्छा रखती हो...

"यह आपकी ही पुत्री है दासराज ?" देवव्रत के मन का प्रश्न उनके अधरों तक आ ही गया।

"मैं इसका पिता हूँ युवराज। जनक नहीं।" दासराज ने कहा, "मछलियाँ पकड़ने गये केवटों ने इसे भी यमुना की जलधारा में बहते पाया था। इसका रंग-रूप और तेज बताता है कि यह किसी क्षत्रिय राजा की कन्या है।"

सत्यवती अपनी सखियों से विदा होकर अपने पिता के पास आयी। कुछ बोली नहीं। उसने चुपचाप दासराज के कन्धे से अपना माथा टिका दिया, जैसे लड़खड़ाकर गिर पड़ने से बचने के लिए व्यक्ति किसी स्तम्भ का सहारा लेता है।

दासराज ने अपनी बाँह में भरकर बेटी को सहारा दिया। उसका स्वर भर्राया था, पर शब्द स्पष्ट थे, "बेटी ! मैं आजीवन तुझे अपने घर में नहीं रख सकता था। तुझे किसी क्षत्रिय राजा या राजकुमार के साथ जाना ही था। स्वेच्छा से न भेजता तो वे बलात् ले जाते। इस सौदे में तेरे सुख के लिए जो मैं अधिक से अधिक माँग सकता था, वह मैंने माँग लिया है। अब तेरे लिए भगवान से यही माँगता हूँ कि तू अपने पति के घर सुखी रहे...।"

दासराज के शब्द खो गये। आगे की बात कहने के लिए उन्होंने अपनी हथेली से सत्यवती का कन्धा थपथपा दिया, जैसे कह रहे हों, 'जा बेटी। जा। हमारे साथ तेरा सम्बन्ध यहीं तक का था।'...

सत्यवती ने एक बार आँखें उठाकर भरपूर दृष्टि से दासराज को देखा। उसकी आँखों में कोई भाव नहीं था—जैसे मनुष्य की आँखें न हों, देखने भर का कोई यन्त्र हो।

वह धीरे-धीरे चलती हुई रथ तक आयी। दासियों ने उसे सहारा दिया और वह अपने लिए लाये हुए खाली रथ पर आरूढ़ हो गयी। उसे बैठ गयी देख देवव्रत अपने रथ में आ गये और बिना कुछ सोचे और कहे, अपने अभ्यास के अनुसार

बन्धन /

प्रयाण का संकेत देने के लिए अपनी बाँह उठा दी। रथ चल पड़े। उनके पीछे-पीछे अश्वारोही चले।···यमुना का तट छोड़कर उनका दल कच्चे मार्ग पर आ गया। कच्चा मार्ग समाप्त होते ही, रथ और अश्व राजमार्ग पर सरपट भाग चले।

सत्यवती के बाहर आते ही देवव्रत के मन में पहला भाव प्रसन्नता और उल्लास का ही जागा था। उससे भी ऊपर उनके मन में शायद कोई बहुत बड़ा असाधारण मूल्य चुकाकर कुछ असम्भव उपलब्ध कर लेने का भाव था।···देवव्रत ने आज अपने सारे भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर पिता के जीवन के इस खण्ड में, उनकी मनोकामना को पूरा किया था।···शायद यह अपने पूर्वज पुरु से भी बड़ा त्याग था। पुरु ने तो एक निश्चित अवधि के लिए पिता ययाति की वृद्धावस्था लेकर, उन्हें अपना यौवन दिया था। अपना यौवन देकर पुरु वृद्ध हो गये थे, शरीर से भी और मन से भी; इसलिए उनके मन में यौवन के सुखों की आकांक्षा भी नहीं रही होगी; किन्तु देवव्रत ने तो अपना यौवन रख लिया और उसके सुख त्याग दिये, सुखों के अभाव में जलने के लिए। पुरु ने बदले में, अनधिकारी होते हुए भी, अपने पिता से उनका राज्य पाया था। देवव्रत ने अधिकारी होते हुए भी अपना राज्य छोड़ दिया था···देवव्रत ने अपने सारे बन्धन तोड़ दिये थे। उन्हें सुख का प्रपंच अब कभी वंचित नहीं कर पायेगा। वे मुक्ति की आनन्दावस्था में विचरण करेंगे···

पर दासराज ने क्या कहा था अपनी पुत्री से···'तुझे किसी क्षत्रिय राजा या राजकुमार के साथ जाना ही था'···क्या दासराज अपनी पुत्री को चक्रवर्ती की पत्नी बनाकर भी प्रसन्न नहीं हैं—इससे अधिक और क्या कामना हो सकती है एक पिता की? केवट की कन्या राजरानी बन गयी, कुरु राज्य के भावी शासकों की माता बन गयी···पर हाँ। समवयस्क, समविचार, समव्यवहार जीवन-संगी का सुख तो उसे नहीं मिलेगा। उसने केवल पाया ही नहीं, बहुत कुछ खोया भी है।···जब दशरथ और कैकेयी तक का जीवन सन्तुलित और सुखी नहीं रह सका, राम और भरत जैसे भाइयों को भी उस असन्तुलन का दुख उठाना पड़ा तो और कोई कहाँ से सुख पायेगा।···क्या आज से कुरु वंश के महलों में भी वृद्ध राजा की युवती भार्या की कथा दुहराई जायेगी?···'तो क्या हो गया?' देवव्रत ने स्वयं ही प्रतिवाद किया, 'कैकेयी राम को वनवास ही तो देगी। मैं तो पहले ही स्वयं को वनवासित कर चुका।'

'ठीक है।' जैसे किसी और मन ने कहा, 'कभी सत्यवती के मन में भी बैठकर देख—वह अपने लिए कैसे वर की कामना कर रही थी। उसने भी तो अपने वर, अपने प्रेमी, अपने पति का कोई चित्र बनाया होगा। और वह चित्र किसी भी दशा में महलों में सोने के पलंग पर पड़े एक कामातुर वृद्ध राजा का नहीं होगा, जो अपनी आसक्ति के कारण, अनेक लोगों की इच्छाओं और कामनाओं का दमन कर सकता है···'

देवव्रत के मन में अपराध-बोध जागा…वे एक ही दिशा में अपने चिन्तन के रंग क्यों दौड़ाये लिये जाते हैं? क्यों नहीं सोचते कि मार्ग दूसरी ओर से भी चलता है।…क्या कर बैठे थे। हो सकता है कि सत्यवती के प्रेम का लक्ष्य कोई युवक रहा हो—कोई केवट, कोई तपस्वी, नदी पार करनेवाला कोई व्यापारी, जब-तब मिल जाने वाला कोई सेना-अधिकारी…तभी तो विदा करते समय दासराज के शब्दों में इतनी असहायता थी, इतनी हताशा थी।…तब क्यों देवव्रत को नहीं लगा कि दासराज के शब्दों में अपनी पुत्री को राजरानी बनाने का उल्लास कहीं नहीं है…तब क्यों नहीं सोचा उन्होंने कि भौतिक सुख ही जीवन का अन्तिम सुख नहीं है, राजा की रानी बनना ही किसी युवती के मन की अन्तिम अभिलाषा नहीं है…देवव्रत ने अपने लिए मान लिया कि सुख, धन में नहीं है, इसलिए उन्होंने राज्य का त्याग कर दिया; तो उन्होंने यह कैसे मान लिया कि सत्यवती का सुख धन में है?… केवल इसलिए क्योंकि सत्यवती एक निर्धन की कन्या है।…ऐसा क्यों नहीं सोचा उन्होंने कि केवट के घर से राजमहल में लाकर उन्होंने सत्यवती के वे सारे सुख छीन लिये हैं, जो उसे केवट की उस कुटिया में उपलब्ध थे। राजमहल में उसके लिए जिन सुखों की कल्पना वे कर रहे हैं, सम्भव है कि सत्यवती के लिए वे सुख, सुख न हों…

देवव्रत को लगा, उनका एक और मन है, जो ढेर सारा आक्रोश संचित कर रहा है…। पर सत्यवती के मन में पैठकर वे बहुत नहीं सोच सके। उनका क्षत्रिय मन जैसे बहुत आवेश के साथ बोला, 'सारे शास्त्र कहते हैं कि माता-पिता की इच्छा का पालन, उनकी इच्छा की पूर्ति—मानव का पहला धर्म है। उन्हें आज तक यही उपदेश दिया गया था। आज जब उन्होंने अपने जीवन का सर्वस्व देकर अपने पिता के लिए उनके जीवन का सबसे बड़ा सुख खरीद लिया है, तो इस प्रकार की आपत्तियों का क्या अर्थ?…श्रवण कुमार अपने माता-पिता की इच्छा-पूर्ति के कारण अमर हो गया। दशरथ-पुत्र राम इसी प्रकार अपने पिता की इच्छा पूरी करने के लिए वन चले गये और अपने यौवन का सर्वश्रेष्ठ काल, राजमहलों में नहीं, भयंकर वनों में बिता आये।…देवव्रत ने भी यही किया है…',

पर तर्क तो जैसे नाग-जाल हो रहा था। सहस्रों नाग एक-दूसरे से गुंथे पड़े थे। न किसी के शरीर का पता लगता था, न पूंछ का। बस फन-ही-फन दिखायी पड़ते थे। यदि कहीं किसी की पूंछ दिखायी भी पड़ती थी, तो जब तक देवव्रत उसे पहचान पाते थे, वह एक नया फन बनकर उठ खड़ी होती थी। और वही फन सबसे अधिक भयंकरता से फुफकारने भी लगता था कि सबसे पहले मुझसे ही निबट ला…

इस बार उन्हें लगा कि प्रश्नों का दुर्मुंहा नाग फुफकार रहा है: 'पहले य निर्णय कर देवव्रत! कि तूने भौतिक कष्टों से बचने के लिए भौतिक सुखों को त्या

बन्धन |

है या पिता की कामना-पूर्ति के लिए अपने सुखों को तिलांजलि देकर स्वयं को जीवन के प्रत्येक सुख से वंचित किया है?'···

उन्हें लगा कि इस दुमुंहे नाग के दोनों मुंहों को एक साथ पकड़ पाना शायद उनके लिए सम्भव नहीं है···वे तो जैसे इन दोनों ही प्रकार के गौरव से गौरवान्वित होने का सुख प्राप्त कर रहे थे। पर दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? यदि धन, सत्ता और नारी से प्राप्त सुखों में सार नहीं है तो उन्होंने कोई त्याग नहीं किया: जो श्रेयस्कर था, वही किया।···पर यदि पिता की कामना का संयोग सामने खड़ा नहीं होता, तो क्या तब भी वे इन सुखों को असार मानकर त्याग देते?

और यदि ये सुख असार हैं तो वे पिता के लिए उन सुखों को क्यों जुटा रहे हैं। क्यों नहीं उन्हें भी इन सुखों की निस्सारता दिखाते।···क्यों उनके सामने प्रलोभन रखते हैं? क्यों उन्हें उन सुखों की ओर और भी प्रवृत्त कर रहे हैं? क्या पुत्र के रूप में वे अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं?···

और सहसा उनका मन इन शब्दों पर अटक गया···कर्तव्य का पालन ही तो कर रहे हैं वे। पिता की आज्ञा का पालन तो अधम पुत्र भी करता है; वे तो पिता की इच्छा का पालन कर रहे हैं।···यही उनका धर्म था। पुत्र के रूप में यही उनका परम धर्म था।

उन्हें लगा, उनके मन के सारे उद्वेग शान्त हो गये। थोड़ी देर पहले जो मन, सागर की उत्ताल तरंगों को झेल रहा था, जिसमें प्रत्येक क्षण एक ज्वार उठ रहा था, वह सहसा ही शान्त हो गया था। सारे संशयों ने पालतू कुत्ते के समान अपने स्वामी के सामने सिर टेक दिया था और पूंछ हिला रहे थे।···देवव्रत दिग्विजयी के समान उन्हें देख रहे थे···

पर सागर अधिक देर तक शान्त नहीं रहा। उसमें फिर से प्रश्नों की लहरें उठने लगीं: 'पिता और पुत्र का क्या सम्बन्ध है?'

देवव्रत जिस समाज में रहते हैं, वह समाज मानता है कि पिता ने पुत्र को जन्म दिया है। पिता ने पुत्र का पालन-पोषण किया है। इसलिए पुत्र पर पिता का पूर्ण अधिकार है। पुत्र, पिता की सम्पत्ति है। पुत्र, पिता के लिए जो भी कर दे, वह कम है। यह शरीर पिता का है, यह प्राण पिता के हैं···पर देवव्रत बहुत समय तक वनों और आश्रमों में रहे हैं। उन्होंने प्रकृति को बहुत निकट से देखा है—वनस्पति को भी और पशु-जगत् को भी। वनस्पति की उत्पत्ति, विकास और अवसान —तीनों को देखने से प्रकृति का स्वरूप उनके सामने प्रकट हुआ है।···वर्षा ऋतु आती है तो धरती का कण-कण जैसे सृष्टि करने को आतुर हो उठता है। कहीं, किसी प्रकार बीज डाल दिया जाये, किसी पौधे की शाखा तोड़कर लगा दी जाये, पृथ्वी उसे अपने गर्भ में धारण कर सप्राण कर देती है। उन पौधों का विकास होता है। उनमें फूल और फल आते हैं और वे पौधे फिर से अपने बीज में परिणत हो जाते

।···यह तो प्रकृति का चक्र है। इसे ही माया का प्रपंच कहते हैं क्या? शून्य में आकार प्रकट होता है और फिर वह आकार सिमटकर शून्य में समा जाता है···

पिता भी तो उसी प्रकार सृष्टि को आगे बढ़ाने का एक उपकरण मात्र है। उस पूरे वृत्त की निकटतम कड़ी। वह भी तो किसी और पौधे का बीज है, जो कुछ और पौधे उगाने का माध्यम बनता है। जो कुछ उसे प्रकृति से मिला है, वह उसे वापस प्रकृति को दे रहा है।···फिर अधिकार किस बात का माँगता है वह?

प्रकृति ने उसके मन में ममता भरी है, ताकि सन्तान का पालन-पोषण हो। मनुष्य अपनी वंचना को दूर करने के लिए सन्तान की इच्छा करता है—वंचित सन्तान की सुविधा के लिए स्वयं शरीर धारण नहीं करता। सन्तान में वह अपना विकास पाता है, इसलिए उसकी रक्षा करता है। उसका पोषण करता है···किन्तु देवव्रत ने अनेक बार देखा है कि सन्तान के समर्थ होने पर, पिता उसे अपने सुख का उपकरण मानने लगता है। पिता क्यों चाहता है कि उसके असमर्थ बुढ़ापे को सुखी बनाने के लिए, युवा सन्तान अपनी सारी जिजीविषा का दमन कर ले। अवसान की ओर बढ़ता हुआ पौधा क्यों चाहता है कि विकासोन्मुख पौधा पल्लवित और पुष्पित न हो?···पिता क्यों अपने पुत्र की ऊर्जा, प्राणवत्ता और उल्लास को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने नहीं देना चाहता? क्यों वह चाहता है कि वह अपना सामर्थ्य, अपना उल्लास, अवसानोन्मुखी पिता की झोली में डाल दे···?

पिता भी तो मनुष्य है। उसमें भी मानवीय दुर्बलताएँ हैं। उसकी बुद्धि भी उसे धोखा दे सकती है। फिर उसकी ही इच्छाएँ, कामनाएँ, निर्णय क्यों सत्य हैं? पिता और पुत्र की इच्छाएँ दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की इच्छाएँ होने के कारण समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। फिर पिता की इच्छा पूर्ति ही क्यों धर्म है?···

सहसा देवव्रत चौंके!···यह सब क्या चल रहा है उनके मन में—पितृद्रोह? क्या वे अपनी इच्छा से किए गये अपने निर्णय से असन्तुष्ट हैं? क्या उन्हें पश्चाताप हो रहा है?···

और देवव्रत ने जीवन में पहली बार अपना रूप पहचाना···उनके चिन्तन और कर्म के धरातल अलग-अलग हैं। गुरुकुलों में पढ़े हुए शास्त्र, गुरुजनों के उपदे
और नीतियाँ—बहुत गहरे उतर गये हैं ये सब, उनके रक्त में। कर्म करने की बा
आती है तो वे शास्त्र के नियमों को धर्म मानते हैं···पर चिन्तन के क्षणों में उन
मन उन नियमों के विरुद्ध अनेक प्रश्न उठाता है। शास्त्र के धर्म की मूलभूत सत्ता
चुनौती देता है।···कुछ कर नहीं पाते देवव्रत। उनका व्यवहार शास्त्र के ध
छोड़ नहीं पाता; और उनका मन अपने प्रश्नों से मुक्त नहीं होता।

इस द्वन्द्व से देवव्रत का निस्तार नहीं है।···

बन

पिता ने सत्यवती को पाने की इच्छा की थी । पुत्र-धर्म का निर्वाह करने
लिए, वे अपने पिता की इच्छा-पूर्ति हेतु सत्यवती को उसके पिता से माँग लाये है
...पर जब उनका मन प्रश्न उठाने लगता है कि पिता की एक अनुचित इच्छ
की पूर्ति उनका धर्म क्यों है ? सत्यवती को उसकी इच्छा जाने बिना, शान्तनु की
पत्नी बनने के लिए, देवव्रत को सौंप देने का दासराज को क्या अधिकार था ?...
किन्तु उन्हें इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता...धर्म क्या है ? अधिकार क्या
है ? स्थापित अधिकार को चुपचाप मान लेना धर्म है या अधिकार के औचित्य का
प्रश्न उठाना धर्म है ?...देवव्रत का सिर जैसे प्रश्नों के ज्वार से फटने लगा—धर्म
क्या है ?...धर्म क्या है ?...देवव्रत कुछ भी समझ नहीं पाते...उनका मन जैसे
हार मानकर अपना सिर टेक देता है...'धर्म की गति अति सूक्ष्म है देवव्रत !...'

[7]

रथ चला तो सत्यवती ने पहली बार दृष्टि उठाकर देवव्रत को देखने का प्रयत्न
किया : यह कौन पुरुष है, जो अपने जीवन का मूल्य देकर अपने वृद्ध पिता का सुख
खरीदकर ले जा रहा है ?

आगे-आगे दो अश्वारोही दौड़े जा रहे थे; कदाचित् वे हस्तिनापुर में पूर्व-सूचना
ेने के लिए जानेवाले धावक थे । उनके पीछे देवव्रत का रथ था । उसके पीछे-पीछे
ो रथ और थे, और तब वह रथ चल रहा था, जिसमें सत्यवती बैठी हुई थी । रथ
पीछे-पीछे अनेक अश्वारोही दौड़ रहे थे...जाने वे रथ की रक्षा के लिए थे, या
न उसका पीछा करने के लिए थे, या शायद राजा लोग मानते हों कि उससे
की शोभा बढ़ती है...पर सत्यवती को तो ऐसा ही लग रहा था जैसे उसके
के बच्चे किसी बड़े वाहन को देखकर खेल-खेल में ही उसके पीछे दौड़ने लगते
।

सत्यवती नहीं जानती थी कि इनमें किसका क्या पद है । पिछली बार जब
हस्तिनापुर के राजा शान्तनु आये थे, तब भी इसी प्रकार का जमघट लगा था
गाँव में । तब पहली बार उसने मन्त्री, अमात्य, सेनापति...और जाने ऐसे
ने नये-नये शब्द सुने थे । तब से वह इन शब्दों को सुनती आयी थी । उनके
कुछ-कुछ समझती भी थी और बहुत कुछ नहीं भी समझती थी ।...इस
वैसे ही बहुत सारे लोग, और बहुत सारे शब्द आये थे । अन्तर केवल इतना
स बार राजा के स्थान पर युवराज आये थे ।...
ाज की पीठ ही दिखायी पड़ रही थी, चेहरा नहीं दीख रहा था । सत्यवती
हुत इच्छा थी कि वह इस युवराज का चेहरा देखे । बाबा ने कहा था कि
दूसरों से एकदम भिन्न दिखायी देता है...उसका व्यवहार दूसरों से भिन्न
।

"पर क्या चेहरा भी···"

सत्यवती का अपना रंग-रूप घर में न अम्मा से मिलता था, न बाबा से। बाबा बताया था कि मछलियाँ पकड़ने के लिए गये हुए कुछ निषादों को वह यमुना की धारा में बहती हुई मिली थी। उसका रंग-रूप और वस्त्र इत्यादि देखकर बाबा को विश्वास हो गया था कि वह किसी क्षत्रिय राजा की सन्तान थी। उसके वस्त्र, उसके बहकर आने की दिशा और विभिन्न राज-परिवारों के विषय में सुनी-सुनायी चर्चा के आधार पर बाबा यह अनुमान ही लगाते रह गये थे कि वह किस राजा की पुत्री है···उसके माता-पिता का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला था और बाबा को, उसके राजकुमारी होने का कोई लाभ नहीं हुआ था। धीरे-धीरे बाबा के मन में यह भी स्पष्ट हो गया था कि यदि वे यह पता लगा भी लें कि सत्यवती किसकी पुत्री है, तो भी वे उसे उस राजा को शायद सौंप न पाएँ। सौंप देंगे तो एक तो पली-पलाई सन्तान हाथ से निकल जाएगी, फिर राजा से पुरस्कार-स्वरूप जो धन मिलेगा, उस पर उन निषादों का अधिकार अधिक बनता है, जिन्हें वह नदी में बहती हुई मिली थी···न सत्यवती ने कोई ऐसा व्यक्ति देखा था, और न बाबा ने ही, जो लाभ या स्वार्थ का अवसर आने पर एक कौड़ी भी किसी के लिए छोड़ देगा। नदी में जाल तो सब मिलकर ही डालते हैं; पर जिसके हाथ जो मछली लगती है, उसका मूल्य वही हथिया लेता है। सत्यवती बाबा को इसलिए सौंप दी गयी, क्योंकि वह मछली नहीं थी; और उस बच्ची को हाट में बेचकर उसका कोई मूल्य प्राप्त नहीं किया जा सकता था···

जब राजा शान्तनु आए थे तो ग्राम में हलचल मच गयी थी। सत्यवती को तो सारी बात उनके लौट जाने के बाद ही मालूम हुई थी। उनके लौट जाने के बाद बाबा ने कहा था, "बेटी! जब तू छोटी-सी थी, तब बहुत सोचा करता था कि तेरे जनकों को खोजकर तुझे उन्हें सौंप दूँ और बदले में अपने लिए थोड़ी सुख-सुविधा जुटा लूँ। पर तब वह हो नहीं सका। अब तू सयानी हो गयी है, और मुझे भी तुझसे अपनी सन्तान से बढ़कर मोह है।···अब तो तू पराये घर जायेगी ही; पर बेटी के रूप में नहीं, पत्नी और पुत्रवधू के रूप में। बेटी को ससुराल के लिए विदा करते हुए, माँ-बाप अपनी सुख-सुविधा का ध्यान नहीं करते। उस समय तो वे बेटी का ही सुख देखते हैं।"

सत्यवती चुपचाप बाबा को देखती रह गयी थी।

"तू राजा के घर से विदा होती बेटी! तो किसी युवराज से ब्याही जाती और ससुराल में राजरानी बनती। तेरा पुत्र बड़ा होकर राजा बनता।" बाबा ने कहा था, "पर तू इस असहाय दासराज के घर से विदा होगी, इसलिए तेरा स्वयंवर नहीं हो सकता। हम तो मछली बेचनेवाले हैं बेटी। अपनी ओर से तो प्रयत्न करेंगे कि मछली महँगी-से-महँगी बिके। पर बेचनी तो उसी भाव पड़ेगी, जिस भाव

ग्राहक मिलेगा। मछली का भाव वही होता है बेटी ! जिस भाव उसे ग्राहक खरीद ले···।"

"मैं समझी नहीं बाबा !" सत्यवती ने कहा था।

"मेरी दृष्टि में तेरा मूल्य बहुत ऊँचा है सत्यवती !" बाबा ने कहा था, "मेरा बस चले तो सारे संसार में से सबसे सुन्दर और बलिष्ठ क्षत्रिय राजकुमार को मैं तेरा वर चुनूं···पर वे लोग हमारी पहुँच से परे हैं बेटी !···भाग्य से आज राजा शान्तनु तेरा हाथ माँगने आये हैं···।"

सत्यवती ने दासराज की ओर देखा था, जैसे पूछ रही हो, 'कौन शान्तनु ?'

"हस्तिनापुर के राजा ! कुरुराज शान्तनु !"

सत्यवती की दृष्टि झुक गयी थी। इस विषय में वह क्या कहती बाबा से।

"उनका वय तुमसे बहुत अधिक है पुत्री ! तुम्हारी तुलना में उनको वृद्ध ही कहा जाएगा···।"

सत्यवती कुछ नहीं बोली थी।

"मैं इस सौदे में से ही अधिक से अधिक कमाना चाह रहा हूँ बेटी !" बाबा ने कहा था, "मैंने उनसे कहा है कि यदि वे वचन दें कि उनके पश्चात् तुम्हारा पुत्र हस्तिनापुर का राजा होगा, तो मैं तुम्हारा विवाह उनसे कर सकता हूँ।"

इस सारे सौदे में सत्यवती क्या कहती !

बाबा ही कहते गए थे, "वैसे तो झूठ बोलने में किसी का क्या खर्च होता है। राजा कह दें कि हाँ ! सत्यवती का पुत्र ही उनके बाद राजा बनेगा; और वे उसे राजा न बनाएँ, तो कोई क्या कर लेगा। सबसे बड़ी बात तो यह है बेटी !" दासराज का स्वर कुछ धीमा हो गया, "कि पुत्र तो राजा बनेगा, पिता के देहान्त के बाद ! जब राजा, शान्तनु दिवंगत हो जाएँगे, तो उनसे कौन पूछने जाएगा कि उन्होंने अपने वचन को क्यों नहीं निभाया।·· पर फिर भी यह राजा मुझे कुछ भला आदमी लगता है।"

"कैसे ?" सत्यवती पूछे बिना नहीं रह सकी थी।

"उसने वचन नहीं दिया है। वह झूठा वचन नहीं देना चाहता, इसलिए चुपचाप लौट गया है।"

सत्यवती की समझ में यह गोरखधन्धा नहीं आ रहा था।

"शान्तनु का एक बेटा है देवव्रत !" बाबा ने बताया था, "वह युवक है और बलिष्ठ है। युद्ध-कुशल और शूरवीर भी है। यदि राजा ने उसको युवराज-पद से वंचित किया, तो सम्भव है कि वह विद्रोह कर दे। और सत्या !" बाबा रुककर जैसे कुछ सोचने लगे, "यदि राजा मान भी गये, तो भी उनके देहान्त के बाद तुम्हारा नन्हा बालक देवव्रत से लड़कर अपना अधिकार ले पाएगा क्या ?"

जिस देवव्रत से स्वयं राजा शान्तनु डर रहे थे, उससे लड़कर सत्यवती का पुत्र राज्य कैसे ले लेता।···राजा शान्तनु अपनी राजधानी लौट गये और दासराज सोचता ही रह गया कि उसने अधिक के लोभ में कहीं कम को भी खो तो नहीं दिया।···

और तब स्वयं युवराज देवव्रत आये। उनसे बात कर जब बाबा ने सत्यवती को बताया कि पिता तो एक छोटा-सा वचन नहीं दे पाया था, पुत्र बड़े-बड़े दो वचन दे रहा है···सत्यवती को विश्वास नहीं हुआ था। पिता के दूसरे विवाह से देवव्रत को ऐसा कौन-सा लाभ होने जा रहा था, जिसके लिए देवव्रत ने आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा कर ली थी? यह प्रतिज्ञा पिता को प्रसन्न करने के लिए ही तो की थी न। पर, पिता को प्रसन्न करके क्या मिलेगा देवव्रत को—राज्य ही तो? पर वही राज्य ही तो त्यागने की प्रतिज्ञा कर ली है उन्होंने। केवल राज्य ही नहीं—स्त्री-सुख भी। क्यों की यह प्रतिज्ञा? इससे देवव्रत को कौन-सा सुख मिलेगा?···

बाबा ने कहा तो कुछ नहीं था, पर मन-ही-मन वे सशंक थे। सत्यवती को तो एकदम विश्वास नहीं हो रहा था।···पर कठिनाई तो यह थी कि वे यह भी नहीं मान पा रहे थे कि देवव्रत की प्रतिज्ञा झूठी है। यदि देवव्रत वह सबकुछ नहीं करना चाहता था, जो कुछ वह कह रहा था, तो उसके लिए कहीं अधिक सरल था कि वह प्रतिज्ञा करता ही नहीं। झूठी प्रतिज्ञा को तोड़कर कलंकित होने से तो अप्रतिज्ञा अधिक सरल थी···

देवव्रत को समझ पाना न तो पिता के लिए संभव था, न पुत्री के लिए। विदा से पहले बाबा ने सत्यवती को इतना ही कहा था, "पुत्री! नींव मैंने डाल दी है, अब उस पर प्रासाद उठाने का काम तो यथासमय तुम्हें ही करना है। स्वयं अपने-आप पर भरोसा रखना और किसी पर भी पूरा विश्वास मत करना।" बाबा ने जैसे उसे अपने जीवन के अनुभव का सम्पूर्ण निचोड़ दिया था, "ससार में न सज्जनों का अभाव है, न दुष्टों का। कौन जाने देवव्रत से किस सुख के प्रलोभन ने ऐसे त्याग की प्रतिज्ञाएँ करवायी हैं।···बस तुम अपना अधिकार मत छोड़ना।"

पिता के अनुभव के सामने सत्यवती क्या कहती! उसे जीवन का अनुभव ही क्या था; और मनुष्य की परख ही कितनी थी। मनुष्यों से अधिक तो वह मछलियों को ही पहचानती थी···और मछलियों का तो नियम ही था···बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है···पर मनुष्यों में?···सत्यवती सोचती है तो उसे लगता है कि मनुष्यों के विषय मे कोई एक सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। मानव-समा में भी अधिकांशतः मत्स्य-न्याय ही चल रहा है···अपने से छोटों को खाकर ही ले बड़े बनते हैं शायद।···अब शान्तनु भी तो देवव्रत को खा ही रहे हैं···पर मनु में बड़ी मछलियाँ, छोटी मछलियों की रक्षा करती भी देखी गयी हैं···जिसक

अनुभव हो···

और सत्यवती को अपना अनुभव नहीं भूलता···

पहले तो अन्य निषाद कन्याओं के समान सत्यवती भी मछली व्यवसाय में ही लगा दी गयी थी। कभी-कभी मछलियाँ पकड़ने भी जाती थी, पर अधिकांशतः उसका काम पकड़कर लायी गयी मछलियों को सँभालना ही था। वह मछलियों के इतने निकट रही थी, मछलियों के इतने बीच रही थी कि उसके वस्त्रों में ही नहीं, उसके अंगों में भी जैसे मछली की गन्ध समा गयी थी। और तो कोई कहता, सो कहता, उसे स्वयं अपने-आपसे ही गन्ध आने लगी थी—वह स्वयं अपने-आपको मत्स्य-गन्धा मानने लगी थी।···तब बाबा ने मछलियों का काम उससे छुड़वा लिया था। उसे धर्मार्थ नाव पर भेज दिया था।

यमुना को पार करने के लिए दिन-भर यात्री लोग आया-जाया करते। निषादों की असंख्य नौकाएँ दिन-भर नदी में चलती ही रहती थीं। पर बाबा ने सत्यवती को यात्रियों की वैसी किसी नाव पर नियुक्त नहीं किया था, जो शुल्क लेकर यात्रियों को नदी पार कराती थीं। ऐसी किसी नाव पर अपनी असाधारण सुन्दरी, युवती पुत्री को नियुक्त करना दासराज को अच्छा नहीं लगा था।···उन नौकाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग आते थे। साधारण यात्रियों के साथ धनी व्यापारी भी आते थे। देश-विदेश घूमे हुए लोग भी होते थे। उनके पास धन का आकर्षण था, चतुराई-भरी बातों का माया-जाल था···सत्यवती अभी नादान थी। जीवन तथा लोगों को अच्छी तरह समझती नहीं थी। ऐसे ही किसी प्रलोभन के भ्रमजाल में फँस जायेगी तो जाल में फँसी मछली का-सा कष्ट पायेगी···

दासराज ने अपनी प्रिय पुत्री को धर्मार्थ नौका पर नियुक्त किया था।··· यमुना के तट पर अनेक ऋषियों के आश्रम थे। तपस्वियों की तपोभूमियाँ थीं। साधु-संन्यासी, ऋषि-मुनि, सिद्ध-साधक, आते-जाते ही रहते थे। उनसे नदी पार कराने का क्या शुल्क लेना। उनके पास शुल्क देने के लिए होता भी क्या था। वन के कन्दमूल-फल। उनसे अधिक तो स्वयं निषादों के पास ही बहुत कुछ था···उन तपस्वियों को धर्मार्थ नौका पर ही नदी पार करायी जाती थी। उसी धर्मार्थ नौका पर नियुक्ति की थी दासराज ने सत्यवती की। तपस्वी नारी-सौन्दर्य से उदासीन थे। धर्म का धर्म रहेगा और युवती सत्यवती पुरुष की दृष्टि से सुरक्षित भी रहेगी··

उसी नौका पर एक दिन ऋषि पराशर आये थे। जब आये थे तो बहुत आत्म-लीन थे, जैसे किसी गहरी समस्या में डूबे हुए हों। अपने परिवेश से असम्पृक्त। जैसे ब्रह्माण्ड उनके पिण्ड से बाहर नहीं, उनके भीतर ही हो। नौका में बैठते हुए उन्होंने यह भी नहीं देखा कि नाव में कोई और है या नहीं, या नौका को चला कौन रहा

उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि नौका चलेगी भी या नहीं, और चलेगी तो कब
लेगी···

जब काफी समय बीत गया, दूसरा कोई यात्री भी नहीं आया; और पराशर कुछ
बोले भी नहीं तो सत्यवती को सबकुछ बड़ा अटपटा-सा लगने लगा। यमुना के
एकान्त घाट पर लगी हुई नौका और उसमें बैठे हुए पराशर और सत्यवती! सत्य-
वती अपने नारीत्व अथवा यौवन के प्रति कभी इतनी सजग नहीं हुई थी।···

इस अटपटी अवस्था से मुक्त कैसे हो? दूसरा यात्री जाने कब आये। आये न
आये। आखिर वह कब तक इस युवक तपस्वी के साथ, इस एकान्त स्थान में नौका
पर बैठी रहेगी···ठीक है, तपस्वी उसे कुछ कह नहीं रहा। वह तो उसकी ओर देख
भी नहीं रहा···पर सत्यवती का मन···उसका बोध···क्यों न सत्यवती उसे दूसरे --
किनारे पर छोड़ आये? दूसरे यात्रियों का होना क्यों आवश्यक है? यात्रियों की
संख्या का तो कोई नियम नहीं है···

सत्यवती ने चप्पू सँभाल लिये।

नाव चली तो पराशर का ध्यान जैसे कुछ बँटा। उनकी उचटती हुई दृष्टि
सत्यवती पर भी पड़ी और फिर जैसे फिसलती हुई आगे बढ़कर यमुना के जल पर
टिक गयी। दृष्टि टिकी तो जैसे उसे कुछ याद आया ··उसके मार्ग में एक नारी-
वदन आया था···तपस्वी की दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य में लुब्ध न रहकर वापस नारी-
सौन्दर्य पर लौट आयी। इस बार पराशर की जो दृष्टि सत्यवती की ओर लौटी
थी, वह निर्वैयक्तिक नहीं थी, वह असावधान भी नहीं थी, वह मूक भी नहीं थी···
वह एक पुरुष की दृष्टि थी, जो नारी के सौन्दर्य के भाव से दीप्त थी···दृष्टि आकर
सत्यवती की आँखों पर टिकी। सत्यवती की आँखें झुक गयीं। वह एकाग्र होकर
यमुना के जल को ताक रही थी, पर इस तथ्य के प्रति पूरी तरह सचेत थी कि युवक
तपस्वी की दृष्टि ने अब संकोच छोड़ दिया है। वह ढीठ हो गयी है।···पराशर
की दृष्टि सत्यवती की पलकों पर से जैसे फिसलकर गिरी और उसका आवरण
क्षत हो गया। इस आवरण के भीतर सिमटे तरल पदार्थ को अब मर्यादित रखना
कठिन था। वह सत्यवती के पूरे चेहरे पर फैल गया···वह सत्यवती की ग्रीवा से
होता हुआ उसके कन्धों पर थोड़ी देर टिका और फिर उसके सारे शरीर पर फैल
गया। पराशर की दृष्टि जैसे देखती नहीं थी, छूती थी। वह जहाँ से होकर बढ़ती
थी, जैसे रोम-रोम को सहला जाती थी। सत्यवती का शरीर थर-थर काँप र
था।·· उसकी समझ में एकदम नहीं आ रहा था कि उसका मन इतना घबरा क
रहा है। वह पहली बार नाव नहीं चला रही थी, न पहली बार कोई युवा पु
उसकी नाव में बैठा था। उसे किस बात की व्याकुलता थी? युवा तपस्वी की
में प्रशंसा थी और वह प्रशंसा सत्यवती के शरीर को जितना पिघला रही थी, उ
ही घबरा रहा था। वह लगातार अपने मन से पूछ रही थी कि य

बन्ध

क्या था ?···पर मन था कि कोई उत्तर ही नहीं दे रहा था···

"तुम बहुत सुन्दर हो सुनयने !" तपस्वी पहली बार बोला।

"मेरा नाम सत्यवती है तपस्वी !" सत्यवती समझ नहीं पा रही थी कि तपस्वी उसका नाम बिना पूछे क्यों उसे अपनी इच्छा से 'सुनयने' कह रहा है।

"तुम बहुत ही सुन्दर हो सत्यवती !" इस बार तपस्वी निस्संकोच बोला, "तुम्हारे नयन, तुम्हारे अधर, तुम्हारी ग्रीवा, तुम्हारी आकृति, तुम्हारा अंग-संचालन···ओह सत्यवती ! तुम नहीं जानतीं कि तुमने मेरे मन को किस प्रकार मथकर रख दिया है।"

सत्यवती लगातार अपने-आपसे पूछ रही थी कि वह इतना डर क्यों रही है ?···अपने रूप की प्रशंसा सबको अच्छी लगती है, और फिर वह भी नारी··· तपस्वी उसके रूप की प्रशंसा कर रहा था और वह इस प्रकार भयभीत हो रही थी, जैसे सामने कोई भयंकर संकट आ खड़ा हुआ हो।···उसके रूप की प्रशंसा करता तपस्वी कितना कमनीय लग रहा था और उसका मन जैसे मुष्टि प्रहार कर-करके उसे कह रहा था, 'सत्यवती ! सावधान। सावधान सत्यवती !'

सहसा सत्यवती सचेत हुई। उसके हाथ काँप रहे थे। उसके चप्पू सीधे नहीं पड़ रहे थे। नाव डोल रही हो, तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं।···वह अपने मार्ग से भटक गयी थी। यह यमुना का कोई और क्षेत्र था···एक छोटा-सा द्वीप निकट था···द्वीप में कमल-ही-कमल खिले हुए थे···सत्यवती को लगा, उसके मन में भी कमल-वन खिल आया है; किन्तु साथ ही उसके माथे पर पसीना भी उग आया था, जैसे कमल-दलों पर ओस की बूंदें आ टिकी हों···

तपस्वी अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ, "संयम असम्भव हो गया है देव-सुन्दरी ! तुम अप्सरा होते हुए निषाद-कन्या का वेश बनाये क्यों बैठी हो।"

तपस्वी ने उसकी ओर पग बढ़ाया।

नाव डगमगा गयी। सत्यवती ने उसे द्वीप के साथ टिका दिया। उसके मुँह से जैसे अनायास ही निकल गया, "मैं निषाद-कन्या ही हूँ तपस्वी ! मत्स्य-गन्धा हूँ मैं। मेरे शरीर से मत्स्य की गन्ध आती है।"

तपस्वी खुलकर हँस पड़ा और उसने जैसे स्वतःचालित ढंग से सत्यवती की बाँह पकड़कर उसे उठाया, "मछलियों के बीच रहकर, मत्स्य-गन्धा हो गयी हो; पर हो तुम काम-ध्वज की मीन ! मेरे साथ आओ। इस कमल-वन में विहार करो और तुम पद्म-गन्धा हो जाओगी।"

सत्यवती जैसे तपस्वी द्वारा सम्मोहित हो गयी थी। उसने अपनी बाँह छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया···पर उसका विवेक जैसे हाथ में कशा लिये लगातार उसे पीट रहा था, 'यह ठीक नहीं है सत्यवती ! यह ठीक नहीं है। सँभल जा। तू जानती भी है, तेरे माता-पिता क्या कहेंगे। तेरा समाज क्या कहेगा। तेरा यह शरीर तेरा

अपना नहीं है। इस पर तेरे समाज का अधिकार है। उससे पूछे बिना न तू इससे सुख उठा सकती है, न किसी को इससे सुख दे सकती है।'...पर शरीर था कि विवेक की बात पर कान ही नहीं धर रहा था। उसका रोम-रोम शिकायत कर रहा था कि तपस्वी ने उसकी बाँह ही क्यों थाम रखी है, वह उसके शरीर को क्यों नही थामता...क्रमशः शरीर के उद्घोष में विवेक का स्वर कहाँ डूब गया, उसे पता भी नहीं लगा...

दोनों द्वीप पर आये और बिना किसी योजना के अनायास ही एक-दूसरे की इच्छाओं को समझते चले गये। तपस्वी इस समय तनिक भी आतमलीन नहीं था। उसका रोम-रोम सत्यवती की ओर उन्मुख ही नहीं था, लोलुप याचक के समान एकाग्र हुआ उसकी ओर निहार रहा था'' सत्यवती को लग रहा था, जैसे वह मत्स्य-गन्धा नहीं, मत्स्य-कन्या है। यह सरोवर ही उसका आवास है। चारों ओर खिले कमल उसके सहचर हैं।...वे दोनों दो तितलियों के समान आगे-पीछे उड़ रहे थे, जो कभी किसी फूल की पंखुड़ी पर जा बैठती हैं, कभी किसी अधखिली कली पर...

उन्हें पता ही नही चला कि वे कब, कहाँ, और कितनी देर तैरे। कितनी देर फूलों में रहे। कितने कमल उन्होने तोड़े। कितने कमलों से तपस्वी ने सत्यवती का शृंगार किया।...सत्यवती के केशों में कमल के फूल गुँथे थे, उसके गले में कमलो के हार झूम रहे थे, इतने कि उसका वक्ष कमलमय हो गया था। उसकी कलाइयो में कमल-वलय थे, उसकी कटि में कमल की करधनी थी, उसके पैरो मे कमल की पैंजनियाँ थी और वह स्वयं कमल-सरोवर बनी हुई तपस्वी की भुजाओं के कगारों में इठला रही थी। तपस्वी उसे बार-बार प्यार कर रहा था, "मेरी पद्म-गन्धा, मेरी पद्म-गन्धा...।"

सत्यवती को लग रहा था, उसके रोम-रोम मे जैसे कमल-गन्ध समा गयी है, उसके श्वास जैसे कमल-गन्ध से महक रहे हैं और उसके हृदय का ज्वार, सागर की किसी भी उत्ताल लहर से कम ऊँचा नही था...

रथ रुक गया। आगे जाते हुए रथ पहले ही रुक चुके थे, पीछे आनेवाले दल ने भी रुकने के सकेत मे अपनी दाहिनी भुजाएँ उठा रखी थीं।

सत्यवती जैसे स्वप्न से जागी...वह यमुना के उस द्वीप के कमल सरोवर तट पर नही थी, वह कुरुकुल का अंग बनने के लिए रथ मे हस्तिनापुर जा रही थी...

उसने औचक ही चरणों में बैठी दासियो की ओर देखा, जैसे पूछना चाह रही हो—'क्या हस्तिनापुर आ गया?' साथ ही लग रहा था कि उनके मुख से

बन्ध

निकलते ही, उसके शरीर से जैसे प्राण भी निकल जायेंगे···

"स्वामिनी ! थोड़ा विश्राम कर लें !" सारथि ने बहुत आदरपूर्वक हाथ जोड़कर कहा, "हस्तिनापुर पहुँचने में अभी प्रहर भर और लगेगा।"

सत्यवती कुछ समझ नहीं पा रही थी···आज तक वह एक निषाद-कन्या थी, जो यमुना में धर्मार्थ नाव चलाकर यात्रियों को नदी पार कराती थी। लोग उसे आदेश देते थे : मीठा-कड़वा कुछ भी कह देते थे। ऐसा रथ, सारथि और रथी देखती तो भय से सत्यवती के प्राण सूख जाते थे···और आज यह सारथि इतने विनीत भाव से उसे स्वामिनी कह रहा था और वह उसी संबोधन की मर्यादा में बँधी उससे यह भी पूछ नहीं पा रही थी कि उसे थोड़ा जल मिल सकेगा क्या ?

वह कुछ कहती या कहने के लिए सोच पाती, उससे पहले ही उसे देवव्रत अपनी ओर आते दिखायी दिये।···इसी पुरुष को वह कितना देखना चाह रही थी। पर उसे अपनी ओर आते देख सत्यवती की आँखें ही नहीं उठ रही थीं : नहीं ! यह नारी की लज्जा नहीं थी। उस लज्जा का अनुभव उसने केवल ऋषि पराशर के सम्मुख किया था। अन्य पुरुष जैसे उसके लिए पुरुष ही नहीं थे।···तो फिर क्यों नहीं देख पाती वह कौरवों के इस युवराज की ओर ? उसके राज-वैभव का आतंक था या इस देव-पुरुष को सदा के लिए वंचित करने की अपराध भावना ?

सेवकों ने एक घने वृक्ष की छाया में बैठने के लिए आसन लगा दिया। पीने के लिए जल और खाने के लिए कुछ फल रख दिये।

देवव्रत ने आकर बहुत ही कोमल स्वर में कहा, "माता ! कुछ जलपान कर लें।"

सत्यवती ने अकबकाकर देवव्रत की ओर देखा। इस वय के युवक के मुख से अपने लिए 'माता' संबोधन की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। संभवतः वय की दृष्टि से युवराज उससे बड़े थे···किन्तु सम्बन्ध···हाँ ! सम्बन्ध की दृष्टि से सत्यवती, देवव्रत के पिता की पत्नी होने जा रही है···तो पुत्र ही तो होंगे देवव्रत···

सत्यवती कुछ बोली नहीं।···सम्बन्ध कुछ भी हो, किन्तु अभी तक भीतर से वह एक साधारण निषाद-कन्या ही थी, जिसने अपने जीवन में पाठशाला या गुरुकुल का कभी मुँह भी नही देखा था। घर में साधारण खाना पकाना सीखा था, बाहर निकली तो मछलियों और नौकाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया···उसकी भाषा तो वैसी नही है, जैसी देवव्रत बोलते हैं, न ही उसका स्वर उतना शालीन हो पायेगा···वह चाहे भी, तो भी नहीं···फिर देवव्रत तो राजकुमार हैं, कुरु राज्य के युवराज ! सत्यवती न उस राजसी वेशभूषा, राजसी व्यवहार, राजसी वैभव के आतंक को धो सकती है, न अपने मन के चोर को चुप करा सकती है।···उसके मन में जैसे कोई बूढ़ा सुग्गा जमकर बैठ गया था, जो देवव्रत का विचार आते ही अपना रटा हुआ वाक्य घोषणा के रूप में दुहराने लगता था, 'सत्यवती ! तूने इसका सब-

…छ चुरा लिया है।'…सच ही तो देवव्रत अब युवराज कहाँ रहे? यह रथ, यह किरीट, ये आभूषण, यह राजसी ठाट…यह सब तो अब सत्यवती की भावी सन्तान का है। यह तो देवव्रत तभी तक ढो रहे हैं, जब तक सत्यवती की सन्तान जन्म नहीं लेती…

वह रथ से उतरी। दासियों ने सहारा दिया। पर रथ से उतर आने पर भी सत्यवती के मन में यह भय बना ही रहा कि कहीं उसके पैर लड़खड़ा न जायें।

सत्यवती आसन पर बैठ गयी तो देवव्रत अश्वारोहियों की ओर लौट गये। अब सत्यवती थी और दो दासियाँ। अपनी सामान्य स्थिति में सत्यवती को इन दासियों से तनिक भी भय नहीं लगता। वह बहुत सहजता से उनसे समानता का व्यवहार कर सकती थी। उनके गले में बाँहें डाल, उल्लास से नाच भी सकती थी; किन्तु जिस पद पर उसे ला बैठाया गया था—उसकी मर्यादा इसमें थी कि वह उनके साथ समानता का व्यवहार न करे। उनसे बड़ी बनकर दिखाये… स्वयं को ऊँचा और उन्हें नीचा माने…और यह सब उसे आता नहीं था…

प्यास लग रही थी। क्या करे वह? सत्यवती ने पात्र उठाकर पानी पी लिया …यदि वह राज-परिवार की मर्यादा के उपयुक्त नहीं है, तो न सही। पानी तो उसे पीना ही है। प्यास तो राजाओं को भी लगती ही होगी और पानी तो वे भी अपने हाथ से उठाकर ही पीते होंगे। कोई बच्चे तो हैं नहीं कि दास-दासियाँ, माता-पिता के समान अपने हाथ में पात्र लेकर उन्हें पानी पिलाते होंगे…

पानी पीकर उसने पात्र चौकी पर रखा तो एक दासी ने अपने दोनों हाथों में फल उठाकर, अत्यन्त सम्मानपूर्वक उसकी ओर बढ़ाये।

सत्यवती ने एक फल उठा लिया। फल उसके लिए नया था। जाने क्या नाम था उसका। यमुना-तट के अपने परिचित वनों में से किसी वृक्ष पर उसने ऐसा फल नहीं देखा था। इन राज-परिवारों में फल भी जाने किन वृक्षों से आते हैं…

यात्रा पुनः आरम्भ हुई। जाने क्यों सत्यवती के कानों में देवव्रत का सम्बोधन 'माता', 'माता' बार-बार गूँजता ही चला गया…उसकी आँखों की पुतलियों से एक सद्यःजात बालक जैसे चिपक गया था। नन्हा-सा बालक था—आँखें बड़ी-बड़ी, जैसे किसी मद में डूबी हुई हों। होंठ कोमल और सुन्दर आकार के थे, पर वह किसी गम्भीर वयस्क के समान उन्हें बन्द किये हुए था। साँवला रंग था।… नन्हे-से शिशु के समान न तो उसके चेहरे पर दिव्य मुस्कान थी और न वह किसी शारीरिक य[illegible] मानसिक पीड़ा से रो रहा था…वह शान्त भी नहीं था…वह तो जैसे किसी गह[illegible] चिन्तन में डूबा हुआ था…

कमल सरोवर वाले यमुना के द्वीप से लौटकर सत्यवती घर आयी तो अम्मा ने हल्के से पूछा था, "क्या बात है सत्या ! आज बहुत देर कर दी।"

सत्यवती क्या कहती···उसे तो ध्यान ही नहीं था कि वह कहाँ गयी, किस समय गयी, किस समय लौटी···उसे तो अपने चारों ओर कमल-वन खिले हुए दिखायी पड़ रहे थे और उसकी नासिका में जैसे कमल-गन्ध स्थायी रूप से जम गयी थी। उसे स्वयं अपने आपसे अब भी मत्स्य-गन्ध नहीं, कमल-गन्ध आ रही थी। वह पद्मगन्धा थी।···और इसका ध्यान आते ही भय से जैसे अपने भीतर सिमट गयी···अम्मा ने भी यह पद्म-गन्ध सूँघ ली तो ?···

"हाँ माँ ! देर हो गयी।"

वह भीतर चली गयी। माँ भी अपने कामों में लग गयी। दो-एक बार किसी न किसी कारण से माँ ने पुकारकर उसे बाहर आने के लिए कहा भी, तो वह टाल गयी, "बहुत थक गयी हूँ माँ !"

माँ ने फिर नहीं पुकारा और सत्यवती अपने में डूबती चली गयी।

···आज जैसे सारा संसार ही बदल गया था उसके लिए। संसार इतना मादक है, यह उसने इससे पहले कभी नहीं जाना था। सुख मन में है, शरीर में है या बाहर संसार में है ?···उसने कभी सोचा था यह ! आज मन में जाने कैसा उल्लास था, शरीर का रोम-रोम पुलक से भर गया था। संसार के अनेक रहस्य अनायास ही उसके सामने खुल गये थे और जाने क्यों संसार और भी रहस्यपूर्ण हो गया था। भीतर जैसे एक चिगारी-सी फूटी और 'अग्नि' को पाने की व्याकुलता में प्राण अधीर हो उठे थे···

किन्तु मादकता की इस घनी परत के नीचे कहीं बाबा का ध्यान भी सुगबुगा रहा था···यदि बाबा को इस बात की सूचना हो गयी तो ? बाबा उसके इस सम्बन्ध को किस दृष्टि से देखेंगे ?···प्रसन्न होंगे ? दुखी होंगे ? या कुछ भी नहीं कहेंगे ?···

प्रसन्न कैसे होंगे ?···अपनी पुत्री के किसी पुरुष से विवाह-पूर्व सम्बन्धों को जानकर कोई पिता कभी प्रसन्न हुआ है कि बाबा होंगे। निषादों में तो आये दिन कोई-न-कोई ऐसा ही झगड़ा-टण्टा खड़ा होता ही रहता है···जब कभी किसी कन्या के इस प्रकार के सम्बन्ध का पता बाबा को लगा, बाबा ने बहुत निर्मम होकर उसे दंडित किया है। और अब अपनी ही पुत्री···

···और फिर एक निषाद-कन्या के एक निषाद-पुत्र से सम्बन्ध की बात कुछ भिन्न भी है। उनका तत्काल विवाह हो सकता है। उनके विवाह में न माता-पिता को विशेष आपत्ति होती है, और न निषाद समाज को।···किन्तु सत्यवती की बात और है···बाबा की दृढ़ धारणा है कि वह राज-कन्या है···किसी क्षत्रिय राजा की पुत्री ! उसका विवाह, बाबा निषाद समाज में नहीं करना चाहेंगे। वे उसके लिए

सी क्षत्रिय राजकुमार का स्वप्न देख रहे हैं···पर यह तपस्वी निषाद नहीं है, तो
त्रिय राजकुमार भी नहीं है···बाबा किसी भी रूप में इस विवाह के लिए तैयार
हीं होंगे···जीवन की कोई सुख-सुविधा नहीं है, उस तपस्वी के पास। होने की
कोई सम्भावना भी नहीं है।

उसके मन ने करवट बदली···बाबा को बताना बहुत आवश्यक है क्या?···
कल भी वह अपनी नौका लेकर तपस्वी के पास चली जाये और लौटकर न आये
तो?···वे, वहीं, उस द्वीप पर अपने लिए एक कुटिया बना सकते हैं। उनके खाने के
लिए वन में बहुत फल हैं; पीने के लिए यमुना का जल है; क्रीड़ा के लिए वह कमल-
सरोवर है···

उसका तन जैसे पुलक उठा।

पर कैसा हठी था मन। उसका सुख, मन से देखा ही नहीं जा रहा था। तत्काल
मन ने एक दूसरी ही युक्ति सामने ला रखी···नाव खेना केवल सत्यवती को ही तो
नहीं आता। सारे निषाद यही काम करते हैं। सत्यवती तो केवल यात्रियों को यमुना
के आर-पार, लाने-ले जाने की ही अभ्यस्त है, निषाद युवक तो अपनी नौकाओं में
बहुत दूर-दूर की यात्राएं करते हैं। वह द्वीप उनकी पहुंच से बाहर नहीं है। सत्यवती
और तपस्वी कितने दिन छिपे रह सकते हैं, उनकी आंखों से। वे सायास या संयोग
से, किसी भी दिन उस द्वीप पर भी पहुंच सकते हैं।···नहीं। सत्यवती अपनी दुर्गति
नहीं करवाना चाहती। वह अपने बाबा के मुख से अपने लिए वही दण्ड उच्चरित
होते नहीं सुनना चाहती, जो ऐसी स्थिति में अन्य निषाद कन्याओं के लिए होता
है···

प्रातः सत्यवती कुछ जल्दी ही तैयार हो गयी। वह जब बड़े उत्साह में गुनगुनाती
घर से बाहर निकली तो अम्मा ने पीछे से टोका, "अरी इतनी मग्न हुई-सी कहां
चली जा रही है, इतनी भोर को?"

सत्यवती चौंकी। बिना कुछ बताये ही अम्मा बहुत कुछ समझ रही हैं। वे
जानती हैं कि वह मग्न है।···सत्यवती ने मन को चेताया, 'चौकस रहना। भोली
नहीं हैं अम्मा हमारी। आकाश पर उड़ते पक्षी को पहचानने वाला धोखा खा
जाये, पर अम्मा तो निषाद-पुत्री भी हैं और निषाद-पत्नी भी। निषाद पुरुष
केवल नाव चलाता है, या जाल फैलाता है। वह शरीर से बलिष्ठ हो सकता है
जल के भीतर की थाह तो निषाद स्त्रियां ही पा सकती हैं। वे नाव में बैठी हु
की ऊपरी थिरकन को देखकर बता सकती हैं कि उसके भीतर कौन-सी मछलि
और कितनी संख्या में हैं। निषाद पुरुष जाल फेंकने से पहले अपनी स्त्री
[illegible] है। संकेत मिलता है तो जाल उछाल देता है, नहीं तो जा
बन

हाथ में ही सिमटा रहता है।···जिनकी आँखें, जल की अथाह गहराई में सबकुछ देख लेती हैं, उन निषाद स्त्रियों की मुखिया—अम्मा—अपनी बेटी के चेहरे को देख यह नहीं भाँप पायेंगी कि उसके मन में क्या है? चेहरे से मन की दूरी ही कितनी है? और सत्यवती का मन उतना गहरा भी तो नहीं है, जितना कि यमुना का जल···अम्मा से कुछ छिपाकर रखना कठिन ही होगा···'

"अपनी नौका पर जा रही हूँ अम्मा!" सत्यवती ने सहज होने का प्रयत्न किया।

वह बाहर आ गई थी और नहीं चाहती थी कि लौटकर अम्मा के सामने पड़े। ऐसा न हो कि अम्मा उसके चेहरे से कुछ और भी भाँप लें। "दो-चार फेरे अधिक लगा लेगी तो कौन बदले में राज्य पा जायेगी।" अम्मा ने पीछे से कहा, "धर्मार्थ नौका पर इतनी भोर जाने का कोई धर्म नहीं है। वहाँ कौन बैठा तेरी बाट जोह रहा है।"

"जाने कोई दुखिया रात से ही अटका हो कि भोरे हो तो उस पार जाये।" सत्यवती स्वयं हैरान थी कि वह क्या कह गयी।

पर अम्मा इस सरलता से माननेवाली थीं क्या, "पथिक है या चकवा।" वे बोलीं, "कि रात-भर चकवी से विलग हो रोता रहा हो।"

सत्यवती का मन कह रहा था, 'वह चकवा ही है अम्मा! रात-भर बापुरे की आँख नहीं लगी होगी।'···पर उसके विवेक ने जैसे जिह्वा को-सी दिया, 'चुप रह दुष्टा! तू तो सत्यानाश कराकर रहेगी।'

सत्यवती कुछ नहीं बोली, तो अम्मा ही बोलीं, "तेरे यात्री तो तापस-तपस्वी होते हैं। वे प्रातः अपनी पूजा-उपासना में लगे होंगे। इस ब्रह्म मुहूर्त में नदी पार करने को उत्सुक तो कोई तपोभ्रष्ट योगी ही होगा।"

सत्यवती का मन नाच-नाचकर कह रहा था, 'अम्मा! जाने वह कैसा योगी है, पर मैं उसी की जोगन हूँ। तू मुझे रोककर अपने तप से भ्रष्ट मत कर।'

पर सत्यवती को रुकना पड़ा। न रुकती और अम्मा हठ पकड़ जातीं तो संकट और भी बढ़ जाता।···पर यह रुकना कितना तड़पा गया था सत्यवती को। जितनी देर घर में रही, जाल में फँसी मछली के समान तड़पती रही।···घर से जब चली तो ऐसे चली, जैसे धनुष से बाण छूटा हो।···एक बार मन में आया भी कि वह तो ऐसे भागी जा रही है, जैसे सचमुच तपस्वी सारी रात वहीं बैठा रहा हो। जाने वह कहाँ होगा···जाने उसका स्थान कहाँ है। कहीं है भी या रमता जोगी···

पर उसने अपनी आशंकाओं को हठपूर्वक झटक दिया और जैसे उनसे खेल-सा करती हुई बोली, 'हाँ! हाँ! मेरे तपस्वी का स्थान यमुना के तट पर मेरी नौका के पास है। वह तपस्या कर रहा होगा, मेरे दर्शनों के लिए।···'

पर उसका परिहास चल नहीं पाया। जाने अचानक क्या हुआ···हृदय धक्-

रह गया···यह तपस्वी है···ऋषि पराशर। तपस्वी को कोई मोह-ममता नहीं
ती। किसी भी क्षण मन में समा गया कि यह सब मोह-माया है, तो सारे बन्धन
ोड़कर चल देगा योगी।···संसार के सारे सुख-वैभव को ठुकराकर तपस्या करने
वाले तपस्वी को सत्यवती का रूप बांध लेगा क्या? उसका तपस्वी साधारण संन्यासी
नही है कि गृहस्थी से परेशान होकर, केश बढ़ा, आँखें मूंदकर बैठ गया हो···वह
ऋषि पराशर है, वसिष्ठ का पौत्र, शक्ति का पुत्र, जिसकी राज-परिवारों में भी
मान्यता है। ये आर्य राजा कितना सम्मान करते हैं ऋषियों का। एक बार किसी
राजकुमारी को भी माँग लें, तो राजा के मुख से 'ना' नही निकलेगा···

आशा-निराशा के बीच ऊब-डूब करती सत्यवती, यमुना-तट पर अपनी नौका
के पास पहुँची थी और देखकर अवाक् खड़ी रह गयी थी : तपस्वी उसकी नौका में
समाधि लगाये बैठा था।

सत्यवती का मन हुआ, दौड़कर जाये और अपने तापस के गले में बाँहें डाल
दे···पर आसपास अनेक निषाद स्त्री-पुरुष थे। वैसे भी सत्यवती का मन तो बौराया
हुआ था। उसकी मानकर चलती तो सब मटियामेट हो जाता।

उसने बहुत धीरे से नाव में पैर रखा ताकि न नाव डोले, न तपस्वी का ध्यान
भंग हो। बिना शब्द किये, उसने चप्पू उठा लिये और नाव को खिसकाया। नाव
डोली तो तपस्वी ने आँखें खोल दीं और उसके अधरो पर एक अलौकिक मुस्कान
आ विराजी···

"बड़े कच्चे साधक हो।" सत्यवती वक्रता से मुस्करायी, "इतनी-सी बात से
समाधि भंग हो गयी।"

"तपस्या के वरदान-सी तुम आयीं तो समाधि का सुख चाहिए किसको?" वह
मुस्कराया।

"यह क्यों नही कहते कि बगुले के समान आँखें मूंदने का नाटक कर, मछली
के आने की राह देख रहे थे। मछली दिखी तो उचक ली। अब ध्यान कर करना ही
क्या है।" जाने कौन-सी ऊर्जा उसे इतना वाचाल बना रही थी।

तपस्वी हँसा। उसके श्यामल चेहरे पर उसके उजले दाँतो की पंक्ति सत्यवती
के मन में मेघों भरे आकाश में उड़ती बगुलो की पाँत का बिम्ब जगा गयी।

"तपस्वी! तुम्हें मेरी बात बुरी तो नही लगी?"

"बुरी क्यों लगेगी?"

"समाज में तुम्हारी प्रतिष्ठा है और मैं···।"

"तुम कवयित्री हो पद्मगन्धा! तुम्हारे मुख से प्रकृति का संगीत झरता है
तपस्वी ने उसे मुग्ध दृष्टि से देखा, "तुम अपना महत्त्व नहीं जानतीं। कैसे जानो
तुम्हारे पास अपनी दृष्टि है, मेरी नहीं। मैंने आज तक केवल अपनी माँ का र
देखा था और उसी पर मुग्ध था···।"

बन्ध

"तुम्हारी माँ बहुत सुन्दर है ?" सत्यवती ने उसे टोक दिया, "कहाँ रहती हैं तुम्हारी अम्मा ?"

"मेरी माँ तो सब जगह रहती हैं।"

"सब जगह ?"

"हाँ ! सब जगह ! मैं तो माता प्रकृति की बात कर रहा हूँ।" तपस्वी की आँखों का मुग्ध भाव क्रमशः उसके चेहरे पर संचित होता जा रहा था, "मैंने आज तक प्रकृति से सुन्दर कुछ भी नहीं देखा था। पर कल तुम्हें देखा, तो लगा, प्रकृति का सारा सौन्दर्य तुममें केन्द्रीभूत हो गया है। पद्मगन्धे ! तभी मेरी समझ में आया कि माँ की आवश्यकता पुरुष को तभी तक होती है, जब तक वह अबोध होता है। बोध होने पर उसे माँ की नहीं, प्रिया की आवश्यकता होती है, जिससे वह अपने वयस्क प्रेम की प्रतिध्वनि पा सके…"

"तपस्वी ! तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आ रही।"

"शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक नहीं प्रिये ! मेरे मन का अर्थ तुम समझ रही हो।" तपस्वी मुस्कराया, "वयस्क होने पर पुरुष समझता है कि माँ प्रकृति का सारा सौन्दर्य नारी में संचित होता है; और नारी-सौन्दर्य का केन्द्रीभूत स्वरूप तुम हो पद्मगन्धे !"

सचमुच सत्यवती उसके शब्द नहीं समझ रही थी, पर उसके मन को समझ रही थी। उसके लिए इतना ही पर्याप्त था कि तपस्वी उसकी प्रशंसा कर रहा था। शब्द न भी समझे तो क्या। जब यज्ञ होता है और ऋषि लोग ऋचाओं का गायन करते हैं तो भी सत्यवती को शब्द समझ में नहीं आते, पर सत्यवती समझती है कि वे ईश्वर की उपासना कर रहे हैं।

नौका फिर उसी द्वीप में आ लगी थी। तपस्वी ने उसका हाथ पकड़कर उसे नौका से उतारा।…पर आज सत्यवती का मन उल्लसित होते हुए भी आशंकित था। वह सरोवरों में कमल-दलों के बीच, तपस्वी के साथ मत्स्य-कन्या के समान तैरना नहीं चाहती थी…वह उद्यानों में दो तितलियों के समान पुष्प-पराग का पान करते हुए उड़ना नहीं चाहती थी…वह आज एकान्त वृक्ष की छाया में तपस्वी के पास बैठकर शान्ति से कुछ गम्भीर बातें करना चाहती थी…जाने एक ही दिन में वह इतनी प्रौढ़ कैसे हो गयी थी…

"तपस्वि ! तुम्हें यह तो नहीं लगता कि मैं तुम्हारी तपस्या के मार्ग में विघ्न बनकर आयी हूँ ?" वह अत्यन्त गम्भीर थी।

तपस्वी ने दोनों हाथों से उसके कन्धे थाम लिये, "पद्मगन्धे ! तुम मेरी तपस्या की बाधा नहीं, तपस्या की परिणति हो…।"

सत्यवती नहीं समझ पायी कि वह उसकी प्रशंसा कर रहा है या नहीं !

"आज तुम कुछ न भी कहो," वह बोली, "पर कल तुम्हें लगने लगे कि मेरे

तपोभ्रष्ट हो गये हो। तुम्हें मुझसे वितृष्णा हो जाये तो मैं कहीं की नहीं
बाबा मुझे ऋषि विश्वामित्र की कहानी सुनाया करते थे। ऋषि मेनका के
विहार करते रहे, पर जब शकुन्तला गोद में आ गयी तो उसे फेंक, वन में
करने चल दिये।"

तपस्वी मुस्कराया, "चिन्ता मत करो प्रिये! प्रत्येक तपस्वी विश्वामित्र नहीं
। तुमने हमारे उन महान् तपस्वियों के विषय में नहीं सुना, जो गृहस्थ हैं।
नी पत्नी और सन्तान के साथ रहकर साधना करते हैं।..." तपस्वी ने सत्यवती
अपनी बाँहों में ले लिया, "और विश्वामित्र ने मेनका को नहीं छोड़ा था।
नका ने ही विश्वामित्र को छोड़ दिया था। वह किसी की पत्नी नहीं हो सकती
थी। वह तो इन्द्र के दरबार की अप्सरा थी। ऋषि की तपस्या भंग करने आयी
थी। अपना लक्ष्य पूरा कर इन्द्रलोक लौट गयी।... क्या तुम भी मुझे छोड़कर चली
जाओगी?"

सत्यवती क्या कहती! वह स्वयं नहीं जानती थी कि उनके भाग्य में क्या है।
वह अम्मा और बाबा पर इतनी आश्रित थी कि स्वयं स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय
करने की बात वह सोच ही नही सकती थी। बाबा इस विवाह के लिए तैयार होंगे
क्या?...

और तपस्वी अपनी मौज में कहता जा रहा था, "हम हिमालय की तलहटी में
किसी ऐसे स्थान पर एक कुटिया बनायेंगे, जहाँ पास ही कोई स्वच्छ नदी बहती
हो। हो सकता है कि मैं एकान्त साधना न कर कोई आश्रम स्थापित करूँ। शिष्यों
की कोई कमी नही होगी। मैं शिष्यों को पढ़ाऊँगा। साधना कर अपना आध्यात्मिक
अनुभव बढ़ाऊँगा और तुम गृहस्थी के छोटे-बड़े काम सँभालना। शेष समय में तुम
भी अध्ययन करना। तुम्हारी बुद्धि तीक्ष्ण है। अधिक समय नही लगेगा। बहुत
जल्दी विदुषी हो जाओगी। मैं तुम्हारे आनन से पढ़ सकता हूँ, तुम असाधारण
महत्त्व की नारी हो। नौका खेने के लिए भगवान ने तुम्हें यह रूप नही दिया
है...।"

सत्यवती के मन की आशंकाएँ अट्टहास कर हँस उठीं। सत्यवती का मन हुआ,
चीत्कार कर कहे, "तपस्वि! ऐसे स्वप्न न दिखाओ, जिनके टूटने से हृदय से लहू
टपकने लगे।"

एक ओर तपस्वी था, दूसरी ओर बाबा! जाने वे क्या कहें। यदि वे न मानें
तो? सत्यवती के पास तो कोई विकल्प नहीं है। शायद तपस्वी के पास हो।

"और यदि बाबा हमारे विवाह के लिए न माने तो?" अन्ततः उसके मुख से
निकल ही गया।

"तो हम गान्धर्व विवाह कर लेंगे।" तपस्वी तनिक भी विचलित नही हुआ।

"वह क्या होता है?" सत्यवती ने पूछा।

"जब वर और कन्या माँ प्रकृति को साक्षी मान किसी वृक्ष के चारों ओर सप्तपदी···।"

"नहीं ! मुझे शकुन्तला और दुष्यन्तवाला विवाह नहीं करना है।" सत्यवती अनायास ही कह गयी, "मेरे बाबा कण्व ऋषि नहीं हैं। वे मुझे क्षमा नहीं करेंगे। और फिर तुम दुष्यन्त के समान मुझे छोड़ गये तो मैं कहाँ-कहाँ प्रमाणित करती रहूँगी कि मैं तुम्हारी पत्नी हूँ।"

तपस्वी ने शान्त दृष्टि से उसे देखा, "तुम क्या चाहती हो पद्मगन्धे ?"

"अपने बाबा का आशीर्वाद !"

"और यदि वह न मिला तो ?"

"तो···तो···।" सत्यवती कुछ कह नहीं पायी।

"प्रिये !" तपस्वी का स्वर और भी मधुर हो गया, "वयस्क हो जाने पर जैसे पुरुष को माता की नहीं, पत्नी की आवश्यकता होती है, वैसे ही वयस्क होने पर स्त्री को पिता की नहीं, पति की आवश्यकता होती है।"

"मैं जानती हूँ तपस्वि !" सत्यवती बोली, "किन्तु बाबा से पूछे बिना नहीं।"

तपस्वी कुछ देर मौन रहा, जैसे किसी द्वन्द्व में उलझ गया हो। फिर धीरे-से बोला, "तो कमलनयने ! अपने बाबा से पूछ लो कि वे कन्यादान करेंगे या नहीं। या कहो तो मैं उनसे तुम्हारी याचना करूँ ?···

"नहीं !" सत्यवती बोली, "मैं ही पूछूँगी।"

तपस्वी मौन रहा। कुछ नहीं बोला। उसकी आँखों से झरते अनुराग के सोते सूख गये थे। वहाँ चिन्ता की कंटीली झाड़ियाँ उग आयी थीं।

"मैं चलूँ ?" सत्यवती ने पूछा।

"जाओ।" तपस्वी के स्वर में हल्की-सी थरथराहट थी, "मैंने इसी द्वीप का बन्दी होने का निर्णय किया है। मैं यहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। यहाँ अपनी कुटिया बनाऊँगा। यदि तुम्हारे बाबा ने मेरे साथ विवाह की स्वीकृति दे दी तो यहाँ हमारी गृहस्थी बसेगी; अन्यथा यह मेरी साधना-भूमि हो जाएगी।"

सत्यवती ने कुछ नहीं कहा। उसका मन रोने-रोने को हो रहा था। तपस्वी के मुख की ओर देखने का उसका साहस नहीं हो रहा था।···वह जानती थी, यदि अब भी तपस्वी उसे थाम लेता और कहता, 'सत्यवती ! तुम मेरी हो।' तो शायद सत्यवती घर भी न लौट पाती। किन्तु उसका विवेक उसे लगातार चौकस कर रहा था, 'सत्यवती ! उठ ! चल ! इससे पहले कि तपस्वी फूट पड़े, तू चल पड़। नहीं तो बहुत देर हो जायेगी।···'

सत्यवती का ध्यान सहसा बहिर्मुखी हुआ।

के आगे-आगे चलनेवाला दल धीमा हो गया था और हस्तिनापुर का नगर-
खायी पड़ रहा था।

लगता है कि हस्तिनापुर आ गया।…' जानते-बूझते हुए भी सत्यवती ने
मन को विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया।

सत्यवती का मन जैसे अपने सारे विस्तार को अतीत में से समेट रहा था। इस
य वर्तमान बहुत महत्त्वपूर्ण था। दासराज का अपनी पोष्य पुत्री को क्षत्रिय राजा
ब्याहने का स्वप्न पूरा होने जा रहा था।…किन्तु सत्यवती ने तो इस प्रकार का
कोई स्वप्न नही देखा था। उसके लिए तो वर्तमान का प्रत्येक क्षण एक चुनौती
था। प्रत्येक निमिष उसकी परीक्षा ले रहा था। जाने कैसी-कैसी अपेक्षाएँ थीं
उससे। जाने कुरुकुल की रानी बनकर उसे क्या-क्या करना था…आश्वासन था
तो यही था कि राजा शान्तनु उसे देख चुके थे, उसे पसन्द कर चुके थे और याचना
उनकी ओर से ही हुई थी। देवव्रत एक बहुत बड़ा मूल्य देकर उसे लाये थे।…इस
राजकुल मे सहज ही उसकी अवहेलना नही हो सकती थी। उसका अपमान ही
करना होता तो उसे इस प्रकार याचना करके क्यो मंगाया जाता।…पर फिर भी उसे
दास-दासियों और कर्मचारियों के उपहास का पात्र नही बनना था…

रथ रुक गया।

देवव्रत का अश्व आगे बढ़ा। द्वार के सैनिको ने झुककर उन्हें प्रणाम किया
और युवराज देवव्रत की जयजयकार के साथ द्वार खुल गया। साथ आये सैनिक
सिमटकर एक टुकड़ी के रूप में सत्यवती के रथ के पीछे खड़े हो गये।

नगर के भीतर से सजी-धजी राजकन्याओं का एक दल प्रकट हुआ। उन्होंने
युवराज की आरती उतारी और उनको तिलक लगाया। आगे आकर उन्होंने उत्सुक
नेत्रों से सत्यवती को भी देखा। उसका भी स्वागत कर, उस पर पुष्प-वर्षा कर वे
लौट गयीं।

देवव्रत ने आगे-आगे नगर में प्रवेश किया। उनके पीछे-पीछे सत्यवती का रथ
था। मार्ग के दोनों ओर उत्सव के मांगलिक वेश मे सज्जित सैनिक खड़े युवराज
की जय के गगन-भेदी उद्घोष कर रहे थे। दोनों ओर के भवनों की अटारियों पर
स्त्रियाँ सोलहो शृंगार किये खड़ी अपनी उल्लसित हँसी के साथ-साथ फूलों की
पंखड़ियाँ बिखेर रही थी…

सत्यवती ने ऐसा वैभवशाली नगर पहले नही देखा था…और यह तो नगर
का वैभव था। राजा का वैभव कैसा होगा…

और तभी सत्यवती ने अपने मन को पहचाना…वह शायद देवव्रत के वैभव,
सत्ता और लोकप्रियता से आतंकित हो उठा था।…ऐसा लग रहा था, जैसे यह
सबकुछ देवव्रत का ही था। सैनिक अपने युवराज को देखकर कितने प्रसन्न थे।
लोगो के मन में कितना स्नेह था उसके लिए।…जब लोगों को पता चलेगा कि

सत्यवती के बाबा ने सत्यवती सौंपकर देवव्रत से उसके सारे अधिकार छीन लिये हैं, तो उनके मन में सत्यवती के लिए कैसा भाव जागेगा? सत्यवती हस्तिनापुर की महारानी बनने आयी है···शायद इतने में भी किसी को आपत्ति न होती। महारानी बनकर, सत्यवती देवव्रत का कुछ नहीं छीन रही थी; किन्तु सत्यवती की सन्तान तो देवव्रत से उसका युवराजत्व भी छीन लेगी। यह राज्य देवव्रत का नहीं रहेगा, यह नगर देवव्रत का नहीं रहेगा···तो यह प्रजा सत्यवती और उसकी सन्तान के विरुद्ध खड़ी नहीं हो जायेगी?···बाबा ने कहा था, वे सत्यवती को, देवव्रत जैसे समर्थ व्यक्ति को वंचित करने के लिए भेज रहे हैं···

और यदि देवव्रत अपने अधिकारों के लिए अड़ जाये? उससे उसके अधिकारों को कौन छीन सकता है?···सत्यवती की दृष्टि देवव्रत की पीठ पर टिक गयी।··· यह वीर मूर्ति···उसका धनुष···उसका खड्ग···सत्यवती का मन अपनी असहायता पर रोने-रोने को हो आया···

रथ राजभवन के द्वार पर आकर रुक गया। दासियाँ रथ से नीचे उतर आयीं। प्रासाद से निकल-निकलकर दास-दासियों की एक पूरी सेना उनके स्वागत के लिए खड़ी हो गयी।

देवव्रत ने आकर हाथ जोड़कर निवेदन किया, "माता! पधारें! यह आपका प्रासाद है। आप विश्राम करें।"

अत्यन्त सुन्दरी दासियों ने आगे बढ़कर हाथ जोड़े, "देवि! पधारें।"

सत्यवती रथ से उतर आयी। दासियाँ मार्ग दिखाती रहीं और वह चुपचाप आगे बढ़ती गयी।···

सबकुछ युवराज देवव्रत पर ही निर्भर है—सत्यवती का मन कह रहा था— वही उसका सबसे बड़ा सहायक हो सकता है और वही सबसे बड़ा विरोधी···पर बाबा ने उसे इसलिए कुरुकुल के राजप्रासाद में नहीं भेजा था कि वह देवव्रत को अपना विरोधी बनाकर, प्रत्येक अधिकार और सुख-सुविधा से वंचित हो जाये···

सन्ध्या समय सत्यवती को एकदम अनमनी देखकर बाबा ने पूछा था, "क्या बात है सत्या! इतनी उदास क्यों हो?"

"कुछ नहीं बाबा! यूँ ही सोच रही थी।"

"ओह-हो! अब हमारी बिटिया सोचने भी लगी है।" बाबा हँसे थे, "क्या सोच रही हो सत्या?"

"यमुना-तट पर इतने तपस्वी रहते हैं। वे लोग अपना सबकुछ छोड़कर अपने-आपको तपा रहे हैं। और दूसरी ओर हम लोग हैं, जो दिन भर—सूर्योदय से सूर्यास्त तक नौका चलाना; यमुना में जाल डालना, मछली पकड़ना, उसे सँभालना

र फिर हाट में जाकर बेचना···हम एक दूसरे प्रकार से अपने-आपको तपा रहे ···"

बाबा ने चकित होकर उसे देखा, "तो सचमुच सत्या बड़ी हो गयी है। वह तो बड़ी-बड़ी बातें सोचने लगी है।···पर तू यह सब क्यों सोचती है सत्या ?"

मुस्कराने के लिए सत्यवती को प्रयत्न करना पड़ा, "बाबा ! जान-बूझकर नहीं सोचती। जैसे किसी भी हलचल से नदी में लहरें उठती हैं, वैसे ही किसी भी दृश्य या ध्वनि से मेरे मन में विचार उठते हैं। सोचती हूँ···कौन अधिक सुखी है—दिन-भर मरते-खपते हमारे केवट-मछुए या सबकुछ त्याग, वनों में जा बैठे ये तापस-संन्यासी।"

बाबा स्पष्ट रूप से चिन्तित हो उठे थे, "बेटी ! न मैं बहुत बुद्धिमान हूँ, न विद्वान् और न चिन्तक। मैंने तो जो सीखा है, अपने जीवन से सीखा है। तुमने अपनी तुलना संन्यासियों से की है; किन्तु मैंने आज तक अपनी तुलना राजाओं और राज-परिवारों से की है।" बाबा ने स्नेह-भरी एक दृष्टि सत्यवती पर डाली, "सुखी तो केवल राज-परिवार है। उसके पास सबकुछ है : धन-सम्पत्ति, अधिकार-सेवक, सैनिक-शस्त्र···सबकुछ ! हम, वह सब प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। तपस्वी तो वे लोग हैं बेटी ! जो उपलब्धियों से निराश हो चुके हैं। उन्होंने सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न ही छोड़ दिया है। उन्होंने शस्त्र डाल दिये हैं; संघर्ष त्याग दिया है; महासमर से मुख मोड़ लिया है। वे लोग जीवन से हार चुके हैं पुत्री !"

पर सत्यवती को तो अपना तपस्वी कभी भी हारा हुआ, उदास, परेशान, हताश नहीं लगा था।···जब पहली बार उसकी नाव में आकर बैठा था तो बड़ा आत्मलीन-सा था। कितना शान्त और आश्वस्त। उसके पश्चात् जब वह सत्यवती पर मुग्ध हुआ तो उसके नयनों का उल्लास तो कोई सीमा ही नहीं जानता था। उसे सत्यवती हताश और निराश कैसे मान ले। निराश तो वह तब हुआ था, जब सत्यवती ने कहा था कि शायद बाबा विवाह के लिए न मानें···

"बाबा !"

बाबा ने उसकी ओर देखा, "क्या बात है बेटी ?"

"कहीं ऐसा तो नहीं कि हम उसके पीछे पड़े हैं, जो हमें नहीं मिल सकता और इसीलिए हम सुखी नहीं हैं···"

बाबा हँस पड़े, "और तपस्वी सत्य को जान गये हैं कि हमें सुख नहीं मिल सकता, इसलिए उनके पास धन का सुख चाहे न हो, सन्तोष का सुख तो है···।"

"हाँ बाबा !"

बाबा गम्भीर हो गये, "तू जब नौका चलाती है तो तेरे शरीर को श्रम क[रना] पड़ता है न।"

"हाँ बाबा !"

बन्धन

"तू उसे सुख मानती है या दुख ?"

"वह तो मेरा सहज धर्म है बाबा ! न सुख, न दुख ।"

"उस समय तेरी नाव किसी नौका के आगे होती है, किसी के पीछे।"

"हाँ बाबा !"

"पर फिर भी आगे-पीछे किसी समय तू नदी पार कर ही जायेगी।"

"हाँ।"

"और यदि तू नाव चलाये ही नहीं। इसी किनारे बैठी रहे तो तू सुखी होगी या दुखी ?"

"दुखी हूँगी बाबा !"

"क्यों बेटी ?"

"क्योंकि एक तो मेरा शरीर अपना श्रम-धर्म नहीं निभायेगा तो आलसी होकर जुड़ता जायेगा और दूसरे मैं कभी नदी पार नहीं कर पाऊँगी।"

"ठीक है बेटी !" बाबा बोले, "राजा लोग वे हैं, जो नदी के पार पहुँच गये हैं। हम वे लोग हैं, जो आगे-पीछे अपनी नौकाएँ चला रहे हैं। तपस्वी वे हैं, जो नदी के इस ओर, यह मानकर बैठ गये हैं कि हम नदी के पार पहुँच ही नहीं सकते।"

सत्यवती कई क्षणों तक चुपचाप बाबा को देखती रही, फिर जैसे साहस जुटाकर बोली, "एक बात पूछूँ बाबा !"

"पूछ बेटी !"

"आप बुरा तो नहीं मानेंगे ?"

"तू इतनी बुरी बात पूछनेवाली है क्या ?"

"नहीं ! पर आप कहीं यह न मान लें कि मैं अशिष्ट हो गयी हूँ। बड़ों के साथ विवाद करती हूँ।"

"नहीं बेटी ! तू पूछ। क्या पूछती है।"

"बाबा ! नौकाओं की दौड़ में चाहे कोई जीते या हारे; प्रत्येक नाविक हाँफ जाता है। पर किनारे पर खड़ा दर्शक किसी की भी जीत-हार में नहीं है, इसलिए प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न है। सांसारिक जीव क्या नौका-दौड़ का प्रतिस्पर्धी और तपस्वी किनारे पर खड़ा दर्शक नहीं है ?"

"साधारण गृहस्थ दौड़ का प्रतिस्पर्धी नहीं होता बेटी ! वह तो चल रहा होता है। वह केवल अपना धर्म निभा रहा है, इसलिए दुखी नहीं है।" बाबा ने कहा, "मैं अपना धर्म निभा रहा हूँ, तू अपना निभा ! निश्चित रूप से तू राजकन्या है सत्यवती। तू किसी राजा को ही प्राप्त करेगी। मैं पहुँचूँ-न-पहुँचूँ—तू नदी के पार पहुँचेगी; तू राज-वधू होगी पुत्री ! यदि किसी संन्यासी को ही सौंपना होता, तो मैं कब से तेरा कन्यादान कर चुका होता बेटी !"

"मैं अपनी बात नहीं कह रही बाबा !" सत्यवती ने कुछ अतिरिक्त प्रयत्न के साथ कहा।

"तू अपनी बात नहीं कह रही, पर मैं तेरी बात कह रहा हूँ !" बाबा मुस्कराये, "तू राज-कन्या है। तेरा धर्म त्याग में नहीं, ग्रहण में है। मछली पानी में ही जीवित रहती है सत्यवती ! हवा में आते ही उसके प्राण निकल जाते हैं—हवा कितनी भी सुखद क्यों न हो। तू त्यागमय जीवन में जीवित नहीं रह पायेगी।" बाबा उठकर बाहर जाने को तैयार हुए, पर द्वार के बाहर जाते-जाते वे फिर लौट आये, "और तू इतना सोचा मत कर बेटी ! अभी सोचने का वय नहीं है तेरा ! सोचने का काम तू मुझ पर और अपनी अम्मा पर छोड़ दे।...."

बाबा चले गये और सत्यवती सोचती ही रह गयी; क्या बाबा उसके विषय में सबकुछ जानते हैं ? यदि जानते हैं तो इतने शान्त कैसे हैं ? और नहीं जानते तो इतना सटीक कैसे बोल गये, जैसे सारी बात उसी के विवाह को लेकर चल रही हो...

बाबा कहते हैं कि वह राजकन्या है—वे उसका विवाह किसी राजकुमार से ही करेंगे...तब कैसा होगा जीवन सत्यवती का ?...दास-दासियाँ, हाथी-घोड़े, रहने के लिए प्रासाद...यात्रा के लिए रथ और साथ चलने के लिए अंग-रक्षक... सत्यवती की कल्पना में सबकुछ बहुत सजीव हो उठता है; पर जैसे ही अपनी कल्पना में वह राजकुमार की छवि आँकने का प्रयत्न करती है, तपस्वी पराशर की आकृति आकर उसकी कल्पना के सारे चित्रों को वैसे ही ढँक लेती है, जैसे इन्द्रधनुष आकर सारे आकाश पर आरोपित हो जाता है।

सत्यवती के कण्ठ से एक गहरा उसास फूटा, 'कहीं मेरा तपस्वी ही कोई राजकुमार होता...'

अगले दिन से सत्यवती का नाव चलाना दूभर हो गया। वह नाव में बैठती तो उसे लगता कि उसकी नाव तपस्वी के टापू की ओर भागती जा रही है। हर समय उसके चप्पू अपनी नाव को उस टापू से दूर ठेलते रहते और सारे प्रयत्नों के बाद भी नौका उसी टापू की ओर बढ़ जाती। अन्ततः हारकर सत्यवती नाव को किनारे से लगाकर अपना सिर पकड़, रेत पर बैठ जाती...जाने नाव में ही कोई हठी प्रेत आ बैठा था, जो उसे किसी दूसरी दिशा में चलने ही नहीं देता था, या सत्यवती का अपना ही दिशा-ज्ञान खो गया था...या कभी-कभी उसे लगने लगता था कि उसकी नाव में दो लम्बी रस्सियाँ बँधी हुई हैं। एक का सिरा टापू में बैठे तपस्वी के हाथ में है और दूसरी का सिरा हाथ में पकड़े, बाबा अपने स्थान पर खड़े हैं। जैसे ही सत्यवती नौका में बैठती है, दोनों अपनी-अपनी रस्सियाँ खींचने लगते हैं। उसी क्षण से सत्यवती का मन काँपने लगता है।...तपस्वी युवक है, बलवान है। बाबा बूढ़े हैं, निर्बल हैं।...कहीं तपस्वी जीत ही न जाये। तपस्वी को पाकर सत्यवती

बन्धन /

प्रसन्न होगी; किन्तु अपने बाबा को पराजित देखकर उसका मन टूट जायेगा···

अन्ततः उसे अपने-आपको साधना ही पड़ा : वह तपस्वी के पास नहीं जायेगी। वह तपस्वी से नहीं मिलेगी।···किन्तु उसे लगा, उसका तन और मन दोनों ही रुग्ण होते चले जा रहे हैं। तपस्वी के पास वह जायेगी नहीं और अन्यत्र कहीं जाने का उसका मन ही नहीं होता था। जीवन का रस जैसे सूख गया था।

अम्मा ने एक दिन गहरी दृष्टि से उसे देखा, "क्या हुआ है तुझे ?"

"कुछ भी तो नहीं अम्मा !"

"तो होंठ क्यों सूख रहे हैं तेरे ? चेहरा क्यों पीला पड़ गया है ?"

"नहीं तो ! ऐसा तो कुछ नहीं है।"

अम्मा चुपचाप उसे देखती रहीं और फिर उन्होंने बाबा को भी पुकार लिया।

बाबा आये तो अम्मा बोलीं, "देख रहे हो अपनी लाड़ली को ? क्यों सूखती जा रही है यह ?"

"द्वन्द्व है इसके मन में !" बाबा बहुत शान्त स्वर में बोले, "तपस्वी या राज-कुमार ?"

अम्मा की दृष्टि और भी तीखी हो गयी, "पुरुष-संग किया है तूने ?"

सत्यवती क्या कहती। न स्वीकार कर सकती थी, न अस्वीकार। उसने चुप-चाप सिर झुका दिया।

"कौन है वह ?" अम्मा की आँखें लाल होने लगीं।

पर बाबा ने अद्भुत धैर्य का प्रमाण दिया। उन्होंने अम्मा के कन्धे पर हाथ रखा, "शान्त रहो सत्या की माँ ! बेटी है हमारी। शत्रु नहीं है।"

"काम तो उसने शत्रु का-सा ही किया है।" अम्मा शान्त नहीं हुईं, "इसे तो चीरकर यमुना में डाल दो। मच्छ खा जायें इसे।"

"नहीं !" बाबा की शान्ति तनिक भी भंग नहीं हुई, "इसने बेटी का धर्म निभाया है। हमें माता-पिता का धर्म निभाना है।"

"क्या कहना चाहते हो ?"

बाबा अपने गहरे स्वर में बोले, "एक तपस्वी में अनुरक्त हुई थी सत्या। मुझसे इसने संकेतों में पूछा और मैंने अपना निर्णय संकेतों में दे दिया। तब से सत्या एक बार भी नहीं मिली उस तपस्वी से।" बाबा की आँखों में स्नेह उमड़ आया, "इसने लाज रख ली मेरी। अब मुझे इसकी लाज रखनी है।"

"कानीन सन्तान को जन्म देकर यह तुम्हारी लाज रख रही है ?" अम्मा सन्तुष्ट नहीं थीं।

"नहीं !" बाबा बोले, "तपस्वी तो कानीन सन्तान में भी अधर्म नहीं देखता। न ही वह गान्धर्व-विवाह को धर्म-विरुद्ध मानता। पर अब क्षत्रिय राजा कानीन

न्तान के पक्ष में नहीं हैं।···यदि सत्या का विवाह किसी राजकुमार से करना है तो इस तथ्य को अब छिपाना होगा। सत्या तपस्वी की भार्या नहीं बनेगी, कन्या ही रहेगी।···यह सबकुछ मानकर क्या सत्या ने मेरी लाज नहीं रखी ?"

अम्मा कुछ नहीं बोलीं; पर उनके हाव-भाव बता रहे थे कि वे बाबा से सहमत नहीं हैं।

बाद की सारी व्यवस्था बाबा ने स्वयं ही कर दी थी। प्रसव के बहुत पहले से ही वह अपने ग्राम से हट गयी थी। प्रसव तपस्वी के उसी टापू में हुआ था और सत्यवती ने अपने हाथों से वह बालक अपने तपस्वी, ऋषि पराशर को सौंपा था, "इसका ध्यान रखना।"

तपस्वी के मुखड़े पर अब वह बावरापन दिखायी नहीं देता था, न सत्यवती का सान्निध्य उसे उन्मादी बनाता था। इस अवधि में जहाँ इधर सत्यवती ने अपने-आपको साध लिया था, उधर तपस्वी ने भी स्वय को कस लिया लगता था।

तपस्वी ने बड़ी स्निग्ध मुस्कान बिखेरी थी शिशु पर, "निश्चिन्त रहो। तुम नहीं मिलीं तो अब मेरा सबकुछ यही है—कृष्ण द्वैपायन।"

सत्यवती ने एक दृष्टि बालक पर डाली : उसकी सोयी-सोयी गम्भीर-सी आँखें। उसका यह श्यामल वर्ण। हल्के अरुण होंठ और आकर्षक मुस्कान! फिर तपस्वी की ओर देखा, "इसे कानीन सन्तान मानकर धिक्कारोगे तो नहीं ?"

तपस्वी मुस्कराया, जैसे सत्यवती ने कोई पागलपन की बात कही हो, "सृजन पुण्य है देवि! सृष्टि का लक्ष्य ही सृजन है। सृजन मे सहायक होकर हम स्रष्टा की आज्ञा का पालन करते हैं। धरती मे से जब भी कोई पौधा जन्म लेता है, तो क्या हमने कभी सोचा कि इसके जन्म के पूर्व सामाजिक विधि-विधान का पालन किया गया अथवा नहीं। हम प्रत्येक पौधे का स्वागत करते हैं; क्योंकि वह स्रष्टा की मुस्कान है।···और यह तो मानव-सन्तान है···।" पराशर ने स्नेह से शिशु के माथे पर हाथ रखा।

"तो हमारा समाज उसे क्यो बुरा मानता है?" सत्यवती पूछे बिना नहीं रह सकी।

तपस्वी की मुस्कान को परे धकेल, आवेश की आभा झलकी, "प्रभु की धर[illegible] को क्षत्रिय राजा न केवल आपस मे बाँट लेना चाहते हैं, वरन् अनन्त काल तक [illegible] अपनी सम्पत्ति बनाये रखना चाहते हैं। जब तक धरती रहेगी, तब तक वे औ[illegible] रह नहीं सकते, इसलिए उसे अपने उत्तराधिकारियों को सौंपने मे पहले प्रमा[illegible] कर लेना चाहते हैं कि उत्तराधिकारी उनका वंध आत्मज ही है, औरस सन्ता[illegible]

पराशर की मुस्कान ने उनके आवेश को जीत लिया, "तपस्वी के पास क्या है[illegible]

बन्ध[illegible]

जिसे सौंपने के लिए वह प्रकृति की प्रक्रिया में अपना विधान अड़ाये। सृष्टि प्रकृति का विधान है, मनुष्य का विधान तो उसका अहंकार है।...''

सत्यवती चुपचाप खड़ी अपने तपस्वी को देखती रही : कैसा महान् है यह तपस्वी। संकीर्णता और संकुचितता का नाम भी नहीं। उदार जैसे कि आकाश...

बड़ी देर के बाद इतना ही पूछ पायी, "मुझसे रुष्ट तो नहीं हो?"

तपस्वी फिर मुस्कराया, "तुम मिलतीं तो गृहस्थी बसती। न मिलीं तो साधना विकसी। तपस्वी के लिए तो सब ओर उपलब्धि ही है। वंचना कहीं नहीं है।"

सत्यवती लौट आयी। और आज तक वह एक क्षण के लिए भी भूल नहीं पायी कि उसका तपस्वी उसे इसलिए नहीं मिला क्योंकि वह राजकुमार नहीं था। उसका नन्हा कृष्ण द्वैपायन उससे छूट गया क्योंकि राजा कानीन पुत्र को स्वीकार नहीं करता, ऋषि ही स्वीकार कर सकता है।...राजवधू बनने के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाया था सत्यवती ने...और जब उसने मूल्य चुकाया ही है तो वह अपने अधिकार डंके की चोट लेगी...बाबा ने यदि उसे राजरानी बनाना चाहा है तो अब वह राजरानी भी बनेगी और राजमाता भी...तपस्वी ने तो कहा था कि उसके लिए सब ओर उपलब्धि ही उपलब्धि है। कहीं ऐसा न हो कि सत्यवती के लिए सब ओर वंचना ही वंचना हो...

[8]

"मैंने सबकुछ सुन लिया है पुत्र !"

शान्तनु ने एक लम्बे असुविधाजनक मौन के बाद कहा और सायास देवव्रत की ओर देखा। उन्हें लगा कि वे सहज रूप से देवव्रत की ओर देख नहीं पायेंगे; किन्तु मुंह मोड़कर भी वे शान्त नहीं रह पायेंगे...वस्तुत: अब देवव्रत से उनका वह सम्बन्ध नहीं रहा, जो आज तक था। उन्होंने अपने इस पुत्र को जाना ही नहीं था। उन्हें तो समय-समय पर कुछ सूचनाएँ मिलती रही थीं—पहले पुत्र-जन्म की, फिर गंगा द्वारा उसे जल में प्रवाहित करने के प्रयत्न की। उन्होंने देवव्रत के प्राणों की रक्षा की थी; किन्तु उसके लिए देवव्रत को पहचानने की कोई आवश्यकता नहीं थी—गंगा की गोद में जो भी शिशु होता, उसे वे अपना पुत्र मानकर, उसके लिए चिन्तित हो जाया करते थे। वह तो उनका अपना मोह था। उस शिशु, जिसका नाम देवव्रत था, को तो वे आज तक नहीं जान पाये...गंगा चली गयी थी और वे विक्षिप्त हो उठे थे। उन्हें किसी बात का ध्यान नहीं था, किसी चीज का होश नहीं था। गंगा के वियोग से जन्मी उग्रता और हिंसा को दबाये रखने के लिए उन्होंने

आखेट का सहारा लिया था; और वर्षों तक वनों में भटकते रहे थे। उन्होंने समझा था कि महादेव शिव के समान उन्होंने भी अपनी उग्रता में 'कामदेव' को भस्म कर दिया है'''पर देवव्रत के निकट वे तब भी नहीं आ पाये थे। वे इतना ही जानते थे कि उनका एक पुत्र है—देवव्रत, जो आज इस ऋषि के आश्रम में है, तो कल उस ऋषि के आश्रम में। वे उसकी प्रशंसा सुनते रहे : युद्ध में बहुत कुशल है, शास्त्रों में पारंगत है, चरित्रवान है'''पर देवव्रत को वे जान तब भी नहीं पाये'''सहसा उन्होंने यमुना-तट पर सत्यवती को देखा और तब उन्होंने अपने-आपको जाना।''' वे शिव नहीं थे। उनके मन में 'काम' का दहन नहीं हुआ था—उन्होंने उसे अपनी उग्रता में दबा मात्र रखा था। सत्यवती के रूप में उस उग्रता को शान्त कर दिया था, हिंसा को उसका वास्तविक स्वरूप समझा दिया था। वह तो वस्तुतः उनकी कामेच्छा ही थी, जो सृष्टि न कर पाने की अपनी अतृप्ति में ध्वंसात्मक रूप ग्रहण कर चुकी थी। सत्यवती के सौन्दर्य ने उसे अपने वास्तविक रूप में परिणत कर दिया था —कामेच्छा में।

और तब शान्तनु को लगा था कि गांगेय जैसा उनका पुत्र है ही क्यों? उनका कोई भी पुत्र न हुआ होता तो वे सुविधा से, बिना किसी अपराध-बोध के सत्यवती से विवाह कर लेते। विवाह को, उनकी आवश्यकता और अधिकार ही नहीं, उनका धर्म भी माना जाता।'''उन्हें लगा कि गंगा को जाना ही था'''वह जानती थी कि उसे जाना ही है; शायद इसीलिए वह उनके पुत्रों को जीवन-मुक्त करती जा रही थी, ताकि उन्हें दूसरे विवाह में असुविधा न रहे। पर वे ही व्यर्थ के मोह में पड़ गये थे।

तब उन्होंने अपने हृदय को पहचाना था। गांगेय के लिए उनके मन में कोई मोह नहीं था। वह तो उनके मार्ग की बाधा था। सत्यवती सामने थी'''उनका विवाह हो सकता था; पर गांगेय जैसे पुत्र'''पुत्र केवल सुख के लिए ही नहीं होता। पुत्र जीवन में बाधा भी होता है'''गंगा इसे भी जल में प्रवाहित कर देती तो क्या क्षति हो जाती'''आज वह उनके विवाह के मार्ग की बाधा है। वह उनसे उनके जीवन के परम सुख को छीन रहा है'''वह उनका शत्रु है। जीवन में उन्हें इतना वंचित तो उनके शत्रुओं ने भी कभी नहीं किया'''

उन्होंने काम के वेग को पहचाना था। काम जब मन से निकल, रक्त के माध्यम से शरीर की सारी शिराओं में समा जाता है तो उसे झेल पाना सम्भव नहीं है'''कम-से-कम शान्तनु के लिए तो सम्भव नहीं ही है। शान्तनु के मन में अवसाद ही नहीं घिरता, आक्रोश भी जागता है। उनके वश में होता तो वे पृथ्वी को फोड़ देते, सृष्टि को ध्वस्त कर देते।'''पर यह सब उनके वश में नहीं था। अब तो यह भी उनके वश में नहीं था कि धनुष-बाण उठाकर आखेट के लिए वन में चल देते'''अब तो इस दुर्निवार आघात को सहना ही था'''नरक में कैसी यातना

दी जाती है, वे नहीं जानते थे, पर वे जानते थे कि वह यातना भी इस भयंकर काम-यातना से अधिक कष्टकर नहीं होगी···उन्हें लगा था कि उनके अपने पुत्र इस गांगेय ने उन्हें बलात् पकड़कर अग्नि के झरने के नीचे खड़ा कर दिया है और कह रहा है "जल !"

पर आज वही गांगेय उनके सामने बैठा था, कितना समर्थ, कितना त्यागी··· जैसे अपने मचलते हुए हठ में एड़ियाँ रगड़-रगड़कर रोते हुए पुत्र के लिए कोई समर्थ पिता उसकी मनचाही वस्तु ले आया हो, बिना इस बात की चिन्ता किये, कि उस वस्तु का मूल्य कितना अधिक है···किन्तु पिता कोई वस्तु दे तो पुत्र सहज उल्लास के साथ साधिकार उस वस्तु को थाम लेता है···न उसे पिता की कृपा के बोझ की अनुभूति होती है, न कोई अपराध-बोध उसे भीतर से गलाता है···किन्तु पुत्र के हाथों···वह भी उसे वंचित करके···

"तुमने जो प्रतिज्ञा की है गांगेय !" अन्त में शान्तनु बड़ी कठिनाई से बोले, "वह कठिन ही नहीं, असम्भव प्रतिज्ञा है। तुमने भीषण कर्म किया है। मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ पुत्र ! तुम जैसे पुरुष को कोई दे भी क्या सकता है। मुझे लगता है कि तुम्हारा जन्म किसी से कुछ लेने के लिए हुआ ही नहीं है। तुम आजीवन दोगे। लोग याचक होंगे, तुम दाता होगे। जीवन तुमको कभी कुछ नहीं देगा, तुमसे पाये ही पायेगा। मैंने तुम्हें कभी नहीं पहचाना था पुत्र ! आज तुम्हारे व्यक्तित्व का एक स्फुलिंग देखा है। मैं इस पहचान के अवसर पर फिर से तुम्हारा नामकरण कर रहा हूँ—तुम अपनी इस प्रतिज्ञा के कारण आज से भीष्म कहलाओगे।"

भीष्म ने आँखें उठाकर पिता को देखा : वे भी आज अपने पिता का नया रूप देख रहे थे, "मैंने तो मात्र पुत्र का धर्म निभाया है आर्य !"

शान्तनु की आँखें भीष्म की आँखों पर टिक गयीं, "तुम-सा पुत्र पाने की कामना प्रत्येक पिता करेगा।" पर सहसा उनका मन जैसे बदल गया, "तुम-सा पुत्र पाकर पिता, पुत्र पर ही गर्व करने योग्य रह जाता है, स्वयं अपने-आप पर गर्व करने का साहस वह नहीं कर पायेगा।"

"आर्य !"

"हाँ पुत्र !" शान्तनु शून्य में देखते रहे, जैसे भीष्म की ओर देखने से स्वयं को सायास रोक रहे हों, "वह मेरी कामना थी, याचना नहीं।"

"इसमें याचना की कोई आवश्यकता नहीं थी पिताजी !" भीष्म कुछ संकुचित हुए, "पिता की कामना-भर जानना ही पुत्र के लिए पर्याप्त होता है।"

"शायद ऐसा ही हो," शान्तुन बोले, "किन्तु कामना व्यक्तिगत विषय है। वह तब तक सामाजिक विषय नहीं बनती, जब तक कर्म में परिणत न हो जाये। कर्म पर समाज का नियन्त्रण है पुत्र ! कामना पर नहीं।···कामना की कोई सीमा भी नहीं है, इसलिए उस पर कोई बन्धन भी नहीं है···किन्तु कर्म के साथ ऐसा नहीं

है।"

भीष्म अपने पिता को देख रहे थे ···वे उल्लसित नहीं थे, जैसी कि उनके विषय में भीष्म की कल्पना थी। वे किसी ग्लानि में भस्मीभूत हो रहे थे, पीड़ा जैसे उनकी शिराओं को एक-एक कर काट रही थी···

"जीवन में कई क्षण आत्मसाक्षात्कार के आते हैं पुत्र !" शान्तनु जैसे अपने-आपसे कह रहे थे, "मैंने अपने कर्मों के माध्यम से नहीं, तुम्हारे कर्म के माध्यम से स्वयं को जाना है।···मुझे ऐसा लगता है कि मेरे भीतर एक अन्धी कामना है, जो जाग्रत विवेक से बंधी हुई है।···कामना अन्धी है। वह कुछ देखती-समझती नहीं। वह सामाजिक तो नहीं ही है, मानवीय भी नहीं है। वह तो शुद्ध पशु-जगत की कामना है। उसकी कोई सीमा नहीं है, कोई मर्यादा नहीं है। उसके लिए कोई समाज नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध पशु-वृत्ति है।···पर मेरा विवेक जाग्रत है। वह सामाजिक भी है और मानवीय भी। वह जानता है कि मेरी मर्यादा क्या है। अन्धी कामना को भी वह पहचानता है। जैसे लौह-चूर्ण के कण विवश होकर चुम्बक की ओर भागते हैं, वैसे ही मेरे शरीर के रक्त-कण गंगा और सत्यवती की ओर भागे थे। काम के आवेश में वे ऐसे ही पागल हो उठते हैं पुत्र। विधाता ने मेरा शरीर कुछ ऐसा ही बनाया है। किन्तु, मेरे विवेक ने मुझे पग-पग पर अपनी मर्यादा समझायी है···मैंने चाहे कितनी पीड़ा सही हो, किन्तु मैंने गंगा को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने सुख के लिए नहीं रोका··· मैंने राजा होते हुए अपने सामर्थ्य के बावजूद सत्यवती को बलात् प्राप्त नहीं करना चाहा।···अधिकार होने पर भी मैंने तुमको वंचित कर सत्यवती को प्राप्त नहीं किया···"

"पिताजी !" भीष्म ने कहना चाहा···

"सुनो पुत्र !" शान्तनु ने उन्हें कहने नहीं दिया, "आज बाँध टूटा है तो कह लेने दो। आज तुम्हारे दान ने तुम्हें ऊँचा उठा दिया है। याचक होने के कारण मैं पिता के स्तर से नीचे आ गया हूँ। इसलिए सम-धरातल पर तुमसे यह सब कह पा रहा हूँ। यह क्षण बीत जायेगा तो हम फिर पिता-पुत्र के सम्बन्धों में बँधे, इस धरातल पर ये बातें नहीं कर पायेंगे···।"

"कहिए आर्य !"

"इसीलिए कहता हूँ कि मैं कामना के धरातल पर बहुत नीच व्यक्ति हूँ किन्तु कृत्य के धरातल पर मैंने कुछ भी कलुषित नहीं किया। विवेक की मर्यादा
आबद्ध मैंने अपने कर्म को कलंकित नहीं किया।···पर तुम्हारे कर्म के फल
प्राप्त कर मैं पुनः कर्म-बन्धन में फँस रहा हूँ।···काम, विवेक के लिए मादक
है पुत्र ! जब तक काम का आधिपत्य है, विवेक निश्चेष्ट रहता है। काम का ज
उतर जाता है तो विवेक बताता है कि वह व्यवहार, वह कामना, वह चिन्त
सब जैसे उन्मत्त का स्वप्न था।···ऐसे ही ज्वार उतरने पर, मैंने कभी य

बन्धन

माना कि काम जीवन का श्रेय है। वह मेरी बाध्यता है। मेरी दुर्बलता है···" शान्तनु रुके और फिर बोले, "मेरा विवेक आज भी मुझे चेतावनी दे रहा है, किन्तु तुम्हारे कर्म के फल को ग्रहण करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा। उसे स्वीकार कर रहा हूँ। कर्म तुम्हारा है, स्वीकृति मेरी है···कह नहीं सकता कि कर्म-बन्धन कितना तुम्हें बाँधेगा और कितना मुझे···।"

शान्तनु के मन में चल रहे विचारों के झंझावात का कुछ-कुछ आभास भीष्म को मिल रहा था। उनके पिता 'वह' नहीं थे, जो उन्होंने सोचा था···

"मैंने तो स्वयं को कर्म-बन्धनों से मुक्त करने के लिए ही यह सब किया है तात्!" भीष्म धीरे-से बोले, "अब न मैं विवाह करूँगा, न भार्या होगी, न सन्तान! कर्म का मार्ग बन्द हो गया है। फिर बन्धन?···"

"उसका विचार करने का समय अभी नहीं आया है पुत्र!" शान्तनु धीरे-से बोले, "मेरी इच्छा है कि तुमने मुक्त होने के लिए कर्म किया है, तो तुम्हें मुक्ति ही मिले; किन्तु भीष्म! कर्म का फल मेरी इच्छा से नहीं, सृष्टि के नियमों के अधीन है।···मैं तुम्हें आशीर्वाद के सिवाय और दे ही क्या सकता हूँ।···फिर भी तुम्हें एक वरदान देना चाहता हूँ।"

भीष्म ने आँखें उठाकर पिता की ओर देखा।

"मैं तुम्हें प्रकृति के नियमों से मुक्त नहीं कर सकता; किन्तु तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा से स्वेच्छा-मुक्ति का वरदान दे रहा हूँ। बन्धन तुम्हारा अपना है, मेरी ओर से कोई बाध्यता नहीं है।"

[9]

सत्यवती के द्वार पर आकर शान्तनु के पग थम गये। उन्हें लगा कि उनका लौट जाना ही ठीक है।···पर तभी विवेक ने फटकारा, 'नव-वधू के द्वार से लौट जाने का क्या अर्थ?' सत्यवती अब उनकी पत्नी थी···उनके इस विवाह तक की घटनाओं की यात्रा अब जैसे पृष्ठभूमि में चली गयी थी। उसका औचित्य-अनौचित्य, उसके प्रतिबन्ध-परिबन्ध, इस विवाह के कारण राज-परिवार के सम्बन्धों और अधिकारों का नया सन्तुलन···सबकुछ अपने स्थान पर बहुत महत्व-पूर्ण···पर उन सबसे महत्वपूर्ण एक तथ्य था···सत्यवती अब उनकी पत्नी थी··· वे उसके द्वार से लौट नहीं सकते थे। उनका यह संकोच या उनके व्यवहार पर झीनी-सी ग्लानि की यह परत, इस तथ्य को नकार नहीं सकती थी। उनका आचरण अब सत्यवती के पति के अनुकूल होना चाहिए।···

शान्तनु ने कक्ष में प्रवेश किया।

सत्यवती ने खड़ी हो, हाथ जोड़कर उनका स्वागत किया। शायद उसके अधरों हल्के-से हिलकर कहा भी, "पधारें महाराज!" पर यह इतना अस्पष्ट था कि कहा-अनकहा, एक जैसा ही रह गया।

शान्तनु सत्यवती को एकटक देखते रह गये: अपूर्व सौन्दर्य था। ऐसी स्त्री को देखकर, शान्तनु के मन में उसकी कामना जाग उठे, तो शान्तनु क्या करें?...

"बैठो देवि!" उन्होंने सत्यवती के कन्धे पर हथेली से हल्का-सा दबाव डालकर बैठने का आग्रह किया।

सत्यवती की इच्छा हुई कि चिहुँककर पीछे हट जाये, या आँखें तरेरकर राजा को देखे। पर इस इच्छा के साथ-साथ उसका विवेक भी जागा: अब राजा उसके पति थे। उसका पति विवाह के पश्चात् प्रथम मिलन में अपने प्रेम को स्पर्श के माध्यम से सम्प्रेषित कर रहा था; और सत्यवती चाह रही थी कि वह उसके हाथ को झटक दे...अच्छा हुआ कि उसे ठीक समय पर विवेक ने टोक दिया, नहीं तो कहीं सचमुच ही वह कुछ कर बैठती, तो कितना अशोभन होता...पर सत्यवती भी क्या करे...तपस्वी उसे छूता था तो लगता था किसी ने उसके शरीर पर कमल की पांखुड़ी रख दी है, और साथ-ही-साथ मन में कमल-वन खिल आता था...और राजा शान्तनु ने क्षण-भर को उसके कन्धे पर हाथ रखा तो उसे लगा कि कन्धे पर बिच्छू रेंग रहा है...

पर सत्यवती को यदि राजरानी बने रहना है और राजमाता बनना है तो उसे इस बिच्छू को भी कमल की पंखुड़ियों का-सा सम्मान देना होगा...

सत्यवती ने अपने शरीर को देखा: आज तक यह शरीर सुख का माध्यम था—उसके लिए भी और तपस्वी के लिए भी। उस 'सुख' के साथ न समाज था, न पद, न धन, न भविष्य...कुछ नहीं।...पर आज इस शरीर का रूप बदल गया है...यह स्वयं सुख पाये, न पाये; पर यदि राजा को सुख दे सके तो हस्तिनापुर का राज्य उसी का है।

सत्यवती बैठ गयी और शान्तनु ने ध्यान दिया कि ऐसे समय में सत्यवती की ओर से अपेक्षित वाक्य, "आप भी पधारें आर्य!" नहीं कहा गया। निश्चित रूप से उसकी शिक्षा-दीक्षा, राज-परिवारों के अनुरूप नहीं हुई थी।...पर यह तो शान्तनु को पहले ही सोचना चाहिए था। उन्होंने सत्यवती की शिक्षा-दीक्षा, शील-शिष्टाचार, अथवा उसका कोई अन्य गुण देखकर उसकी कामना नहीं की थी...या फिर यह सत्यवती का संकोच मात्र ही था...

सत्यवती के प्रबल आकर्षण और मन में उठते हुए उत्ताल धिक्कार में बँधे शान्तनु पल-भर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़-से खड़े रह गये। सत्यवती राज वैभव

आतंकित सिमटी-सी बैठी थी और शान्तनु उसके रूप से त्रस्त याचक-से बने खड़े थे।

अन्ततः शान्तनु ही बोले, "सत्यवती! किसी प्रकार का कोई कष्ट तो नहीं हुआ?"

सत्यवती ने नकार में सिर हिला दिया।

"मेरे प्रति कोई विरोध, कोई रोष, कोई उपालम्भ तो नहीं मन में?" शान्तनु का स्वर बहुत ही धीमा हो गया था।

सत्यवती ने फिर नकार में सिर हिला दिया।

"मैं बहुत ही अभागा व्यक्ति हूँ, सत्यवती!"

सत्यवती ने पहली बार चौंककर सिर ऊपर उठाया, "कुरुराज अभागे कैसे हैं? मेरे बाबा ने तो कहा था कि पूर्व जन्मों के संचित अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप मनुष्य राजपरिवार में जन्म लेता है। और फिर पुरुओं का-सा राजपरिवार!..."

शान्तनु को लगा, सत्यवती उतनी मितभाषिणी नहीं है, जितनी वे समझ रहे थे। अब तक न बोलने के पीछे कदाचित् उसका संकोच ही था। संकोच का अवरोध एक बार हट जायेगा, तो प्रवाह का अभाव नहीं रहेगा।

"शायद तुम ठीक कह रही हो सत्या!" शान्तनु रुके, "तुम्हारे बाबा तुम्हें इसी नाम से पुकारते हैं न?"

सत्यवती के चेहरे पर उल्लास दमका—बाबा द्वारा पुकारे जानेवाले नाम में कितनी आत्मीयता थी। उसके मन में कहीं एक अनाम-सी इच्छा उठ रही थी कि वह कहे कि उसका तपस्वी उसे 'पद्मगन्धा' कहकर पुकारता था...पर शायद कुरुराज को उसके शरीर में से पद्मगन्ध नहीं आ रही थी। वैसे भी सैरिंध्रियों ने उसे कैसी-कैसी तो तरल सुगन्धों से नहला दिया था। उसके शरीर की वह नैसर्गिक पद्मगन्ध अब रह ही कहाँ गयी होगी। राजप्रासाद में कमल-ताल की गन्ध आ भी कैसे सकती है...तपस्वी कहता था, सत्यवती माता प्रकृति के सौन्दर्य का पुंजीभूत स्वरूप है...कुरुराज क्या कहेंगे...वह सैरिंध्रियों की कला की पराकाष्ठा है...

"पर फिर भी मैं अभागा हूँ।" शान्तनु पुनः बोले, "मेरी कामना और कर्म में सन्तुलन नहीं है। मेरी कामना का अतिरेक इतना प्रचण्ड है कि उसका कोई तर्क और विवेक नहीं रह जाता; और मेरा कर्म बहुत भावुक, न्यायी और तर्कशील है।" वे रुके, "मेरी बात समझ रही हो?"

"नहीं!" सत्यवती ने ईमानदारी से स्वीकार कर लिया। वह तपस्वी की भी आधी बातें समझ नहीं पाती थी। राजा की बात भी समझ नहीं पायी, तो क्या आश्चर्य है।

शान्तनु मुस्कराये, "यह भी विचित्र स्थिति है, मेरी जीवन-संगिनी, मेरे

ाग्य को नहीं समझ पा रही।..."

"मैं···मैं···" सत्यवती अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाह रही थी।

"कोई बात नहीं सत्या !" शान्तनु पुनः मुस्कराये, "इस प्रकार समझ लो कि जिस स्त्री की मैंने अपनी पहली पत्नी के रूप में आकांक्षा की थी, वह मुझे मिल तो गयी; किन्तु उससे दाम्पत्य सुख नही मिला।·· अब दूसरी बार जिसकी आकांक्षा की, वह भी मिल गयी, किन्तु उसे शायद मैं दाम्पत्य सुख दे न पाऊँ।"

"क्यों ? ऐसा क्यों ?" सत्यवती अचकचा गयी।

शान्तनु ने उसे देखा, "तुम नहीं समझतीं ?"

"नही।"

"हमारे वय का अन्तराल !" शान्तनु धीरे-से बोले, "यद्यपि कामेच्छा मुझमें अब भी कम नही है। तुम्हें देखकर मैं विह्वल भी बहुत हो गया था। तुम्हें पाकर मैं प्रसन्न भी बहुत हूँ। किन्तु, मैं यह भूल नही सकता कि वय में मैं तुमसे बहुत बड़ा हूँ। तुम्हारी युवावस्था के लिए, मैं प्रायः वृद्ध हूँ। मेरा विवेक नहीं मानता कि मैं तुम्हारे लिए उपयुक्त वर हूँ। मेरे लिए तुम उपयुक्त पत्नी हो—यह भी मैं नही मानता। यह तो मेरे पुरुष की, तुम्हारी स्त्री के प्रति आसक्ति मात्र है। पति और पत्नी—स्त्री और पुरुष ही नहीं होते। वे उससे बहुत कुछ अधिक होते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध अल्पकालीन हैं। पति-पत्नी सम्बन्ध दीर्घकालीन हैं। पति-पत्नी सम्बन्ध मे अनेक समझौते करने पड़ते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं होता—यदि कोई होता भी है, तो वह दाम्पत्य-सम्बन्धों की दृष्टि से होता है।···मैं यह सबकुछ जानता था···।" उन्होंने रुककर सत्यवती की ओर देखा, "समझ रही हो ?"

सत्यवती उनकी ओर देखती-भर रही, बोली कुछ भी नही।

"यह सब मैं उस समय भी समझता था, जिस समय मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारी याचना की थी। इसीलिए मैंने तुम्हारे पिता की शर्तें नही मानीं। शर्तें अनुचित थी, क्योंकि मेरी याचना अनुचित थी।···इच्छा अनुचित थी।·· पर उस पर मेरा कोई वश नहीं था। किन्तु कर्म पर मेरा वश था। इसीलिए मैंने अपना कर्म अनुचित नही होने दिया।···" उन्होंने अपनी बात रोककर, पूरे कक्ष का एक चक्कर लगाया, "भीष्म ने मेरी इच्छा देखी।···"

"भीष्म कौन ?" सत्यवती ने अनायास ही पूछ लिया।

"देवव्रत।" शान्तनु बोले, "मैंने उसका नया नामकरण किया है—भीष्म। उसने काम ही ऐसा किया है।···जो कुछ उसने किया, वह उसी के योग्य है। पर मैं नही जानता कि जो कुछ उसने किया है, वह हमारे लिए हितकर भी है या नहीं—हमारे लिए, अर्थात् मेरे लिए, भीष्म के लिए, तुम्हारे लिए।···मुझे कई बार ल[illegible] है सत्या ! कि प्रकृति ने मनुष्य को पूर्ण बनाया है, पर उसका नाश आवश्यक है

बन्धन

अन्यथा वह अनश्वर हो जायेगा।···और उसके नाश के लिए प्रकृति ने मनुष्य में किसी-न-किसी एक अविवेकी इच्छा को स्थापित कर दिया है, ताकि अपने नाश का दायित्व भी मनुष्य के अपने ही सिर पर रहे। मनुष्य के मन में जब इच्छाएँ जन्म लेती हैं, तो वह नहीं जानता कि वे उसके लिए हितकर हैं या नहीं। किन्तु प्रकृति जानती है। इसलिए वह मनुष्य की इच्छाएँ पूरी नहीं करती। तब मनुष्य प्रकृति से रुष्ट होकर स्वयं कर्म करता है। कर्म का फल प्रकृति रोक नहीं सकती।···तब अपने अहित का दायित्व भी मनुष्य के अपने कन्धों पर ही होता है।" शान्तनु रुक गये, "तुम्हारा क्या विचार है?"

सत्यवती के कण्ठ में कुछ अटका; और फिर प्रयत्नपूर्वक उसने कह ही दिया, "मैं आपकी बात ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही हूँ महाराज!"

शान्तनु कुछ निराश हुए : क्षण-भर को लगा कि कैसी पत्नी चुनी है उन्होंने। गंगा ने तो उन सारे वर्षों में एक बार भी नहीं कहा था कि वह उनकी बात नहीं समझती।···और यह इस पहली भेंट के एक खण्ड में ही कई बार कह चुकी है कि वह उनकी बात नहीं समझ रही है।

पर दूसरे ही क्षण, उन्होंने स्वयं को सँभाला···सत्यवती को उसके रूप के लिए ही चुना है उन्होंने। वह रूप उसमें अभी है, और उनके जीवन-पर्यन्त रहेगा।··· उसकी समझ के विषय में कुछ भी जानने का प्रयत्न नहीं किया था उन्होंने···और सहसा उन्हें लगा, कि दूसरों को भ्रम में रखने के लिए वे जो भी कहें, किन्तु अपने-आप से, स्वयं को नहीं छिपा सकेंगे वे। उसका कोई लाभ भी नहीं है। वे आत्म-साक्षात्कार कर रहे थे, उसके वास्तविक और नैसर्गिक रूप में···सत्यवती को उन्होंने उसके रूप पर आसक्त होकर चाहा था···केवल रूप···मांसल रूप···कामेच्छा ही थी इस इच्छा के मूल में···उन्होंने दूसरा पुत्र पाने के लिए उसे नहीं चाहा था··· उसे उन्होंने जीवन-संगिनी के रूप में नहीं चाहा···वस्तुतः उन्होंने उसे 'मनुष्य' के रूप में नहीं, एक 'वस्तु' के रूप में चाहा है···केवल भोग के लिए।···इस वय में पुरुष, धर्मपत्नी या जीवन-संगिनी को पाने के लिए विवाह नहीं करता। वह विवाह करता है अभुक्त काम के लिए। उसे पत्नी नहीं चाहिए, उसे चाहिए रमणी।···और रमणी में रूप ही पर्याप्त है, अन्य गुणों की अपेक्षा नहीं है··· और वे यह क्यों कहते हैं कि भीष्म ने उनकी इच्छा देखी, कर्म नहीं···उन्होंने स्वयं भीष्म से कहा था कि एक ही पुत्र का पिता सन्तानहीन व्यक्ति के समान होता है, अतः वे दूसरी सन्तान पाना चाहते हैं···क्या भीष्म के लिए, यह पिता का आदेश नहीं था?···

सत्यवती की इच्छा हुई कि वह सो जाये। कैसी तो नींद आ रही थी उसे। शरीर

तो यात्रा ने थका दिया था; और मस्तिष्क को राजा की बातों ने···पर यह सो
से सकती थी। शान्तनु राजा ही नहीं, उसके पति भी थे। वे उससे बातें कर रहे
, और वह सो जाये।···पर यदि राजा उसे अनुमति दे भी दें तो क्या वह सो
ायेगी? कैसा अटपटा-सा लग रहा था उसे। एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति, न
केवल उसके कक्ष मे उपस्थित था, बल्कि उसके पलँग के एकदम पास खड़ा था···
यदि इस व्यक्ति के स्थान पर उसका तपस्वी होता, तो वह उसकी गोद में सिर रख-
कर सो जाने में एक निमिष का भी विलम्ब न करती···पर यह राजा···

"तुम्हें नींद आ रही है क्या?" सहसा शान्तनु ने पूछा।

"पर मैं सोऊँगी नहीं।" सत्यवती ने निर्द्वन्द्व उत्तर दिया, "बाबा ने कहा था
कि जब तक राजा सो न जाएँ, मुझे सोना नहीं चाहिए।"

"ओह!" शान्तनु बोले, "तुम्हारे बाबा बहुत समझदार व्यक्ति हैं।"

शान्तनु आकर सत्यवती के पास बैठ गये। सत्यवती कुछ और सिमटी। पर
अब शान्तनु की शिराओं में काम-मद लहरा रहा था।···सत्यवती की मनोदशा
जानने का उनके पास अवकाश नहीं था। उनके लिए यही पर्याप्त था कि सत्यवती
उनके पास थी और वह उनके अनुकूल हो या न हो, पर उनके प्रतिकूल नहीं
थी।

शान्तनु ने जब सत्यवती को अपनी बाँहों मे लिया, तो एक क्षण को उन्होंने
अनुभव किया कि सत्यवती की त्वचा उनके स्पर्श से समर्पण के लिए शिथिल न
होकर, विरोध में कुछ संकुचित हुई थी···पर यह भाव उनके आवेग में वैसे ही बह
गया, जैसे कोई छोटी-सी टहनी गंगा की लहरों के साथ बह जाती है···

शान्तनु सो गये; किन्तु सत्यवती को बहुत देर तक नींद नहीं आयी।···

थोड़ी देर पहले तक यह पुरुष उसके लिए अपरिचित था···राजा था, कुरुकुल
का सम्राट्! उससे बहुत धनी, सत्ता-सम्पन्न, विद्वान् और शायद महान्! सत्यवती
क्या थी उसके सामने: एक निर्धन केवट-प्रमुख की पुत्री। न शिक्षित, न राज-परि-
वारों के विधि-विधान को जाननेवाली—पर इस सम्राट् के भीतर बैठे पुरुष ने,
सत्यवती के नारी-सौन्दर्य के सम्मुख घुटने टेक दिये थे—और अब सत्यवती, शान्तनु
के समान हो गयी थी—कहीं अधिक शक्तिशालिनी भी।···उसके पास रूप और
यौवन था। बाबा कहते थे, पूर्णचन्द्र को देखकर सागर विह्वल हो उठता है और
उसकी उद्दाम तरंगें चन्द्रमा के चरण छूने को लोटती हैं, बार-बार ऊपर उचक-
उचककर धरती पर अपना सिर फोड़ती हैं। वैसे ही सत्यवती पर दृष्टि पड़ते ही
शान्तनु की धमनियों में काम-ज्वार उठेगा। राजा सत्यवती के चरणों मे सि
पटकेगा···और उस समय वह इतना दुर्बल हो जायेगा कि सत्यवती की आँख

संकेत पर पालतू कुत्ते के समान दौड़ता फिरेगा। सत्यवती ने अपनी शक्ति का प्रभाव देख लिया है। उसे अब यह मालूम होना चाहिए कि किस कार्य में उसका हित है, कार्य तो वह करवा ही लेगी···

···क्या कह रहे थे राजा कि जो इच्छा हमारे हित में नहीं होती, प्रकृति उसे पूरा नहीं करती है···क्या तपस्वी का सत्यवती को न मिलना उसके हित में है? उस प्रिय-दर्शन पुरुष का सत्यवती को न मिलना, सत्यवती के हित में कैसे हो सकता है···शायद, सारा जीवन सत्यवती के नयनों में, उसकी कल्पना में पराशर की छवि तिरती रहेगी और उसके हृदय को पीड़ा देती रहेगी···अब तो पराशर ही नहीं, नन्हा कृष्ण द्वैपायन भी तो है।···अपने प्रिय जनों का किसी से जीवन-पर्यन्त छिन जाना उसके लिए कैसे हितकर हो सकता है?···राजा जाने क्या-क्या सोचते और कहते हैं···

पर सत्यवती का चिन्तन एक ही स्थान पर स्थिर नहीं रह सका;···उसके अपने ही मन में एक विरोधी स्वर उठा : वह यह क्यों मानती है कि उसकी इच्छा होने पर भी प्रकृति ने उसे पराशर से नहीं मिलाया।···बाबा से बात कर, उसकी अपनी इच्छा ही तो शिथिल हो गयी थी···उसने बाबा की इच्छा के साथ अपनी इच्छा का तादात्म्य कर दिया था···बाबा मानते थे कि धन के अभाव में तपस्वी के साथ उसका जीवन सुखद नहीं होगा···सम्भव है कि ऐसा ही होता। यदि सत्यवती और पराशर का विवाह हो जाता और कालान्तर में धन के अभाव में उसे कोई असुविधा होती तो उसका सारा रोष अपने तपस्वी पर ही बरसता। तब, यदि उनमें झगड़ा होता···दोनों का साथ रहना यातनापूर्ण हो जाता···तो क्या उसके स्थान पर प्रकृति ने ठीक निर्णय नहीं किया? उसका प्रिय उसे नहीं मिला, किन्तु उसका प्रिय, अप्रिय तो कभी नहीं होगा।

तो क्या शान्तनु की रानी बनना ही उसके लिए हितकर था?···एक समवयस्क, संबुद्धि और सजातीय वर उसके हित में नहीं था?···शायद नहीं···बाबा के ही समान, सत्यवती के मन में भी कहीं गहरे वैभव और सत्ता की भूख थी···प्रकृति ने उसे वही दे दिया, जो सत्यवती ने चाहा था···कुछ पाने के लिए उसका मूल्य भी चुकाना ही पड़ता है। सत्यवती ने सुख-सुविधाओं के लिए अपने प्यार का मोल चुकाया है···

प्रकृति ने उसकी इच्छा पूरी की है या उसका हित साधा है? या क्या उसकी इच्छा और हित-साधन मिलकर एक हो गये हैं?···और देवव्रत भीष्म!···क्या इस प्रौढ़ पति के पुत्र के रूप में भीष्म को पाना भी उसके हित में था?···

बाबा ने कहा था, 'भीष्म से सावधान रहना। वही तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु हो सकता है।···'

उसकी इच्छा पूरी हुई है या प्रकृति की ?
सत्यवती कुछ भी समझ नहीं पा रही थी।

[10]

'हमारी सन्तान को शास्त्रों और शास्त्रों की शिक्षा कौन देगा ?" सत्यवती ने इतने सहज रूप में पूछा, जैसे दैनिक कार्यक्रम सम्बन्धी कोई प्रश्न हो।

कुछ क्षणों तक शान्तनु कुछ समझ ही नहीं पाये : किसकी बात कर रही है सत्यवती ? भीष्म को अब क्या शास्त्रों और शास्त्रों के शिक्षण की आवश्यकता है ? ...पर सहसा उनकी दृष्टि सत्यवती के चेहरे पर टिक गयी : सत्यवती अब साधारण निषाद-कन्या नहीं रह गयी थी। सैरंध्रियों की कला तो अपना कार्य करती ही रही थी; पर शिक्षिकाओं ने उसकी रुचि के परिष्कार और विकास में भी कम श्रम नहीं किया था। और सबसे महत्त्वपूर्ण तो सत्यवती की अपनी ग्रहण-शक्ति थी। जिस तीव्रता से उसने स्वयं को अपने नये वातावरण में ढाला था, वह अद्भुत थी। कुछ वर्षों में तो शायद कहने पर भी कोई विश्वास न करे कि सत्यवती का जन्म राज-परिवार में नहीं हुआ था और उसका पालन-पोषण एक निषाद के आँगन में हुआ था।...और उसके चेहरे का यह उल्लास...क्या कहा था उसने...हमारी सन्तान को...

"सत्या ! क्या तुम माँ बननेवाली हो ?"

सत्यवती ने कटाक्ष से शान्तनु को देखा और स्वीकृति में सिर झुका लिया।

शान्तनु का मन हुआ, तत्काल भीष्म को बुलायें और उस पिता के सच्चे हृदय से आशीर्वाद दें।...उन्होंने उससे कहा था, 'एक पुत्र का पिता, सन्तानहीन व्यक्ति जैसा होता है।'...उसने अपना सर्वस्व त्याग कर उन्हें दूसरी सन्तान प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध करा दिया।...उन्हें लगा कि उनका मन, भीष्म के आभार में इतना विगलित हो गया है, कि कहीं भीष्म उनके सामने आ खड़ा होता तो राजा और पिता—दोनों की मर्यादा भूलकर, वे पुत्र के चरणों में ही लोट जाते।

"आपने बताया नहीं।" सत्यवती ने अपना झुका हुआ सिर उठाया।

शान्तनु ने अनुभव किया, हृदय की गद्‌गदावस्था से उनकी आँखें भीग आयी हैं।

"मैं अभी दूसरी सन्तान का मुख देखने की संभावना की विह्वल अवस्था से ही उबर नहीं पाया और तुम सन्तान की शिक्षा-दीक्षा तक पहुँच गयी।"

"आपकी होगी दूसरी सन्तान।" सत्यवती अनियन्त्रित आवेग के साथ बोली, "मेरी तो पहली ही है न!"

कहने को तो वह कह गयी, पर कहते ही जैसे उसके दाँतों ने उसकी जीभ काट

बन्धन ।

ली : 'मूर्खे ! कृष्ण द्वैपायन को भूल गयी तू ? इतनी जल्दी ?'

सत्यवती का हृदय उमड़ा। मन में आया कि तत्काल राजा को बता दे, कि उसका एक कानीन पुत्र भी है—कृष्ण द्वैपायन ! वहाँ, यमुना के उस द्वीप पर, तपस्वी की कुटिया में पल रहा है। राजा उसका मस्तक सूँघकर उसे अपना पुत्र स्वीकार कर लें। आखिर वह उन्हीं के क्षेत्र से उत्पन्न सन्तान है; फिर वह शान्तनु का पुत्र क्यों नहीं हो सकता ?

पर जैसे उसी क्षण उसके विवेक ने उसे फटकारा, 'सत्यवती ! पागल मत बन ! तू राजा के औरस पुत्र, कुरुवंश के युवराज, भीष्म को अपना पुत्र नहीं मान पायी, तो राजा तेरे कृष्ण द्वैपायन को कैसे अपना पुत्र स्वीकार कर लेगा।···कहीं यह न हो कि राजा कुपित हो जाये; और तेरी इस अजन्मी सन्तान को भी अपनी सन्तान न माने। ऐसा न हो कि अपनी पहली सन्तान को राज-वैभव दिलाने के प्रयत्न में वह अपनी दूसरी, इस अजन्मी सन्तान को भी वंचित कर दे···तपस्वी ने कहा था, क्षत्रिय राजा कानीन सन्तान को सम्मानजनक नहीं मानते। बाबा ने भी संकेत किया था कि वह राजप्रासाद में अपनी कानीन सन्तान की चर्चा न करे···यदि कहीं राजा को सन्देह हो गया···और सन्देह उसे हो सकता है। राजा लोग इस विषय में तनिक भी उदार नहीं हैं। ईर्ष्या उनका सर्वप्रथम गुण है···उसे सन्देह हो गया, तो वह यही मानेगा कि सत्यवती की इस अजन्मी सन्तान का पिता भी वही तपस्वी है···'

"तुम क्या चाहती हो प्रिये !" शान्तनु बोले, "जो चाहोगी, वही प्रबन्ध हो जायेगा।"

राजा ने जैसे आदेश पाने के लिए सत्यवती की ओर देखा।

सत्यवती ने राजा की याचक दृष्टि को पहचाना। उस दृष्टि ने सचमुच शान्तनु को याचक और सत्यवती को राजरानी बना दिया था।···सत्यवती ने बहुधा पाया था कि उसका अपना मन चाहे उसे आज भी निषाद-कन्या ही मानता रहे, किन्तु शान्तनु की दृष्टि उसे भूमि से उठाकर महारानी के समान कुरुओं के राजसिंहासन पर बैठा देती है; और स्वयं हाथ जोड़कर याचक के समान उसके सामने खड़ी हो जाती है।

"मेरा पुत्र शिक्षा ग्रहण करने ऋषि कुलों या आश्रमों में नहीं जायेगा।"

शान्तनु ने उसे आश्चर्य से देखा, "क्या कह रही हो सत्यवती ? क्षत्रिय राजकुमार वनों में जाकर ऋषियों के शिष्यत्व में उनके आश्रमों में ही विद्या ग्रहण करते हैं। यही परिपाटी है।"

"परिपाटी विधाता का अन्तिम विधान नहीं है।" सत्यवती कुछ उग्रता से बोली, "परिपाटी को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। उसका संशोधन किया जा सकता है। हम नयी परिपाटी का निर्माण कर सकते हैं। यदि राजकुमार आश्रम तक जा सकता है, तो गुरु राजमहल तक भी आ सकता है। मेरा पुत्र आश्रम

ही जायेगा।"

शान्तनु ने कुछ रोष और कुछ दुख के साथ सत्यवती की ओर देखा : जब उन्होंने इस निषाद-कन्या से विवाह किया था, तो उन्होंने सोचा भी नहीं था कि इसके मुख में जिह्वा भी होगी। और आज यह इस प्रकार बोल रही है कि राजा शान्तनु को ही जैसे चुप करा देगी। शताब्दियों के अनुभव, चिन्तन और प्रयोग के पश्चात् सहस्रों ऋषियों ने मिलकर कुछ परिपाटियाँ स्थापित की हैं।...और यह स्वयं, अकेली, एक ही क्षण में नयी परिपाटी बनाने का दम्भ कर रही है। नयी परिपाटी बनाना तो बहुत बड़ी बात है, यह पुरानी परिपाटी को समझती भी है?...या यह निषाद-कन्या समझती है कि राजप्रासाद में चरण पड़ जाने से यह सम्पूर्ण सृष्टि में सबसे अधिक समझदार प्राणी हो गयी·· यदि ऐसा समझती भी हो तो क्या बड़ी बात है—अज्ञान ही तो अहंकार को स्फीत करता है...

"तुम अपने पुत्र को आश्रम में नहीं भेजना चाहतीं।" शान्तनु जैसे अपने चिन्तन के बीच अनायास ही कह गये, "किन्तु यह तुम्हारे पुत्र के हित में नहीं होगा।"

"अपने पुत्र का हित और अहित मैं अच्छी तरह समझती हूँ।" सत्यवती का स्वर पर्याप्त आक्रामक था।

शान्तनु का मन हुआ कि उसे डाँट दें : क्या समझती है वह अपने पुत्र का हित और अहित! उसके ममता के वृत्त में स्थान ही कितना है, विवेक के लिए। अपनी जड़ता को वह अपनी बुद्धिमत्ता समझती है...

पर सत्यवती के साथ बिताये गये इतने दिनों में ही वे अपने विषय में बहुत कुछ नया जान गये थे—स्वयं को कुछ अधिक ही पहचान गये थे।...

इन दिनों में उन्हें गंगा भी बहुत याद आयी थी। गंगा के छोड़ जाने के बाद से शान्तनु भीतर से बहुत ही दीन हो गये थे, ऊपर से चाहे वे कितने कठोर बने रहे हों ...मन कुछ इतना उद्विग्न रहता था कि सत्यवती का रोष क्या, उसकी हल्की-सी उपेक्षा भी उन्हें विचलित कर देती थी। वे जानते थे, उसके रुष्ट होते ही, उनकी अपनी शान्ति नष्ट हो जायेगी; और वे तब तक सहज नहीं हो पाएँगे, जब तक कि सत्यवती को प्रसन्न ही न कर लें।...सत्यवती के विवेक पर उन्हें तनिक भी भरोसा नहीं था। वे जान गये थे कि उसकी आत्मा बहुत उदात्त भी नहीं है। अपने सीमित स्वार्थों में प्रसन्न है सत्यवती!...पर अब जैसी भी है, उनकी पत्नी है। उसे वे त्याग नहीं सकते थे। जाने क्यों उससे अलग होने की कल्पना के जागते ही उनके पैरों तले की भूमि निकल जाती थी।...और अब तो उसके गर्भ में उनकी अप सन्तान पल रही है...सन्तान-सम्बन्धी विवाद के कारण ही तो गंगा उनको छो गयी थी। और अब फिर सन्तान के विषय में विवाद...तब प्रश्न सन्तान के जी का था, अब उसकी शिक्षा का है...

"देखो!" शान्तनु ने उसे समझाना चाहा, "आश्रम में गुरु ही स्वामी हो

बन्धन

पालक होता है, आश्रयदाता और अभिभावक होता है। इसलिए वहाँ उसका गुरुत्व जागता है। उसकी आत्मा उदात्त होती है। उसका विवेक और शिष्य के प्रति स्नेह, सबकुछ सचेत होता है। आश्रम में शिष्य, गुरु के सान्निध्य में रहकर, इन सारे भावों को ग्रहण करता है।…"

"शिष्य को ज्ञान ग्रहण करना है या गुरु के भाव को?" सत्यवती ने उनकी बात काट दी, "शास्त्रों से बुद्धि जागती है, ज्ञान-वर्धन होता है, तो ऐसा आश्रम में भी होगा और राजप्रासाद में भी। शास्त्रों के विषय में राजकुमारों को सूचना वन के आश्रम में भी दी जा सकती है और राजमन्दिर में भी। शस्त्रों का अभ्यास राजकुमार वन के वृक्षों की छाया में करें या राजा के उद्यान में—क्या अन्तर है।" सत्यवती ने बात बदली, "और मैं तो चाह ही रही हूँ कि मेरा पुत्र गुरु से ज्ञान ग्रहण करते हुए भी यह न भूले कि स्वामी वही है। गुरु उसे शिक्षा देनेवाला राज-कर्मचारी भर है। गुरु में उदात्त तत्त्व जागता है या नहीं—मेरे लिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। मेरे लिए तो महत्त्वपूर्ण यह है कि मेरे पुत्र का शौर्य बढ़ता है। उसमें रजस-तत्त्व जागता है। वह जानता और मानता है कि वह राजा है, स्वामी है। उसका शस्त्र-ज्ञान बढ़ता है, वह अपने शत्रुओं का दमन करने में सफल होता है…"

"सत्यवती!" शान्तनु के स्वर में अधैर्य का आभास होने लगा था, "ज्ञान और बल, बुद्धि और वीरता—ये सब सात्विकता के साथ ग्रहण किये जाएँ तो मनुष्य उदात्तता की ओर बढ़ता है और देवत्व को प्राप्त करता है। ये ही गुण यदि निकृष्ट भावों के साथ ग्रहण किये जायें तो मनुष्य का अहंकार स्फीत होता है और उसका पशुत्व जागता है। विद्या और ज्ञान, कला और कौशल, चिन्तन और मनन, शस्त्र और शास्त्र—ये सब हमारे ऋषियों ने मनुष्य को देवता बनाने के लिए रचे हैं, उसको सम्पूर्ण पशु बनाने के लिए नहीं।" उन्होंने रुककर क्षणभर सत्यवती को देखा, "और जो गुरु राजप्रासाद के कर्मचारी के रूप में तुम्हारे पुत्र को शिक्षा देगा, उसके भीतर गुरुत्व के स्थान पर क्षुद्रत्व जागेगा। आठों याम जो गुरु राज-वैभव के सान्निध्य में रहेगा—वह हीन भावना से पीड़ित होगा और अर्जन की प्रवृत्ति से ग्रस्त होगा। वह अपनी विद्या, ज्ञान, कला-कौशल और बुद्धि का व्यवसाय करना चाहेगा। अपने ज्ञान और क्षमताओं का मुक्त हस्त दान कर, अपने शिष्यों को आगे बढ़ता देखकर, कृतकृत्य नहीं होगा। वह अपने शिष्य को जो कुछ देगा, वह उत्कोच होगा; और जो कुछ अपने पास ही रोक रखेगा, वह उसका व्यवसाय-कौशल या रण-नीति होगी। ऐसा गुरु आकाशवत् अपने शिष्यों का विकास नहीं होने देगा, अपने लाभ-हानि को देखते हुए, उनका रक्षण और पोषण करेगा। वह गुरु नहीं होगा अधीनस्थ कर्मचारी होगा—वह न्याय-अन्याय, विवेक-अविवेक, उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म का भेद नहीं करेगा—वह स्वार्थ-नीति से परिचालित होगा।… और यह अनिष्टकारी होगा। हमारे चिन्तकों ने बुद्धिजीवी को राजनेता से श्रेष्ठतर

माना है। राजा को ऋषि की बुद्धि से परिचालित होना चाहिए; जो ऋषि राजाओं के आदेशों की परिधि में घिरकर चिन्तन करता है, वह ज्ञान की नहीं पाखण्ड की वृद्धि करता है···।"

शान्तनु ने रुककर सत्यवती की ओर देखा : उसकी आँखों में उन्होंने अपने लिए तिरस्कार का भाव पाया। उन्हें लगा, जैसे सत्यवती ने उनकी बात सुनी ही न हो; सुनी हो तो ग्रहण न की हो। वस्तुतः सत्यवती के मन में तर्क-पद्धति नहीं थी, दृढ़-बद्ध धारणाएँ थीं। वह तर्क के मार्ग की यात्रा नहीं करती थी, अपने लक्ष्य पर धारणाओं के बाण चलाती थी। जाने बूढ़ा दासराज इसे किस प्रकार समझाता होगा···पर शायद दासराज की बुद्धि के साथ इसका जो तादात्म्य है, वही इन दोनों के चिन्तन के साम्य का आधार रहा होगा। आखिर दासराज ने अपनी देख-रेख में अपने ढंग से ही तो इसका बौद्धिक विकास किया होगा। तभी तो इन पिता-पुत्री को, भीष्म को उसके समस्त अधिकारों से वंचित करते हुए क्षण-भर भी नहीं लगा। ···और फिर पिता और पति में भेद होता है। नारी-मन कहीं पिता को समर्थन देकर और पति का उल्लंघन कर तुष्टि पाता है। पति ही उसका निकटतम मित्र है, और वही उसका घोरतम शत्रु। पति-विजयिनी नारी ही तो स्वयं को सारे नियमों से मुक्त पाती है···यही गंगा ने किया और वही अब यह सत्यवती भी करना चाहती है।···

विचित्र स्थिति है—शान्तनु सोच रहे थे—सत्यवती की सन्तान उनकी भी सन्तान थी—जैसे गंगा की प्रत्येक सन्तान, उनकी सन्तान थी। पर गंगा ने भी अपनी सन्तानों पर सर्वाधिकार की घोषणा की थी और अब यह सत्यवती भी वही कर रही है। वे जनक भी हैं और पिता भी···किन्तु उनके हाथों में केवल दायित्वों के बन्धन हैं, अधिकार-दण्ड उनके पास नहीं है।

"ठीक है।" सहसा वे बोले, "तुम्हारे पुत्र की शिक्षा-दीक्षा राजप्रासाद में ही होगी। भीष्म को अब शासन नहीं करना है; वह गुरु-कार्य ही करे! वह शस्त्र और शास्त्र—दोनों की ही शिक्षा देने में समर्थ है।"

"क्यों? भीष्म क्यों?" सत्यवती, शान्तनु से सहमत नहीं हो सकी, "भीष्म राजकुमार है, राजगुरु नहीं। उसमें गुरु की योग्यता कहाँ है?"

"उसमें विश्व-गुरु होने की योग्यता है।" शान्तनु की दृष्टि आकाश की ओर उठ गयी और स्वर स्वप्निल हो गया, जैसे वे पृथ्वी पर नहीं, किसी और लोक में जी रहे हों, "जो व्यक्ति अपना और अपनी अगली पीढ़ियों का समग्र लौकिक सुख, किसी एक व्यक्ति के सुख के लिए इतनी सरलता से त्याग सकता है, उससे बड़ा अनासक्त और कौन होगा। अनासक्ति गुरु का पहला गुण है।···और फिर तुम्हारा राजकुमार···"

"युवराज!" सत्यवती ने तत्काल संशोधन किया।

"हाँ ! हाँ ! युवराज !" शान्तनु बोले, "तुम्हारा युवराज राजप्रासाद में शिक्षा ग्रहण करेगा; उसके गुरु के मन में राज-वैभव के सान्निध्य के कारण क्षुद्रत्व भी विकसित नहीं होगा— क्योंकि वह राजसेवक कर्मचारी नहीं होगा, स्वामी होगा। उसके पास राजकुमार का अधिकार भी होगा, गुरु का भी··· ।"

"नहीं !" सत्यवती का स्वर कुछ आदेशात्मक हो गया था, "मैं यह नहीं भूल सकती कि मेरे कारण भीष्म वंचित हुआ है।···और वह भी इसे कभी नहीं भुला पायेगा।···और इस वंचना के कारण वह मेरे पुत्र को वंचित करे—इस सम्भावना को मैं कभी जन्म नहीं लेने दूंगी।"

"वह सम्भावना कहाँ है सत्यवती?"

"भीष्म मेरे युवराज का गुरु होगा, तो इसी की सम्भावना है। मैं इस षड्यन्त्र में आपकी सहायक नहीं हो सकती।"

अवाक् शान्तनु, सत्यवती को देखते रह गये।

जब और चुप नहीं रह सके तो बोले, "तुम्हें अपने पुत्र के सन्दर्भ में भीष्म से किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका है?"

"अनिष्ट की नहीं, प्रतिशोध की !" सत्यवती के स्वर में कहीं संकोच का एक कण भी नहीं था।···उसके लिए यह अनुमान या आशंका न होकर, पूर्ण सत्य था।

"भीष्म ऐसा व्यक्ति नहीं है।" शान्तनु दृढ़ता से बोले, "तुम उसे आज तक समझ नहीं पायीं।"

"अपना दाना छीननेवाले को तो चींटी भी काट लेती है, भीष्म तो मनुष्य है।" सत्यवती स्थिर वाणी में बोली, "मछली के एक बोझ के पीछे मैंने मछुवारों को एक-दूसरे की हत्या करते हुए देखा है।"

"तो सत्यवती ! तुमने आज तक मछुआरे ही देखे हैं, क्षत्रिय राजकुमार नहीं," शान्तनु रोषपूर्वक बोले, "जो निर्बलों की रक्षा के लिए अपने प्राण दे देते हैं। तुम हीन कोटि के मनुष्यों में पली हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सृष्टि में उत्कृष्ट कोटि के लोगों का अस्तित्व ही नहीं है।"

"हम निर्धन हैं, इसलिए हीन हैं?" सत्यवती जैसे तड़पकर बोली।

"निर्धन हीन नहीं होते।" शान्तनु बोले, "निर्धन तो ऋषि-मुनि-तपस्वी भी हैं। मैं तो जीवन-मूल्यों की बात कर रहा हूँ। मानव के रूप में व्यक्ति धन से हीन या श्रेष्ठ नहीं होता। व्यक्ति श्रेष्ठ होता है, अपने आचरण से; और उसके आचरण की पृष्ठभूमि में होते हैं उसके मूल्य ! भीष्म का आचरण देखो। कुरु-राज्य उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। जीवन के सुख-भोग उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते; और तुम्हारा विचार है कि वह तुम्हारे पुत्र से—अपने भाई से प्रतिशोध लेगा?"

"देखिए! आप कुछ भी कहें।" सत्यवती का स्वर शान्तनु के लिए स्पष्ट
षा लिये हुए था, "इस विषय में मैं अपनी बुद्धि पर ही विश्वास करना चाहूँगी।
नी सन्तान के जीवन और भविष्य के विषय में निर्णय करने का अधिकार मैं
पने पास ही रखना चाहूँगी। और मेरा स्पष्ट निर्णय है कि मैं अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व भीष्म पर नहीं छोड़ना चाहती। जिससे मेरे पुत्र को अनिष्ट की सर्वाधिक आशंका है, उसे मैं अपने पुत्र का गुरु नियुक्त नहीं कर सकती।"

शान्तनु ने क्रोध-भरी दृष्टि से सत्यवती को देखा, जैसे अभी कोई बहुत कड़वी बात कह देंगे; और फिर अकस्मात् ही जैसे ज्वार का भाटा आरम्भ हो गया। क्रोध को वे गरल-घूँट के समान पी गये। इस बार बोले तो उनका स्वर अत्यन्त शान्त था, "तेरी ही इच्छा पूर्ण हो सत्यवती! मैं समझ लूँगा कि तेरे पुत्र के भाग्य में अच्छा गुरु नहीं था।...मैं तुमसे विवाद नहीं करना चाहता। निर्णय तुम्हारा ही रहेगा; किन्तु तुम्हें कुछ सूचनाएँ अवश्य देना चाहता हूँ। सुनोगी?"

"कहिए।" सत्यवती ने कहा; किन्तु उसकी भंगिमा स्पष्ट कह रही थी कि शान्तनु की बात सुनने की उसे तनिक भी इच्छा नहीं है। जो कुछ भी वह सुनेगी उपेक्षा की रूई से मुँदे कानों से ही सुनेगी।

"भीष्म मनुष्य नहीं, देवता है।" शान्तनु बोले, "वह मेरा पुत्र है; किन्तु मेरे मन में उसका सम्मान किसी महापुरुष से कम नहीं है। यदि कहीं वह तुम्हारे पुत्रों का गुरु बन जाता, तो उनमें भी देवत्व जगा देता। वह धर्म का आधार है। उसके स्पर्श मात्र से तुम्हारे पुत्रों की आत्मा स्वर्णमयी हो जाती।...भीष्म से अपने पुत्रों को दूर कर उनको वंचित करोगी। भीष्म का तो अब बिगड़ने को कुछ शेष रहा ही नहीं। उससे तो अब संसार को पाना ही पाना है, वह संसार से कुछ ग्रहण तो करेगा ही नहीं।"

"कह चुके?" सत्यवती ने पूर्ण उपेक्षा से पूछा।

"हाँ!"

"तो मेरी बात भी सुन लीजिए।" वह दृढ़तापूर्वक बोली, "यदि मैं आपकी बात मान भी लूँ कि भीष्म मेरे पुत्रों की हत्या नहीं करेगा, उनकी रक्षा करेगा। यदि मैं विश्वास कर भी लूँ कि भीष्म देवता है—त्याग, दया, ममता और क्षमा की मूर्ति है; और मेरे पुत्र उसके सान्निध्य से वैसे ही हो जायेंगे," उसका स्वर और भी प्रखर हो गया, "तो मैं अपने पुत्रों को उसकी छाया से भी दूर रखना चाहूँगी।"

"क्यों?" शान्तनु के लिए यह सब अत्यन्त अप्रत्याशित था।

"क्योंकि मैं अपने पुत्रों को भीष्म जैसा त्यागी-संन्यासी नहीं बनाना चाहती, जिसे तनिक-से प्रयत्न से ही कोई पूर्णतः वंचित कर जाये।" वह बोली, "मैं चाहूँगी मेरे पुत्र राजकुमार बनें, संन्यासी नहीं। मैं चाहूँगी कि वे अपना अधिकार त्याग

के स्थान पर अपने अधिकारों के लिए लड़ मरें। यह संसार जूझ मरनेवाले लोगों का क्षेत्र है। मैं भीष्म जैसे कापुरुष को अपने पुत्रों का गुरु नियुक्त नहीं करूँगी।"

शान्तनु ने सत्यवती की आँखों में भयंकर हिंसा देखी।

"मैंने तो सुना था कि स्त्री दया, माया, ममता, करुणा और उदारता की मूर्ति होती है।" शान्तनु जैसे अपने-आप से कह रहे थे।

"मैं वैसी नारी नहीं हूँ। और न ऐसा कोई आदर्श पालने की मेरी इच्छा है, जिसमें बाँधकर मुझे मूर्ख बनाया जा सके।" सत्यवती बोली, "आपने यह भी सुन रखा होगा कि नारी वासना भी है और माया भी। उसमें इच्छाएँ होती हैं। वह पृथ्वी के मृण्मय तत्त्वों से बनी है, इसलिए उसमें भोग और भोग के अधिकार की लालसा होती है। वह पृथ्वी के समान प्रत्येक वस्तु पर अपना अधिकार चाहती है। धन, वैभव, सत्ता—सबकी माया व्यापती है मुझे। मैं कुरुकुल की रानी हूँ और हस्तिनापुर के सम्राट् की माँ के रूप में राजमाता भी बनना चाहती हूँ। निवृत्ति, अध्यात्म, त्याग, बलिदान की बातें नहीं भातीं मुझे।...और मैं चाहूँगी कि मेरे पुत्र भी ऐसे ही हों।"

शान्तनु अवाक्-से सत्यवती को देखते रह गये। जिस स्पष्ट रूप से उसने अपने स्वरूप को स्वीकार किया था, उसके बाद कहने को कुछ रह ही कहाँ जाता था। शान्तनु का मन हुआ कि कहें कि 'यदि तुमने अपने विषय में सच-सच बताया है, तो देवि! तुम्हें पाकर अपनी कल्पनाओं में जिस स्वर्ग का मैंने निर्माण किया था, वह ध्वस्त हो चुका।'...पर कहने का कोई अवसर तो होता...

"तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।" शान्तनु बोले, "तुम्हारे पुत्रों की शिक्षा का दायित्व भीष्म पर नहीं होगा। तुम्हारे पुत्र ऋषिकुलों या गुरुओं के आश्रमों में भी नहीं जायेंगे। तुम्हारे पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा, राजप्रासाद में ही होगी।"

"उनका गुरु कौन होगा?"

"कोई असाधारण मनीषी, कोई ऋषि तो राज-प्रासाद का कर्मचारी बनकर आयेगा नहीं।" वे बोले, "राजाश्रित कोई ब्राह्मण उनके आचार्य का कार्य सँभालेगा।"

"ठीक है।" सत्यवती कुछ सन्तुष्ट-सी हुई, "मैं नहीं चाहती कि मेरे पुत्र ऋषियों और गुरुओं के अधिक प्रभाव में आयें। मैं तो यह समझती हूँ कि भीष्म का बचपन भी यदि आश्रमों में न बीता होता, तो वह सांसारिक सुखों से इस प्रकार विरक्त न होता।...इसीलिए मैं नहीं चाहती कि वह मेरे पुत्रों के अधिक सम्पर्क में आये।"

"तुम्हारी यह इच्छा भी पूरी होगी।"

शान्तनु उठकर कक्ष से बाहर चले गये।

रात को बहुत देर तक शान्तनु को नींद नहीं आयी। एक समय था जब स्वयं उन्हें

भीष्म से विरोध था कि वह इतना उदासीन और उदार क्यों है। तब उन्होंने भी यही सोचा था कि इस उदासीनता के मूल में उसका शैशव ही है···ऋषियों का सान्निध्य और उनका शिक्षण।···किन्तु आज वे स्पष्ट देख रहे थे कि उदासीनता कितनी उदात्त होती है और आसक्ति कितनी क्षुद्र ! ऋषियों की अनासक्त-उदार दृष्टि जीवन की संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर, बहुत दूर तक देखती है, और इसीलिए यही स्वस्थ दृष्टि है। वे जीवन के यथार्थ को समझते हैं शायद ! इसीलिए जीवन-सरोवर के ऊपर से काई हटाकर, वे स्वच्छ जल ही पीते हैं। भीष्म वंचित हुआ और शान्तनु की कामना पूर्ण हुई, किन्तु दोनों में से सुखी कौन है—भीष्म या शान्तनु ? निश्चित् रूप से निष्काम भीष्म, पूर्णकाम शान्तनु से अधिक सुखी है। कामना, सुख का नहीं, छलना और यातना का दूसरा नाम है।···कामनाओं के प्रपंच को शान्तनु से अधिक अब और कौन समझ सकता है···कामना पूर्ण होने पर भी कोई कभी पूर्णकाम हुआ है क्या ? क्या माँगा था उन्होंने, और क्या पाया···। गंगा के व्यवहार से ही चकित थे शान्तनु।···और अब यह सत्यवती।···शान्तनु ने देवव्रत को पाना चाहा, तो गंगा छोड़ गयी···अब दूसरी सन्तान और दूसरी पत्नी की इच्छा की तो वह उनको पहली सन्तान से ही वंचित करना चाहती है··· कैसी होती है नारी ? कैसी-तर्क-पद्धति है उसकी ? और क्या चाहती है वह ?··· वह अपना हित-अहित, अपना स्वार्थ तक नहीं समझती। शान्तनु समझाना चाहें, तो भी समझने को तैयार नहीं है, या समझने की क्षमता ही नहीं दी, स्रष्टा ने उसे ? क्या इसीलिए नारी को वामा कहा जाता है ?···जो भुजाएँ उसके पुत्रों की रक्षक होंगी, उन्हें ही काट डालना चाहती है यह।

और शान्तनु की इच्छा से आयी है वह इस घर में।···शान्तनु की प्रार्थना पर ! माँगकर आग लाये हैं शान्तनु, अपने घर की नींव में धरने के लिए, ताकि उनका घर जल जाये।···और आज यदि वे चाहें तो सत्यवती को त्याग पायेंगे क्या ? सत्यवती के रुष्ट मात्र होने के भय से तो वे ऐसे विचलित हो जाते हैं कि जब तक उसे मना न लें, तब तक उनकी व्याकुलता उनका पीछा नहीं छोड़ती···अलग होने की तो बात ही क्या ? उनकी यह विवेकशून्य कामुकता !···कैसी दुर्बलता दे दी है माँ सृष्टि ने इस कठोर, समर्थ और परुष पुरुष को। उनकी यह मूर्ख आसक्ति जाने क्या-क्या दिखायेगी उन्हें !

[11]

भीष्म के सामने एक विराट् शून्य आ खड़ा हुआ था।

उनके आस-पास के सारे परिवेश में उनके आचरण की उपलब्धि की गूँज थी ···आज तक किसी ने स्वेच्छा से इतनी कठोर प्रतिज्ञा नहीं की थी। दाशरथी राम

ने पिता की सुविधा के लिए राज्य छोड़ा था—चौदह वर्षों के लिए। इस त्याग से वे अवतार हो गये···भीष्म ने तो अपने पिता के सुख के लिए, सदा के लिए राज्य छोड़ दिया था···राज्य ही नहीं, नारी-सुख भी !···कम बड़ी उपलब्धि थी यह ? पर इस उपलब्धि के पश्चात् उनके सामने इतना बड़ा शून्य क्यों है ! उपलब्धि से व्यक्ति कहीं भराव का अनुभव करता है, रिक्ति का नहीं। उपलब्धि और शून्य साथ-साथ तो नहीं चलते···

क्या भीष्म के मन में पश्चात्ताप है ?

वे आत्मनिरीक्षण करते हैं। अपने मन का कोना-कोना छान मारते हैं। नहीं ! ···कहीं एक कण-भर भी पश्चात्ताप नहीं है। उन्होंने जो प्रतिज्ञा की है—ठीक की है। वह किसी आवेश या भावुकता में की गयी प्रतिज्ञा नहीं है, जिससे सहज होते ही वंचित होने का अहसास हो।···नहीं ! भीष्म वंचित भी नहीं हुए हैं।···फिर से वही स्थिति आये···फिर वही विकल्प उनके सामने हों, तो भीष्म फिर से वही प्रतिज्ञा करेंगे···इस प्रतिज्ञा और इस त्याग ने उनके अस्तित्व को एक उदात्त धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है।···नहीं ! यह उनका अहंकार नहीं है। उनके भीतर अहंकार का कलुष जमा नहीं हो रहा है। पर इस सच्चाई से वे कैसे मुँह मोड़ सकते हैं कि त्याग से आदमी ऊँचा उठता है। अपने इस एक कृत्य से वे अपने पिता से भी जैसे बड़े हो गये हैं। कल तक वे मात्र युवराज होने के कारण आदरणीय थे; आज वे वयोवृद्ध मन्त्रियों और प्रौढ़ सेनापतियों के लिए व्यक्ति के रूप में भी पूज्य हो गये हैं। उन्होंने जैसे अपने वय से बड़ा होकर दिखा दिया है। काल की इकाइयों को बौना कर दिया है···पर यहीं से जैसे भीष्म के लिए एक निरर्थकता का-सा बोध भी जन्म लेने लगा है।

एक लम्बी आयु है भीष्म के सामने। पर क्या करना है, इस आयु का उन्हें ? किसलिए चाहिए भीष्म को लम्बी आयु ?···सौ शरद जीने की कामना करते हैं वैदिक ऋषि। भीष्म को सौ शरद जीकर क्या करना है ?···भोग के लिए ? ग्रहण के लिए ? विस्तार के लिए ? रक्षण के लिए ? त्याग के लिए ? दान के लिए ? आत्मविकास के लिए ?···

भीष्म के मन में अब किसी भोग का आकर्षण नहीं है। भोगों का चरम—नारी सुख, उन्होंने त्याग दिया है। अब जीवन में धन-सम्पत्ति, वैभव, भूमि, प्रासाद ···किसके लिए चाहिए भीष्म को ? जिसने कुरु-राज्य छोड़ दिया, उसके लिए कोई भी सम्पत्ति कोई अर्थ रखती है क्या ?···अकस्मात् ही जैसे भीष्म के लिए इस संसार का प्रपंच संकुचित हो गया था। माया-जाल सिमट गया था···

यह राज्य उनका नहीं है। वे प्रजा के युवराज नहीं हैं। यह प्रजा उनकी नहीं है। अब उनका कोई अधिकार नहीं है, और इसलिए उनका कोई दायित्व भी नहीं है। किसका न्याय करना है उन्हें ? किसका पालन करना है, और किसकी रक्षा

.रनी है ?…प्रजा उनकी है ही नहीं…

भीष्म समझ नहीं पा रहे थे कि सहसा उनकी आँखों के सामने से कोई धुंधलका साफ हो गया है या सारा कुछ धुंधला हो गया है…जब सारे भोग शरीर का दाय करते हैं, तो व्यक्ति उन्हें भोगता क्यों है ? जब सब कुछ त्यागना ही है तो ग्रहण किसलिए ?…त्याग के लिए ग्रहण ? अर्थात् जो अन्तिम लक्ष्य है, जहाँ तक पहुँचना है, उसी के विपरीत आचरण ?…प्रकृति मनुष्य से चाहती क्या है ?…वह जन्म से और इस मायाजाल के प्रति आकृष्ट हो, आसक्त हो, उसे ग्रहण करने के लिए अपना विकास करे। एक-एक वस्तु को प्राप्त करता चले…और सहसा वह अनुभव करे कि वस्तुएँ तो वहीं-की-वहीं हैं, किन्तु उसकी अपनी ही पकड़ ढीली पड़ रही है। वस्तुएँ उससे छिन नहीं रहीं—वह स्वयं ही उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ होता जा रहा है। उसके दाँत चबाते नहीं। आँखें देखती नहीं। कान सुनते नहीं। हाथ पकड़ते नहीं। पैर चलते नहीं। उसके शरीर के ये सारे अंग, भोग तक पहुँचने के लिए उसके सारे उपकरण, न केवल असमर्थ हो रहे हैं, वरन् उलटकर उसी को पीड़ा दे रहे हैं…एक मन ही है जो याचना करता ही चला जाता है…उसका आकर्षण कम नहीं होता। वह जैसे इंद्रियों के अभाव में भी इस सुख-सम्पदा में धंसता चलता है…तब या तो अगले जन्म की तृष्णा पालता है, या अपनी सन्तान के माध्यम से भोग की ओर बढ़ता है—प्रकृति उसके साथ परम्परा को चलाये चलने का खेल खेलती है…

पर भीष्म के साथ तो यह खेल भी नहीं चलेगा। भीष्म की कोई सन्तान नहीं होगी, कोई परम्परा नहीं होगी, पुनर्जन्म भी नहीं होगा। क्या करना है भीष्म को पुनर्जन्म का। जो कुछ इस जीवन में छोड़ा है, उसे भोगने के लिए दूसरा जन्म… यदि यह सब भोगने के लिए होता, तो इसी जन्म में क्यों त्याग देते उसे भीष्म… त्यागा है तो इस चक्र से मुक्ति पाने के लिए…उसको चलाने या बढ़ाने के लिए नहीं…

तो फिर भीष्म के लिए क्या करणीय है ? इस शरीर और जीवन की कोई सार्थकता नहीं ? पर आत्महत्या पाप है ? इस शरीर को तो बनाये रखना होगा। …क्यों बनाये रखना होगा ?…धर्म ?…अर्थ ?…काम ?…मोक्ष ?…अर्थ और काम उनके लिए नहीं है। मोक्ष तो धर्म पर चलने से ही मिलेगा।…पर क्या है भीष्म का धर्म ? क्या भीष्म का धर्म अन्य व्यक्तियों से भिन्न होगा ? प्रत्येक व्यक्ति का एक ही धर्म है या…सबको अपना-अपना धर्म खोज निकालना पड़ता है ? राज शान्तनु निषाद-कन्या में आसक्त हुए—उनका धर्म था, उससे विवाह करना। उ और सन्तान चाहिए थी, वंश को चलाये रखने के लिए, राज्य के रक्षण के लिए उनका धर्म था विवाह करना। सत्यवती के पिता का धर्म था, कन्या-दान से अपनी पुत्री और उसकी सन्तान के अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था।…उ

वही किया।···तो फिर भीष्म का ही क्यों यह धर्म था कि वे अपने अधिकारों की रक्षा न करते? उनका धर्म, त्याग क्यों था?···क्या उनका धर्म नहीं था कि वे इसका विरोध करते और आवश्यक होने पर शस्त्र-प्रयोग करते?···पुत्र के रूप में उनका धर्म था त्याग; और व्यक्ति के रूप में उनका धर्म था, अपने अधिकारों की रक्षा···। वे पुत्र हैं या व्यक्ति? प्रत्येक पुत्र व्यक्ति भी होता है; और प्रत्येक व्यक्ति पुत्र भी होता। वह पुत्र पहले हैं या व्यक्ति?···

सहसा उनके मन में एक बहुत पुराना दृश्य जैसे साकार हो उठा, मानो किसी संग्रहालय में से किसी ने कोई बहुत पुराना चित्र निकालकर उसकी धूल झाड़, उनके सामने सजा दिया हो···

गंगा-तट के वन में मृगया के बाद भीष्म थककर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये थे। उनके आस-पास कोई भी बड़ा पशु नहीं था। कुछ पक्षियों के स्वर वृक्षों के ऊपर से आ रहे थे। पास ही एक कुक्कुट बड़ी स्फूर्ति से, धरती पर से कुछ चुग रहा था। सम्भवतः किसी प्रकार के खाद्य पदार्थ के कुछ दाने हों, या कोई कीट-पतंग हो। वह बड़ी तीव्रता से अपनी चोंच के चार-पाँच प्रहार धरती पर करता और फिर गर्दन उठाकर एक बार अपने चारों ओर की धरती और वायुमण्डल का सर्वेक्षण करता और पुनः चुगने लग जाता।

भीष्म बड़ी रुचि से उसे देख रहे थे। उसका दाना चुगना तो उनकी समझ में आ रहा था; किन्तु जिस ढंग से वह रह-रहकर चारों ओर का सर्वेक्षण करता था, वह उनके मन में अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न कर रहा था। क्या यह उसकी सतर्कता थी? क्या वह आशंकित था कि कोई उसका दाना छीन लेगा या कोई उसके प्राण हर लेगा?···या यह उसका अहंकार था? क्या वह चारों ओर देखकर यह जताना चाहता था कि यह मेरी विचरण-भूमि है। देखो मैं कितना सुखी हूँ। क्या व्यक्ति का सुखी होना ही पर्याप्त नहीं है? उस सुख का प्रदर्शन भी अवश्य होना चाहिए? क्या विपन्नता से तुलना किये बिना सम्पन्नता का कोई महत्त्व नहीं है?

भीष्म के मन में आया कि एक बाण मारकर अभी उसका सारा अहंकार चूर कर दें। इतना छोटा-सा जीव, जिसे बाण तो क्या, कोई एक कंकड़ी भी दे मारे तो उसके प्राण निकल जायें; कोई हाथों में पकड़ उसकी गर्दन मरोड़ दे, या वह किसी भी बड़े जीव के पैर के नीचे आ जाये, तो उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाये··· वही जीव इस प्रकार वक्ष फुलाये, स्फीत अहंकार लिये घूम रहा है, जैसे सारी सृष्टि का स्वामी हो···

तत्काल उनके मन में एक धिक्कार उठा: क्या यह भीष्म का अपना अहंकार

हीं है? उनसे भी तो बड़ी शक्तियाँ हैं। अपने स्थान पर बैठा स्रष्टा, भीष्म को देखकर भी, इसी प्रकार मुस्करा रहा होगा'''बड़ा धनुष-बाण लिये घूम रहा है, जैसे सारी सृष्टि का संहार कर डालेगा। अभी आकाश से बिजली टूटे तो भीष्म यहीं बैठा-बैठा क्षार हो जायेगा। धरती में एक दरार पड़े और भीष्म उसके भीतर समा जायेगा। अभी भीष्म की हृदयगति रुक जाये, तो भीष्म बैठा-बैठा ही सो जायेगा।'''तब कहाँ रहेगा, भीष्म का अहंकार ''कि वह एक बाण में इस कुक्कुट को मृत्यु-शैया पर सुला सकता है?'''

तभी वृक्षों के पीछे एक और वैसा ही कुक्कुट प्रकट हुआ। भीष्म को लगा, यह पहले का ही कोई सम्बन्धी होगा। इनका परिवार भी यहीं कहीं आस-पास होगा '''पर उसे देखते ही पहले कुक्कुट के मुख से क्रोध-भरी ध्वनियाँ निकलने लगीं। उसकी गर्दन तन गयी। गर्दन के पंख फैल गये और वह पूर्णतः रौद्र मुद्रा में आ गया। यही स्थिति दूसरे कुक्कुट की हुई और वे दोनों विधिवत लड़ने लगे। उनके पंजों और चोंचों का प्रहार कठोरतर और क्रूरतर होता गया और उनके कण्ठ उग्रतर युद्ध-घोष करने लगे।

कुछ ही क्षणों में दोनों के शरीर से अनेक स्थानों से पंख झड़ गये थे और रक्त की लालिमा उभर आयी थी। किन्तु उनका युद्ध-वेग शिथिल नहीं हुआ: वह उग्रतर ही होता चला गया।

थोड़ी देर में उनके शरीरों से रक्त-बिन्दु टपकने लगे थे और गर्दनें तथा टाँगें, रक्त से भीग आयी थीं।

बिना किसी पूर्व-योजना या चिन्तन के, अनायास ही भीष्म उनकी ओर बढ़ गये और उन्हें धमकाया, "भागो! व्यर्थ क्यों रक्तपात कर रहे हो?"

दोनों कुक्कुट भाग गये, पर भीष्म वहीं बैठे सोचते रहे: किसलिए लड़ रहे थे ये कुक्कुट? क्यों अपना रक्त बहा रहे थे; और क्यों एक-दूसरे के प्राण लेने पर तुले हुए थे? कौन-सी सम्पत्ति है, जिसके लिए इतना रक्तपात हुआ? वन में इन दोनों और वैसे ही सहस्रों कुक्कुटों के लिए प्रकृति ने भोजन उपलब्ध करा रखा है। वह तो सबको देती है, फिर ये एक-दूसरे की हत्या करने पर क्यों तुले हुए थे?'''यदि कहीं वे इन कुक्कुटों की भाषा समझ सकते और उनसे यह प्रश्न पूछते, तो सम्भवतः उनका उत्तर होता: "अधिकार-रक्षा के लिए!"

तभी उन्हें लगा, जब मनुष्य अकेला-दुकेला लड़ता है या सेनाएँ लेकर एक-दूसरे पर आक्रमण करता है, तो विधाता भी इसी प्रकार हँसता होगा, 'मूर्खो! तुम सबके लिए पर्याप्त है सृष्टि के पास। फिर क्यों व्यर्थ युद्ध करते हो?'

और आज फिर भीष्म के मन में अधिकार की बात उठी थी। अपने अधिका

बन्धन

लिए भीष्म विरोध करते—किसका ? अपने पिता का ? अपने अजन्मे भाइयों का ? …क्या छिन गया है भीष्म का ? किस बात का अभाव है उनको ? संघर्ष करके और ऐसा क्या मिल जायेगा भीष्म को, जिससे उन्हें किसी नये सुख, किसी नयी उपलब्धि की अनुभूति होगी ?

…और सहसा उन्हें लगा, उनके मन में किसी के लिए कोई विरोध नहीं है। किसी से कोई शिकायत नहीं है उन्हें…न पिता से, न माता से…किसी और से भी नहीं…

उन्हें बड़ा हल्का-हल्का-सा लगा, जैसे मन में कोई उल्लास समा गया हो। सत्यवती को पाकर पिता प्रसन्न हैं। अपनी भावी सन्तान के लिए राज्य का आश्वासन पाकर माता सत्यवती प्रसन्न हैं…। भीष्म कृतकृत्य हो गये…उन्हें अपने लिये कुछ नहीं चाहिए…

उनकी इच्छा हुई, चलकर माता-पिता से मिल आयें। बहुत दिनों से वे उधर गये भी नहीं थे।

दासियाँ भीष्म को सत्यवती के कक्ष में नहीं ले गयीं। उन्हें एक बड़े और सुसज्जित कक्ष में बैठा दिया गया था; और महारानी को सूचना देने की बात कहकर दासियाँ चली गयी थीं।

प्रासाद का यह खण्ड नया नहीं था, और न भीष्म ही इस कक्ष में पहली बार आये थे; किन्तु यहाँ सबकुछ परिवर्तित हो चुका था। इतना, कि कक्ष को पहचानना भी कठिन हो रहा था। सारी साज-सज्जा बदल डाली गयी थी, और अब तक जिन वस्तुओं को इस कक्ष में देखने के वे अभ्यस्त थे, उनमें से एक भी यहाँ नहीं थी। यहाँ तक कि उन्हें सारी दासियाँ भी नयी और अपरिचित ही लगीं।

थोड़ी देर में एक दासी लौटी, "राजकुमार ! महारानी इस समय अस्वस्थ हैं। आपसे भेंट कर सकने में असमर्थ हैं।"

"माता अस्वस्थ हैं ?" भीष्म ने जैसे अपने-आपसे कहा, "मुझे तो कोई सूचना नहीं थी। माता यहाँ नहीं आ सकतीं, तो मैं ही भीतर चलता हूँ। चलो, मार्ग दिखाओ।"

"क्षमा करें राजकुमार !" दासी बहुत विनीत भाव से बोली, "आपको भीतर ले चलने की अनुमति नहीं है। महारानी आपसे भेंट करने की इच्छुक नहीं हैं।"

भीष्म ने आश्चर्य से दासी को देखा : क्या कह रही है यह मूर्खा ? माता उनसे भेंट करने की इच्छुक नहीं हैं।…वे अस्वस्थ हैं। मिल सकने की स्थिति में नहीं हैं। उनका मन अशान्त है। वे एकान्त चाहती हैं…कोई भी कारण हो सकता है।… पर वह कह रही है कि वे मिलने की इच्छुक नहीं हैं…इन नयी दासियों के साथ यह

ही समस्या है। इन्हें भाषा के सम्यक् उपयोग का ज्ञान नहीं है। कुछ भी कह देंगी।
उनके शब्दों से क्या ध्वनित हो रहा है, इसका उन्हें तनिक भी आभास नहीं है।...
अब इस समय भीष्म माता के स्वास्थ्य की चिन्ता करें या इस दासी को व्याकरण
और साहित्य पढ़ायें...

"राजवैद्य आये थे क्या ?"

"आर्य ! प्रातः आये थे।"

"मैं कोई सहायता कर सकता हूँ ?"

"महारानी ने ऐसा कोई आदेश नहीं दिया है।"

"अच्छा ! उनका ध्यान रखना। मैं फिर किसी समय आ जाऊँगा।"

भीष्म लौट आये।

उनका मन अधिक समय तक दासी की भाषा, उसके शिष्टाचार और उसकी विनय पर नहीं अटका। सम्भवतः माता का मन ठीक नहीं था। उन पर कार्य का बोझ भी तो बहुत है: वे कुरु-साम्राज्य की महारानी हैं। उनके स्वास्थ्य की देख-भाल होनी ही चाहिए...। '...युवराज !' उनका मन कहीं अपने ऊपर ही हँसा, 'अभी कल तक तो तुम युवराज थे।' विधि का विधान भी कितना नाटकीय है। किसी को किसी भी प्रकार का पूर्वाभास नहीं होता कि कौन-सी घटना, इच्छा या प्रवृत्ति, आगामी किस बड़ी घटना का कारण बन जायेगी।...माता सत्यवती का पहला पुत्र हस्तिनापुर का युवराज हो और फिर यहाँ का सम्राट् हो—इसलिए विधाता ने माता गंगा के हाथों, भीष्म के सात बड़े भाइयों को जीवन-मुक्त करा दिया... और भीष्म के मन को आसक्ति से शून्य कर दिया। जब विधि ने यही रच रखा था, तो गंगा के आठों पुत्र कैसे जीवित रह सकते थे...

सन्ध्या समय शान्तनु प्रासाद में लौटे। सबसे पहले वे सत्यवती के पास गये।

"कैसी हो सत्या ?"

"ठीक हूँ ! आपका दिन कैसे बीता ?"

"सभा में बहुत काम था। थक गया हूँ।" शान्तनु ने किरीट उतारकर दासी के हाथों में पकड़ा दिया, "भीष्म बहुत सारा काम सँभाल लिया करता था, पर इध यह एक प्रकार से वैरागी हो गया है—दिन भर अध्ययन, चिन्तन और मनन डूबा रहता है।...वैसे उसका दोष भी क्या है," शान्तनु आकर सत्यवती के प बैठ गये, "जब मैंने ही उसका युवराजत्व छीन लिया; जब उसे कौरवों का राज नहीं बनना है; जब उसे प्रजा का पालन ही नहीं करना है, तो वह कार्य किसके करे। राज-काज में अपना मस्तिष्क क्यों खपाये। ऐसे में उसमें ज्ञान और स

की प्रवृत्ति बढ़ रही है, तो अनुचित भी क्या है।···"

सत्यवती बोली तो उसका स्वर कुछ अधिक ही उत्तेजित था, "मुझे बार-बार न सुनाएँ। उसने स्वयं वचन दिया था। उसे किसी ने बाध्य नहीं किया था।"

"सत्या!" शान्तनु जैसे अपने क्षोभ को सन्तुलित कर रहे थे, "तुम्हें कौन सुना रहा है। मैंने तो एक बात कही है।"

"हाँ! कही तो बात ही है, पर मैं उसका अभिप्राय समझती हूँ।" वह बोली, "यदि आप समझते हैं कि यह सब सुनकर, मैं दया से विगलित होकर, उसे उसके वचन से मुक्त कर दूँगी, तो यह आपकी भूल है।···मैं इतनी कोमल-हृदया नहीं हूँ।"

शान्तनु हँसे; पर उस हँसी का खोखलापन स्वयं उन्हें ही चौंका गया, "तुम्हें ऐसी ही परिस्थितियों से मुक्त रखने के लिए, वह तुमसे दूर रहता है। और शायद सबकुछ भूलने के लिए ही इस प्रकार चिन्तन-मनन में लगा रहता है।"

"कोई नहीं लगा रहता वह चिन्तन-मनन में," सत्यवती तमककर बोली, "और न वह मुझसे दूर ही रहता है।···वह आज यहाँ आया था।"

शान्तनु चौंके, "भीष्म यहाँ आया था?"

"हाँ!"

"क्या बातें हुईं?"

"मैं उससे नहीं मिली।"

"क्यों?"

"मेरी इच्छा।" सत्यवती कुछ और तीखी पड़ी, "और भविष्य में भी उससे नहीं मिलूँगी। आप अपने भीष्म से कह दें, कि वह मेरे प्रासाद में न आया करे। मुझे उससे मिलने में कोई रुचि नहीं है।"

शान्तनु ने कुछ रोष से सत्यवती को देखा, फिर जैसे उस रोष को पी गये। स्वयं को कुछ संयत किया और बोले, "कह दूँगा।" फिर जैसे इतने से सन्तुष्ट न हो पाये हों, "क्या मैं पूछ सकता हूँ, उसका दोष क्या है?"

"दोष हो या न हो।" सत्यवती बोली, "इसमें विवाद की क्या बात है। मैं उससे नहीं मिलना चाहती।"

शान्तनु कुछ नहीं बोले।

"एक बात और है।" थोड़ी देर बाद सत्यवती बोली।

"क्या?"

"मेरे पुत्र चित्रांगद का युवराज्याभिषेक कर दिया जाये। सारी प्रजा और स्वयं भीष्म भी देख ले कि हस्तिनापुर का युवराज कौन है।"

शान्तनु अपने चिन्तन में डूबे-डूबे, जैसे बड़ी बाध्यता में बोले, "तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।"

शान्तनु अपने परामर्श-कक्ष में बैठे सूचनाएँ सुन रहे थे। एक के बाद एक चर आ रहा था और विभिन्न क्षेत्रों के समाचार उन्हें दे रहा था। शान्तनु मानो राजा की दिनचर्या मात्र पूरी कर रहे थे।···उन समाचारों में कुछ भी असाधारण नहीं था ···कुछ समाचार पड़ोस के राज्यों के विषय में थे, कुछ अपनी प्रजा के विषय में, कुछ सेना और सेनापतियों के विषय में···

अगला चर हाथ जोड़कर खड़ा था, कह कुछ भी नहीं रहा था। इस व्यतिक्रम से शान्तनु का ध्यान भंग हुआ, "क्या बात है?"

चर ने पुनः हाथ जोड़े, "राजन्! बड़े द्वन्द्व में हूँ। कहने योग्य भी नहीं लगता, किन्तु आपको सूचित किये बिना भी नहीं रहा जाता।"

कुछ क्षणों तक शान्तनु सोचते रहे: ऐसी कौन-सी बात है कि चर के मन में द्वन्द्व है। कुछ भयभीत-सा भी लग रहा है।

"कहो।" वे बोले, "अभय देता हूँ।"

"महाराज।" चर बोला, "राजपरिवार के सदस्यों पर दृष्टि रखने के लिए हमारी नियुक्ति नहीं हुई है। मेरी इच्छा भी वह नहीं थी। फिर भी मेरी दृष्टि में एक बात आयी है। आपको सूचित करना चाहता हूँ।"

चर फिर मौन हो गया और शान्तनु फिर से सोचने लगे।

अन्ततः शान्तनु ही बोले, "राजपरिवार के किसी सदस्य ने कुछ अनुचित किया है क्या?"

"मैं उसे अनुचित कर्म तो नहीं कहूँगा; किन्तु उससे भविष्य में प्रजा के अनिष्ट की सम्भावना उत्पन्न होने का अवसर आ सकता है। इसलिए उसकी रोक-थाम···।"

शान्तनु ने चर की पूरी बात नहीं सुनी: ऐसा कौन-सा कर्म है, जो अनुचित तो नहीं है, किन्तु भविष्य में उससे अनिष्ट की सम्भावना है?···

"स्पष्ट कहो चर।" वे बोले, "मेरा आदेश है।"

"महाराज! राजकुमार भीष्म ने गंगा-तट पर एक कुटीर का निर्माण करवाया है; और वे अपना अधिकांश समय उसी में व्यतीत करते हैं।···"

शान्तनु के मन में आया कि कहें: 'गंगा-तट पर भीष्म ने एक कुटिया बनवा ली है, तो क्या हुआ? यह सारी भूमि उसी की है। सारा कुरु-राज्य उसका है। वह चाहे तो प्रासादों के नगर का निर्माण करवा ले···' किन्तु दूसरे ही क्षण उनका ध्यान सत्यवती की ओर चला गया।···क्या यह भी सत्यवती की ओर से उपालम्भ दे रहा है? क्या यह सत्यवती की ओर से भीष्म पर चित्रांगद की भूमि हड़पने का आरोप लगा रहा है?···पर नहीं। इसे उसकी क्या आवश्यकता है···उसने कह

है कि कर्म अनुचित नहीं है; किन्तु भविष्य में प्रजा का अनिष्ट···क्या इसका संकेत भविष्य में सम्भावित भीष्म और चित्रांगद के संघर्ष की ओर है? पर नहीं। उसने कहा है कि भीष्म अपना अधिकांश समय गंगा-तट की कुटीर में व्यतीत करता है··· तो क्या वह राजप्रासाद में नहीं रहता?···

"भीष्म क्या करता है कुटीर में?" सहसा उन्होंने पूछा।

"चिन्तन-मनन, ध्यान···।"

शान्तनु के मस्तिष्क में विद्युत कौंध गयी···गंगा-तट की कुटिया में भीष्म चिन्तन-मनन और ध्यान करता है···इस वय में···क्या वह वानप्रस्थ की ओर बढ़ रहा है?—लगा, उनके मन ने जैसे कशा फटकारते हुए, भीष्म को डाँटा, 'क्या कर रहे हो वत्स! यह तुम्हारा वानप्रस्थ का वय नहीं है। तुम्हें कुटिया में नहीं, प्रासाद में रहना चाहिए। जीवन के भोगों से विमुख नहीं, उनमें प्रवृत्त होना चाहिए···।' और उनका अपना विवेक जैसे भीष्म का रूप धारण कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया, 'तात! मैंने अपना ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण कर लिया है। गृहस्थ आश्रम आपको समर्पित कर दिया है। अब उसके आगे वानप्रस्थ ही तो है। अतीत तो कभी भी नहीं लौटता। वर्तमान के द्वार बन्द हो जायें, तो फिर भविष्य की ओर ही देखना पड़ता है। मैं भी आगे ही चल रहा हूँ पिताजी।' उनकी कल्पना जैसे साक्षात् हो गयी, 'मैं कुछ अनुचित तो नहीं कर रहा तात?'

उसे अनुचित कैसे कह दें शान्तनु! वह तो कुछ भी अनुचित नहीं कर रहा। जो सुनता है, उसकी प्रशंसा करता है। उसे सराहता है। उसकी युवावस्था में ही लोग उसकी महानता बखानने लगे हैं···पर शान्तनु अपने उस मन का क्या करें, जो उन्हें बार-बार धिक्कार रहा है कि गंगा को रुष्ट कर, जिस देवव्रत को उन्होंने बचाया था, उसे पाल-पोसकर, इतना बड़ा कर, उन्होंने अपने हाथों से उसी गंगा को समर्पित कर दिया था। गंगा-तट पर रहकर वह जीवन-मुक्त तो नहीं हुआ, पर वह गंगा का ही हो गया, ऐसे में वह शान्तनु के काम का नहीं रहेगा।

वे अपने चिन्तन से उबरे। देखा, सामने चर खड़ा था। बोले, "तुम जाओ चर! और हाँ! शेष लोगों से कह दो। अब और कोई न आये। शेष चरों की बात फिर कभी सुनूंगा। इस समय मेरा मन स्वस्थ नहीं है।···"

चर के चेहरे का रंग उड़ गया, "क्या मेरी सूचना से महाराज का मन अस्थिर हो गया?"

शान्तनु के मन में आया, उसे डपटकर भगा दें; पर डपटने का कोई कारण तो हो। किसी प्रकार धैर्य रखकर बोले, "अस्थिरता तो मेरे अपने मन में है चर! तुम्हारी सूचना ने तो उसे केवल जगा दिया है। जाओ! तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम्हारा कोई अहित नहीं होगा।"

चर ने बड़ी शालीनता से हाथ जोड़कर सिर झुकाया, "राजा के हित में सबका

हित है; और राजा के अहित में ही सबका अहित है, देव !"

शान्तनु, चर को बाहर जाते देखते रहे···क्या कह गया चर? भीष्म ने वान-प्रस्थ ग्रहण कर लिया तो भविष्य में अनिष्ट होगा। राजा का भी अहित होगा, प्रजा का भी।···सिद्धान्त रूप में शान्तनु चर की बात से सहमत नहीं हो सकते। हो सकता है, वह चर का भी सत्य न हो, मात्र उसका शिष्टाचार ही हो। राजा की चाटुकारिता ही हो।···किन्तु भीष्म के सन्दर्भ में वह सत्य ही बोल गया है। भीष्म का वानप्रस्थी हो जाना, न शान्तनु के लिए शुभ है, न प्रजा के लिए। और उनका मन कहता है कि यह सत्यवती और उसके पुत्रों—चित्रांगद और विचित्रवीर्य के लिए भी शुभ नहीं है।···

शान्तनु को लगा, उनके हृदय में पुत्र-शोक की विह्वलता है···आज उन्हें अनुभव हो रहा था कि मनुष्य का सहज मन प्रकृति ने कुछ ऐसा बनाया है कि त्रिकाल-सत्य आदर्शों पर स्वयं चलने का तो वह साहस ही नहीं करता, अपने प्रियजनों को उन आदर्शों की ओर बढ़ते देखकर भी कोई प्रसन्न नहीं होता···राम, राज्य को त्यागकर वनवास के लिए चले गये थे तो दशरथ उनके त्याग से प्रफुल्लित नहीं हुए थे। उन्होंने उसी शोक में प्राण दे दिये थे।···शान्तनु ने तो भीष्म के त्याग को बहुत सराहा था; किन्तु उसका वानप्रस्थ ग्रहण करना···शान्तनु के मन में रह-रहकर टीस उठ रही थी···शायद सत्यवती ने इसका अनुमान बहुत पहले कर लिया था, तभी तो उसने बहुत स्पष्ट और कठोर शब्दों में कहा था कि उसे अपने पुत्रों के लिए भी भीष्म का सान्निध्य और साहचर्य काम्य नहीं है···

सहसा उनका मन चेता। उन्हें लगा, वे समय से बहुत पहले ही शोक करने बैठ गये हैं। अभी तो कुछ भी नहीं बिगड़ा है। भीष्म जीवित है और स्वस्थ है। अभी उसने गंगा-तट पर एक कुटिया मात्र बनायी है। अभी वह चिन्तन-मनन और ध्यान ही कर रहा है···यदि अभी भी वे प्रयत्न करें तो सम्भवतः भीष्म इस मार्ग पर आगे नहीं बढ़ेगा।···हाँ। आगे नहीं बढ़ेगा। तो? संसार में स्थिर तो कुछ भी नहीं है। भीष्म जहाँ खड़ा है, वहीं खड़ा नहीं रहेगा, आगे भी नहीं बढ़ेगा···तो क्या पीछे लौट आयेगा? क्या सम्भव है, पीछे लौटना? धनुष से छूटा हुआ बाण क्या वापस तूणीर में लौटा है कभी?···और भीष्म के वापस लौटने का क्या अर्थ है? क्या शान्तनु उससे कहें कि वह फिर से युवराज बन जाये और विवाह कर ले···प वे ऐसा कुछ कर दें तो सत्यवती मान जायेगी क्या?···और स्वयं भीष्म?···

राजा को बहुत देर तक किंकर्तव्यविमूढ़ बैठा देखकर, वृद्ध मन्त्री विष्णुद चिन्ता प्रकट की, "राजन् का स्वास्थ्य···?"

"स्वास्थ्य तो ठीक है," शान्तनु का उत्तर था, "किन्तु लगता है कि अब काज सँभाले रखने की स्थिरता मन में नहीं रही।"

"ऐसा क्या हो गया, राजन्?"

बन्ध

"सारथि को रथ लाने के लिए कहलवा दें।..."

रथ में बैठकर भी शान्तनु तय नहीं कर पाये कि वे कहाँ जायें...अपने प्रासाद में जाकर अपने अकेले कक्ष में औंधे मुँह पड़े रहें, या भीष्म के पास जाकर, उसे समझा-बुझाकर लौटा लाने का प्रयत्न करें...या सत्यवती के पास जाकर अनुरोध करें कि वह अपने पिता की ओर से, भीष्म को उसके वचनों से मुक्त कर दे...

सारथि ने रथ हाँक अवश्य दिया था, किन्तु उसका असमंजस स्पष्ट था। राजा ने उसे कोई स्पष्ट आदेश नहीं दिया था। और राजा की यह विचलित मनःस्थिति देखकर कुछ पूछने का उसका साहस भी नहीं हो रहा था।...राजा की यह भंगिमा उसके लिए नयी नहीं थी। राजा में रजस तत्त्व कुछ अधिक ही था। उनके आवेश का आरोह-अवरोह बहुत उग्र और स्पष्ट होता था।...जब पहली बार यमुना-तट पर सत्यवती को देखकर, दासराज से याचना कर, राजा निराश हुए थे—तब भी उनकी स्थिति कुछ ऐसी ही हो गयी थी, शायद इससे भी कहीं हीनतर।

"महाराज विश्राम करेंगे?" अन्ततः सारथि ने पूछा।

"हाँ।" शान्तनु पूर्णतः अन्यमनस्क थे।

"किस प्रासाद में ले चलूँ?"

शान्तनु जैसे निद्रा से जागे, "महारानी सत्यवती के प्रासाद में।"

"महाराज आज कुछ असमय पधारे हैं।" सत्यवती के मन में कोई विशेष उल्लास नहीं था, "सब शुभ तो है?"

"तुमसे कुछ बातें करनी हैं सत्या!" शान्तनु सत्यवती के कक्ष की ओर बढ़ चले, "महत्त्वपूर्ण बात है, इसलिए चाहूँगा कि पूर्ण एकान्त हो। दासियों को भी हटा दो।"

सत्यवती ने उनके पीछे कक्ष में प्रवेश किया और कपाट भिड़ा दिये, "क्या बात है महाराज?" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसने स्वयं ही कहा, "क्या आप तक भी सूचना पहुँचा दी गयी?"

सत्यवती, पलंग पर लेट गये शान्तनु के पास आकर बैठ गयी।

'तो क्या सत्यवती भी जानती है?' शान्तनु ने मन-ही-मन सोचा; किन्तु पूछा, "कौन-सी सूचना?"

"जिसे सुनकर इस समय आप यहाँ चले आये हैं।" शान्तनु को लगा, सत्यवती का स्वर कुछ ऊँचा ही नहीं, अशिष्ट भी हो गया है। पर उनका मन कह रहा था कि सत्यवती का यह व्यवहार भीष्म के वानप्रस्थ के कारण नहीं हो सकता।

"क्या हुआ है सत्या ?" शान्तनु का स्वर अनपेक्षित रूप से शान्त था, "तुम कुछ क्षुब्ध लग रही हो।"

"आपको मन्त्री विष्णुदत्त ने कुछ नहीं कहा ?"

"नहीं तो।" और शान्तनु मन-ही-मन चकित होते हुए सोच रहे थे कि विष्णु-दत्त से सम्बन्धित ऐसी कौन-सी बात थी, जिसके कारण सत्यवती इतनी क्रुद्ध है और विष्णुदत्त ने न केवल उसकी चर्चा ही नहीं की, उल्टे वह शान्तनु के स्वास्थ्य के विषय में अपनी चिन्ता प्रकट करता रहा।

"आज युवराज भ्रमण के लिए गये थे..."

"कौन ?" शान्तनु अनायास ही पूछ बैठे—'भ्रमण के लिए कौन गया' वे सोच रहे थे, 'भीष्म तो गंगा-तट पर कुटिया बनाये बैठा है...।'

"युवराज चित्रांगद।" सत्यवती ने एक-एक शब्द बलपूर्वक कहा।

ओह... यह उस दस बरस के छोकरे की चर्चा भी नाम से नहीं 'युवराज' पद से करती है... जैसे हर क्षण अपने-आपको भी याद दिलाती रहती है और उन्हें भी कि युवराज भीष्म नहीं, चित्रांगद है।...लगता है, अभी भी उसे आठों प्रहर एक ही आशंका खाये जा रही है कि भीष्म, चित्रांगद से उसका 'युवराज' पद छीन न ले।

"तो क्या हुआ ?" शान्तनु ने पूछा, "चित्रांगद का भ्रमण करने जाना कोई ऐसी घटना तो नहीं, जिसकी सूचना राजा को अवश्य दी जाये।"

"एक वाटिका के बाहर जाकर सारथि ने रथ रोक दिया। युवराज ने कारण पूछा तो सारथि ने बताया कि यह राजोद्यान है। भीतर पदाति ही जाया जा सकता है—रथ के लिए मार्ग नहीं है। युवराज ने उससे कहा कि राजोद्यान उनकी निजी सम्पत्ति है। यदि वे चाहते हैं कि रथ भीतर जाये तो सारथि का कर्तव्य है कि वह रथ को भीतर ले जाये। किन्तु सारथि ने उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया। उसे इस अपराध के लिए दण्डित करने हेतु, युवराज ने उसे कशा से पीटा..."

शान्तनु को लगा, कशा सारथि की पीठ पर नहीं, उनकी अपनी पीठ पर पड़ा हो। दस वर्षों का यह उद्दण्ड छोकरा अपने-आपको युवराज समझता है, इसलिए यह जिस-तिस को अपराधी मानकर दण्डित करने के लिए कशा से पीटता है... वे सारथि, परिचारक तथा अन्य राजकर्मचारी, वय में उससे बहुत बड़े हैं। वे राज-परिवार की मर्यादा और प्रासाद के विधि-विधान को जानते हैं। उनका दायित्व है कि वे राजकुमार को राजकुल की मर्यादा से परिचित करायें... और इस शिक्षा के लिए अनुगृहीत होने के स्थान पर, यह उनको दण्डित करता है ...यह शील-शिष्टा-चार सिखाया है, सत्यवती द्वारा नियुक्त अध्यापकों और आचार्यों ने उसे?

किन्तु अपने मन के बवण्डर को उन्होंने अपने तक ही रोक रखा। पूछा, "फिर क्या हुआ ?"

"होना क्या था," सत्यवती बोली, "कुछ होता, इससे पहले ही आपका वह बूढ़ा विष्णुदत्त वहाँ आ पहुँचा; और इस प्रकार पूछताछ करने लगा, जैसे वह युवराज से भी अधिक अधिकारसम्पन्न कोई राजकर्मचारी हो। युवराज ने उसे बताया कि सारथि उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है, तो सारथि को प्रताड़ित करने के स्थान पर, आपका वह विष्णुदत्त युवराज को ही समझाने लगा कि सारथि ठीक कह रहा है। राजोद्यान के भीतर रथ ले जाने का नियम नहीं है। युवराज को क्रोध तो बहुत आया; किन्तु मन्त्री की वृद्धावस्था का विचार कर, उन्होंने उस पर कशा का प्रहार नहीं किया। अपने नन्हे से हाथ का एक चाँटा-भर मारकर, वे यह कहकर लौट आये कि वे महाराज के सम्मुख मन्त्री और सारथि पर अभियोग प्रस्तुत करेंगे···।"

सहसा शान्तनु के मन में सत्यवती के लिए दया उमड़ आयी : यह बेचारी अपने पुत्र की ममता और उसके युवराजत्व के महत्त्व से ऐसी त्रस्त है कि उसका विवेक जैसे मर ही गया है। वह समझ नहीं पा रही कि उन तीनों में अपराधी यदि कोई है तो स्वयं चित्रांगद है। दण्ड मिलना चाहिए, तो चित्रांगद को ही मिलना चाहिए। दस वर्षों का यह छोकरा अपने युवराजत्व से ही इतना मदान्ध हो गया है कि वह अपने अधिकार की कोई सीमा ही नहीं समझता। नियम, मर्यादा और धर्म को भी नहीं समझता।···कल, जब यह मदान्ध राजकुमार, राजा के रूप में हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठेगा, तो इसका अहंकार आज की तुलना में कहीं अधिक स्फीत हो चुका होगा। तो क्या वह राजसभा में बैठा, अपने हाथों, राजदण्ड से लोगों को पीटा करेगा? क्या वह इस बात को समझ पायेगा कि वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पाप को भोगता है; किन्तु राजा का पाप शतगुणित होकर, लौटकर फिर उसी पर पड़ता है···

शान्तनु को चुप देख, सत्यवती पुनः बोली, "क्या विष्णुदत्त ने आपसे चर्चा की?"

"नहीं।" शान्तनु बोले, "किन्तु तुम्हें चित्रांगद को समझाना चाहिए कि राजकुमारों की भी कोई मर्यादा होती है।"

सत्यवती की आँखें आश्चर्य और क्रोध से फैल गयीं। वह अवाक् बैठी शान्तनु को देखती रही।

शान्तनु के मन में आया कि कहें, 'युवराज की माँ की भी मर्यादा होती है।···'

पर उन्होंने कहा नहीं। उठकर चुपचाप कक्ष से बाहर चले गये। अब भीष्म की चर्चा व्यर्थ थी।

भीष्म को कुछ नयी अनुभूतियाँ हो रही थीं।

प्रासाद का जीवन भिन्न ही प्रकार का जीवन था। ऐसा कभी नहीं होता था कि किसी दूसरे राजा के प्रासाद को देखकर यह तुलना मन में न आये कि उसका प्रासाद सुन्दर है या मेरा; उसका प्रासाद विस्तृत है या मेरा? कुटिया में आने के बाद से उन्होंने कभी तुलना नहीं की कि किसी और की कुटिया उनसे छोटी है या बड़ी? इसका क्या अर्थ है?···क्या सचमुच भौतिक सुख-सुविधाओं का कोई अन्तर नहीं है? सारा प्रपंच मन का ही है? मन मान जाये कि बड़ा वह है, जो सबसे अधिक अर्जित करता है, तो दूसरों को वंचित करके भी वह तुष्ट होता है। उसे तनिक भी पीड़ा नहीं होती कि उसके ग्रहण के लिए, कितने लोगों को त्याग करना पड़ा। और मन यह मान ले कि जो सबसे अधिक त्याग करे, वही सबसे बड़ा है, तो सब कुछ छोड़-छाड़कर भी वही अपने को श्रेष्ठ, उत्तम और महान् मानता है। मुख्य तो 'अहंकार' है। अहं तुष्ट हो जाये, तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। चाहे भूखा रह ले, चाहे अफर कर खा ले।···अहंकार भी तो अनेक प्रकार का हो सकता है···धन का, बल का, बुद्धि का, चरित्र का, त्याग का···यहाँ तक कि निर्धनता का भी··· पर अहंकार तो पतन के मार्ग पर ही ले जायेगा···तो अहंकार से ही मुक्ति पानी होगी···

पर अहंकार तो तभी गलेगा, जब मन में तुलना न हो। और तुलना का नाश करने के लिए तृष्णा का नाश करना पड़ेगा। लोभ से पीछा छुड़ाना पड़ेगा···

भीष्म का मन मुक्त होकर विचार-क्षेत्र में विचरण करने लगा: राजा के पास सब कुछ होता है, शान्ति नहीं होती। वह अपनी व्याकुलता में युद्ध करता है, आखेट करता है, द्यूत खेलता है, विवाह रचाता है···और एक तपस्वी है कि अपने पास कुछ न होते हुए भी, उसे भूमि पर अधिकार की इच्छा नहीं होती; वन में रहते हुए भी आखेट की कामना उसे नहीं सताती; धन का पूर्ण अभाव होने पर भी वह द्यूत की ओर अग्रसर नहीं होता; स्त्री-विहीन होते हुए भी वह स्त्री की कामना नहीं करता···क्यों? जिसके पास है, वह और अधिक पाने की कामना करता है; और जिसके पास नहीं है, उसे अपना अभाव सालता ही नहीं है···क्या इसलिए कि राजा के पास सबकुछ है तथा उसे और अधिक मिलने की पूरी सम्भावनाएँ हैं? क्या प्राप्ति की सम्भावना होने पर मन का लोभ और अधिक जागता है? क्या इसीलिए राजा नगरों का निर्माण करता है और तपस्वी नगरों से भागकर वनों में चला जाता है···जहाँ न तुलना है, न सम्भावना, न लोभ, न तृष्णा···

यदि भीष्म कुरु-राज्य के युवराज होते, तो उनके सामने राजा बनने की सम्भावना होती, चक्रवर्ती होने का लोभ होता। वे राजसूय और अश्वमेध यज्ञों की

बात सोचते। सेना का संगठन करते। युद्धों की तैयारी करते···किन्तु जब राज्य ही नहीं है, तो उसका विस्तार कैसा?···कैसे सुखी हैं भीष्म! वे वचन-बद्ध हैं। किसी प्रकार की सम्भावना नहीं है, तो फिर लोभ कैसा···

किसी की आहट से उनकी विचार-शृंखला टूटी।

सिर उठाकर देखा: महाराज का सारथि सामने खड़ा था। उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

"आओ अश्वसेन!" भीष्म ने उसका स्वागत किया, "कैसे आये? महाराज प्रसन्न हैं न?"

"महाराज ने आपको स्मरण किया है राजकुमार!" अश्वसेन बोला, "मैं रथ लाया हूँ।"

भीष्म का मन बुझ-सा गया।···फिर रथ, सारथि, नगर, प्रासाद, राजा, अधिकार···वे उस संसार में नहीं लौटना चाहते।···किन्तु पिता की आज्ञा···

निर्णय करने में उन्हें कुछ ही क्षण लगे: पिताजी ने बुलाया है, तो जाना ही होगा। अपने मन की शान्ति से, पिता का सुख बड़ा है।

"चलो!" उन्होंने अपना उत्तरीय सँभाला और उठ खड़े हुए।

शान्तनु ने भीष्म का स्वागत किया "आओ पुत्र! अब तो तुमसे भेंट तभी हो सकेगी, जब विशेष रूप से तुम्हें बुलाया जाये।"

भीष्म को पिता के स्वर में उपालम्भ की गन्ध आयी।···वैसे पिता का उपालम्भ अपने स्थान पर ठीक ही था। भीष्म बहुत दिनों से इधर नहीं आये थे। अब भी पिता न बुलाते, तो शायद वे न ही आते।···पिता कह सकते हैं कि भीष्म के मन में उनके लिए अब कोई मोह नहीं रहा: क्या कहें भीष्म? ऐसे उपालम्भ का उत्तर भी तो नहीं दिया जा सकता। यदि वे कहें कि सचमुच पिता के प्रति उनके मन में कोई मोह नहीं रहा, तो न तो यह सत्य होगा; न शालीन!···यदि वे कहें कि उनके मन में तो पिता के लिए प्यार भी है और दायित्वबोध भी; उन्हें पिता की हल्की-सी पीड़ा भी बहुत गहरे में जाकर चुभती है और वे पिता को उस पीड़ा से बचाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं···तो पिता पुनः पूछेंगे, कि ऐसी स्थिति में, वे उनसे मिलने क्यों नहीं आते? उनसे दूर क्यों भागते हैं?···तो क्या वे पिता को सच बता पायेंगे? क्या पिता नहीं जानते कि माता सत्यवती के निकट जाते ही भीष्म को आभास होने लगता है कि उन्हें वहाँ पसन्द नहीं किया जाता। और भीष्म को अपनी अवज्ञा अच्छी नहीं लगती। क्या भीष्म पिता को बता पायेंगे कि वे उनके

और माता सत्यवती के बीच नहीं आना चाहते। वे नहीं चाहते कि उनके कारण पिता को माता की ओर से कुछ ऐसा सुनना या सहना पड़े, जो उनके लिए दुखद हो; और उनकी यह दूसरी गृहस्थी भी उनके लिए प्रसन्नतादायिनी न रह जाये।
···पिता को इन छोटी-छोटी असुविधाओं से बचाने के लिए, उनके जीवन को और अधिक सुखद और विघ्नरहित बनाने के लिए ही तो भीष्म अपने-आपको पिता से ही नहीं, सम्पूर्ण राज-परिवार से···और क्रमशः इस राज-समाज से काटने का प्रयत्न कर रहे हैं···

यदि भीष्म ने ऐसा कुछ भी कहा तो पिता यह मानेंगे कि वे उनसे रुष्ट हैं; और उस रोष के कारण वे उनसे दूर हटने का प्रयत्न कर रहे हैं। कोई बड़ी बात नहीं, यदि वे यह मान लें कि माता सत्यवती और उनके पुत्रों, चित्रांगद और विचित्रवीर्य से पाये गये अपमान का प्रतिशोध भीष्म अपने पिता से ले रहे हैं। इस वृद्धावस्था में पिता को यह सब अच्छा नहीं लगेगा कि उनका वयस्क और समर्थ पुत्र उनका प्रतिस्पर्धी हो गया है; और उनको यह वही देना चाहता है, जो कुछ उसने पाया है···

भीष्म अच्छी तरह जानते हैं कि यह सत्य नहीं है। पिता ने अपना जीवन अपने लिए जिया है। वे भीष्म के जनक हैं और उन्होंने उन्हें माता गंगा के हाथों जीवन-मुक्त होने से बचाया अवश्य है; किन्तु उसके बाद से उनके जीवन में, भीष्म के लिए कोई भी स्थान नहीं रहा है·· पर भीष्म अपना सारा जीवन उनके लिए बिता रहे हैं, उनकी प्रसन्नता के लिए, उनकी सुख-सुविधा के लिए।

जाने क्यों आज तक भीष्म के मन में अपने पिता के विरुद्ध कोई भी स्थायी विरोध नहीं जन्मा।···उनके मन में पिता के प्रति अनुराग है या दया। उन्हें लगता है कि उनके पिता का जीवन भाग्य के हाथों का खिलौना रहा है। शान्तनु राजा होकर भी कभी सुखी नहीं हुए। अपनी क्षमताओं ने उन्हें कोई सुख नहीं दिया। उनकी उपलब्धियाँ उनके लिए क्लेशकारी ही हुईं।·· इस वृद्धावस्था में सत्यवती जैसी असाधारण सुन्दरी को पत्नी के रूप में पाकर भी, उससे जो सुख उन्हें मिला है, वह इस विवाह से प्राप्त असुविधाओं और झंझटों के सामने बहुत छोटा है। उन्हें इस वार्द्धक्य में दो-दो पुत्र मिले; पर वे पुत्र उनके लिए चिन्ता के ही विषय हो गये हैं, हर्ष और उल्लास के नहीं···

"मैंने सोचा, आप अपने राज-काज में व्यस्त होंगे।" अन्त में भीष्म बोले, "मेरी मनःस्थिति भी इधर बहुत बदली है। मुझे एकान्त कुछ अधिक ही प्रिय लगने लगा है। तपस्वियों, मुनियों और मनीषियों से वार्तालाप अधिक सुखद लगता है···।"

"मुझे कुछ ऐसी सूचनाएँ मिली हैं पुत्र!" शान्तनु बोले, "इनसे मुझे प्रसन्नता भी होनी चाहिए थी···।"

भीष्म ने पिता की ओर देखा : क्या कहना चाह रहे हैं पिता? उन्हें क्यों प्रसन्नता होनी चाहिए थी?

"पहली बात तो यह है कि तुमने मेरी इच्छा के अनुकूल मेरे विवाह में सहयोग ही नहीं किया, नयी गृहस्थी दी और स्वयं मेरे मार्ग में से कुछ इस प्रकार हट गये कि न मेरे मन में तुम्हें लेकर कोई दायित्व जागे, न अपराध-बोध। दूसरे, तुम अपने आध्यात्मिक उत्थान की ओर बढ़ रहे हो, अधिक समर्थ बन रहे हो···।"

"कैसे पिताजी?" भीष्म पूछे बिना नहीं रह सके।

"ग्रहण से त्याग बड़ा होता है पुत्र!" शान्तनु बोले, "ग्रहण करनेवाले से त्याग करनेवाला अधिक समर्थ है।···इस वय में तुम सेनाएँ लेकर दिग्विजय कर रहे होते, तो भी तुम समर्थ माने जाते; किन्तु अपनी शूरवीरता, अपने शस्त्र-ज्ञान और अपने युद्ध-कौशल को पूर्णतः विस्मृत कर, अपने समस्त रजस-तत्त्वों का दमन कर —अपने जिस व्यक्तित्व का विकास तुम कर रहे हो, वह अधिक समर्थ व्यक्ति का रूप है। पर पुत्र!···"

शान्तनु रुक गये।

भीष्म उन्हें देखते रहे : क्या है पिता के मन में? पता नहीं पिता के मन में भाव स्पष्ट नहीं थे, या वे उपयुक्त शब्दों की प्रतीक्षा में थे।

"मैंने तुमसे कहा था कि अकेले पुत्र का पिता निःसन्तान व्यक्ति से भी अधिक दुखी होता है।" कुछ क्षणों के बाद शान्तनु बोले, "अब तुम्हारे अतिरिक्त मेरे दो पुत्र और हैं। यदि सच-सच कहूँ, तो अब मैं अनुभव कर रहा हूँ कि तुम अकेले थे तो मैं न केवल पुत्रवान था, वरन् सौ पुत्रोंवाले पिता के समान पुत्रवान था।··· चित्रांगद और विचित्रवीर्य को मैंने पाया तो है पुत्र! पर तुम्हें खोकर ही···।"

"ऐसा क्यों कहते हैं पिताजी!" भीष्म बोले, "मैं जीवित हूँ। आपके पास हूँ। आप आदेश करें।"

"नहीं! तुम्हें आदेश नहीं दूँगा।" शान्तनु बोले, "मैं स्वीकार करता हूँ कि तुम्हारे और मेरे बीच चित्रांगद और विचित्रवीर्य खड़े हैं। मैं तुम तक पहुँचना चाहूँ तो मुझे उन दोनों को बीच में से हटाना होगा···।"

'नहीं! पिताजी! उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।"

"वह मुझ पर छोड़ दो।" शान्तनु बोले, "मैं तो यह कह रहा हूँ, कि तुम्हारे बदले मैंने दो पुत्र पाये हैं। और वे दोनों पुत्र ऐसे हैं कि जिन्हें पाकर पिता निःसन्तान हो जाता है···।"

भीष्म कुछ नहीं बोले। चुपचाप पिता की ओर देखते रहे।

"तुमने भी सुना ही होगा।" शान्तनु पुनः बोले, "चित्रांगद अत्यन्त उद्दण्ड और क्रोधी किशोर के रूप में प्रसिद्धि पा रहा है। किसी का भी अपमान कर देना, या किसी को भी पीड़ित या प्रताड़ित करना, उसके लिए सहज सामान्य है। अभी

ह वर्षों का हुआ है और धनुष-बाण हाथ में लिये युद्ध-आह्वान उच्चरित करता
रता है। तुम योद्धा हो पुत्र ! किन्तु तुमने लोगों को युद्ध के लिए उकसाया नहीं।
र युद्ध-प्रिय नहीं थे। वह योद्धा भी नहीं है···और युद्ध नहीं, क्रूरता और हिंसा
सका व्यवसाय हो गया है।···मैं अनवरत रूप से इस आशंका के दंश को अपने
हृदय में अनुभव कर रहा हूँ कि किसी दिन वह द्वन्द्व-युद्ध में मारा जायेगा।···"

भीष्म का मन उमड़ आया कि पिता को सान्त्वना दें : भला पुत्र की मृत्यु
की आशंका से भयभीत और दुखी पिता से बढ़कर भी कोई पीड़ित हो सकता है।···
किन्तु वे रुक गये। कुछ सोचते रहे और फिर बोले, "पिताजी ! माता सत्यवती के
साथ विवाह से पूर्व, आप इसी प्रकार की आशंका मेरे लिए पाल रहे थे। ऐसा क्यों
है कि हस्तिनापुर के कुरु-सम्राट् चक्रवर्ती राजा शान्तनु सदा अपने पुत्रों की भावी
मृत्यु की आशंका से पीड़ित रहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि आप अपनी इन आशंकाओं
को मानसिक रोग बना लें।"

शान्तनु कुछ संकुचित हुए; पर फिर सायास मुस्कराये, "ऐसा नहीं है पुत्र !
आज मुझे सच बोलने दो। तुम्हारे विषय में मेरी आशंका वास्तविक नहीं थी—
उसका प्रयोजन मात्र इतना था कि मुझे सत्यवती से विवाह करने का एक व्याव-
हारिक आधार मिल सके।···किन्तु चित्रांगद के विषय में यह पूर्णतः सत्य है। जिस
प्रकार वह अपनी क्षमता और दूसरे की शक्ति का मूल्यांकन किये बिना जिस-तिस
से उलझता फिरता है, उसका परिणाम कभी भी शुभ नहीं हो सकता। वह किसी
भी दिन···।"

"ऐसा नहीं होगा पिताजी !" भीष्म बीच में बोले, "और यदि ऐसा होगा भी
तो क्षत्रियों के लिए वीरगति पाना सौभाग्य का लक्षण माना गया है।"

"यह वीरगति नहीं होगी।" शान्तनु दुखी स्वर में बोले, "न्याय के पक्ष में
अत्याचार का दमन करते हुए युद्ध में वीरगति पाना गौरव का ही लक्षण है; किन्तु
व्यर्थ रक्तपात करते हुए अपने अपराधों के दण्डस्वरूप प्राण गँवाना, दस्यु की मृत्यु
है। मुझे इसी का भय है भीष्म !" शान्तनु रुके नहीं, "और दूसरा है विचित्रवीर्य !
वह बारह वर्षों का हुआ है, और कामुकता की ओर उसके चरण जिस गति से बढ़
रहे हैं, वह भयंकर है···।"

"आप उन्हें रोकते क्यों नहीं ?"

"रोक नहीं सकता पुत्र।"

भीष्म ने चकित दृष्टि से पिता को देखा।

"उन्हें रोकने का मुझे अधिकार नहीं है।"

"क्यों ?" भीष्म के स्वर में हल्का-सा आवेश था, "पर क्यों ?"

शान्तनु असहाय भाव से हँसे, "यह भी मेरे साथ नियति का परिहास है पुत्र !
गंगा के पुत्र भी गंगा के ही रहे; सिवाय तुम्हारे उनमें से कोई भी शान्तनु का पु

न हो पाया।···वही स्थिति अब सत्यवती के पुत्रों की है···वे सत्यवती के ही पुत्र हैं, शान्तनु के नहीं! उनके प्रति शान्तनु के सैकड़ों दायित्व और कर्तव्य हैं, पर उसे अधिकार एक भी नहीं है।···"

"आप क्या कह रहे हैं पिताजी?" यह सब भीष्म के लिए इतना आकस्मिक था कि वे समझ ही नहीं पा रहे थे कि वे क्या कहें।

"यही सत्य है पुत्र!" शान्तनु बोले, "मैं उन दोनों में से किसी को भी अनुशासित करने का प्रयत्न करूँ तो सत्यवती उनके आड़े आ जाती है। वह तुरन्त मुझे समझाने लगती है कि वे राजकुमार हैं, उनका इस प्रकार दमन नहीं किया जाना चाहिए।···इस प्रकार उनका तेज नष्ट हो जायेगा।···चित्रांगद को कुछ कहूँ तो वह मुझे समझाने लगती है कि वह युवराज है। युवराज का अहंकार तो पुष्ट होना ही चाहिए। उनके मन में यह दृढ़-बद्ध धारणा होनी ही चाहिए कि वह अन्य मनुष्यों से श्रेष्ठ है। उसको अधिकार है कि वह किसी को भी दण्डित करे, अपमानित करे···। मैं यदि उसे समझाऊँ कि राजकुमार या युवराज की भी कोई मर्यादा होती है, तो वह इस प्रकार तड़पने लगती है, जैसे मैं चित्रांगद का युवराजत्व छीन रहा हूँ।···"

"उनको आप पर विश्वास नहीं है?"

"तनिक भी नहीं! उसे यह कहने में भी संकोच नहीं है कि वह मेरे किसी वचन का विश्वास नहीं करती। मैं आश्वासन के रूप में, समझाने के लिए जो कुछ कहता हूँ, उसे वह मेरा पाखण्ड मानती है। इसलिए मैं जितना ही अपना स्नेह जताता हूँ, जितना ही अधिक उसे विश्वास दिलाता हूँ, वह उतनी ही प्रचण्ड हो जाती है···" शान्तनु अत्यन्त हताश स्वर में बोले; "उस समय वह जो कुछ मेरे विषय में कहती है, वह यदि कोई सुन ले, तो वह सहज रूप में यही विश्वास करेगा कि मुझ जैसा कोई पापी नहीं है, और उस जैसी दुःखिनी नारी इस सारी सृष्टि में नहीं है।"

शान्तनु जितना खुलते जा रहे थे, भीष्म का असमंजस उतना ही बढ़ता जा रहा था। कहाँ वे समझते थे कि उनके पिता-सरीखा कोई सुखी नहीं है और कहाँ···पिता तो मानो हृदय में ज्वालामुखी छिपाये फिर रहे थे। उनके लिए भी अब यह सब असह्य हो गया था, तभी तो वे पुत्र के सम्मुख इस प्रकार खुल पड़े थे।

"क्या उन्हें कुछ भी समझाया नहीं जा सकता?" अन्ततः भीष्म ने पूछा।

"मैं जितना अधिक समझाने का प्रयत्न करता हूँ, वह मुझसे उतनी ही रुष्ट होती जाती है। उसके मन में मेरे प्रति दृढ़-बद्ध धारणाएँ हैं कि···मैं झूठा हूँ, पाखण्डी हूँ, कामुक और अत्याचारी हूँ। मैं अपनी मधुर वाणी से उसका सर्वस्व हरण कर उसे गलियों की भिखारिणी बना देना चाहता हूँ। जब मैं अपने प्रेम और

अपनी सद्भावना के प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ तो वह हँसकर मुझे टाल देती है, 'तुम शब्दों से मेरी भावना को झुठला नहीं सकते। तुम्हारे तर्क कुछ भी प्रमाणित करें, पर सत्य क्या है मैं जानती हूँ।' "

भीष्म पिता की ओर देख रहे थे : क्या चक्रवर्ती शान्तनु इतने असहाय हो गये हैं ?

"तुम्हें विचित्र लगेगा वत्स ! यदि मैं तुम्हें बताऊँ कि मैं उससे किस सीमा तक डरने लगा हूँ।" शान्तनु बोले, "मैं यह मानने लगा हूँ कि वह निर्धन परिवार से राजमहल में आयी है, इसलिए निर्धनता का प्रेत उसका पीछा नहीं छोड़ रहा। पुनः अपनी पहली स्थिति में लौट जाने का भय उसे इतना सताने लगा है कि वह सहज नहीं रह पाती ! तनिक-सी बात में उसे लगने लगता है कि मैं उससे मुक्त होने का बहाना ढूंढ रहा हूँ। उसके मन से यह बात जाती ही नहीं कि मैं अन्ततः कोई-न-कोई षड्यन्त्र रचकर उसके पुत्र के हाथों से अधिकार छीन लूँगा।…वह स्पष्ट शब्दों में, अभिधा में कहती है कि वह निर्धन परिवार की बेटी है, उसकी पीठ पर कोई राजपरिवार नहीं है, इसलिए मैं उस पर अत्याचार कर रहा हूँ।…वह तो यहाँ तक कहती है कि मैं इतना अहंकारी तथा कामुक हूँ कि कोई भी स्त्री मेरे साथ रह ही नहीं सकती। गंगा को भी मैंने ही घर से निकाल दिया था और उसके विषय में एक झूठी कथा प्रचलित कर दी थी कि वह मुझे छोड़ गयी है…।"

"पिताजी !"

"हाँ भीष्म !" शान्तनु बोले, "उसे यदि बिलख-बिलखकर यह सब कहते हुए सुनो, तो तुम भी विश्वास कर लोगे कि तुम्हारा पिता उतना ही दुष्ट है, जितना वह कह रही है।…"

"इतनी अमानवीय है वह ?"

"रुग्ण है। उसके मनोविकारों ने उसके चिन्तन को विकृत कर दिया है। कुछ बद्धमूल धारणाओं के कारण, उसकी दृष्टि बदल गयी है। अब जिस विकृत दृष्टि से वह जीवन को देखती है—उसके लिए प्रमाण जुटाने कठिन नहीं हैं। रस्सी पड़ी हो तो भी मनोविकारों या दृष्टिदोष के कारण वह साँप ही दिखाई देगी।"

"पर मुझे तो कभी ऐसा नहीं लगा।" भीष्म कुछ सोचते हुए बोले, "कि… और ने भी कभी इस प्रकार चर्चा नहीं की।"

"नहीं ! किसी तीसरे के सामने उसका कभी ऐसा व्यवहार नहीं होता… शान्तनु का स्वर धीमा पड़ गया, जैसे अपने-आपसे बातें कर रहे हों, "मैं ही उ… सबसे अधिक आत्मीय हूँ। मैं ही सबसे अधिक प्रेम देता हूँ उसे।…और व… ही प्रति इतनी क्रूर है। मुझ पर ही उसका सबसे अधिक अविश्वास है।…

आकर कई बार सोच चुका हूँ कि उसे त्याग दूँ, या स्वयं ही कहीं चला जाऊँ···।"

भीष्म ने चौंककर पिता की ओर देखा।

"पर वह भी तो कर नहीं पाता मैं !" वे बोले, "अभी तो कभी कुछ अनुचित किया नहीं मैंने, तो वह इतने आरोप लगाती है मुझ पर। यदि उसे त्याग दिया, या स्वयं कहीं चला गया, तो क्या कुछ नहीं कहेगी वह। हस्तिनापुर की वीथियों और पथों पर वह मुझे अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी सिद्ध करती फिरेगी—और कौन विश्वास नहीं करेगा उसका ? प्रजा कहेगी, शान्तनु है ही ऐसा। उसने पहले गंगा को भी त्याग दिया था।···उसे रोते-चिल्लाते देखकर, मेरी प्रजा मुझे उसी दृष्टि से देखेगी, जिस दृष्टि से आज मुझे चित्रांगद और विचित्रवीर्य देखते हैं।···"

भीष्म ने पूछा कुछ नहीं; किन्तु इतना जानने को वे अत्यन्त उत्सुक थे कि चित्रांगद और विचित्रवीर्य अपनी माता के व्यवहार के विषय में क्या सोचते हैं।

"जब वह अपनी आशंकाओं से दुखी होकर, रोती-चिल्लाती है और मुझ पर अनेक प्रकार के आरोप लगाती है," शान्तनु स्वयं ही बोले, "तो मेरे वे दोनों पुत्र शब्दों में तो कुछ नहीं कहते; किन्तु उनकी जो आँखें मेरी ओर उठती हैं, वे बहुत कुछ कह जाती हैं। वे मुझसे पूछती हैं कि आखिर उनकी माँ को परेशान क्यों करता हूँ ? और मेरी इच्छा होती है कि या तो अपना सिर प्रासाद की दीवारों से दे मारूँ या अपने बाल नोच लूँ।···"

शान्तनु चुप हो गये।

भीष्म तो जैसे पिता का इतना दुख सुनकर अवाक् ही रह गये थे। वे क्या कहते।···एक ओर भीष्म का मन जैसे कह रहा था, 'नारी का मोह ऐसा ही होता है। पिता ने अपने पहले अनुभव से कुछ नहीं सीखा, तो यह तो होना ही था···' पर दूसरी ओर भीतर-ही-भीतर उनका अपना मन ही उन्हें धिक्कारने लगा था—'तू तो आज तक समझे बैठा था कि तूने पिता को सुखी करने के लिए इतना बड़ा त्याग किया है। तेरा अहंकार स्फीत होकर आकाश को छूने लगा था कि आज तक अपने पिता को सुखी करनेवाला, तेरे जैसा कोई सुपुत्र ही पैदा नहीं हुआ है।···पर क्या सुख दिया तूने पिता को ? उनके जीवन को तूने नरक बना दिया है।·· उन्होंने सत्यवती को चाहा था···किन्तु तुझसे कुछ माँगा तो नहीं था। तुझसे माँगा इसलिए नहीं था, क्योंकि उसके अनौचित्य को उनका विवेक देख रहा था—तूने उसके अनौचित्य को नहीं देखा; और सत्यवती को लाकर उनके सम्मुख खड़ा कर दिया। कैसा पापी है तू···'

"आप अपने अपयश के भय से इस यातना को कब तक ढोयेंगे पिताजी ?" भीष्म को यह कहने के लिए भी प्रयत्न करना पड़ा।

"अपयश की ही बात होती, तो शायद मैं किसी और ढंग से सोचता," शान्तनु
ले, "वस्तुतः सत्यवती से अलग होकर शायद मैं तो मुक्त हो जाऊँगा, किन्तु वैसी
स्थिति में चित्रांगद और विचित्रवीर्य पूर्णतः उसके अधिकार में होंगे। उनके विषय
में सारे निर्णय वह करेगी। वे पूर्णतः उसके संरक्षण में होंगे। उसकी इच्छा के अनु-
सार उन्हें जीवन व्यतीत करना होगा।...और जैसे भी हैं, वे मेरे पुत्र हैं वत्स!"
शान्तनु की आँखें भर आयी, "मैं उन्हें पूर्णतः उस स्त्री के भरोसे कैसे छोड़ दूँ, जो
इतने मनोविकारों से ग्रस्त है। वह उनका भी जीवन नरक बना सकती है और अपने
असन्तुलित क्षणों में उनके लिए वही निर्णय ले सकती है, जो गंगा ने अपने पुत्रों के
विषय में लिया था।..." उन्होंने रुककर भीष्म की ओर देखा, "और भी एक बात
है भीष्म!"

"क्या पिताजी?"

"वह स्वस्थ होती। ठीक ढंग से सोच-समझ सकती। और उसका व्यवहार
दूषित होता...तो कदाचित् मैं कब से उसका त्याग कर चुका होता। पर वह
रुग्ण है। उसकी चिन्तन-प्रक्रिया विकृत है। वह ठीक से सोच नहीं पाती है...।
उसका त्याग मैं कैसे कर सकता हूँ पुत्र! रोगी की सेवा की जाती है, उसे त्यागा नहीं
जाता। उसे त्याग देने पर उसे जो शारीरिक और मानसिक कष्ट होगा, उसके लिए
मैं स्वयं को कैसे क्षमा कर पाऊँगा...।"

"तो मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है पिताजी?"

"नहीं! कोई मार्ग नहीं है।" शान्तनु बोले, "प्रकृति सर्वोच्च न्यायाधीश है;
और न्याय करनेवाला कठोर भी होता है वत्स! प्रत्येक व्यक्ति अपने पाप को भोगता
ही है। मैं भी अपने पाप को ही भोग रहा हूँ...।"

भीष्म के मन में फिर वैसी ही टीस उठी, जैसे सत्यवती को देखकर लौटे हुए
पीड़ित पिता को देखकर उनके मन में उठी थी। उनका मन तड़प उठा: क्या
करें भीष्म? उन्होंने पिता के सुख के लिए सबकुछ त्यागा था। पिता सुखी रहें,
इसलिए उन्होंने स्वयं को पिता से दूर कर लिया था...और पिता यह सब भोगते
रहे...

"क्या मैं कुछ भी नहीं कर सकता पिताजी?"

"क्यों नहीं कर सकते?" शान्तनु के स्वर में कुछ उत्साह जागा, "तुम कुछ
करो, इसके लिए ही तुम्हें बुलाया है।"

"आदेश दें पिताजी!"

"पितृवत् प्रजा का पालन करने के लिए कुछ उदार होना पड़ता है पुत्र! उसे
सुख-दुख में, उसके साथ चलना पड़ता है। समृद्धि के समय उससे कर उगाहा जा
है तो विपत्ति के समय उस पर व्यय भी किया जाता है। वैसे भी राजा का धन अ
भोग के लिए कम, प्रजा के सुख के लिए अधिक होता है पुत्र!"

भीष्म कुछ नहीं बोले। वे इस भूमिका के पश्चात् आनेवाले मुख्य वक्तव्य को सुनने को उत्सुक थे।

"भीष्म ! सत्यवती को मेरी उदारता प्रिय नहीं है।" शान्तनु बोले, "प्रजा के लिए व्यय करने का मेरा प्रत्येक प्रस्ताव उसको पीड़ित करने लगता है। वह यह मान लेती है कि हस्तिनापुर के राजकोष में जो कुछ है, वह उसके पुत्रों की सम्पत्ति है। यदि उस सम्पत्ति से मैं उनके लिए प्रासाद बनवाता हूँ, दास-दासियों का क्रय करता हूँ, भोजों का आयोजन करता हूँ, मणि-माणिक्य खरीदता हूँ—सत्यवती और उसके पुत्रों के लिए भोग-विलास की सामग्री उपलब्ध कराता हूँ, तो उसकी दृष्टि से मैं उचित ही करता हूँ। मुझे यही करना चाहिए। यह मेरा दायित्व ही नहीं, धर्म भी है। किन्तु, यदि मैं प्रजा के सुख के लिए, एक छोटी-सी राशि भी व्यय करता हूँ, तो वह यह सोचकर अत्यन्त व्याकुल हो जाती है कि मैं उसके पुत्रों की सम्पत्ति का अपव्यय ही नहीं कर रहा, जान-बूझकर उसके पुत्रों के मार्ग में कंटक बोने का षड्यन्त्र कर रहा हूँ। वह मान लेती है कि मैं अपने जीवन में सारा राजकोष लुटा दूँगा और जब मैं मरूँगा तो उसके और उसके पुत्रों के लिए कुछ भी बचा नहीं रहेगा और वे कंगालों की भाँति वीथियों और पथों पर मारे-मारे फिरेंगे, या उसके अपने सम्बन्धियों के समान गंगा के किसी घाट पर मछलियाँ पकड़-पकड़कर अपना जीवन-यापन करेंगे।...इस कल्पना को वह इतना घनीभूत कर लेती है कि वह उसके लिए जीवन का सबसे बड़ा सत्य हो जाता है; और वह उस सम्भावित काल्पनिक स्थिति से बचने के लिए, वर्तमान में मुझसे वास्तविक युद्ध छेड़ देती है..."

"क्या ?" भीष्म के मुख से अनायास ही निकल गया।

"हाँ ! पुत्र !" शान्तनु बोले, "ये मेरे निजी जीवन के कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनकी मैं किसी के सामने चर्चा भी नहीं कर सकता। किसी से बाँटकर अपना बोझ हल्का नहीं कर सकता।...अपनी और अपने वंश की अपयश से रक्षा करने के लिए, मैं प्रत्येक क्षण उससे डरता रहता हूँ। चक्रवर्ती शान्तनु अपनी पत्नी के भय से पीला पड़ जाता है कि कहीं वह अपने कुल में चली आयी पूज्य-पूजन की परम्परा को खण्डित न कर दे, कहीं वह किसी आदरणीय का अपमान न कर दे, कहीं वह अपने सार्वजनिक प्रलाप से इस भरत वंश की कीर्ति को कलुषित न कर दे..."

भीष्म चुपचाप अपने पिता की ओर देखते रहे।

"इस भरत वंश का भविष्य मुझे बहुत उज्ज्वल नहीं दीखता वत्स ! मैं जीवित रहते, अपनी प्रजा का समुचित पालन नहीं कर सकता...और मेरे पश्चात् चित्रांगद और विचित्रवीर्य अपनी इस माँ की सहायता से हस्तिनापुर को नाश के मार्ग पर ही ले जायेंगे। स्वयं भी नष्ट हो जायेंगे, और प्रजा का भी विनाश करेंगे।..."

भीष्म के मन में उत्सुकता फन काढ़कर खड़ी हो गयी : क्या चाहते हैं पिता ?

''इस राज्य को नष्ट होने से बचाने के लिए, भरत वंश की ख्याति की रक्षा के लिए, हमें कुछ करना होगा पुत्र !'' शान्तनु बोले, ''अन्यथा···।''

भीष्म का मन कह रहा था, 'या तो ऐसा कुछ होगा नहीं !···सम्भव है कि यह पिता के वृद्ध और दुर्बल स्नायु-तन्त्र की आशंकाओं की ही माया हो···या यदि ऐसा ही कुछ हो गया। कुरु-साम्राज्य ध्वस्त हो ही गया। इस साम्राज्य का नाम बदल गया···शान्तनु के बाद हस्तिनापुर के सिंहासन पर कोई तो दूसरा पुरुष बैठेगा ही, यदि वह पुरुष कुरु-कुल का अंश न हुआ···तो क्या अन्तर आ जायेगा ! ···धरती तो यही रहेगी, प्रजा भी यही रहेगी···ईश्वर की सृष्टि में क्या परिवर्तन हो जायेगा ?···'

पर यह सब वह अपने पिता से नहीं कह सकते थे। पिता राजा थे, और राजाओं के समान सोचते थे। भीष्म के समान तटस्थ होकर वे अपने राज्य के विषय में कैसे सोचते ?

''आपकी क्या इच्छा है पिताजी ?''

''पुत्र ! इच्छा होते हुए भी मैं तुम्हें युवराज नहीं बना सकता। यह जानते हुए भी कि कुरु साम्राज्य की रक्षा करने, उसे शक्तिशाली और समृद्ध बनाने; भरत वंश की कीर्ति को बढ़ाने में एकमात्र तुम ही समर्थ हो—मैं राज्य तुम्हें नहीं सौंप सकता।''

''मुझे कुरु साम्राज्य नहीं चाहिए पिताजी ! मुझे राज्य नहीं चाहिए···।''

''जानता हूँ पुत्र ! तुम्हें कुछ नहीं चाहिए।'' शान्तनु बोले, ''पर यह भी तो जानता हूँ कि आज कुरु वंश और कुरु साम्राज्य को तुम्हारी आवश्यकता है।'' उन्होंने अपनी दृष्टि को पूरी तन्मयता से भीष्म के चेहरे पर टिका दिया, ''तुम युवा हो, शक्तिशाली हो, समर्थ हो, शस्त्रविद्या और रणनीति में दक्ष हो, सैनिकों, सेनापतियों और कुरु प्रमुखों के प्रिय हो···तुम बलात् यह राज्य हस्तगत कर लो पुत्र !···''

''पिताजी !'' प्रस्ताव की अप्रत्याशितता से जैसे भीष्म बौखला उठे, ''आप क्या कह रहे हैं पिताजी ! यह सम्भव नहीं है।''

''तो कुरु साम्राज्य का अक्षुण्ण रहना भी सम्भव नहीं है।''

भीष्म कुछ शान्त हुए, ''मैंने प्रतिज्ञापूर्वक राज्य त्यागा है। अब उसके लिए मैं बल-प्रयोग करूँ ? जिन कारणों से मैं प्रजा का प्रिय हूँ, उन कारणों का आधार नष्ट कर दूँ। अपनी जिस प्रतिज्ञा पर मैं गर्व करता हूँ ...उसे स्वयं भंग कर दूँ। यह असम्भव है पिताजी !''

''यदि मैं ऐसी आज्ञा दूँ तो ?''

''आपकी आज्ञा धर्म-विरुद्ध होगी।''

"तुम अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ोगे, चाहे तुम्हारे पिता टूट जायें।"

भीष्म ने पिता को देखा। कुछ देर जैसे साहस संचित किया और बोले, "प्रतिज्ञा तोड़ी तो न केवल भीष्म टूटेगा, वरन् भरत वंश का कीर्ति-कलश भी टूट-कर गिर जायेगा।...आप मुझे इसके लिए बाध्य न करें।" वे उठ खड़े हुए, "मुझे खेद है कि मैं आज्ञाकारी पुत्र होने का यश अक्षुण्ण नहीं रख सका।"

पिता को प्रणाम कर भीष्म द्वार की ओर चल पड़े।

शान्तनु अपने स्थान पर बैठे, भीष्म को जाते हुए देखते रहे, जैसे कुरु साम्राज्य के उत्कर्ष को राजप्रासाद से दूर होते हुए देख रहे हों।

[14]

"भीष्म आपके पास क्यों आया था ?"

"मैंने उसे बुलाया था।" शान्तनु सहज रूप में कह गये; और तब उनका ध्यान सत्यवती की ओर गया। उसकी वाणी में उसका विरोध बहुत मुखर होकर आया था।...उसने जब भीष्म के चित्रांगद और विचित्रवीर्य के साथ मिलने पर आपत्ति की थी, शान्तनु को तब भी पीड़ा हुई थी। बहुत प्रयत्न करने पर भी वे सत्यवती को समझा नहीं पाये थे कि भीष्म के प्रति इस प्रकार का द्वेष सत्यवती के लिए लाभदायक नहीं होगा। भीष्म का उससे क्या बिगड़ेगा—और तब से उन्होंने मान लिया था कि भीष्म उन्हीं का पुत्र है, सत्यवती का नहीं; और यदि वह सत्यवती का पुत्र नहीं है तो वह चित्रांगद और विचित्रवीर्य का भी भाई नहीं है...पर सत्यवती यह चाहती है कि वह उनका भी पुत्र न रहे...

"क्यों बुलाया था उसे ?"

शान्तनु की इच्छा हुई कि एक बार पूरी कठोरता से सत्यवती को डपट दें। वे राजा हैं, पिता हैं...। उनकी इच्छा होगी तो वे जिसे चाहेंगे, उसे बुलायेंगे, मिलेंगे। वह किस अधिकार से भीष्म को उनसे और उनको भीष्म से मिलने से रोकना चाहती है ?...पर दूसरे ही क्षण जैसे वे चेत गये।...यहाँ वे न राजा हैं, न पिता। यहाँ वे पति हैं, और पति-पत्नी का सम्बन्ध अपने ही नियमों से परिचालित होता है...। सत्यवती भीतर-ही-भीतर उफन रही है। यदि उन्होंने उसकी इच्छा के प्रति-कूल कुछ कह दिया और वह अपना सन्तुलन खो बैठी तो वह कुहराम मचा देगी। उनका पारिवारिक झगड़ा खुलकर सामने आ जायेगा। राजा और रानी का पार-स्परिक विरोध...भीष्म के प्रति सत्यवती की दुर्भावना—सबकुछ प्रकाशित हो जायेगा। हस्तिनापुर के घर-घर में चर्चा होगी और आस-पास के अनेक विद्रोही जन-प्रमुख इस गृह-कलह का लाभ उठाने के विषय में सोचने लगेंगे। उनकी सीमा से लगे हुए राज्यों के क्षत्रिय राजा अपनी सेनाएँ सजाने लगेंगे। पारिवारिक-कलह,

राजनीतिक कलह का रूप धारण कर लेगा···

वे सत्यवती से झूठ बोलकर उसे टाल भी सकते थे···किन्तु सामान्यत: वे झूठ बोलते नहीं थे···और यदि सत्यवती को उनके अपने प्रासाद से यह सूचना मिल सकती है कि भीष्म उनसे मिलने आया था, तो यह सूचना भी मिल सकती है कि पिता-पुत्र में क्या बातें हुई थीं। बहुत सम्भव है कि सत्यवती का कोई गुप्तचर उनके निजी सेवकों में हो···ऐसे में उनका झूठ खुलते एक क्षण नहीं लगेगा।···रोप में सत्यवती असन्तुलित हो जाती है··· और असन्तुलन किसी मर्यादा को नहीं जानता। ऐसी स्थिति में अपने दास-दासियों के सामने जो कुछ शान्तनु को सुनना पड़ेगा, वह शोभनीय नहीं होगा···और यदि झूठ न भी खुला···तो भी वे उसके खुलने के भय से सदा आतंकित रहेंगे···

"सत्यवती!" शान्तनु का स्वर नियन्त्रित था, "मेरा वार्द्धक्य अपनी शक्ति दिखा रहा है। मैं दिन-प्रति-दिन अक्षम होता जा रहा हूँ। मेरी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ क्षीण हो रही हैं···।"

"तो राजवैद्य को बुलाया होता।" सत्यवती बोली, "भीष्म क्या कर सकता है इसमें? वह क्या पुरु के समान अपना यौवन आपको दे देगा?"

"क्या उसने पहले ही अपना यौवन मुझे दे नहीं दिया?" शान्तनु के स्वर मे खीझ थी, "तुम्हारे पिता ने उससे जीवन का प्रत्येक सुख-भोग, हँसी-खुशी, आशा-उल्लास—सबकुछ छीन नहीं लिया? क्या चाहती हो तुम उससे?"

सत्यवती भी कुछ उग्र हुई, "मैंने या मेरे पिता ने कुछ नहीं छीना है उससे! उसने स्वेच्छा से सबकुछ त्यागा है। और किसी ने उससे कुछ छीना ही है, तो छीनने वाले आप हैं, आप! छीना भी आपने ही, और दोषारोपण भी आप ही कर रहे हैं।···"

"हाँ! मैंने ही सब कुछ छीना है।" शान्तनु का स्वर अवरोह पर था, "पापी तो मैं ही हूँ। मैंने ही पिशाच बनकर अपने पुत्र का रक्त पी डाला है।"

"जब रक्त पी ही डाला है, तो अब किसलिए बुलाया था उसे? अब उस रक्त-हीन लोथ को दूर कहीं फेंक क्यों नहीं देते?"

"नहीं!···" शान्तनु जैसे किसी प्रेत लोक से बोल रहे थे, "अभी उसके पास हड्डियाँ हैं, मांस है···अभी से कैसे छोड़ दूँ उसे?"

शान्तनु की स्थिति देखकर सत्यवती सहम उठी···पहली बार उसके मन मे विचार आया···राजा स्वस्थ नहीं लग रहे, कहीं उन्हे कुछ हो गया तो? ··उनकी आँखों में जो यह प्रेत-लोक की छाया है, यह कोई मनोविकार है या मृत्यु का आभास?···

"क्या हो गया है आपको?" सत्यवती का स्वर कुछ कोमल हुआ, "मैं तो केवल इतना ही पूछ रही थी कि क्यों बुलाया था भीष्म को? क्या काम था आपको

उससे ?···" और सत्यवती जैसे डगमगा गयी, "आप न बताना चाहें, तो न बतायें।"

अपनी उस उद्विग्नता में भी शान्तनु की दृष्टि से यह छिपा नहीं रह सका कि उनकी असहजावस्था को देखकर सत्यवती कुछ विचलित हो गई थी।···क्या है सत्यवती के मन में? कहीं ऐसा तो नही कि वह उन पर इस प्रकार अपना पूर्णाधिकार चाहती है कि जो कुछ शान्तनु के पास है, वह उसका हो जाये। उनके माध्यम से वह कुरु कुल पर, कुरु साम्राज्य पर, अपना अक्षुण्ण अधिकार स्थापित कर लेना चाहती है। इसीलिए चाहती है कि शान्तनु का किसी के साथ कोई सम्बन्ध न रहे, कोई सम्पर्क न रहे, उन पर किसी का कोई अधिकार न रहे। शान्तनु रहें, पूर्णतः स्वस्थ, समर्थ और शक्तिशाली रहें···और उन पर एकछत्र अधिकार रहे सत्यवती का···वे सत्यवती की सत्ता के उपकरण मात्र रहें ··पर उपकरण का अस्तित्व आवश्यक है, उसका समर्थ रहना, कार्य-सक्षम रहना अनिवार्य है, अन्यथा ···सत्यवती का अधिकार-सूत्र शिथिल ही नहीं होगा, टूट भी सकता है···

"सत्य जानना चाहती हो?"

सत्यवती ने सहमति में सिर हिलाया।

"जब अपने शरीर को असमर्थ होता देखता हूँ, शक्ति को क्षीण होता हुआ पाता हूँ, तो मैं डर जाता हूँ।" उन्होंने सत्यवती की ओर देखा।

सत्यवती कुछ नहीं बोली। चुपचाप उनकी ओर देखती रही।

"मुझे लगता है कि मेरी आयु अब शेष होने जा रही है। मैं अधिक समय तक जीवित नहीं रहूँगा···" वे कुछ रुके और फिर बोले, "मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं है। जीवन में जो कुछ पाया और खोया है, इसके बाद ऐसा कुछ नहीं रहा, जिसे पाने या भोगने के लिए और जीवित रहना चाहूँ···" उन्होंने रुककर सत्यवती को देखा, "तुम्हारी भी चिन्ता नहीं है मुझे! तुम पर्याप्त समर्थ हो···किन्तु चिन्ता मुझे अपने इन पुत्रों की है—चित्रांगद और विचित्रवीर्य की।"

"क्यों? इनकी क्या चिन्ता है आपको?" सत्यवती का स्वर पर्याप्त शुष्क था, "चित्रांगद सिंहासनासीन होगा और हमारा पालन करेगा।"

"यही तो चिन्ता है मुझे।" शान्तनु बोले, "राजपुत्र समर्थ होता है तो सिंहासनासीन होता है। वह राजा, सम्राट् और चक्रवर्ती बनता है···किन्तु···"

"किन्तु क्या?" सत्यवती का भय इन दो शब्दों के पीछे से भी बोल रहा था।

"किन्तु यदि राजपुत्र समर्थ नहीं हुआ तो उसका जीवित रहना भी कठिन हो जाता है।···

"क्या कहना चाहते हैं आप?" सत्यवती का भय प्रकट हो गया।

"पड़ोसी राजा ही नहीं, उसके अपने अमात्य, सेनापति और जन-प्रमुख, दुर्बल

जा के शत्रु होते हैं। वे उसे जीवित नहीं रहने देना चाहते, क्योंकि राजपुत्र के जीवन में उसका अधिकार भी अक्षुण्ण बना रहता है।"

सत्यवती के चेहरे पर उसका भय जैसे घनीभूत हो गया, "नहीं !..."

"तुम्हारे नकार देने से प्रकृति के सत्य तो नहीं बदल जायेंगे।" शान्तनु बोले, "अपनी क्षमता-भर मुझे अपने इन पुत्रों के समर्थ होने तक की व्यवस्था, उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना है।"

सत्यवती ने आँखों मे प्रश्न भरकर शान्तनु की ओर देखा; किन्तु शान्तनु स्पष्ट देख रहे थे कि उसकी आँखों में उत्सुकता और जिज्ञासा से अधिक अविश्वास और विरोध है।...सत्यवती का यह अविश्वास शान्तनु को तोड़ देने के लिए पर्याप्त था। न केवल उनका सारा उत्साह ही जाता रहा; उन्हें लगा, उनके शरीर से जैसे प्राण ही निकल गये हों। उनकी बोलने की इच्छा ही चुक गयी...

प्रतीक्षा सत्यवती के लिए असह्य थी : जाने शान्तनु किस प्रकार की व्यवस्था की बात सोच रहे हैं।

"कैसा प्रबन्ध करना चाह रहे हैं आप ?" सत्यवती को पूछना ही पड़ा।

"मैं चाहता हूँ..." शान्तनु फिर रुक गये, जैसे या तो उन्हें शब्द ही न मिल रहे हों, या फिर अब भी उनके मन में द्वन्द्व था कि बतायें या न बतायें ?

"कैसा प्रबन्ध करना चाह रहे हैं आप ?" सत्यवती ने फिर पूछा।

"यदि मैं न रहूँ, तो भी कोई ऐसा हो, जो बाहरी और भीतरी विरोधों, षड्-यन्त्रों और आक्रमणों से चित्रांगद और विचित्रवीर्य की रक्षा करता रहे...।"

"कौन है वह—भीष्म ?" सत्यवती ने तड़पकर पूछा।

शान्तनु ने देखा, क्षणभर पहले की दुर्बल, डरी और सहमी हुई सत्यवती, एक ही क्षण में जैसे सिंहनी बन गयी थी।

उन्होंने बड़ी बाध्यता में सिर हिलाया, "हाँ !"

और सिंहनी ने न केवल गर्जना ही की, उसने उन पर छलांग भी लगा दी, उसके सारे दाँत, उसके बीसों नख, उसकी दृष्टि, उसकी ध्वनि...सब कुछ मिलकर, जैसे शान्तनु के चिथड़े-चिथड़े कर देना चाहते थे..., "इस पृथ्वी पर अब धर्म नहीं रह गया है। नरक हो गयी है यह पृथ्वी। कोई किसी का विश्वास कैसे करेगा। इससे तो अच्छा है कि पृथ्वी फट जाये। आकाश टूट पड़े। सागर लील ले, या इस पृथ्वी को अग्नि ही जला दे। महाश्मशान हो जाये यह सारा...मृत्यु, मृत्यु...।"

शान्तनु को लगा, सत्यवती पागल हो गयी है। सम्भव है कि अपनी इस मा-सिक स्थिति में वह अपने वस्त्र फाड़ दे और श्मशान की डाकिनी-पिशाचिनी समान उछल-उछलकर नाचने लगे और शान्तनु के ही शरीर मे कहीं अपने गड़ा दे...मृत्यु...मृत्यु...मृत्यु...

"सत्यवती !" शान्तनु ने उसे बाँहों से पकड़ा, "सत्यवती ! क्या हो

चली जाती हैं न !"

"मैं समझा नहीं !" कृप अपनी बहन को आश्चर्य से देख रहे थे। कृपी तो बहुत स्पष्ट और सीधी बात करने वाली लड़की थी—ये पहेलियाँ वह कब से बुझाने लगी···क्या कृपी कुछ बदल गई है ?···और जैसे उन्होंने पिछली रात अपने घर आई बहन को पहली बार ध्यान से देखा : कृपी वैसी ही थी···किंतु बिल्कुल वैसी ही तो नहीं थी ! विवाह के समय एकदम युवती थी कृपी···और अब लौटी है तो उसका यौवन प्रौढ़ावस्था को आलिंगनबद्ध करता-सा लग रहा था। रात के अंधकार में वे ठीक से देख नहीं पाए : कृपी के केशों में कहीं-कहीं श्वेतता झाँकने लगी थी। चेहरे पर तो नहीं, किंतु माथे पर कुछ गहरी रेखाएँ भी खिंच गई थीं। कदाचित् वे ही झुर्रियों में परिणत होंगी···

कृपाचार्य को लगा, अपना बहन को इस रूप में पहचानते ही उन्हें एक झटका-सा लगा था···किंतु अगले ही क्षण सँभलकर वे मन-ही-मन हँसे···अब वे स्वयं भी तो युवक कृप नहीं रहे थे। उनकी दाढ़ी का कितना बड़ा भाग श्वेत हो चुका था। वे और कृपी समवयस्क ही तो थे।···और कृपी का यह तरुण पुत्र, अश्वत्थामा ! इसकी तरुणाई का भी तो कोई मूल्य इसकी माता को चुकाना पड़ेगा·· कृपी वैसी ही युवती कैसे रह सकती थी ?

"आचार्य के लिए सामान्य सामाजिक व्यवहार कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि उसके लिए उनके पास समय नहीं है।" कृपी बोली, "उनकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति का एक ही घर होता है। स्त्रियों को जो अपने दो-दो घर—मायका और ससुराल—बनाए रखने का अभ्यास है, यह उनको प्रिय नहीं है। जब तक मैं मायके में थी, मायके की थी; विवाह हो गया तो ससुराल की हो गई, अर्थात् उनकी हो गई। अतः मायके लौटने का कोई अर्थ ही नहीं था।"

"इसका अर्थ है कि बहुत प्रेम करते हैं तुमसे ?"

"प्रेम !·· " कृपी कुछ रुकी, "प्रेम तो करते ही हैं। किंतु उनके प्रेम का लक्ष्य मैं नहीं हूँ।"

"कृपी ! आज तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आ रहीं।" कृप को कहना ही पड़ा, "तुम तो बहुत स्पष्टवादिनी हुआ करती थीं। ये कूटोक्तियाँ···"

"मैं तो अब भी स्पष्ट ही कह रही हूँ भैया !" इस बार मुस्कराने के लिए कृपी को प्रयास नहीं करना पड़ा; मुस्कान सहज ही उसके अधरों पर आ गई थी, "किंतु जिसके विषय में कह रही हूँ, वह इतना सरल नहीं है कि उसके विषय में कही गई तथ्यात्मक उक्तियाँ बहुत स्पष्ट हो सकें।"

"तो उसे स्पष्ट बनाकर ही कहो !"

"पत्नी के प्रति उनका प्रेम भी बहुत संतुलित और मर्यादित है, जैसा कि जीवन में किसी भी उपयोगी वस्तु के प्रति होता है। पत्नी में उनकी आसक्ति

नहीं है। आसक्ति उनकी केवल धनुर्वेद में है।"

"तो इसमें इतना असाधारण क्या है?" कृप ने पूछा, "यह तो सबके साथ होता है।"

"मैंने सबके साथ तो ऐसा होता नहीं देखा भैया!" कृपी बोली, "पत्नी के साथ रहते हुए उन्हें धनुर्विद्या का स्मरण बना रहता है; किंतु धनुष के हाथ में आते ही पत्नी विस्मृत हो जाती है। क्या सबके साथ ऐसा ही होता है?"

"ऐसा समझने का कोई कारण?" कृप बोले, "मेरा विचार है कि यह तो सारे बुद्धिजीवियों का लक्षण है। वे पत्नी चाहते हैं, ताकि विद्या की सेवा कर सकें, विद्या इसलिए नहीं चाहते कि पत्नी की सेवा कर सकें।"

"ठीक कहते हो भैया! किंतु मुझे एक भी आचार्य ऐसा दिखाई नहीं देता, जिसके पास अपना आश्रम न हो, भूमि न हो, गोधन न हो, सेवा के लिए शिष्य और कर्मकर न हों। राजप्रासादों का विलास तो आश्रमों में नहीं होता, किंतु उनके सात्त्विक और सरल जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समस्त साधन अवश्य उपलब्ध होते हैं।"

"आचार्य के पास क्या आवश्यक साधन नहीं हैं?"

"इन्होंने कभी आश्रम की स्थापना ही नहीं की। कभी सामान्य अर्थों में शिष्य स्वीकार ही नहीं किए। क्या तुम विश्वास करोगे भैया! कि हमारे पास कभी एक गाय भी नहीं रही।"

"एक गाय भी नहीं?" कृप के स्वर में आश्चर्य था।

"हां! एक गाय भी नहीं! ब्राह्मण—वह भी द्रोण जैसे आचार्य के घर एक गाय भी नहीं! मेरे पुत्र अश्वत्थामा ने मेरा ही स्तनपान किया है, उसने कभी गोरस नहीं चखा!"

"आचार्य ने क्या कभी उसकी आवश्यकता नहीं समझी?"

"उनका ध्यान ही कभी इस ओर नहीं गया!" कृपी बोली, "महाराज द्रुपद के पुत्रों को शस्त्र-शिक्षा दी; किंतु कभी यह नहीं सोचा, कि राजा से कभी एक गाय ही ले लें। मान लिया कि ब्राह्मण का काम विद्यादान है। उसके प्रतिदान में कभी धन अथवा कोई और पदार्थ भी स्वीकार किया जा सकता है—यह तो उन्होंने कभी सोचा ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि आचार्य तो और अधिक ज्ञान अर्जित करने के लिए, अपनी विद्या में और अधिक वृद्धि करने के लिए, अपनी तपस्या में और अधिक सघनता लाने के लिए या तो एक से दूसरे आश्रम की यात्राएं करते रहे, ऋषियों की सेवा करते रहे, या फिर अधिक से अधिक आत्म-लीन होते गए। और पीछे मैं और मेरा पुत्र अश्वत्थामा निर्धन से निर्धनतर होते गए। हमारी कठिनाइयां बढ़ती ही चली गईं...।"

"तो तुमने आचार्य को समझाया नहीं?"

किया था।

प्रकृति का न्याय तो सीधा है, पानी में दूध मिलाया जायेगा, तो वह उसमें मिलकर अपना अस्तित्व खो देगा···मक्खन को पानी में मिलाया जायेगा, तो वह उसके ऊपर-ऊपर तैरता रहेगा, न उसमें मिलेगा, न विलीन होगा, न अपना अस्तित्व खोयेगा···देवव्रत ने अपनी इच्छा का दूध प्रकृति की जलधारा में मिला दिया था। अपनी इच्छा के दूध को उन्होंने धर्म और विवेक की मथनी से मथकर नवनीत में परिणत नहीं किया था···

और आज फिर पिता एक और इच्छा प्रकट कर रहे हैं। राज्याधिकार और सन्तान के मोह में लिप्त उनकी बुद्धि फिर उन्हें प्रेरित कर रही है कि वे कुरु साम्राज्य भीष्म को अर्पित कर दें।···पर क्या उनकी यह इच्छा भी उनकी पूर्णासक्ति की ही उपज नहीं है? क्या उन्होंने धर्म और न्याय की दृष्टि से देखा है कि उनके इस कृत्य का परिणाम क्या होगा?—आज भी भीष्म, पहले के ही समान अपने पिता की यातना दूर करने के लिए, उनकी इच्छा पूरी करने के लिए लपक कर आगे बढ़ें तो क्या वे उन्हें कुछ सुख दे पायेंगे?—कहीं ऐसा तो नहीं कि वे उनकी इच्छा पूरी करने के प्रयत्न में एक नया और बड़ा नरक तैयार कर दें···कुरु वंश में जन्म लेकर वे राज्य का लोभ करें? अपनी प्रतिज्ञा को भंग करें? दिया हुआ वचन लौटा लें?···

सहसा उनका मन दूसरी ओर चल पड़ा: एक ओर पिता की इच्छा है और दूसरी ओर उनकी अपनी। अब पिता का स्वार्थ नहीं बोल रहा, उनकी आसक्ति चाहे बोल रही हो···पर वे एक वंश की ओर से बोल रहे हैं, प्रजा के हित की बात सोच रहे हैं···उनका तर्क व्यापक है।···और भीष्म तो केवल अपनी बात सोच रहे हैं, केवल अपनी प्रतिज्ञा की बात, केवल अपनी कीर्ति और ख्याति की बात, या बहुत हो तो अपने चरित्र की बात···तो किसका तर्क व्यापक है, और किसका संकीर्ण?···

और सहसा भीष्म जैसे जाग उठे : क्या हो गया था उनको ? क्या उनका अपना लोभ, पिता की इच्छा की ओट लेकर कुछ अनर्थ करने जा रहा था···? या सचमुच ही उन्हें सोचना चाहिए कि प्रजापालन बड़ा धर्म है या प्रतिज्ञा पालन ? धर्म और न्याय से पूर्ण शासन कर सामान्य जन का हित करना उनका धर्म है या अपने चरित्र का उत्थान और विकास ? व्यक्ति अपने प्रति प्रतिबद्ध है या सृष्टि के प्रति ?—स्वार्थ तो स्वार्थ ही है, चाहे भौतिक सुख की दृष्टि से हो या आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से ··तो क्या भीष्म स्वार्थी हो रहे हैं ?···

उनका विवेक जैसे फिर से अड़ गया : यह सारा चिन्तन भी उनकी प्राकृतिक दुर्बलताओं से परिचालित है। कौन कह सकता है कि वे राज्याधिकार पाने के लिए, प्रजापालन का बहाना नहीं खोज रहे हैं ? क्या प्रमाण है कि कल जब चित्रांगद राज्य सम्हालेगा, तो वह उनसे श्रेष्ठतर राजा नहीं बनेगा ?

और फिर इच्छा तो इच्छा ही है, चाहे प्रजापालन की हो या आत्म-विकास की ! इसका निर्णय कौन करेगा कि कौन-सी इच्छा धर्मानुकूल है। इच्छा, पिता की हो या भीष्म की·· इच्छा तो एक व्यक्ति की इच्छा ही है···और भीष्म अपने अनुभव से जानते हैं कि मनुष्य अपने-अपको कितना ही बुद्धिमान क्यों न माने, वह नहीं जानता कि कौन-सी इच्छा उसके लिए शुभ है···और सत्य तो यह है कि वह यह भी नहीं जानता कि उसका हित क्या है·· उसके लिए शुभ क्या है···

प्रश्न···प्रश्न···प्रश्न···भीष्म कुछ भी निर्णय नहीं कर पाते कि सत्य क्या है ? धर्म क्या है ? उनका दायित्व क्या है ?···और जब भीष्म यह निर्णय नहीं कर पाते, तो वे जानते हैं कि जो कुछ उनके सामने कर्तव्य-रूप में आ जाये, वही उन्हें करना है। निर्णय कदाचित उनके हाथ में है ही नहीं···और धर्म अभी उनकी समझ में नहीं आ रहा···

[16]

चक्रवर्ती शान्तनु के निजी कक्ष में शायद पहले कभी इतने लोग एक साथ नहीं आये होंगे।

महाराज अपने पलँग पर लेटे थे। महारानी सत्यवती उनके सिरहाने के साथ लगकर बैठी थीं। वृद्ध मन्त्री और राजपुरोहित सामने खड़े थे। चित्रांगद और विचित्रवीर्य माँ से कुछ हटकर बैठे थे। राजवैद्यों का एक पूरा दल अपने सहचरों और सहकर्मियों के साथ कक्ष में उपस्थित था। अनेक दास-दासियाँ आदेशों की प्रतीक्षा में हाथ बाँधे खड़े थे।

पर शान्तनु को उस सारी भीड़ में से जैसे कोई दिखायी ही नहीं पड़ रहा था। उनके मन में केवल एक ही चित्र था। वे आँखें खोलकर देखते थे और भीष्म को

धारण कर लेंगे—राजसिंहासन तो वस्तु ही ऐसी है, जो मनुष्य में सोये पशु को न केवल जगा देती है, उसे सक्रिय भी कर देती है। जाने क्या होता है कि सिंहासन मिलने की सम्भावना उपस्थित होते ही मनुष्य के सिर पर सींग उग आते हैं, उसकी दाढ़ें विकराल हो जाती हैं, अँगुलियों के नख तीखे हो जाते हैं और मन में रक्त-पिपासा जाग उठती है···शान्तनु नहीं रहेंगे तो कुटुम्बी और सहयोगी भी सत्यवती के जीवन के ग्राहक हो जायेंगे··· रक्तपिपासु पशु···सत्ता का लोभ···ओह ! इधर उनके नयन मुँदे और उधर उनके इन अबोध पुत्रों की हत्या हो जायेगी···उनकी रानी की भी हत्या हो सकती है···उसका अपहरण भी हो सकता है···वह किसी की दासी भी हो सकती है या मात्र एक भिखारिन भी···नहीं। सत्यवती अब भी बहुत सुन्दर है···उसे प्राप्त करके कोई भी राजा अपना सौभाग्य मानेगा···

पर क्या शान्तनु को आज भी सत्यवती का मोह है?···जितना और जैसा जीवन उन्होंने सत्यवती के साथ बिताया है, क्या वे चाहेंगे कि उन्हें फिर से जीवन मिले और सत्यवती ही उनकी पत्नी हो?···शान्तनु कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे हैं···सत्यवती ही क्यों, शान्तनु किसी के विषय में भी निर्णय नहीं कर पा रहे ···सारा जीवन ऐसा ही था···इच्छाओं, आकांक्षाओं, कामनाओं के बवण्डर में फँसा जीवन···किसी-न-किसी लक्ष्य के लिए संघर्ष या प्रतीक्षा···उपलब्धि का क्षण कितना छोटा था···तैयारी, प्रतीक्षा, संघर्ष की अवधि कितनी लम्बी···और फिर ऐसा क्या था जीवन में, जिसने उन्हें केवल सुख दिया···पीड़ा और दुख नहीं दिया ···राज्य? पत्नी? सन्तान? धन? सम्पत्ति? सत्ता?···कुछ भी तो ऐसा नहीं था ···तो क्या शान्तनु पुनः यह जीवन चाहेंगे?···आज भी, इस क्षण भी शान्तनु 'न' नहीं कह पाते···

मन बहुत हठी है। विवेक उसे बहुत समझाता है; और मन है कि बहरा हो जाता है। सुनता कुछ नहीं, ठहरकर सोचता भी नहीं, बस माँगता ही जाता है। ···इस मन के सामने, सत्यवती का प्रश्न आता है, तो वह सत्यवती का केवल रूप देखता है, और किसी तथ्य से कुछ लेना-देना नहीं है उसे···

मन में एक ही बात आती है···वे अपनी पत्नी को छोड़े जा रहे हैं। दो पुत्र भी हैं···राज्य भी छोड़ रहे हैं। पर राज्य को तो कोई-न-कोई सँभाल ही लेगा। किन्तु वे कब चाहते हैं कि राज्य को कोई सँभाले···सँभालनेवाला, उनका अपना पुत्र ही होना चाहिए।

सहसा उनका चिन्तन एक नये पथ पर मुड़ गया : उनका राज्य, उनकी पत्नी, उनके पुत्र···यह सब उनका होता, तो वे इस प्रकार इन सबको छोड़ने को बाध्य होते? प्रकृति उन्हें यही तो समझा रही है कि यह सब उनका नहीं है, तभी तो छूटा जा रहा है···पर वे समझ पा रहे हैं क्या?···

"देवव्रत !" उनके होंठ धीरे से बुदबुदाये।

सत्यवती आगे बढ़ आयी। चित्रांगद भी माँ से सटकर खड़ा हो गया। मन्त्री और राजपुरोहित भी आगे आये।···पर वे इतना ही समझ पाये कि राजा कुछ कहना चाह रहे हैं, पर कह नहीं पा रहे···

'देवव्रत !' शान्तनु ने मन-ही-मन पुकारा, 'तुम इनका पालन-पोषण करना ···दोनों बालक अबोध हैं और सत्यवती नासमझ। उसके प्रभाव से अपने इन दोनों भाइयों को बचाये रखना···।'

उन्हें लगा कि उनकी बात देवव्रत तक पहुँच रही है। देवव्रत उनकी बात सुन रहा है···और सहसा जैसे देवव्रत ने पूछा, 'पिताजी। यदि माता सत्यवती ने 'मुझे भी आपके ही समान असहाय कर दिया तो ?···'

'तो···तो···।' शान्तनु को कोई उत्तर नहीं सूझा।

राजपुरोहित ने उनका कन्धा हिलाकर उन्हें जगाया, "महाराज। गांगेय देवव्रत भीष्म आये हैं।"

शान्तनु की आँखें खुल गयीं। भीष्म उन पर झुके हुए, पुकार रहे थे, "पिताजी।"

शान्तनु को लगा, भीष्म अपना प्रश्न दुहरा रहे हैं, 'पिताजी ! यदि माता सत्यवती ने मुझे भी आपके ही समान असहाय कर दिया तो ?'

शान्तनु ने बहुत प्रयत्नपूर्वक कहा, 'तब भी तुम अपना धर्म ही करना पुत्र !'

पर होंठ हिलकर ही रह गये। कुछ अटपटी-सी ध्वनियाँ निकलीं भी, पर कोई सार्थक शब्द उच्चरित नहीं हुआ।

भीष्म उन्हें पुकारते ही रह गये, "पिताजी ! पिताजी !"

शान्तनु ने कोई उत्तर नहीं दिया, और उनके नेत्र मुंद गये।

सत्यवती का हृदय जैसे काँप उठा : राजा, भीष्म को कुछ कहते-कहते यमलोक चले गये थे। इसी क्षण यदि भीष्म यह घोषणा कर दे कि चक्रवर्ती उसे ही राज्य देकर गये हैं तो ?···चित्रांगद और विचित्रवीर्य दोनों मिलकर भी भीष्म का कुछ नहीं बिगाड़ पायेंगे। यदि प्रयत्न करेंगे तो सम्भवतः एक ही झटके में भीष्म उनके रुण्ड से मुण्ड को पृथक् कर दे···सत्यवती की दृष्टि अनायास ही चारों ओर घूम गयी··· वहाँ एक व्यक्ति भी तो ऐसा नहीं था, जिसे वह भीष्म के विरुद्ध अपना सहायक मान सके···मन्त्री, राजपुरोहित, कुरु जनप्रमुख···अन्य रानियों पर जब विपत्ति आती होगी, तो उनके पिता या भाई अपनी सेनाएँ लेकर आ जाते होंगे, पर सत्यवती का कौन है ?···उसके बाबा, उनके निषाद···क्या करेंगे, वे अपनी नौकाओं और चप्पुओं से···मछलियाँ पकड़नेवाले जालों और अपनी टोकरियों से···कहाँ हैं उनके पास रथ, घोड़े, धनुष-बाण, आज्ञाकारी सैनिक···

बाबा ने ठीक कहा था, 'बलिष्ठ का विरोध !'…अब इस समय भीष्म का दिया हुआ वचन क्या करेगा । वचन तलवारों की धार तो नहीं काट सकता । यदि भीष्म ने राज्य हस्तगत कर लिया, तो किसके पास जायेगी सत्यवती गुहार करने ? किससे माँगेगी वह न्याय ?…

न्याय !…

और जैसे सत्यवती का अपना प्रश्न, पलटकर उसके अपने सामने खड़ा हो गया …आज भीष्म द्वारा राज्याधिकार हस्तगत करना अन्याय है, या भीष्म से उसका युवराजत्व छिन जाना ?…

पर सत्यवती आज तक ऐसे प्रश्नों की अवहेलना ही करती आयी है । उसे क्या लेना है इन प्रश्नों से । न्याय और अन्याय से !…वह तो केवल यह जानती है कि उसने राजा से एक व्यवहार किया था…वह व्यवहार न्याय था, अन्याय था…जो भी था । वह एक समझौता था । पर उस समझौते को लेकर वह किसके न्यायाधि-करण में जाये…यहाँ तो समझौता करनेवाले भी वही हैं, न्याय करनेवाले भी वही हैं, देनेवाले भी वहीं हैं और छीननेवाले भी वही हैं…

सत्यवती को चक्कर आ गया । उसे पता ही नहीं चला कि कब वह भूमि पर आ बैठी और शायद वैसे ही धरती पर लेट भी जाती, यदि भीष्म तत्काल आगे बढ़-कर उसे पकड़ न लेते ।

"माता ।" भीष्म ने बहुत स्नेह से पुकारा ।

सत्यवती ने कुछ नहीं कहा । उसकी आँखें खुलीं । उसने भीष्म को देखा और आँखें फिर से बन्द हो गयी । लगा, वह अचेत हो जायेगी ।

"माता !" भीष्म ने पुनः पुकारा, "माता ! आप धैर्य रखें । आपका कष्ट कम करने के लिए भीष्म से जो भी हो सकेगा…।"

सहसा चित्रांगद अप्रत्याशित वेग से झपटकर सत्यवती के पास आया । उसने सत्यवती को इस प्रकार पकड़ा, मानो माँ की रक्षा के लिए उसे भीष्म के हाथों से छीन रहा हो, "आप कष्ट न करें ।" उसका स्वर अशिष्ट होने की सीमा तक शुष्क था, "पिता नहीं रहे, पर मैं अभी हूँ । माँ की देख-भाल मैं कर लूँगा । उसके लिए आपकी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी ।"

क्षण-भर के लिए भीष्म के चेहरे पर तेज झलका, लगा कि अभी कोई बहुत कठोर वचन उच्चरित होगा—पर अगले ही क्षण जैसे वे सँभल गये । उनके चेहरे पर कटाक्ष का भाव आया और वह भी दब गया ।…अन्ततः असहायता का भाव ही शेष रह गया । बहुत धीरे-से बोले, "मैं भूल गया था कि तुम बड़े हो गये हो ।"

भीष्म न केवल उठ खड़े हुए, सत्यवती से कुछ दूर भी हट गये । इच्छा हुई कि तत्काल कक्ष से बाहर निकल जायें; पर फिर ध्यान आया : पिता का देहान्त अभी-अभी हुआ है । शोक का समय है । यह न विरोध और मान का अवसर है, न शिष्टा-

बन्धन !…

का। इस समय भीष्म का यहाँ से चला जाना भी अनेक प्रकार की उलझनों को जन्म देगा···

सत्यवती के जैसे प्राण लौटे।

उसने देखा कि किस असहायावस्था में उसके अपने पुत्र, उसके अपने चित्रांगद ने उसे न केवल उबार लिया, वरन् भीष्म को परे झटक दिया।···भीष्म समझता होगा, कि चित्रांगद छोटा बच्चा है···पर वह छोटा नहीं है···सत्यवती ही कहाँ समझती थी; पर वह चक्रवर्ती शान्तनु का पुत्र है। सिंह का शिशु भी सिंह की क्षमताओं से युक्त होता है।

कितना कम आँका था सत्यवती ने अपने पुत्र को। वह भयभीत थी कि जैसे भीष्म, चित्रांगद को निगल ही जायेगा और सत्यवती को उठाकर गंगा किनारे पटक आयेगा···पर कैसा सहम गया भीष्म, चित्रांगद के तेज के सामने! अब तक तो वह युवराज था, पर आज से, इस क्षण से वह हस्तिनापुर का सम्राट है। उससे भीष्म को ही नहीं, सबको डरना होगा। राजा की शक्ति तो उसकी दण्ड-शक्ति ही है। दण्ड के भय से ही साम्राज्य चला करते हैं···

सत्यवती को लगा, वह शान्तनु की मृत्यु से अनाथ नहीं हुई, वस्तुतः सनाथ हुई है। इतने वर्षों के दाम्पत्य जीवन के पश्चात् भी वह चक्रवर्ती की ओर से आश्वस्त नहीं थी।···जाने कब चक्रवर्ती का पुत्र-प्रेम जाग जाये और वे भीष्म का राज्याभिषेक कर दें। तब शान्तनु की पत्नी होते हुए भी, वह न महारानी रहती, न राजमाता। शान्तनु उसे कभी भी पूर्ण सुरक्षा का भाव नहीं दे पाये—पर आज, इस क्षण से चित्रांगद सम्राट हो गया है। हस्तिनापुर का शासन, धन, सम्पत्ति, सत्ता, सेना, सबकुछ उसी का है···और माता को न कोई त्याग सकता है, न अपदस्थ कर सकता है···अब सत्यवती वस्तुतः राजपरिवार पर अपना नियन्त्रण स्थापित करेगी ···चक्रवर्ती के साथ विवाह तो एक लक्ष्य की ओर प्रयाण था। वह यात्रा का आरम्भ था। सारा दाम्पत्य जीवन, जैसे यात्रा और यात्रा के अन्त की प्रतीक्षा था। लक्ष्य तक तो वह अब पहुँची है···उसका लक्ष्य तो राजमाता बनना था-··यह उपलब्धि का क्षण है, वंचना का नहीं···

सत्यवती जैसे अधिकार-मद से तन गयी, "महामन्त्री और आचार्य वसुभूति! महाराज की अन्त्येष्टि की व्यवस्था करें।"

भीष्म को कहने के लिए···सान्त्वना, संवेदना, आदेश···किसी भी प्रयोजन के लिए सत्यवती के पास कोई शब्द नहीं था—अब उसके लिए भीष्म का कोई अस्तित्व नहीं था। राजा के देहावसान के साथ सत्यवती की सत्ता नहीं, भीष्म का अस्तित्व, उसके अस्तित्व की वह भयावनी छाया···सबकुछ समाप्त हो गया था···

सत्यवती ने अनुभव किया, आज एक लम्बी अवधि के पश्चात् वह आशंका-शून्य हुई है, भयरहित, मुक्त···

"राजकुमार !"

भीष्म ने मस्तक उठाकर देखा : कुरु साम्राज्य के महामन्त्री विष्णुदत्त उनके सामने खड़े थे।

"महामन्त्री !" भीष्म ससम्मान उठे, "आप यहाँ !"

महामन्त्री के अधरों पर एक स्निग्ध मुस्कान प्रकट हुई, "जब कुरु-कुल के युवराज...!"

"किस युग की बात कर रहे हैं तात !" भीष्म प्रशान्त स्वर में बोले, "अब तो मैं क्या, हस्तिनापुर का बच्चा-बच्चा भूल चुका है कि मैं कभी युवराज भी था।"

महामन्त्री का स्वर कुछ मन्द हुआ, "न सही युवराज, राजकुमार सही। न सही राजकुमार, राज-बन्धु सही। विशेषणों और सम्बोधनों से क्या बनता-बिगड़ता है महाप्राण ! तथ्य तो वही रहेगा।...यदि आप गंगा-तट पर आश्रम बनाकर रह रहे हैं, तो शेष लोगों के लिए ठौर-ठिकाना और कहाँ होगा।"

भीष्म हँसे, "ऐसा क्या हो गया पूज्यवर ?"

महामन्त्री ने आँखें उठाकर आकाश की ओर देखा, "हे प्रभु ! कहाँ गये वे दिन, जब क्षत्रिय राजा, वृद्ध ब्राह्मण को पूज्य माना करते थे ?"

भीष्म को लगा, ये मन्त्री के मात्र सहज उद्गार ही नहीं थे। ये शब्द भीष्म की प्रशस्ति मात्र के लिए भी नहीं कहे गये थे। इनमें से तो वृद्ध महामन्त्री का आहत सम्मान बोल रहा था।

"क्या बात है काका ?" भीष्म का स्वर स्नेहमिश्रित हो उठा, "आप कुछ व्यथित दिखायी देते हैं।"

"हाँ वत्स !" वृद्ध आकर चटाई पर बैठ गये, "व्यथित तो हूँ ही।"

"कोई कष्ट है आपको ?"

"कष्ट-ही-कष्ट हैं राजकुमार। अब हस्तिनापुर में कष्ट-ही-कष्ट हैं।"

भीष्म उन्हें धैर्यपूर्वक देखते रहे : यदि हस्तिनापुर का महामन्त्री कष्ट में है, तो साधारण जन की क्या स्थिति होगी ?

"आपने जब यहाँ यह आश्रम स्थापित किया था, तो मैं बहुत चिन्तित हो उठा था।" महामन्त्री बोले, "पर आज सोचता हूँ कि आपने ही भविष्य का ठीक अनुमान लगाया था। हस्तिनापुर की राजसभा मे बैठकर अपमानित होने से तो बहुत अच्छा है कि व्यक्ति वन में चला जाये, नदी-तट पर कुटिया बना ले, या तपस्या करने के लिए हिमालय-क्षेत्र मे चला जाये।"

"महामन्त्री ! हस्तिनापुर की राजसभा में स्थान पाना सम्मान का प्रतीक समझा जाता है।"

"नहीं वत्स ! अब वह सम्मान का कारण नहीं रहा।" मन्त्री बोले, "किसी वयोवृद्ध मन्त्री, किसी तपस्वी ब्राह्मण, किसी विद्वान्, शुभचिन्तक, किसी वीर योद्धा को अपशब्द कह देना, किसी का राजसभा में खड़े-खड़े पानी उतार देना, नये सम्राट के लिए तनिक भी असहज नहीं है।"

"पूज्य-पूजन में निष्ठा नहीं है महाराज की ?"

"महाराज की निष्ठा केवल दूसरों का अपमान करने में है। ऐसा राजा हस्तिनापुर के सिंहासन पर कभी नहीं बैठा, जिसने प्रत्येक सभासद का अपमान करने का व्रत धारण किया हो।"

"आचार्य क्या कहते हैं ?"

"आचार्य।" मन्त्री हँसे, "राजकृपा पर पला एक ब्राह्मण। वह साधारण राजकर्मचारी है। उसका क्या प्रभाव है राजसत्ता पर !"

"राजपुरोहित ?"

"वे हस्तिनापुर छोड़ने की सोच रहे हैं।"

भीष्म हतप्रभ रह गये : कैसा समाचार लाये हैं महामन्त्री।···पिछले कुछ दिनों से कोई-न-कोई आता-जाता, उनके कानों में कोई-न-कोई नयी बात डाल जाता था। हस्तिनापुर में सबकुछ ठीक नहीं है, इतना तो वे समझ रहे थे, किन्तु भरत वंश का राजा, शील-शिष्टाचार को तिलांजलि दे देगा, यह उन्होंने नहीं सोचा था। किसी ने ठीक-ठीक बताया भी नहीं था···किसी ने आवश्यकता नहीं समझी या किसी ने साहस नहीं किया ?···

"राजमाता का भी कोई नियन्त्रण नहीं है चक्रवर्ती पर ?" अन्ततः भीष्म ने

"सम्राट का राज्य है, उनकी सभा है।" अन्ततः भीष्म बोले, "उनकी इच्छा है, जिस प्रकार चाहें राज्य को चलायें, जिस प्रकार चाहें अपने सहयोगियों से व्यवहार करें। उस विषय में मुझे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है।"

"इसीलिए तो मैंने पहले ही कहा कि आपने बहुत उपयुक्त निर्णय लिया था। भूल हमसे ही हुई। आखिर हम क्यों राजधानी और राजसभा से चिपके बैठे हैं। मुझे आपसे पहले वानप्रस्थी हो जाना चाहिए था।"

"तो राजा को मन्त्रणा कौन देगा ?"

"जिसका राज्य है, वही चलाये; जैसे मन में आये वैसे चलाये। मेरी ही मन्त्रणा क्यों आवश्यक है। युवराज देवव्रत भीष्म को स्वतन्त्रता है कि वे गृहस्थाश्रम के वय मे वानप्रस्थी हो जायें, और इस वृद्ध विष्णुदत्त को संन्यास के वय में भी वानप्रस्थी होने की अनुमति नही है ?"

"आपने स्वयं ही तो कहा है तात ! कि सम्राट बहुत विचारशील नही हैं; ऐसे में क्या उन्हें महामन्त्री विष्णुदत्त की बुद्धि, विवेक अनुभव और ज्ञान का लाभ उपलब्ध नहीं होना चाहिए ?"

"एक प्रश्न पूछता हूँ वत्स !" विष्णुदत्त ने यथासम्भव अपनी वाणी में वात्सल्य ढाला, "असत्य भाषण तुम्हारे चरित्र मे नही है, पर उत्तर देना अस्वीकार मत करना।"

"पूछिए !" भीष्म ने कह तो दिया; किन्तु प्रश्न-जाल में फँस, कुछ अवाछ्य कहने को बाध्य होने की घबराहट उनके मन में समा गयी।

"चक्रवर्ती शान्तनु की अन्तिम क्रिया के पश्चात् देवव्रत भीष्म ने कितनी बार हस्तिनापुर में प्रवेश किया है ?"

"एक बार भी नहीं।"

"क्यों ?"

"मैं अपने मन में से रजस तत्त्व दूर करने के लिए, राजकाज तथा राजपरिवार से असम्पर्क चाहता हूँ।"

"यदि चक्रवर्ती के देहावसान के पश्चात् राजमाता ने आपकी बाँह थामकर कहा होता, 'पुत्र ! तुम्हारे ये दोनों भाई बहुत छोटे हैं। उन्हे तुम्हारे संरक्षण की आवश्यकता है।' तो क्या तब भी आप राजपरिवार से असम्पर्क चाहते ?"

"मैंने स्वेच्छा से राज्य त्यागा है। आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रतिज्ञा की है। ऐसे मे क्या मुझे संसार से विरक्त होने का प्रयत्न नही करना चाहिए ?"

"आप मेरे प्रश्न को टालरहे हैं राजकुमार !" महामन्त्री आग्रहपूर्वक अपनी ब पर अड़ गये, "क्या यह सत्य नही है कि अपने छोटे भाई चित्रांगद के एक वा में अनादर का भाव देखकर आप सब कुछ झटककर यहाँ आ बैठे हैं ? हम तो

बन्धन।

"नहीं वत्स ! अब वह सम्मान का कारण नहीं रहा ।" मन्त्री बोले, "किसी वयोवृद्ध मन्त्री, किसी तपस्वी ब्राह्मण, किसी विद्वान्, शुभचिन्तक, किसी वीर योद्धा को अपशब्द कह देना, किसी का राजसभा में खड़े-खड़े पानी उतार देना, नये सम्राट के लिए तनिक भी असहज नहीं है ।"

"पूज्य-पूजन में निष्ठा नहीं है महाराज की ?"

"महाराज की निष्ठा केवल दूसरों का अपमान करने में है। ऐसा राजा हस्तिनापुर के सिंहासन पर कभी नहीं बैठा, जिसने प्रत्येक सभासद का अपमान करने का व्रत धारण किया हो ।"

"आचार्य क्या कहते हैं ?"

"आचार्य ।" मन्त्री हँसे, "राजकृपा पर पला एक ब्राह्मण। वह साधारण राजकर्मचारी है। उसका क्या प्रभाव है राजसत्ता पर !"

"राजपुरोहित ?"

"वे हस्तिनापुर छोड़ने की सोच रहे हैं ।"

भीष्म हतप्रभ रह गये : कैसा समाचार लाये हैं महामन्त्री।···पिछले कुछ दिनों से कोई-न-कोई आता-जाता, उनके कानों में कोई-न-कोई नयी बात डाल जाता था। हस्तिनापुर में सबकुछ ठीक नहीं है, इतना तो वे समझ रहे थे, किन्तु श[illegible] वंश का राजा, शील-शिष्टाचार को तिलांजलि दे देगा, यह उन्होंने नहीं सो[illegible] किसी ने ठीक-ठीक बताया भी नहीं था···किसी ने आवश्यकता नहीं [illegible] किसी ने साहस नहीं किया ?···

"राजमाता का भी कोई नियन्त्रण नहीं है चक्रवर्ती पर ?"

दर्शाते हुए भी मैं यह कहना चाहूँगा राजकुमार ! कि ये 'माता' हैं, राजनीतिज्ञ नहीं। वे मातृत्व-गौरव में सहज रूप से स्वीकार करती हैं कि हस्तिनापुर के सम्राट सदा ही दिग्विजय करते रहे हैं। वर्तमान सम्राट कोई नयी बात तो नहीं कर रहे।"

"यह तो सत्य ही है मन्त्रि प्रवर।" भीष्म बोले, "युद्ध और मृगया क्षत्रियों के व्यसन रहे ही हैं।"

"तो यह भी सत्य है राजकुमार ! कि व्यसन व्यक्ति का पतन भी करता है और हनन भी।"

"क्या आपको ऐसी कोई आशंका है?"

"आशंका।" महामन्त्री बोले, "कुछ दिनों में यह तथ्य प्रमाणित होने जा रहा है।"

"क्या?"

"आपको केवल दो सूचनाएँ देना चाहूँगा : पहली यह कि अनेक कुरु-प्रमुख आपके पास आने की तैयारी कर रहे हैं...।"

"मेरे पास। मेरे पास क्यों?"

"आपको सूचित करने के लिए कि सम्राट चित्रांगद को सहन करना कठिन हो रहा है। यदि आप चाहते हैं कि कुरु वंश को कुलद्रोह का सामना न करना पड़े, यदि आप हस्तिनापुर को भीतरी कलह से बचाना चाहते हैं तो कृपया राज्य का नियन्त्रण अपने हाथों में ले लें। कहीं ऐसा न हो कि भरत वंश यहीं समाप्त हो जाये और कोई अन्य कुरु-प्रमुख सिंहासन पर बैठकर हस्तिनापुर में नया राजवंश स्थापित करे...।"

भीष्म की आँखों में क्षण भर के लिए क्षात्र-तेज झलका और अगले ही क्षण उन्होंने पूर्ववत् शान्त मुद्रा धारण कर ली, "और दूसरी सूचना क्या है काका?"

"हस्तिनापुर की सेनाएँ गन्धर्वराज चित्रांगद की सेना से पिछले ढाई-तीन वर्षों से टकरा रही हैं। हमारी सेनाएँ इतनी सक्षम नहीं हैं कि गन्धर्व सेनाओं को पराजित कर अपनी सीमाओं से खदेड़ दें; और सम्राट् में इतनी राजनीतिक समझ नहीं है कि वे गन्धर्वराज से कोई सन्धि कर लें। क्रमश: गन्धर्व सेनाएँ कुरुक्षेत्र तक आ पहुँची हैं। हस्तिनापुर से कुरुक्षेत्र की दूरी से तो आप परिचित होंगे ही।...अब गन्धर्वराज और हस्तिनापुर के सम्राट् में कदाचित् द्वैरथ-युद्ध हो...परिणाम ईश्वर के हाथ में है।"

महामन्त्री मौन हो गये। भीष्म भी कुछ नहीं बोले। वे मौन अवश्य थे, किन्तु शान्त नहीं थे। उनके हृदय का मन्थन उनके चेहरे पर से स्पष्ट पढ़ा जा सकता था...

"मैं राजकुमार से तत्काल कोई उत्तर नहीं चाहता, न ही सारी समस्याओं समाधान प्राप्त करने के लक्ष्य से मैं यहाँ आया था। मैं जानता हूँ, यह राजसभा

प्रतिदिन अपमान का गरल पीते हैं···और तब भी आप चाहते हैं कि हस्तिनापुर के राज्य को सुचारु रूप से चलाये रखने के लिए हम सम्राट चित्रांगद की राजसभा में बने रहें···।"

भीष्म ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्या कुरुओं के राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आपका कोई कर्तव्य नहीं है?" महामन्त्री ने पुनः पूछा।

"विष्णु काका!" भीष्म के चेहरे पर मुस्कान थी, पर वाणी में व्यथा स्पष्ट थी, "मैंने चक्रवर्ती शान्तनु को संसार से विदा होते देखा है। मनुष्य जब चलता है तो सब कुछ यहीं पड़ा रह जाता है। इतना जान-बूझकर तो मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि राज्य किसी का नहीं है···।"

"आप ठीक कह रहे हैं, किन्तु जीवन-पर्यन्त तो उसका पालन क्षत्रिय राजा करते आये हैं। क्या अपने पूर्वजों के इस राज्य के प्रति आपका कोई धर्म नहीं है?"

'धर्म'···भीष्म का मन, इस शब्द पर अटक गया···पिता ने देह छोड़ने से पहले, कुछ कहना चाहा था। कुछ कह नहीं पाये थे। जो अस्पष्ट शब्द हल्के से कुछ बुदबुदा पाये थे, उनमें से एक शब्द धर्म भी था।···तब से ही भीष्म अनवरत इस चिन्तन में लगे हैं कि उनका धर्म क्या है?···क्या है उनका धर्म? माता सत्यवती और उनके पुत्रों का पालन-पोषण? कुरु वंश के राज्य की रक्षा, समृद्धि, विस्तार, हस्तिनापुर की प्रजा का पालन?···क्या है उनका धर्म?···पर यह सब तो संसार की ओर प्रवृत्ति है···उन्होंने तो स्वयं को इनसे मुक्त करने के लिए प्रतिज्ञाएँ की थीं···

"मैं अपने धर्म को ही खोज रहा हूँ काका!" उनका स्वर सचमुच शान्त था।

"तो वत्स! तुम्हें कुछ सूचनाएँ और दे दूँ। सम्भव है धर्मशोध में उससे कुछ सहायता मिले।" महामन्त्री बोले, "साम्राज्य की सीमाओं से लगे राज्यों में से एक भी राज्य ऐसा नहीं है, जो हस्तिनापुर को अपना मित्र समझता हो।"

"कारण?"

"सम्राट् चित्रांगद का स्वभाव! वे प्रायः मृगया पर जाते हैं। पड़ोसी राज्यों की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। उधर से प्रतिवाद होता है, तो उनकी अवमानना करते हैं और उन्हें रण-निमन्त्रण भेजते हैं। क्षत्रिय राजाओं के अतिरिक्त, नाग, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस, किसी को भी तो छोड़ा नहीं उन्होंने।···मुझे यह जानकर तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा कि वे सारे राज्य हस्तिनापुर के विरुद्ध संगठित हो रहे हों···।"

"क्या राजमाता यह जानती हैं?"

"आप बार-बार राजमाता के विषय में पूछते हैं," महामन्त्री पूरी शालीनता से बोले, "मैं उनका अनादर नहीं करना चाहता। राजमाता के प्रति पूरा सम्मान

दर्शाते हुए भी मैं यह कहना चाहूँगा राजकुमार ! कि वे 'माता' हैं, राजनीतिज्ञ नहीं। वे मातृत्व-गौरव में सहज रूप से स्वीकार करती हैं कि हस्तिनापुर के सम्राट सदा ही दिग्विजय करते रहे हैं। वर्तमान सम्राट कोई नयी बात तो नहीं कर रहे।"

"यह तो सत्य ही है मन्त्रि प्रवर।" भीष्म बोले, "युद्ध और मृगया क्षत्रियों के व्यसन रहे ही हैं।"

"तो यह भी सत्य है राजकुमार ! कि व्यसन व्यक्ति का पतन भी करता है और हनन भी।"

"क्या आपको ऐसी कोई आशंका है ?"

"आशंका।" महामन्त्री बोले, "कुछ दिनों में यह तथ्य प्रमाणित होने जा रहा है।"

"क्या ?"

"आपको केवल दो सूचनाएं देना चाहूँगा : पहली यह कि अनेक कुरु-प्रमुख आपके पास आने की तैयारी कर रहे हैं...।"

"मेरे पास। मेरे पास क्यों ?"

"आपको सूचित करने के लिए कि सम्राट चित्रांगद को सहन करना कठिन हो रहा है। यदि आप चाहते हैं कि कुरु वंश को कुलद्रोह का सामना न करना पड़े, यदि आप हस्तिनापुर को भीतरी कलह से बचाना चाहते हैं तो कृपया राज्य का नियन्त्रण अपने हाथों में ले लें। कहीं ऐसा न हो कि भरत वंश यहीं समाप्त हो जाये और कोई अन्य कुरु-प्रमुख सिंहासन पर बैठकर हस्तिनापुर में नया राजवंश स्थापित करे...।"

भीष्म की आँखों में क्षण भर के लिए क्षात्र-तेज झलका और अगले ही क्षण उन्होंने पूर्ववत् शान्त मुद्रा धारण कर ली, "और दूसरी सूचना क्या है काका ?"

"हस्तिनापुर की सेनाएँ गन्धर्वराज चित्रांगद की सेना से पिछले ढाई-तीन वर्षों से टकरा रही हैं। हमारी सेनाएँ इतनी सक्षम नहीं हैं कि गन्धर्व सेनाओं को पराजित कर अपनी सीमाओं से खदेड़ दें; और सम्राट् में इतनी राजनीतिक समझ नहीं है कि वे गन्धर्वराज से कोई सन्धि कर लें। क्रमशः गन्धर्व सेनाएँ कुरुक्षेत्र तक आ पहुँची हैं। हस्तिनापुर से कुरुक्षेत्र की दूरी से तो आप परिचित होंगे ही।...अब गन्धर्वराज और हस्तिनापुर के सम्राट् में कदाचित् द्वैरथ-युद्ध हो...परिणाम ईश्वर के हाथ में है।"

महामन्त्री मौन हो गये। भीष्म भी कुछ नहीं बोले। वे मौन अवश्य थे, कि शान्त नहीं थे। उनके हृदय का मन्थन उनके चेहरे पर से स्पष्ट पढ़ा जा सकता था

"मैं राजकुमार से तत्काल कोई उत्तर नहीं चाहता, न ही सारी समस्याओं समाधान प्राप्त करने के लक्ष्य से मैं यहाँ आया था। मैं जानता हूँ, यह राजस

बन्धन

मन्त्रणा-गृह नहीं है—यह तपोभूमि है।" महामन्त्री ने कहा, "तपस्या का एक अंग मनन भी है। मैं चाहता हूँ कि राजकुमार इन समस्याओं के सन्दर्भ में भी मनन करें, ताकि कल आप मुझे यह न कह सकें कि हस्तिनापुर के किसी हितैषी ने आपको सूचना तक नहीं दी···।"

महामन्त्री उठ खड़े हुए। हाथ जोड़कर उन्होंने भीष्म को प्रणाम किया। हाथ तो भीष्म के भी उठे, किन्तु उनका मन कहीं और था···

मन्त्री को भीष्म ने कोई उत्तर नहीं दिया था। मन्त्री ने उत्तर माँगा भी नहीं था। किन्तु अपने मन को भीष्म टाल नहीं सकते थे···

आज तक वे अपने धर्म का पालन करते आये थे। प्राण छोड़ते समय कदाचित् पिता ने भी उन्हें धर्म का पालन करने का ही आदेश दिया था···आज फिर मन्त्री, हस्तिनापुर का राज्य···और···और···उनका अपना विवेक बार-बार उन्हें-धर्म-पालन के लिए कोंच रहा है···पर क्या है उनका धर्म ?···

हस्तिनापुर के पड़ोसी राजा संगठित हो रहे हैं। राजसभा के कुरु प्रमुख सम्राट् से मुक्त होने के लिए चंचल हो रहे हैं···और गन्धर्वराज चित्रांगद, हस्तिनापुर सम्राट् चित्रांगद से द्वैरथ युद्ध करने की तैयारी में हैं···गन्धर्वराज मात्र शस्त्रास्त्रों का ही नहीं दिव्यास्त्रों और कुछ देवास्त्रों का भी ज्ञाता है। वह रणकुशल दक्ष योद्धा है। उसने अनेक शत्रुओं को सम्मुख युद्ध में पराजित कर उनका वध किया है। वह युद्धकला का पगा हुआ, सिद्धहस्त योद्धा···और दूसरी ओर हस्तिनापुर का सम्राट्, जिसने या तो वन्य-पशुओं को अपने बाणों से बींधा है या कशा से अपने घोड़ों को प्रताड़ित किया है···युद्ध का कोई अनुभव भी है सम्राट् को ?—ऐसे में द्वैरथ-युद्ध घातक हो सकता है···

महामन्त्री कह गये हैं कि हस्तिनापुर की सेनाएं गन्धर्वों के साथ लड़ने में सक्षम नहीं हैं। तो और कौन-सा वीर है, जो सम्राट् को इस आत्मवध से बचाये ?···कोई नहीं है ? यदि कोई हो भी तो जिस सम्राट् से किसी को प्रेम न मिला हो, उसके लिए कौन अपने प्राण देगा !···

तो क्या यह भीष्म का धर्म नहीं है कि वे अपने उस अबोध छोटे भाई की रक्षा करें, शत्रु गन्धर्वराज का वध करें और कुरु राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखें ?···

कदाचित् क्षत्रिय राजकुमार के रूप में तो उनका यही धर्म है···किन्तु भीष्म ने राज्य-त्याग किया है, तो क्या फिर से राजनीति में लिप्त होना···युद्ध करना··· क्या यह राज-कार्य में हस्तक्षेप नहीं है ?···और वह अनादर,···वह उपेक्षा···और वह अपमान ?···

भीष्म कुरु-राज्य की रक्षा करने जायें; छोटे भाई के अभिभावक बनकर उसका

हित-साधन करने जायें···और कल उन पर यह आरोप लगे कि वे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ रहे हैं···

महामन्त्री ने कहा है कि कुछ कुरु-प्रमुख भी आ रहे हैं, उनसे निवेदन करने। पिता ने भी तो एक बार कहा था कि वे राज्य को हस्तगत कर लें···वे किसी भी कारण से इधर पग बढ़ायेंगे···तो माना यही जायेगा कि भीष्म अपनी प्रतिज्ञा तोड़ रहे हैं···और यह कलंक भीष्म सहन नहीं करेंगे···

कहीं वे गन्धर्वराज से भयभीत तो नहीं हैं ?

···वे स्तम्भित रह गये···उनका अपना कायर···कलुषित रूप उनकी आँखों के सम्मुख खड़ा था !

और तभी मन के किसी कोने में एक अट्टहास गूँजा—यह अट्टहास माता गंगा का ही था। वह कह रही थीं, 'गांगेय ! यह मृगतृष्णा है। इसके कोटि-कोटि रूप हैं। इसे हर रूप में पहचान।···'

भीष्म को लगा, उनका अन्तर्मन शान्त हो रहा है।

[18]

सन्देशवाहक बहुत शीघ्रता में आया हुआ लगता था। राजकीय शिष्टाचार का पू निर्वाह करने की ओर उसका ध्यान नहीं था। वह बुरी तरह हाँफ रहा था। कदाचित् बिना रुके, बिना विश्राम किये, वह दौड़ता ही चला आया था···

सत्यवती ने उसकी ओर सतेज दृष्टि से देखा; किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी दृष्टि में से तेज जैसे तिरोहित हो गया। जिज्ञासा की लहर उठी और उसके पीछे-ही-पीछे जैसे आशंका का ज्वार उठ खड़ा हुआ। सत्यवती, अब रानी नहीं थी, राजमाता नहीं थी, राजपरिवार की सदस्या भी नहीं थी···वह अब केवल माता थी। उसका पुत्र कुरुक्षेत्र में गन्धर्वराज के साथ द्वैरथ-युद्ध के लिए गया था···

सन्देशवाहक को भी जैसे शब्द नहीं मिल रहे थे। उसके होंठ बोलने के लिए खुलते थे और फिर बिना बोले ही बन्द हो जाते थे। या शायद वे बोलते थे और उनकी ध्वनि सत्यवती तक नहीं पहुँचती थी।

"बोलो सन्देशवाहक !" सत्यवती अपने स्वर की आतुरता को स्वयं पहच रही थी, "बोलो ! मैं तुम्हें आज्ञा दे रही हूँ।"

सन्देशवाहक के होंठ, एक बार फिर काँपे और उसने सिर झुका लिया।

"राजाज्ञा की अवहेलना···!" सत्यवती स्वयं नहीं समझ पायी कि वह आप से पूछ रही थी, सन्देशवाहक से कुछ कह रही थी, या उस पर आरो रही थी।

"नहीं ! राजमाता !" सन्देशवाहक जैसे आतंकित होकर बोला, " बन्

ही ऐसा है कि कण्ठ से ध्वनि नहीं फूटती।"

सत्यवती के मन में आया कि जो शब्द,सन्देशवाहक के मुख से ध्वनित नहीं हो रहे, उन शब्दों को सत्यवती ध्वनि प्रदान करे—"क्या सम्राट्···?"

अगले ही क्षण उसने स्वयं को सँभाला। वह एक माँ के आशंकित मन की भयावहता को इस प्रकार अशुभ शब्द क्यों प्रदान करना चाहती है। सन्देशवाहक कोई और सन्देश भी लाया हो सकता है। हो सकता है कि चित्रांगद पराजित हुआ हो, बन्दी हुआ हो, आहत हुआ हो···

'बाबा कहते थे, सत्यवती किसी क्षत्रिय राजा की पुत्री है।' उसके मन ने कहा, 'यदि ऐसा है तो वह एक क्षत्रिय माता के समान पुत्र की वीरगति को क्यों स्वीकार करना नहीं चाहती···क्यों उसकी अपमानजनक पराजय की कल्पना कर रही है?···केवल इस आशा में कि उसका पुत्र जीवित तो रहेगा···।'

"बोलो सन्देशवाहक!" इस बार सत्यवती के स्वर में न आदेश था, न राजमाता का तेज! वह जैसे अत्यन्त साधारण नारी के रूप में, समान धरातल पर सन्देशवाहक से वार्तालाप कर रही थी।

"राजमाता!" सत्यवती के कोमल स्वर ने शायद सन्देशवाहक को कुछ बल प्रदान किया था, "अत्यन्त शोक का समय है। हस्तिनापुर के दुर्भाग्य से कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्राट् ने वीरगति पायी है···।"

सत्यवती खड़ी नहीं रह सकी। दासियों ने सँभाल न लिया होता तो शायद वह लड़खड़ाकर गिर ही पड़ी होती।

···तो वही हुआ, जिसकी आशंका थी।···सत्यवती ने लाखों बार अपने मन को समझाया था कि विधाता के साथ उसकी कोई शत्रुता नहीं है कि जिसने उसका पति छीना, वह उसका पुत्र भी छीन लेगा···पर वही हुआ था। सत्यवती की विधाता के साथ कोई शत्रुता नहीं थी; पर विधाता को उसके साथ कोई-न-कोई शत्रुता अवश्य थी···जिससे प्रेम किया···विधाता ने ऐसी दुर्बुद्धि दी कि उसे सत्यवती ने स्वयं ही त्याग दिया। पुत्र दिया तो कानीन पुत्र···बाबा को सत्यवती का कानीन पुत्र स्वीकार नहीं था···वह वहाँ पल रहा है पराशर के आश्रम में! कहते हैं कि बड़ा तेजस्वी ऋषि बन रहा है। लोग उस तरुण को अभी से महाऋषि के समान पूजने लगे हैं···पर सत्यवती उसे अपना नहीं कह सकती···वह सारे समाज का है, सारे आर्यावर्त का है, पर सत्यवती का नहीं है।···और जो पति मिला, चाहे वृद्ध ही सही, उसे भी विधाता ने छीन लिया···और अब चित्रांगद···

सत्यवती के मुख से रुदन का चीत्कार फूट चला।

यह संकेत था या आदेश···सारे राजप्रासाद में करुण चीत्कार उमड़ चले।···

रुदन और आवेश का पहला ज्वार कुछ शान्त हुआ तो जैसे सत्यवती की चेतना जागी : अब क्या रह गया है उसके पास ? विचित्रवीर्य ही तो ! बारह वर्षों का एक कोमल-सा, निरीह राजकुमार ! चित्रांगद जितना उग्र था, विचित्रवीर्य उतना ही उग्रताशून्य ! चित्रांगद सदा खड्ग माँजता रहता था, तो विचित्रवीर्य को कदाचित् कभी याद ही नहीं रहता था कि उसकी कटि में एक खड्ग भी बँधा है···उसका समय तो योद्धाओं में नहीं, दासियों में ही कट जाता था···

सत्यवती का हृदय जैसे अकस्मात् ही डूबने लगा·· यही एक बालक रह गया था।···राजा शान्तनु का देहान्त हुआ था तो चित्रांगद इतना समर्थ तो था कि वह भीष्म से कह सका कि वह अपनी माता को सँभाल सकता है। उसके प्रखर क्षात्र-तेज के सामने जैसे भीष्म हतप्रभ होकर, शून्य में विलीन हो गया था। सत्यवती ने सुना था कि वह गंगा के पार कहीं कुटिया बनाकर तपस्या कर रहा था···पर अब ! अब सत्यवती की रक्षा के लिए शेष था, यह विचित्रवीर्य, जो आँख उठाकर भीष्म की ओर देख भी नहीं पायेगा·

सत्यवती ने यह भी सुना था कि हस्तिनापुर की राजसभा से लगातार भीष्म को सन्देश भेजे जा रहे थे कि वह आकर राज्य सँभाले।···यदि भीष्म ने प्रजा के हित का बहाना कर, हस्तिनापुर का राज्य हस्तगत कर लिया, तो फिर उसे विवाह करने से भी कौन रोकेगा ? और यदि उसने विवाह किया, तो उसकी पत्नी··· वास्तविक राजकुमारी ·किसी शक्तिशाली राजकुल की कन्या···सत्यवती को, एक केवट की पुत्री को · इस राजप्रासाद मे टिकने देगी क्या ? वह अपने पुत्र के युवराजत्व के मार्ग मे आनेवाले इस कोमल विचित्रवीर्य को जीवित रहने देगी क्या ? क्यों नहीं अपने मार्ग के कण्टक को वह सदा के लिए समाप्त कर देगी ? आखिर भीष्म—हस्तिनापुर के वास्तविक युवराज—को भी तो सत्यवती ने अपने व्यवहार से अपना राज्य त्याग कर गगा-पार कही कुटिया बनाकर रहने के लि बाध्य किया ही था···

यदि भीष्म अपनी इच्छा से लौट आया या हस्तिनापुर की राजसभा उसे लौ लायी तो इस बार न विचित्रवीर्य बच पायेगा, न सत्यवती···

क्यों न सत्यवती विचित्रवीर्य को लेकर यहाँ से भाग जाये···यमुना के तट या यमुना के पार ! अपने बाबा के पास···उसके पास हस्तिनापुर का राज्य रहेगा। वह राजमाता नही रहेगी, उसका पुत्र युवराज नही रहेगा—पर वे जीवित तो रहेंगे, सुरक्षित तो रहेंगे···

सत्यवती की बुद्धि लगातार जैसे हस्तिनापुर छोड़कर, किसी को कोई दिये बिना, चुपचाप भाग जाने की योजना बना रही थी·· और उसका हृ टूटकर कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटता जा रहा था।

···क्या इसीलिए उसने विवाह किया था, वृद्ध शान्तनु से कि यह

द

ही ऐसा है कि कण्ठ से ध्वनि नहीं फूटती।"

सत्यवती के मन में आया कि जो शब्द सन्देशवाहक के मुख से ध्वनित नहीं हो रहे, उन शब्दों को सत्यवती ध्वनि प्रदान करे—"क्या सम्राट्...?"

अगले ही क्षण उसने स्वयं को सँभाला। वह एक माँ के आशंकित मन की भयावहता को इस प्रकार अशुभ शब्द क्यों प्रदान करना चाहती है। सन्देशवाहक कोई और सन्देश भी लाया हो सकता है। हो सकता है कि चित्रांगद पराजित हुआ हो, बन्दी हुआ हो, आहत हुआ हो...

'बाबा कहते थे, सत्यवती किसी क्षत्रिय राजा की पुत्री है।' उसके मन ने कहा, 'यदि ऐसा है तो वह एक क्षत्रिय माता के समान पुत्र की वीरगति को क्यों स्वीकार करना नहीं चाहती...क्यों उसकी अपमानजनक पराजय की कल्पना कर रही है?...केवल इस आशा में कि उसका पुत्र जीवित तो रहेगा...।'

"बोलो सन्देशवाहक!" इस बार सत्यवती के स्वर में न आदेश था, न राजमाता का तेज! वह जैसे अत्यन्त साधारण नारी के रूप में, समान धरातल पर सन्देशवाहक से वार्तालाप कर रही थी।

"राजमाता!" सत्यवती के कोमल स्वर ने शायद सन्देशवाहक को कुछ बल प्रदान किया था, "अत्यन्त शोक का समय है। हस्तिनापुर के दुर्भाग्य से कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्राट् ने वीरगति पायी है...।"

सत्यवती खड़ी नहीं रह सकी। दासियों ने सँभाल न लिया होता तो शायद वह लड़खड़ाकर गिर ही पड़ी होती।

...तो वही हुआ, जिसकी आशंका थी।...सत्यवती ने लाखों बार अपने मन को समझाया था कि विधाता के साथ उसकी कोई शत्रुता नहीं है कि जिसने उसका पति छीना, वह उसका पुत्र भी छीन लेगा...पर वही हुआ था। सत्यवती की विधाता के साथ कोई शत्रुता नहीं थी; पर विधाता को उसके साथ कोई-न-कोई शत्रुता अवश्य थी...जिससे प्रेम किया...विधाता ने ऐसी दुर्बुद्धि दी कि उसे सत्यवती ने स्वयं ही त्याग दिया। पुत्र दिया तो कानीन पुत्र...बाबा को सत्यवती का कानीन पुत्र स्वीकार नहीं था...वह वहाँ पल रहा है पराशर के आश्रम में! कहते हैं कि बड़ा तेजस्वी ऋषि बन रहा है। लोग उस तरुण को अभी से महाऋषि के समान पूजने लगे हैं...पर सत्यवती उसे अपना नहीं कह सकती...वह सारे समाज का है, सारे आर्यावर्त का है, पर सत्यवती का नहीं है।...और जो पति मिला, चाहे वृद्ध ही सही, उसे भी विधाता ने छीन लिया...और अब चित्रांगद...

सत्यवती के मुख से रुदन का चीत्कार फूट चला।

यह संकेत था या आदेश...सारे राजप्रासाद में करुण चीत्कार उमड़ चले।...

…की चेतना
ीर आवेश का पहला ज्वार कुछ शान्त हुआ तो जैसे सत्य… बारह वर्षों का एक
: अब क्या रह गया है उसके पास ? विचित्रवीर्य ही तो ! बारह वर्षों का एक
ल-सा, निरीह राजकुमार ! चित्रांगद जितना उग्र था, विचित्रवीर्य उतना ही
ाशून्य ! चित्रांगद सदा खड्ग भांजता रहता था, तो विचित्रवीर्य को कदाचित्
ी याद ही नही रहता था कि उसकी कटि में एक खड्ग भी बँधा है…उसका
मय तो योद्धाओं में नहीं, दासियों में ही कट जाता था…

सत्यवती का हृदय जैसे अकस्मात् ही डूबने लगा… यही एक बालक रह गया
था।…राजा शान्तनु का देहांन्त हुआ था तो चित्रांगद इतना समर्थ तो था कि वह
भीष्म से कह सका कि वह अपनी माता को सँभाल सकता है। उसके प्रखर क्षात्र-
तेज के सामने जैसे भीष्म हतप्रभ होकर, शून्य में विलीन हो गया था। सत्यवती ने
सुना था कि वह गंगा के पार कहीं कुटिया बनाकर तपस्या कर रहा था…पर अब !
अब सत्यवती की रक्षा के लिए शेष था, यह विचित्रवीर्य, जो आँख उठाकर भीष्म
की ओर देख भी नही पायेगा…

सत्यवती ने यह भी सुना था कि हस्तिनापुर की राजसभा से लगातार भीष्म
को सन्देश भेजे जा रहे थे कि वह आकर राज्य सँभाले।…यदि भीष्म ने प्रजा के
हित का बहाना कर, हस्तिनापुर का राज्य हस्तगत कर लिया, तो फिर उसे विवाह
करने से भी कौन रोकेगा ? और यदि उसने विवाह किया, तो उसकी पत्नी…
वास्तविक राजकुमारी…किसी शक्तिशाली राजकुल की कन्या…सत्यवती को,
एक केवट की पुत्री को…इस राजप्रासाद में टिकने देगी क्या ? वह अपने पुत्र के
युवराजत्व के मार्ग में आनेवाले इस कोमल विचित्रवीर्य को जीवित रहने देगी
क्या ? क्यों नहीं अपने मार्ग के कण्टक को वह सदा के लिए समाप्त कर देगी ?
आखिर भीष्म—हस्तिनापुर के वास्तविक युवराज—को भी तो सत्यवती ने अपने
व्यवहार से अपना राज्य त्याग कर गंगा-पार कहीं कुटिया बनाकर रहने के लिए
बाध्य किया ही था…

यदि भीष्म अपनी इच्छा से लौट आया या हस्तिनापुर की राजसभा उसे लौटा
लायी तो इस बार न विचित्रवीर्य बच पायेगा, न सत्यवती…

क्यों न सत्यवती विचित्रवीर्य को लेकर यहाँ से भाग जाये…यमुना के तट पर,
या यमुना के पार ! अपने बाबा के पास…उसके पास हस्तिनापुर का राज्य नही
रहेगा। वह राजमाता नहीं रहेगी, उसका पुत्र युवराज नही रहेगा—पर वे दोन
जीवित तो रहेंगे, सुरक्षित तो रहेंगे…

सत्यवती की बुद्धि लगातार जैसे हस्तिनापुर छोड़कर, किसी को कोई सूच
दिये बिना, चुपचाप भाग जाने की योजना बना रही थी… और उसका हृदय
टूटकर कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटता जा रहा था।

…क्या इसीलिए उसने विवाह किया था, वृद्ध शान्तनु से कि वह अपन

अपने पुत्र के प्राणों की रक्षा के लिए, राज्य, धन-सम्पत्ति···सबकुछ छोड़कर भाग जाये···तो फिर ऋषि पराशर ही क्या बुरा था···सन्तान की ही ममता थी, तो वह नन्हा कृष्ण द्वैपायन ही क्यों अग्राह्य था।—यदि तब सत्यवती बाबा के लोभ और अपनी महत्वाकांक्षाओं के तर्क-जाल में न फँसी होती, तो अपने कमलवन में, अपने तपस्वी पति और आश्रम में पलनेवाले अपने बच्चों के बीच वह सुखी न होती? पति का प्रेम तो उसे उसका तापस भी दे सकता था और वात्सल्य-सुख के लिए कृष्ण और कृष्ण जैसी अनेक सन्तानें···उसने अपना वह सारा सुख त्यागा था, राज्य-वैभव के लिए···और आज वह सोच रही है कि राज्य को त्यागकर चुपचाप निकल जाये···

परिचारिका ने आकर हाथ जोड़े।

"राजमाता! महामन्त्री और आचार्य वसुभूति राजमाता के दर्शनों के लिए पधारे हैं।"

"आने दो।" सत्यवती के मुख से मात्र अभ्यासवश निकल गया···और अगले ही क्षण उसका मन हुआ कि वह चीखकर कहे कि मुझे किसी से नहीं मिलना है। मैं किसी महामन्त्री, आचार्य या सेनापति से नहीं मिलना चाहती···

पर तब तक महामन्त्री और आचार्य कक्ष में प्रवेश कर चुके थे।

महामन्त्री ने प्रणाम किया। आचार्य आशीर्वाद देकर बोले, "राजमाता! अत्यन्त शोक का समय है; किन्तु दैव ने हमें शोक मनाने का भी अवकाश नहीं दिया है। अत्यन्त संकट का काल आन उपस्थित हुआ है।···हस्तिनापुर की जो सेना, सम्राट के रहते हुए कुरुक्षेत्र में गन्धर्वराज को नहीं रोक पायी, वह पराजित सेना, सम्राट की अनुपस्थिति में, गन्धर्वराज को हस्तिनापुर में भी नहीं रोक पायेगी। गन्धर्वराज यदि हस्तिनापुर पर चढ़ आया तो हमारे पास ऐसा कोई उपाय ही नहीं है कि हम उसका सामना कर सकें। ऐसी स्थिति में हमें नगर-द्वार खोलकर उसका स्वागत करना होगा; और प्रजा को उसकी दया पर छोड़ देना होगा।···"

"नहीं।" सत्यवती के मुख से अनायास ही जैसे चीत्कार फूटा।···उसने तो और कुछ सोचा ही नहीं था। वह तो बस एक भीष्म के ही विषय में सोच रही थी। उसे तो अपना एकमात्र शत्रु भीष्म ही दिखायी दे रहा था।···उसने यह क्यों नहीं सोचा, कि प्रत्येक राजा, राज्य-लोलुप होता है, वह अपने राज्य के विस्तार का इच्छुक होता है। गन्धर्वराज यदि सम्राट चित्रांगद से युद्ध कर रहा था, तो मात्र क्रीड़ा नहीं कर रहा था—उसके पीछे कोई लक्ष्य भी था। अपने पार्वत्य प्रदेश को पीछे छोड़कर वह मैदानी क्षेत्र में नीचे उतर आया था और तीन वर्षों से अनवरत उसकी सेनाएँ हस्तिनापुर की राजकीय सेनाओं से टकरा रही थीं, तो किसी लोभ से ही तो।···धिक्कार है सत्यवती की बुद्धि को कि शस्त्र-परिचालन करते, युद्ध की विभीषिका फैलाते, हत्याएँ करते हुए गन्धर्वराज जैसे उस प्रत्यक्ष शत्रु को उसने

हीं देखा; और गंगा-तट पर तपस्या करते हुए उस निहित शत्रु भीष्म के चारों
ओर वह मकड़े के समान अपना विचारों का जाला बुनती रही···

"राजमाता।" इस बार महामन्त्री ने कहा, "राज्य की रक्षा हमारा पहला कर्तव्य है। इसलिए इस शोक के अवसर पर भी हम प्रमाद नहीं कर सकते।···हमें हस्तिनापुर की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। अन्यथा न केवल गन्धर्व-राज की, हस्तिनापुर पर चढ़ आने की दुःसम्भावना है, वरन् मुझे तो अपनी सीमाओं पर पांचालों और मत्स्यों के भी शस्त्र चमकते दिखायी पड़ते हैं।···राजमाता! जिस स्थान से भूमि नीचे धँस जाती है, वहाँ चारों ओर से पानी बहकर आ जाता है। वही स्थिति राज्य की है। राज्य सैनिक दृष्टि से दुर्बल हो जाये, तो चारों ओर के राजाओं की सेनाएँ जल के समान बहकर वहाँ एकत्रित होने लगती हैं···।

सत्यवती के अश्रु जैसे सूख गये। उसने अपनी आँखें पूरी तरह से खोलकर महामन्त्री पर टिकायीं, "पानी को रोकने के लिए महामन्त्री का प्रस्ताव क्या है?"

"या तो भूमि को मिट्टी पाटकर ऊँचा करना होगा, या उसके चारों ओर एक ऊँची प्राचीर बनानी होगी।"

"दोनों में से उत्तम क्या है?"

"उत्तम तो भूमि का ऊँचा उठना ही है; किन्तु उसके लिए समय भी चाहिए और साधन भी।" महामन्त्री बोले, "जब तक हम साधन जुटायेंगे, तब तक तो यहाँ जल-प्लावन हो जायेगा। इसलिए हम तो तत्काल प्राचीर बनाने की बात ही सोच सकते हैं।"

"प्राचीर बनाने के साधन हैं राज्य के पास?"

"प्राचीर तो बनी-बनायी तैयार खड़ी है, राजमाता!" महामन्त्री बोले, "केवल उसको चलकर हस्तिनापुर तक आने के लिए तैयार करना है।"

"कौन भीष्म?" सत्यवती के मन में उसके अपने ही शब्दों ने एक धमाका कर दिया।

"राजमाता ने ठीक पहचाना!" महामन्त्री की मुद्रा शान्त थी, किन्तु वे प्रसन्न लग रहे थे, "राजकुमार का इस वय में वीतराग होना, न कुरु वंश के लिए शुभ है और न हस्तिनापुर राज्य के लिए! इस समय कुरु वंश और हस्तिनापुर राज्य दोनों ही, इतने असुरक्षित और असहाय हो रहे हैं कि उनके भविष्य को लेकर हम स
न्ता-पीड़ित हो उठे हैं।···और यह सब राजकुमार देवव्रत भीष्म जैसे महायो
वर्तमान रहते हुए···! हम जानते हैं कि उन्हें राज्य का मोह नहीं है; किन्तु
के न रहने पर माता और भाई की रक्षा और पालन का दायित्व तो उन्हें नि
चाहिए। उन्हें राज्यासक्ति न हो, किन्तु उन्हें धर्मासक्ति तो है। माता औ
के रक्षण और पालन-पोषण का धर्म त्याग, तपस्या द्वारा वे किस धर्म की

कर रहे हैं। कुरु वंश और हस्तिनापुर के राज्य की रक्षा उनका सर्वप्रथम धर्म है···।"

सत्यवती के मन में उनचास प्रभंजन चल रहे थे। वह महामन्त्री से कहना चाहती थी कि वह कुछ समय के लिए चुप हो जाये और उसें अकेली छोड़ दे···वह सोचना चाहती थी, जानना चाहती थी, किसी से पूछना चाहती थी···पर यह बूढ़ा महामन्त्री था कि बोलता ही जा रहा था, और अपने इस वाणी-प्रवाह के साथ उसके मस्तिष्क को भी भगाये लिये जा रहा था। न थमने देता था, न साँस लेने देता था···

'भीष्म हस्तिनापुर में आ जाये तो हस्तिनापुर की सेना गन्धर्वराज को पराजित करने में समर्थ हो जायेगी?' सत्यवती जैसे प्रश्न नहीं पूछ रही थी, अपने मुख से उच्चरित होनेवाले निर्णय को पीछे धकेल रही थी, टाल रही थी।

शोक का काल था इसलिए महामन्त्री हँसे नहीं, नहीं तो उनकी मुद्रा कदाचित् अट्टहास करना चाहती थी, "राजकुमार भीष्म हस्तिनापुर में आ जायें और कुरु सेना का संचालन स्वीकार कर लें तो हम गन्धर्वों की ही नहीं, गन्धर्वों, पांचालों और मत्स्यों की सम्मिलित सेना को एक ही वार में धराशायी कर सकते हैं।" महामन्त्री तनिक रुककर बोले, "राजमाता! सत्य यह है कि राजकुमार के हस्तिनापुर में पग धरते ही गन्धर्वराज पर्वतों को फलाँगता हुआ, अपनी राजधानी में जा छिपेगा, जैसे कोई भीत मूषिक समर्थ शत्रु देखकर अपनी बिल में जा घुसता है। और पांचाल तथा मत्स्य अपनी राजधानी से बाहर निकलने का साहस भी नहीं करेंगे।"

महामन्त्री सत्यवती को ढाढस दे रहे थे, उसका मनोबल बढ़ा रहे थे···और सत्यवती को लग रहा था कि उसका मन जैसे धरती में धँसता जा रहा था···इतना समर्थ और शक्तिशाली है भीष्म! भीष्म जो उसका शत्रु है। वह शक्तिशाली शत्रु अपनी इच्छा से उन लोगों से दूर जा बैठा है, और सत्यवती सुरक्षित है।···और अब यह महामन्त्री उस शत्रु को हस्तिनापुर में ला बसाना चाहता है···

"इस कार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिए, राजमाता!" सत्यवती को लगा कि महामन्त्री में जैसे उसके मन को पढ़ने की क्षमता है। वह देख रहा है कि सत्यवती के मन में क्या है। शायद इसीलिए वह उसके भीष्म-विरोध को कम करने के लिए वह अपने प्रयत्न में और भी उग्र हो गया है, "विलम्ब से शत्रुओं का आत्मबल बढ़ेगा। हमें तत्काल ही गन्धर्वों से कुरुक्षेत्र ही नहीं, पूरा धर्मक्षेत्र छीनना होगा। नहीं तो राज्य की सीमाएँ बहुत संकुचित हो जायेंगी। संकुचित सीमाएँ किसी भी राज्य के लिए श्रेयस्कर नहीं होतीं, राजमाता!"

महामन्त्री ने रुककर सत्यवती की ओर देखा, "आदेश दें, राजमाता!"

"क्या बुलाने से भीष्म आ जायेगा?"

"राजमाता, आदेश दें!" महामन्त्री ने आग्रह किया।

सत्यवती का मस्तिष्क त्वरित गति से सोच रहा था : यह निर्णय दीर्घगामी होगा! यदि भीष्म आ गया और राज्य बच गया तो भीष्म से फिर किसी और व्याज से मुक्ति पायी जा सकती है···किन्तु यदि भीष्म को नहीं बुलाया; और गन्धर्वराज हस्तिनापुर में आ गया तो वह सत्यवती और विचित्रवीर्य का वध भी कर सकता है, जैसे उसने चित्रांगद का वध किया है···

"आदेश दें, राजमाता!" महामन्त्री ने पुनः आग्रह किया।

"तो जाइए, महामन्त्री! आचार्य! आप भी चले जाइये।"···और कहते-कहते भी सत्यवती सोच रही थी, कहीं वह भूल तो नहीं कर रही, कहीं यह निर्णय उसके लिए घातक तो नहीं होगा—"जाकर भीष्म से कहिए कि मैंने उसे बुलाया है।"

महामन्त्री और आचार्य वसुभूति चले गये और सत्यवती जैसे पछाड़ खाकर भूमि पर लोट गयी···पता नहीं उसने क्या कर दिया··· चित्रांगद का वध गन्धर्वराज ने कर दिया और अब सत्यवती ने स्वयं भीष्म को बुलाया है···किसलिए? विचित्र-वीर्य के वध के लिए?···

पर जैसे सत्यवती का अपना मन भी कुछ और ही वाणी बोल रहा था···क्यों वह बुद्धि से काम नहीं लेती···क्या उसके बाबा ने ऐसे ही एक संकट के जाल में फँस-कर, अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता से उसके सूत्र काट नहीं दिये थे?···उन्होंने राजा शान्तनु और युवराज देवव्रत को एक ही बार में धराशायी कर दिया था।···सत्य-वती ने बाबा से क्या सीखा आज तक?···क्यों वह भीष्म की प्रतिज्ञा को तलवार के रूप में धारण कर, उसके प्रहार से भीष्म को हस्तिनापुर से दूर भगाये हुए है। क्यों वह उसकी प्रतिज्ञा को अपना कवच नहीं बनाती, क्यों वह शत्रु के प्रत्येक वार को भीष्म की प्रतिज्ञा-रूपी ढाल पर नहीं रोकती!···सत्यवती इतने वर्षों तक बाबा के साथ रही, कुछ तो सीखा होता उनसे···छोटे-से केंचुए को बंसी में लगाकर केवट लोग बड़े-बड़े मत्स्यों को बाँध लाते हैं। यदि वे केंचुए के डर से बड़ी मछलियों को दूर भगाते रहेंगे तो अपना पेट कैसे पालेंगे।···केवट-बुद्धि तो इसमें है सत्यवती! कि भीष्म बंसी में फँसा हो और बंसी तेरे हाथ में हो। जैसे-जैसे तू घुमाये, वैसे-वैसे वह घूमे। बंसी में फँसा रहे और तेरे इंगितों पर नाचता रहे। न तुझे निगल सके, और न तुझे छोड़कर जा सके। दास बनकर रहे आयु भर···

और सहसा जैसे सत्यवती के मन में कोई प्रकाश भर आया—'बड़ी मूर्खता की तूने सत्यवती!' उसने अपने-आपसे कहा, 'तूने भीष्म के पिता की पत्नी होने के अधिकार को भीष्म का बन्धन नहीं बनाया। तूने उसके रज्जु को समेटने में बहुत

जल्दी की। उस रज्जु से भीष्म को बाँधा भी तो जा सकता था···

किन्तु अगले ही क्षण जैसे वह फिर सहम गयी : उसने महामन्त्री के कहने पर भीष्म को आमन्त्रित किया है। निश्चित रूप से भीष्म के हस्तिनापुर में पग धरते ही राज्य के सारे अधिकार उसे सौंप दिये जायेंगे। उससे हस्तिनापुर सबल होगा, कुरुवंश निर्वीर्य होने से बच जायेगा···किन्तु महामन्त्री से सत्यवती ने यह नहीं पूछा कि स्वयं उसका और विचित्रवीर्य का भविष्य क्या होगा?···निष्कासन? विचित्रवीर्य की हत्या?···पर यह सब पूछने का अब अवसर नहीं था। जो कुछ होना था, वह तो हो चुका। अब तो जो सामने आयेगा, उसे देखना होगा, झेलना होगा··· सत्यवती कहीं अपने बाबा की बुद्धि और धैर्य पा जाती तो···

वह विचित्रवीर्य को केंचुए के समान उस महामत्स्य के सम्मुख डाल देगी—देखना यह है कि यह महामत्स्य केंचुए को निगलकर चल देता है या उसके मोह में बँधकर, बंसी के संकेत पर नाचता है···

"क्रोध नहीं था तो मुझे और अपने छोटे भाइयों को इस प्रकार असहाय क्यों
छोड़ दिया ? चित्रांगद तीन वर्षों तक गन्धर्वों से लड़ता रहा, तुम उसकी सहायता के
लिए क्यों नहीं आये ? चित्रांगद की मृत्यु का समाचार भी तुम्हें मिला होगा। उसके
बाद भी तुमने हमारी सुध नहीं ली। अब भी बुलाये जाने पर ही आये हो···शोक
और मृत्यु के अवसर पर कोई किसी को निमन्त्रित तो नहीं करता पुत्र।"

भीष्म को लगा, उनके मन मे कहने के लिए आँधियों के समान कोटि-कोटि
शब्द उमड़-घुमड़ रहे हैं, किन्तु उनकी जिह्वा जैसे जड़ हो गयी है। कितने उपालम्भ
थे उनके मन मे, किन्तु उपालम्भ देने का मुँह नहीं था···पिता की मृत्यु के पश्चात्
माता और छोटे भाइयों को सँभालना उनका धर्म था···किन्तु वे हस्तिनापुर छोड़-
कर चले गये थे···जब वे हस्तिनापुर से गये थे, तो कैसे अपमानित होकर गये थे···
चित्रांगद ने ही तो अपमानित किया था उन्हें···पर अब वह इस संसार में नहीं था
···माता सत्यवती पुत्र-शोक से विह्वल थीं···इस समय उनसे कैसे कहा जा सकता
था···

भीष्म चुप ही रह गये।

सत्यवती ने दासी से कहा, "राजकुमार को तुरन्त बुलाकर लाओ।" औ
भीष्म की ओर मुड़ी, "तुम्हारे पिता नहीं हैं। चित्रांगद भी अब नहीं है। गन्धर्व-
राज कुरुक्षेत्र में बैठा है। हो सकता है, वह हत्यारा मेरे पुत्र का वध कर, अब
हस्तिनापुर को हस्तगत करने के लिए इस दिशा में चल भी पड़ा हो। वह हत्यारा
भरतों की राजधानी मे आयेगा। उसे रोकनेवाला यहाँ कोई नहीं होगा। वह तुम्हारी
माता का वध कर, तुम्हारे भाई का शिरोच्छेद कर भरत वंश को समाप्त कर,
कुरुओं के सिंहासन पर गर्व से बैठेगा···क्या ऐसी स्थिति में भी तुम अपनी कुटिया
में समाधि लगाये बैठे रहना पसन्द करोगे?"

"माता!···" भीष्म कुछ कह नहीं पाये। उन्हें लग रहा था, वे जैसे बहुत
स्वार्थी हो उठे थे। वे अपने सुख-दुख के लिए अधिक चिन्तित थे; अपने कुल,
परिवार और वंश को भूल गये थे। वे अपनी ही दृष्टि में कैसे अपराधी-से हो उठे
थे, "माता! वह तो चित्रांगद की इच्छा···"

पर सत्यवती ने उन्हें बोलने नहीं दिया, "अब अविवेकी चित्रांगद की इच्छा
सर्वोपरि हो गयी; और तुम्हारा धर्म, विवेक, दायित्व···सबकुछ नहीं। तुम उसे
समझा सकते थे, डाँट सकते थे, दण्डित कर सकते थे।"

भीष्म के मन में आया, कहे, 'उस समय तो आप भी चुप ही रह गयी थीं···
और फिर चित्रांगद सम्राट् था···।'

वे जानते थे कि उन्होंने यदि ऐसा कुछ कहा, तो सत्यवती का उत्तर होगा,
'सम्राटों का भी तो नियमन होता है।'

तभी विचित्रवीर्य ने कक्ष में प्रवेश किया।

भीष्म ने देखा : जितना उसे वे छोड़कर गये थे, उससे कुछ बड़ा वह हुआ तो अवश्य था, किन्तु उससे अधिक हृष्ट-पुष्ट नहीं हुआ था। कुछ स्वस्थ भी नहीं लग रहा था। झूमता-सा ऐसे आया था, जैसे मद्य के प्रभाव में हो···कहीं अत्यधिक विलास···

"भाई को प्रणाम करो।" सत्यवती ने आदेश दिया।

विचित्रवीर्य ने अनबूझे से ढंग से हाथ जोड़ दिये और सिर झुकाकर खड़ा हो गया।

"नहीं !" सत्यवती ने कठोर स्वर में आदेश दिया, "साष्टांग दण्डवत्।"

विचित्रवीर्य ने एक बार माँ की ओर देखकर आँखें झपकायीं, और जैसे पीछा छुड़ाने के लिए वह भीष्म के सम्मुख भूमि पर लेट गया।

भीष्म ने तत्काल उसे उठा लिया। उठाते हुए, वह उसे इस योग्य भी नहीं लगा, जिसे वक्ष से लगाया जा सके। वह तो जैसे गोद में उठाने योग्य ही था।

"भीष्म।" सत्यवती ने कहा, "तुम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हो, इसलिए तुम तो सिंहासनारूढ़ होगे नहीं। अब रह गया यह—विचित्रवीर्य ! भरत वंश का एक-मात्र उत्तराधिकारी। चाहो तो इसकी रक्षा करो। इसके सिर पर संरक्षण का हाथ रखो।···और···" सत्यवती ने रुककर भीष्म को देखा, "न चाहो, तो इसे असहाय छोड़ जाओ। कोई शत्रु इसका वध कर देगा, और भरत वंश सदा के लिए समाप्त हो जायेगा। कुरु राज्य नष्ट हो जायेगा···जो तुम्हारी इच्छा हो।"

भीष्म के चेहरे पर असमंजस के स्पष्ट भाव उभरे।

"तुमने प्रतिज्ञा की थी देवव्रत !" सत्यवती ने उसे प्रखर दृष्टि से देखा, "कि तुम्हारे पिता के पश्चात् हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर मेरा पुत्र बैठेगा।"

"हाँ, माता !"

"यदि तुमने विचित्रवीर्य की रक्षा का भार नहीं लिया, तो मैं मानूंगी कि तुम अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर नहीं रहे···तुम स्वयं तो सिंहासनासीन नहीं हो रहे, किन्तु तुम ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रहे हो, जिनमें मेरा पुत्र सिंहासन पर न बैठ सके।···असहयोग भी तो विरोध का ही एक रूप है।"

"माता !"

"हाँ भीष्म।"

भीष्म स्वयं को रोक नहीं पाये। विगलित स्वर में बोले, "मेरा असहयोग है न विरोध। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहा हूँ। वही मेरा धर्म है। मैं धर्म से मुख नहीं मोड़ूँगा, माता।···" उन्होंने रुककर सत्यवती को देखा, "न विचित्र-वीर्य असहाय रहेगा, न भरत वंश समाप्त होगा; और न कुरु राज्य समाप्त होगा।"

"कौन रक्षा करेगा इसकी ?" सत्यवती मानो भीष्म को उद्दीप्त कर रही थी।

"भीष्म।" भीष्म ने उत्तर दिया, "आपका यह पुत्र!"

"वचन देते हो?"

"वचन देता हूँ कि हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठकर विचित्रवीर्य और उसकी सन्तानें—पीढ़ियों तक कुरु-प्रदेश पर शासन करेंगी।"

"तुम धन्य हो भीष्म!"

सत्यवती की आँखों में क्षण-भर के लिए विजय की दीप्ति चमकी और अगले ही क्षण उसकी आँखो से आँसू बह चले।

[20]

भीष्म को जैसे विश्वास ही नहीं हो रहा था: क्या यह सम्भव है? कुरुओं का युवराज विचित्रवीर्य इस स्थिति में।...

उनका मन हुआ, वे वापस लौट जायें: विचित्रवीर्य को इस निर्लज्ज स्थिति मे देखना न उनके लिए सुखद था, न विचित्रवीर्य के लिए ही। उसे यह जताना क्यों आवश्यक है कि इस स्थिति मे उसे देखा गया है। फिर कभी, कोई उचित अवसर देखकर उसे समझा देना ही पर्याप्त होगा।

पर तभी भीष्म ने देखा कि उस समूह मे से एक स्त्री की दृष्टि उन पर पड़ गयी है। वह सकोच से ढके-छिपे संकेतों से विचित्रवीर्य को कुछ बताने का प्रयत्न कर रही है...भीष्म स्वयं ही नहीं समझ पाये कि वे मात्र उत्सुकता में ही खड़े रह गये कि देखें कि आगे क्या होता है, या वे सचमुच अपनी उपस्थिति जताना चाहते थे...किसी भी कारण से हो, पर वे खड़े रहे और देखते रहे...

विचित्रवीर्य उस स्त्री की बात क्या और कितनी समझा—यह वे जान नहीं पाये; किन्तु इतना समझ गये कि वह जान गया है कि वह स्त्री वहाँ किसी और के उपस्थित रहने की बात कह रही है।

विचित्रवीर्य ने पीछे पलटकर देखा।

अब भीष्म के हट जाने का कोई अर्थ नहीं था। वे अपने स्थान पर खड़े, विचित्रवीर्य पर अपनी उपस्थिति से पड़नेवाला प्रभाव देखते रहे।

उन्हें देखकर विचित्रवीर्य की आँखो मे संकोच नहीं जन्मा। न उसने दृष्टि फेरी, न आँखें झुकायी। वह देखता रहा। उसकी आँखो मे से जिज्ञासा का भाव समाप्त हुआ और भावशून्यता प्रकट हुई। और फिर भाव-शून्यता में से उद्दण्डता और क्रोध एक साथ प्रकट हुई। वह धीरे-से कुछ बोला।

उसके शब्द स्पष्ट नहीं थे। भीष्म समझ नहीं सके कि वह क्या कह रहा था पर इतना तो अनुमान किया ही जा सकता था कि उसका व्यवहार विनययुक्त न था। उन शब्दों में भीष्म के लिए स्पष्ट अवहेलना थी।

भीष्म दो-चार पग और आगे बढ़ गये, ताकि स्पष्ट सुन सकें कि वह क्या कह रहा है।

इस बार विचित्रवीर्य बोला तो उसकी जिह्वा लड़खड़ा अवश्य रही थी, किन्तु शब्द इतने अस्पष्ट भी नहीं थे कि समझे भी न जा सकें।

"क्यों आये तुम ?" उसने जैसे भीष्म को धमकाने का प्रयत्न किया, "जानते नहीं हो कि कुरु राजाओं के राजप्रासादों में कर्मचारी लोग बिना अनुमति के नहीं आ-जा सकते।"

भीष्म को लगा, विचित्रवीर्य ने उन्हें पहचाना नहीं है। वे उसके एकदम निकट आ गये। उसके चारों ओर बैठी स्त्रियाँ जैसे घबराकर उठ खड़ी हुईं।

"तुम लोग जाओ।" भीष्म ने कहा।

"तुम कौन होते हो उन्हें भेजने वाले ?" विचित्रवीर्य बोला, "वे मेरे आदेश से आयी हैं, मेरे ही आदेश से जायेंगी।"

"तुमने मुझे पहचाना नहीं विचित्रवीर्य !" भीष्म बोले, "क्या सुरा ने तुम्हें इतना बेसुध कर दिया है ?"

विचित्रवीर्य अकड़कर उठ खड़ा हुआ, "मैंने तुम्हें पहचान लिया है। तुम कुरुओं के अपदस्थ राजकुमार देवव्रत भीष्म हो। पर तुमने शायद मुझे नहीं पहचाना। मैं कुरुओं का भावी सम्राट् विचित्रवीर्य हूँ। मेरी एक आज्ञा पर तुम्हारा शिरोच्छेद हो सकता है। जाओ ! अपनी महत्ता जताने का प्रयत्न मत करो।"

भीष्म की आँखों के सम्मुख वह दृश्य घूम गया, जब माता सत्यवती ने विचित्र-वीर्य को आदेश दिया था; और वह उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने के लिए भूमि पर लेट गया था। माता ने आँखों में अश्रु भरकर कहा था, 'तुम हमसे रुष्ट न होते तो चित्रांगद इस प्रकार गन्धर्वराज के हाथों मारा न जाता...।'

भीष्म जानते हैं, वे सत्यवती और उसके पुत्रों से तब भी रुष्ट नहीं थे, आज भी रुष्ट नहीं हैं। वे तो कुरु राज्य और अपने पिता के इस परिवार से उदासीन मात्र हो गये थे। उस उदासीनता के लिए माता ने उन्हें उपालम्भ दिया था।...यदि आज भी वे विचित्रवीर्य को इस प्रकार देखकर उदासीन बने रहे तो यह किशोर मदिरा राक्षसी के हाथों मारा जायेगा; और माता फिर उन्हें आँखों में अश्रु भरकर उपा-लम्भ देंगी...

चित्रांगद गन्धर्वराज के हाथों मारा गया था, पर वे विचित्रवीर्य को सुरा राक्षसी के हाथों मरने नहीं देंगे...

"विचित्रवीर्य !" वे बोले।

"युवराज कहो।" विचित्रवीर्य अकड़कर बोला।

बहुत प्रयत्न से साधा हुआ भीष्म का संयम टूट गया। उनका एक जोरदार तमाचा विचित्रवीर्य के गाल पर पड़ा, "ये युवराज के लक्षण हैं !" वे गरजकर

त, "कुरु-वंश के गौरव को कलंक लगानेवाले ! अपने गुरुजनों को आदेश दे रहा कि वे तुझे युवराज सम्बोधित करें !"

भीष्म ने उसकी बाँह पकड़कर उसे घसीटा, "चल ! अभी तेरा पूर्ण राज्याभिषेक करता हूँ।"

वे उसे घसीटते हुए माता सत्यवती के कक्ष तक ले गये। विचित्रवीर्य ने भी न हाथ छुड़ाया, न किसी प्रकार का विरोध किया।...या शायद सुरा का मद ही उसे त्याग गया था।

आहट पाकर सत्यवती अभी सोच ही रही थी कि किसी दासी को पुकारे कि भीष्म ने लाकर विचित्रवीर्य को उसके सम्मुख खड़ा कर दिया, "माँ ! यह सुरा में बेसुध, निर्वस्त्र दासियों और गणिकाओं के बीच बैठा, विहार कर रहा था। मुझे देखकर इस निर्लज्ज ने संकोच से आँखें झुकायी तक नहीं, उल्टे मुझे आदेश दे रहा था कि मैं इसे नाम से न पुकारकर, युवराज कहकर सम्बोधित करूँ...और...।" भीष्म ने रुककर सत्यवती को देखा।

"और क्या ?"

"और आवेश में मैंने इसे एक चाँटा मार दिया है।" भीष्म ने धीरे-से कहा।

क्षण-भर के लिए सत्यवती हतप्रभ-सी खड़ी रह गयी। उसका शरीर और मस्तिष्क—सबकुछ जैसे जड़ हो गया।...और अगले ही क्षण उसके भीतर कोई प्रवण-प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। उसे लगा कि सत्यवती के प्राण दो भागों में बट गये हैं...एक सत्यवती एक जोरदार चाँटा भीष्म के गाल पर लगाना चाहती थी और चीखकर कहना चाहती थी, 'तेरा यह साहस कि तू मेरे पुत्र पर हाथ उठाये, कुरुवंश के होनेवाले सम्राट् पर !' ...और दूसरी सत्यवती भीष्म को आशीर्वाद देकर कहना चाहती थी, 'पुत्र ! तूने यही चाँटा चित्रांगद को मारा होता, तो वह उस गन्धर्वराज के हाथों क्यों मारा जाता !'...और शायद एक तीसरी सत्यवती भी थी जो एकदम सहमकर चुप हो गयी थी। वह डर रही थी और सोच रही थी...आज इस भीष्म ने चाँटा मारा है...कल यह खड्ग उठायेगा...इसे तूने क्यों बुला लिया हस्तिनापुर में सत्यवती ?...

पर सत्यवती के वे सारे रूप चुप रहे...उसके मन का एकतारा लगातार बजता जा रहा था—'सत्यवती ! सँभल जा। फिर कोई भूल मत कर बैठना।...इतनी जल्दी मत भूल कि चित्रांगद का वध करनेवाला गन्धर्वराज कुरुक्षेत्र से आगे बढ़ चुका था। उसने सुना कि हस्तिनापुर से भीष्म के पास सन्देशवाहक गया है तो उसके पग थम गये और कान खड़े हो गये कि भीष्म का उत्तर क्या है...इधर भीष्म ने गंगा पार कर हस्तिनापुर में पाँव रखा और उधर गन्धर्वराज सरस्वती

पार कर अपनी राजधानी की ओर बढ़ गया।···भीष्म तो चित्रांगद के वध का प्रतिशोध लेने के लिए गन्धर्वों की राजधानी तक जाता, किन्तु मन्त्रियों और स्वयं सत्यवती ने ही उसे रोक लिया।···कहीं ऐसा न हो कि भीष्म पर्वतों में गन्धर्वराज के पीछे भटकता फिरे और इधर पांचाल और मत्स्य बढ़कर कुरुओं की सीमा तक आ जायें।···चित्रांगद तो गया, अब सत्यवती को विचित्रवीर्य की रक्षा करनी है। केवल शत्रुओं के खड्ग से ही नहीं रोग, शोक और विलास से भी···'

सत्यवती बोली तो उसका स्वर शान्त था, "विचित्रवीर्य ! तुम जाओ पुत्र ! अपने-आपको सँभालो और गुरुजनों का आदर करना सीखो। कुरुवंश में गुरुजनों का अनादर अक्षम्य अपराध है।"

विचित्रवीर्य ने ढँकी-छिपी आँखों से माँ को देखा : कहाँ गया माँ का वह रूप —जो कहा करती थी, 'भीष्म उनका शत्रु है।'···पर आज माँ का एक दूसरा ही रूप उसके सामने था। वह दृष्टि झुकाये-झुकाये ही बाहर चला गया।

विचित्रवीर्य के कक्ष से बाहर जाने तक सत्यवती चुपचाप खड़ी रही। जब वह कक्ष से निकल गया तो सत्यवती ने दासी को आदेश दिया, "बाहर द्वार पर खड़ी रहो। मुझे राजकुमार भीष्म से कुछ अत्यन्त गोपनीय बातें करनी हैं। जब तक मैं अगला आदेश न दूँ, कक्ष में कोई भी प्रवेश नहीं करेगा—कोई भी नहीं !"

दासी ने सिर झुकाया और हाथ जोड़कर बाहर निकल गयी। तब सत्यवती ने भीष्म की ओर देखा, "बैठो पुत्र !"

भीष्म बैठ गये।

उनके सामनेवाले मंच पर सत्यवती स्वयं बैठी और बोली, "भीष्म ! विचित्रवीर्य की स्थिति मेरे लिये कई दिनों से चिन्ता का विषय बनी हुई है। मैं सोच ही रही थी कि तुमसे इस विषय में भी परामर्श करूँ, कि तुमने स्वयं ही उस समस्या का साक्षात्कार कर लिया।"

"यह सब कब और कैसे हुआ, माता ?" भीष्म, सत्यवती से सम्बोधित थे और पूछ जैसे अपने-आप से रहे थे, "यह तो कुरु-कुल का संस्कार नहीं है ?"

सत्यवती कुछ देर तक भूमि की ओर देखती रही और फिर जैसे साहस बटोरकर बोली, "मैं नहीं जानती कि इसमें कितना दोष मेरा है। जब मेरे मन में अपने लिए धिक्कार उठता है तो मुझे लगता है कि यह मेरा ही पाप है !···"

"आपका पाप ? क्या कह रही हैं माता ?"

"हाँ, पुत्र !" सत्यवती बोली, "जब तुम्हारे पिता ने इन बच्चों को
में भेजना चाहा था, तो मैंने ही उनका विरोध किया था। चित्रांगद
और विचित्रवीर्य के विलास की अग्नि प्रचण्ड होती रह
करती रही।···यही मानती रही कि दूसरों का तिर
भोगों में आसक्ति ही जैसे क्षत्रिय कुल के लक्षण हैं

और मैंने वैभव तथा अधिकार के मध्य रहते हुए, संयम और विनय के महत्व को नहीं समझा।···तो इनका अनुशासन कौन करता?···तुम थे; पर तुम अपने इन भाइयों को पराया मानते रहे।···आज तुमने इसे चाँटा मारा है, तो मेरा मन कहता है कि तुमने बड़े भाई के अधिकार का पहली बार प्रयोग किया है। अतः मानती हूँ कि तुम बड़े भाई का दायित्व भी निभाओगे।"

"क्या करना होगा, माँ?"

"मैं क्या कहूँ पुत्र!" सत्यवती अपने असमंजस से उबर नहीं पायी थी, "यह कैसे कहूँ कि इस क्षत्रिय पुत्र को जीवन के भोग से निरत कर दो; पर यह भी नहीं देख सकती कि भोग—जो क्षत्रियों का शृंगार है, मेरे पुत्र का काल बने।"

"आप ठीक कहती हैं माता!"

"तो क्या कोई ऐसा मार्ग है, जिससे इसका नियमन हो सके?"

"पुरुष के विलास का नियमन उसकी पत्नी करती है माता! गणिकाएँ नियमन का नहीं, पतन का साधन होती हैं।" भीष्म रुके, "अब मैं आपको क्या समझाऊँ, पत्नी का धर्म भी उसका पति ही है, और भोग भी। वह न अपने धर्म का नाश देख सकती है और न अपने भोग का क्षय। इसीलिए अविवाहित पुरुष चाहे तो धर्म अर्जित कर सकता, किन्तु जीवन को भोग नहीं सकता। और यदि वह भोग की ओर अग्रसर होगा तो अपनी आत्मा तथा शरीर का नाश करेगा। धर्म और भोग दोनों चाहिएँ तो एकमात्र मार्ग विवाह ही है।" भीष्म ने रुककर सत्यवती को देखा, "जहाँ तक मैं अपने पिता को जानता हूँ, उनमें कामासक्ति का बाहुल्य था; किन्तु विवाह-विहीन भोग की ओर वे कभी नहीं बढ़े। इसलिए उन्होंने अपना नाश नहीं किया।"

"तो विचित्रवीर्य का विवाह करवा दो।"

"हाँ! एक मार्ग यह भी है।" भीष्म का विचार-प्रवाह जैसे बाधित हो उठा, "किन्तु, किन्तु विचित्रवीर्य का वय विवाह-योग्य है क्या?"

"नहीं!" सत्यवती का उत्साह जैसे भंग हो गया था, "वह तो अभी पन्द्र वर्षों का ही है।"

"अभी तो उसके शारीरिक और मानसिक विकास का समय है।" भीष्म बो "हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि वह अभी दस वर्ष संयम और अनुशासन का जी व्यतीत करे।"

सत्यवती ने भीष्म को देखा : यह क्या सम्भव था?

पर वह कुछ बोली नहीं।

भीष्म को कुछ सन्देह हुआ, "क्या आप सहमत नहीं हैं?"

"सहमत तो हूँ, पुत्र! मेरी इच्छा है कि ऐसा हो···पर क्या विचित्रवी बन कर पायेगा?"

भीष्म पर छोड़ दिया ?...वह विचित्रवीर्य को सिंहासन पर बैठा भी दे और स्वयं नियन्ता बना रहे, तो शासन तो उसी का होगा...

किन्तु जाने कहाँ से सत्यवती के मन में एक बिम्ब जागा।—कुम्भ स्वतन्त्र है। सक्षम है। किन्तु यदि उसे जल भरना है तो अपना कण्ठ रज्जु के फन्दे में फँसाना ही होगा। कुएँ की गहराई तक गिरना ही होगा। फिर वह रज्जु ही उसे खींचकर ऊपर लायेगी और जल प्राप्त कर लेने पर, रज्जु को अनावश्यक मानकर उससे कुम्भ के कण्ठ को मुक्त किया जायेगा। रज्जु भूमि पर पड़ी रहेगी और कुम्भ पनिहारन के सिर पर स्थापित होगा।...यदि वह विचित्रवीर्य के कुम्भ में राज्य का जल भरना चाहती है तो भीष्म रूपी रज्जु का फन्दा विचित्रवीर्य के कण्ठ में डालना ही होगा...एक बार जल भर जाये। कुम्भ उसे धारण करने में समर्थ हो जाये, तो रज्जु भूमि पर पड़ी रहेगी और कुम्भ पनिहारन के सिर पर स्थापित होगा...

वैसे भी भीष्म के हस्तिनापुर में आ जाने से न केवल गन्धर्वों, पांचालों और मत्स्यों की सेनाओं की रण-भेरियाँ शान्त हो गयी हैं, वरन् हस्तिनापुर में प्रतिदिन उठनेवाले संशय और बवण्डर भी शान्त हो गये हैं। अब कुरुप्रमुख नये राजवंशों की स्थापनाओं के स्वप्न नहीं देखते।...वैसे भी अट्ठारह वर्षों से भीष्म अपने वचन का निर्वाह कर रहा है। एक क्षण के लिए भी उसने अपनी प्रतिज्ञा की अवहेलना में रुचि नहीं दिखायी।...अब तो उसका प्रचण्ड आवेगों का वयस् भी बीत चुका। वह धीर, गम्भीर और शान्त हो गया है। नहीं! वह सत्यवती का धोखा नहीं देगा...

'काश! मैं इसका विश्वास कर पाती!' सत्यवती ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा।

अपने आवास पर पहुँचकर भीष्म ने आचार्य को बुलाया। आचार्य ने आने में विशेष विलम्ब नहीं किया।

"अपने शिष्य की प्रगति के विषय में आपका क्या विचार है आचार्य ?" भीष्म ने सीधा प्रश्न किया।

आचार्य जैसे असावधानी में पकड़ लिये गये थे। अचकचाकर उन्होंने भीष्म की ओर देखा, "मैं समझा नहीं राजकुमार!"

"इसमें ऐसी कौन-सी बात है, जिसे आप समझ नहीं पा रहे हैं आचार्य ?" भीष्म मुस्कराकर बोले, "आप विचित्रवीर्य के आचार्य हैं। मैं उसका बड़ा भाई और अभिभावक हूं। मैं जानना चाहता हूं कि उसकी शिक्षा-दीक्षा कैसी चल रही है। उसका शास्त्र-ज्ञान कितना बढ़ा है? शस्त्र-विद्या उसने कहाँ तक सीखी है? उसका चरित्र संयम और अनुशासन को कितना आत्मसात् कर पाया है? उसका धर्म-बोध और दायित्व-बोध कितना विकसित हुआ है? शासन-तन्त्र के विषय में वह कितना जान पाया है? आचार्य! वह भावी शासक है, इस कुरु प्रदेश का। उ

जन्म तो उसके माता-पिता ने दिया है, किन्तु उसे राजा बनाना तो आपका काम है।"

"आप ठीक कह रहे हैं, राजकुमार !" आचार्य ने कुछ इस प्रकार कहा, जैसे सहमति प्रकट न कर रहे हों, उपालम्भ दे रहे हों, "राजकुमार विचित्रवीर्य भी अच्छी तरह समझता है, या शायद वह एक ही बात समझता है कि उसे आगे चल-कर हस्तिनापुर का शासक बनना है···।"

"तो ?" भीष्म ने आचार्य के स्वर की कड़वाहट को पहचाना।

"उसके मस्तिष्क में दायित्व से पहले अधिकार है, और अर्जन से पूर्व भोग है।"

"ऐसा क्यों है ?" भीष्म का स्वर, आचार्य को अभियोग के समान चुभा, "आप उसके आचार्य हैं। क्या आपको नहीं लगता कि यह उसका उचित विकास नहीं है। आपको उसका अनुशासन करना चाहिए था।"

"चाहिए तो था।" आचार्य का स्वर भी उग्रता के तत्त्व लिये हुए था, "पर उसका अधिकार मुझे दिया गया क्या ?"

"क्या कहना चाहते हैं आचार्य आप ?"

"आप जानना चाहते हैं तो बता रहा हूँ : इससे पहले किसी ने जानना नहीं चाहा; अतः किसी को मैंने बताया भी नहीं।" आचार्य बोले, "विचित्रवीर्य को यह बोध अधिक है कि वह राजकुमार है, युवराज है; और हस्तिनापुर का भावी सम्राट् है। उसे यह बोध बहुत कम है कि वह मेरा शिष्य है, उसे बहुत कुछ सीखना है, जो कुछ सीखना है, मुझसे सीखना है; और सीखने के लिए विनय और नम्रता अनिवार्य गुण हैं।"

"क्या उसका व्यवहार शिष्योचित नहीं है ?"

"कभी नहीं रहा।" आचार्य बोले, "उसने स्वयं को मेरा अन्नदाता अधिक समझा, शिष्य कम !"

भीष्म ने आहत दृष्टि से आचार्य को देखा; और फिर जैसे अपना रोष जताते हुए पूछा, "आपने कभी उसके व्यवहार की सूचना किसी को दी—उसके अभि-भावकों को ?"

स्वीकार भी करना चाहिए।'"

"पर यह असामयिक भोग! इस वय में सुरा का अबाध पान—यह सब तो राजमाता ने भी नहीं चाहा था।...."

"परिणाम इच्छा के नहीं, कर्म के अनुकूल होता है राजकुमार!" आचार्य बोले, "सम्राट् चित्रांगद ने और शायद विशेष रूप से राजमाता ने विचित्रवीर्य को मेरे अनुशासन में नहीं बँधने दिया, तो उसका परिणाम यह भी हुआ कि वह उनके अनुशासन में भी नहीं बँधा। बालक पहले अपने अभिभावक के नियन्त्रण को चुनौती देता है, बाद में अध्यापक के। विचित्रवीर्य पहले राजमाता के हाथों से निकल गया था, मेरे हाथों से तो बहुत बाद में निकला।"

"जो भी हुआ हो।" भीष्म बोले, "पर यह परिणाम सुखद नहीं है।"

"मैं जानता हूँ।" आचार्य सहमत थे, "किन्तु जिस समाज में अध्यापक आचार्य और गुरु का सम्मान अभिभावक नहीं करेगा, उसकी सन्तान को यही दुर्दिन देखना पड़ेगा।"

"शाप न दें, आचार्य!" भीष्म धीरे-से बोले, "हमें तो अब युवराज को सीधे मार्ग पर लाना है। मुझे सहयोग दीजिए।"

"आप गुरु के महत्त्व की प्रतिष्ठा करें, तो उसके अनुशासन और अधिकार की प्रतिष्ठा भी होगी।" आचार्य बोले, "यद्यपि बहुत विलम्ब हो चुका है, पर हम प्रयत्न तो कर ही सकते हैं।"

"तो ठीक है।" भीष्म ने कहा, "हम फिर से एक बार प्रयत्न कर देखें।"

[21]

राजवैद्य ने विचित्रवीर्य की नाड़ी देखी और आँखें बन्द किये देर तक बैठे सोचते रहे। भीष्म उत्सुकता से राजवैद्य की ओर देखते रहे: क्या निदान है राजवैद्य का? पर वैद्य थे कि आँखें ही नहीं खोल रहे थे।

सत्यवती उत्कण्ठा के मारे स्वयं को रोक नहीं सकी, "क्या बात है वैद्यराज! आप कुछ बोलते क्यों नहीं?"

राजवैद्य ने आँखें खोलीं, पर जैसे अभी भी वे सोच ही रहे थे कि कुछ बोलें या न बोलें...और जब बोले, तो इतना ही कहा, "मैं आपसे एकान्त में कुछ बातें करना चाहता हूँ।"

"औषध का प्रभाव क्यों नहीं हो रहा वैद्यराज?" सत्यवती ने फिर पूछा।

राजवैद्य ने सत्यवती के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया; बोले, "क्या हम किसी अन्य कक्ष में वार्तालाप कर सकते हैं?"

भीष्म ने संकेत किया। प्रतिहारिणी आगे चली। वे लोग दूसरे कक्ष में आ गये।

जन्म तो उसके माता-पिता ने दिया है, किन्तु उसे राजा बनाना तो आपका काम है।"

"आप ठीक कह रहे हैं, राजकुमार !" आचार्य ने कुछ इस प्रकार कहा, जैसे सहमति प्रकट न कर रहे हों, उपालम्भ दे रहे हों, "राजकुमार विचित्रवीर्य भी अच्छी तरह समझता है, या शायद वह एक ही बात समझता है कि उसे आगे चलकर हस्तिनापुर का शासक बनना है...।"

"तो ?" भीष्म ने आचार्य के स्वर की कड़वाहट को पहचाना।

"उसके मस्तिष्क में दायित्व से पहले अधिकार है, और अर्जन से पूर्व भोग है।"

"ऐसा क्यों है ?" भीष्म का स्वर, आचार्य को अभियोग के समान चुभा, "आप उसके आचार्य हैं। क्या आपको नहीं लगता कि यह उसका उचित विकास नहीं है। आपको उसका अनुशासन करना चाहिए था।"

"चाहिए तो था।" आचार्य का स्वर भी उग्रता के तत्त्व लिये हुए था, "पर उसका अधिकार मुझे दिया गया क्या ?"

"क्या कहना चाहते हैं आचार्य आप ?"

"आप जानना चाहते हैं तो बता रहा हूँ : इससे पहले किसी ने जानना नहीं चाहा; अतः किसी को मैंने बताया भी नहीं।" आचार्य बोले, "विचित्रवीर्य को यह बोध अधिक है कि वह राजकुमार है, युवराज है; और हस्तिनापुर का भावी सम्राट् है। उसे यह बोध बहुत कम है कि वह मेरा शिष्य है, उसे बहुत कुछ सीखना है, जो कुछ सीखना है, मुझसे सीखना है; और सीखने के लिए विनय और नम्रता अनिवार्य गुण हैं।"

"क्या उसका व्यवहार शिष्योचित नहीं है ?"

"कभी नहीं रहा।" आचार्य बोले, "उसने स्वयं को मेरा अन्नदाता अधिक समझा, शिष्य कम !"

भीष्म ने आहत दृष्टि से आचार्य को देखा; और फिर जैसे अपना रोष जताते हुए पूछा, "आपने कभी उसके व्यवहार की सूचना किसी को दी—उसके अभिभावकों को ?"

आचार्य के मन में छिपी वितृष्णा, प्रकट होकर उनके चेहरे पर आ गयी, "राजा शान्तनु स्वर्गवासी हुए। आप हस्तिनापुर छोड़ गये। सम्राट् चित्रांगद और राजमाता यह मानते थे कि राजकुमारों का अनुशासन, नियन्त्रण या उनकी इच्छाओं का नियमन, उनके तेज का ह्रास करता है। अतः राजकुमारों के आचार्य को भी चाहिए कि वह एक क्षण के लिए भी उन्हें यह न भूलने दे कि वे राजकुमार हैं और उनका आचार्य एक निर्धन ब्राह्मण !...एक बार सम्राट् चित्रांगद से चर्चा की थी कि विचित्रवीर्य का मेरे प्रति व्यवहार शिष्योचित नहीं है; वह स्वयं को मेरा स्वामी और पालनकर्ता मानता है; तो उन्होंने निर्द्वन्द्व भाव से कहा था कि 'वह ठीक ही समझता है। जो वास्तविकता है, उसे हमें समझना भी चाहिए और

स्वीकार भी करना चाहिए।' "

"पर यह असामयिक भोग ! इस वय में सुरा का अबाध पान—यह सब तो राजमाता ने भी नहीं चाहा था।..."

"परिणाम इच्छा के नहीं, कर्म के अनुकूल होता है राजकुमार !" आचार्य बोले, "सम्राट् चित्रांगद ने और शायद विशेष रूप से राजमाता ने विचित्रवीर्य को मेरे अनुशासन में नहीं बँधने दिया, तो उसका परिणाम यह भी हुआ कि वह उनके अनुशासन में भी नहीं बँधा। बालक पहले अपने अभिभावक के नियन्त्रण को चुनौती देता है, बाद में अध्यापक के। विचित्रवीर्य पहले राजमाता के हाथों से निकल गया था, मेरे हाथों से तो बहुत बाद में निकला।"

"जो भी हुआ हो।" भीष्म बोले, "पर यह परिणाम सुखद नहीं है।"

"मैं जानता हूँ।" आचार्य सहमत थे, "किन्तु जिस समाज में अध्यापक, आचार्य और गुरु का सम्मान अभिभावक नहीं करेगा, उसकी सन्तान को यही दुर्दिन देखना पड़ेगा।"

"शाप न दें, आचार्य !" भीष्म धीरे-से बोले, "हमें तो अब युवराज को सीधे मार्ग पर लाना है। मुझे सहयोग दीजिए।"

"आप गुरु के महत्त्व की प्रतिष्ठा करें, तो उसके अनुशासन और अधिकार की प्रतिष्ठा भी होगी।" आचार्य बोले, "यद्यपि बहुत विलम्ब हो चुका है, पर हम प्रयत्न तो कर ही सकते हैं।"

"तो ठीक है।" भीष्म ने कहा, "हम फिर से एक बार प्रयत्न कर देखें।"

[21]

राजवैद्य ने विचित्रवीर्य की नाड़ी देखी और आँखें बन्द किये देर तक बैठे सोचते रहे। भीष्म उत्सुकता से राजवैद्य की ओर देखते रहे: क्या निदान है राजवैद्य का? पर वैद्य थे कि आँखें ही नहीं खोल रहे थे।

सत्यवती उत्कण्ठा के मारे स्वयं को रोक नहीं सकी, "क्या बात है वैद्यराज ! आप कुछ बोलते क्यों नहीं ?"

राजवैद्य ने आँखें खोलीं, पर जैसे अभी भी वे सोच ही रहे थे कि कुछ बोलें या न बोलें...और जब बोले, तो इतना ही कहा, "मैं आपसे एकान्त में कुछ बातें करना चाहता हूँ।"

"औषध का प्रभाव क्यों नहीं हो रहा वैद्यराज ?" सत्यवती ने फिर पूछा।

राजवैद्य ने सत्यवती के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया; बोले, "क्या हम कि
अन्य कक्ष में वार्तालाप कर सकते हैं ?"

भीष्म ने संकेत किया। प्रतिहारिणी आगे चली। वे लोग दूसरे कक्ष में आ

"मैंने आपसे पिछली बार भी कहा था कि राजकुमार के शरीर में इतनी शक्ति नहीं है कि वे रतिकर्म में प्रवृत्त हों। आपने इस बात का ध्यान नहीं रखा। औषध अपना काम तभी कर सकती है, जब रोग उत्पन्न करने और उसका विस्तार करनेवाले कृत्य बन्द किये जायें।…"

"पर युवराज ने ऐसा कुछ नहीं किया।" सत्यवती बोली, "मैंने उसे मना कर दिया था और उसने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मैं अनुमति नहीं दूंगी, वह किसी स्त्री के निकट भी नहीं जायेगा।"

"पर क्या उस प्रतिज्ञा की रक्षा की गयी?" वैद्य का स्वर कुछ कटु था।

सत्यवती की दृष्टि सहज ही भीष्म की ओर चली गयी : प्रत्येक पुरुष देवव्रत नहीं होता…पुत्र तो विचित्रवीर्य भी शान्तनु का ही है, किन्तु…

सत्यवती ने वैद्य के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। कक्ष से बाहर आकर उसने प्रतिहारिणी को आदेश दिया, "युवराज की परिचारिका को बुलाओ।"

"राजमाता!" राजवैद्य ने उसके कक्ष में लौट आने पर कहा, "युवराज ने बहुत छोटे वयस से सुरा और सुन्दरी का आस्वादन आरम्भ कर दिया है। वह भी बहुत अधिक मात्रा में। मैं राज-भय त्यागकर स्पष्ट शब्दों में आपसे कह रहा हूँ, यदि उनका यह अभ्यास सर्वथा बन्द न हुआ, तो युवराज के जीवन की रक्षा संसार का कोई भी वैद्य नहीं कर पायेगा।"

"पर मैं कह रही हूँ कि जब से आपकी औषध आरम्भ हुई है, वह स्त्री के निकट भी नहीं गया है।" सत्यवती का स्वर कुछ कठोर था।

"आप मुझे क्षमा करेंगी।" राजवैद्य निर्भीक स्वर में बोला, "पर मैं इसका विश्वास नहीं कर सकता।…"

तभी प्रतिहारिणी द्वार पर प्रकट हुई, उसके साथ विचित्रवीर्य की परिचारिका भी थी।

परिचारिका को भीतर भेजकर प्रतिहारिणी ने कपाट बन्द कर दिये। परिचारिका हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी।

"परिचारिके!" इस बार भीष्म बोले, "सच बोलना! जानती हो न, मिथ्या-भाषण इस राजकुल में दण्डनीय है।"

"हाँ आर्य!"

"क्या युवराज विचित्रवीर्य पिछले सप्ताह में, स्त्री-सम्पर्क में आये थे?"

परिचारिका ने सत्यवती की ओर देखा और आँखें झुका लीं।

"बोलो।" सत्यवती ने कहा, "गोपनीयता लाभकारी नहीं है। निर्भय होकर सच बोलो।"

"हाँ राजमाता!" परिचारिका का स्वर पहले तो लड़खड़ाया, किन्तु तत्काल ही सध गया, "पाँच नयी दासियाँ युवराज की सेवा में रही हैं।"

न चाहते हुए भी राजवैद्य के मुख पर प्रसन्नता प्रकट हो ही गयी, "राजमाता! युवराज यदि संयम से रहें, तो मेरी औषध अब भी चमत्कार दिखा सकती है।"

सत्यवती ने परिचारिका को जाने का संकेत किया और बोली, "वैद्यराज! मैं पूरा प्रयत्न करूँगी कि आपके निर्देशों का पालन हो। मैं अपना पुत्र खो नहीं सकती।"

राजवैद्य प्रणाम कर चले गये।

पर जैसे सत्यवती के अपने मन ने उसके शब्दों को स्वीकार नहीं किया। उसकी अपनी कनपटियों पर कोई मूसलों से ढोल बजा-बजाकर घोषणा कर रहा था, 'ऐसा नहीं हो सकता सत्यवती! ऐसा नहीं हो सकता···अब समय था और तेरे दोनों पुत्र, तेरे नियन्त्रण में थे; जब वे बालक थे, और उन्हें समझाया जा सकता था, तब तो तुमने स्वयं, उन्हें भोग की ओर प्रेरित किया···भूल गयीं तुम? अब तुम हृदय से चाहती थीं कि भीष्म से छीना गया राज-वैभव तुम्हारे पुत्र भोगें। भोग का महात्म्य तुमने ही तो पढ़ाया था अपने पुत्रों को, 'तुम राजपुत्र हो। तुम्हारा जीवन भोग के लिए है। संयम का पाठ उनको पढ़ाया जाता है, जिनके पास भोगने को कुछ नहीं होता।' '···और सत्यवती कैसे भूल सकती थी, अपने उन दिनों के ऊहापोह को। 'संयम' शब्द कानों में पड़ते ही, सत्यवती की पीठ पर जैसे कशाघात होता था। संयम को ही अंगीकार करना था तो सत्यवती ऋषि-पत्नी बनकर रही होती···अपना वरेण्य मीत तो मिलता पति के रूप में।···राजा शान्तनु की पत्नी होकर भी पुत्रों को संयम का ही पाठ पढ़ाना था, तो अपने यौवन को एक वृद्ध की वासना-तृप्ति के लिए समर्पित करने का क्या लाभ?···

सत्यवती का मन जैसे उसे धिक्कारने लगा, 'तुमने भीष्म से उसका भोग छीना। देख! तेरा एक पुत्र तो जीवित ही नहीं रहा। दूसरा किसी भोग को भोगने योग्य नहीं रहा। जिसे वंचित किया, वंचना उसके लिए अमृत बन गयी, जिन्हें समृद्ध करना चाहा, समृद्धि उनके लिए विष हो गयी। बाबा ने समझा कि वे तुम्हारा हित कर रहे हैं और तुमने समझा कि तुम अपने पुत्रों का हित कर रही हो। कैसे मूर्ख हो, तुम दोनों! तुम्हारी स्वार्थ-बुद्धि तो इतना भी नहीं जानती कि हि
क्या है और अहित क्या···'

सत्यवती के पैर-तले की धरती जैसे घूम गयी। उसे चक्कर आ गया। भी
ने आगे बढ़कर सहारा दिया, "माता!"

"भीष्म!" सत्यवती मंच पर अधलेटी-सी हो गयी, "मेरी बुद्धि तो अबे
रही है पुत्र! कुछ समझ में नहीं आता···यह सब क्या हो रहा है; और विधि
का भविष्य···"

"आप अधिक चिन्ता न करें माता!" भीष्म धीरे-से बोले, "मुझे तो

क्रम

स्वस्थ नहीं लग रही है।"

"चिन्ता कैसे न करूँ पुत्र !" सत्यवती की असहायता पूरी तरह फूट पड़ी, "विचित्रवीर्य की स्थिति शोचनीय है। क्या उसके जीवन की रक्षा हो पायेगी ?"

"क्यों नहीं !" भीष्म पूरे विश्वास के साथ बोले, "राजवैद्य ने स्पष्ट कहा है कि वह संयम से रहे तो अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। संयम कोई असम्भव शर्त तो नहीं माता !"

"उसे संयम सिखाया ही नहीं गया।" सत्यवती के चेहरे पर विषाक्त मुस्कान थी, "राज-भोग को मैं जीवन का सुख मानती थी; नहीं जानती थी कि वह विष है।..."

"माता !"

"भीष्म !" सत्यवती ने कातर स्वर में कहा, "मैं जितना सोचती हूँ, मेरा मन उतना ही निराश होता जाता है।"

"कैसी चिन्ता है माता ! आपको ?"

"कौन-सी चिन्ता मुझे नहीं है।" सत्यवती की आँखों में अश्रु झलके, "चित्रांगद नहीं रहा, मुझे लगता है कि विचित्रवीर्य भी शायद न रहे। वह नहीं रहा तो महाराज शान्तनु के इस वंश का क्या होगा पुत्र ?"

भीष्म भीतर-ही-भीतर जैसे सहम गये, पर ऊपर से मुस्कराकर बोले, "आपके विवाह के पहले पिता को भी यही चिन्ता थी कि मैं उनका एकमात्र पुत्र हूँ... यदि मेरी मृत्यु हो गयी तो !... और अब आपको चिन्ता है कि विचित्रवीर्य न रहा तो !..." उन्होंने अपने स्वर में विश्वास डाला, "क्या हुआ है विचित्रवीर्य को ? सुरा और सुन्दरी का अतिरेक ! अब संयम से रहेगा तो ऊर्जा के अतिरिक्त ह्रास की क्षतिपूर्ति हो जायेगी। वह स्वस्थ हो जायेगा...।"

"ईश्वर करे, तुम्हारी वाणी सत्य हो पुत्र !" सत्यवती बोली, "पर तुम विवाह करोगे नहीं। विचित्रवीर्य को संयम से रहने का आदेश दूँ तो तुम दोनों भाई सन्तान-विहीन ही रहोगे।...और यदि उसे गृहस्थ बनने की अनुमति दूँ तो वह अपने रोग के कारण मर जायेगा।"

पहली बार भीष्म को लगा कि सत्यवती की बात पूर्णतः उपेक्षणीय नहीं है... क्या सचमुच ऐसी स्थिति आ सकती है कि इस भरत वंश का कोई उत्तराधिकारी ही न रहे ?...और ऐसा हो ही गया तो ?...

भीष्म को लगा, उनका मन दुष्कल्पनाएँ बुनने में शायद सत्यवती के मन से भी आगे निकल गया है...वैद्य तो रोगी को आश्वासन देता ही रहता है...कोई भी वैद्य कभी नहीं कहेगा, कि अब रोगी के जीवन की आशा नहीं है...यदि विचित्रवीर्य सचमुच ही मृत्यु के कगार पर पहुँच ही गया है, तो उसका भविष्य क्या है ?—एक संयमी जीवन, जिसमें न विवाह है, न पत्नी, न सन्तान ?...या संयम के कुछ वर्षों

जीवन से स्वास्थ्य लाभ···पर यह आश्वासन कौन दे सकता है कि स्वास्थ्य लाभ
ने पर, विचित्रवीर्य अपना संयम निभा पायेगा ?···या प्रकृति उसे स्वस्थ होने
क, संयम बरतने के लिए जीवन देगी ही ?

···भीष्म को लगा कि माता सत्यवती का द्वन्द्व न केवल उनके अपने मन में आ धँसा है, वरन् उसकी पीड़ा अत्यन्त भयंकर रूप से उन्हें प्रताड़ित कर रही है···यदि कहीं विचित्रवीर्य को विधाता ने दीर्घ जीवन न दिया या वह भरत वंश को उत्तराधिकारी न दे सका···तो कहीं यह दायित्व फिर से भीष्म पर न आ पड़े···भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के उल्लंघन की कल्पना भी नहीं कर सकते। धर्म को तिलांजलि देकर जीवन का क्या लाभ ?···

और यदि कहीं संकट की कोई घड़ी आयी। विवाह से पूर्व ही विचित्रवीर्य का देहान्त हो गया···तो कोई यह कहकर तो भीष्म को लांछित नहीं करेगा कि भीष्म ने अस्वस्थ और रोगी विचित्रवीर्य का विवाह नहीं होने दिया, ताकि वह कुरु-वंश का उत्तराधिकारी उत्पन्न करने से पूर्व ही चल बसे; और हस्तिनापुर का राज्य फिर से भीष्म को मिल जाये···ऐसा लांछन···इतना बोझ वहन कर भीष्म जीवित नहीं रह सकेंगे···

उनकी दृष्टि सत्यवती की ओर उठी : वह आतुर भाव से उनकी ओर देख रही थी, "क्या सोच रहे हो भीष्म ?"

"विचित्रवीर्य का असंयम इस कारण तो नहीं कि वह अविवाहित है ?" भीष्म का स्वर गम्भीर और ठहरा हुआ था, जैसे किसी लम्बी चिन्तन-प्रक्रिया का निष्कर्ष एक सूत्र के रूप में दे रहे हों, "यदि उसका विवाह कर दिया जाये तो क्या उसकी रानी उसके भोग को सन्तुलित और सुनियन्त्रित नहीं कर देगी ?"

"यह चर्चा तुमने पहले भी की थी पुत्र ! किन्तु राजवैद्य ने उसे स्त्री-प्रसंग से दूर रहने का परामर्श दिया है।"

"सत्य है।" उनकी आँखें नहीं उठीं : कहीं माता उनकी आँखों में न देख लें कि भीष्म के मन में क्या है। भीष्म की आशंकाएँ और भय उनके अपने थे। उनसे वे माता का बोझ और नहीं बढ़ाना चाहते थे। माता तक तो वे उनके पुत्र के लाभ की बात ही पहुँचाना चाहते थे, "पर संयम इसीलिए तो है कि वह स्वस्थ होकर एक सुखी जीवन जी सके। सुखी वह तभी हो पायेगा, जब सुख उसे सन्तुलित मात्रा में मिले। उसे 'भोग' रोगी नहीं कर रहा माता ! भोग की असन्तुलित मात्रा, उसक
रोग है। भोग को सन्तुलित करने के लिए ही तो मानव-समाज ने विवाह
आविष्कार किया है।···"

सत्यवती के तपते मन पर भीष्म का कथन, चन्दन का लेप कर गया···ठीक
कह रहा है भीष्म ! नारी-पुरुष के उन्मुक्त सम्बन्धों की पीड़ा, यातना और
वस्था को देखकर ही तो मानव-समाज ने विवाह की परिकल्पना की होगी···
बन्धन

विचित्रवीर्य के जीवन की विडम्बना का भी यही निदान नहीं है···

"पर विचित्रवीर्य का वयस् अभी विवाह-योग्य नहीं है।" सत्यवती ने कहा।

"उसका वयस् तो रति-प्रसंग के योग्य भी नहीं है; सुरा-पान के योग्य भी नहीं है।"

सत्यवती क्या कहती। यही बात कहीं वह पहले समझ गयी होती। राजा शान्तनु के कहने की सार्थकता उसने समझी होती, तो वह चित्रांगद को इस प्रकार क्यों गँवाती; और विचित्रवीर्य के प्राणों पर संकट क्यों आता।···राजा ने ठीक ही कहा था, 'पंख उगने से पहले पक्षी अपने शिशुओं को नीड़ के बाहर नहीं जाने देते; और क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि पूरी होने तक अपने राजकुमारों को राजप्रासादों में घुसने नहीं देते। कच्ची मिट्टी का भाँड बनाकर कुम्भकार उसे तपने के लिए भट्ठी में छोड़ देता है। पकने से पहले वह उस पर पानी की बूंद भी नहीं पड़ने देता; और पक जाने पर आकण्ठ जल भी कुम्भ का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। ऋषिकुल राजकुमारों को तपानेवाली भट्ठियाँ हैं। राजकुमार उनमें तपकर जब अपनी राजधानियों में लौटते हैं तो पके हुए कुम्भ होते हैं। फिर उनमें कण्ठ तक भोग सामग्री भर दी जाये, या उन्हें भोग-सरोवर में डुबो भी दिया जाये, तो उनका कुछ नहीं बिगड़ता।···'

"देखो!" उसने परिचारिका से कहा, "मैं विश्राम करना चाहती हूँ। बहुत आवश्यक होने पर ही किसी को आने देना...।"

उसने आँखें बन्द कर लीं। सारा दृश्य जगत विलुप्त हो गया; किन्तु नींद उसे तब भी नहीं आयी।

बन्द आँखों के सम्मुख यमुना के मध्य एक द्वीप उभर आया। द्वीप में एक आश्रम था और उसमें बैठा था कृष्ण द्वैपायन।...अब वह शिशु नहीं था। युवा हो चुका था। ब्रह्मचर्य की अवधि पूरी कर चुका था। पता नहीं उसने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था नहीं...

सत्यवती की बन्द आँखों के सामने कृष्ण द्वैपायन की मूर्ति साकार होने लगी: युवा ऋषि! साँवला रंग। सिर पर जटाएँ। लम्बी दाढ़ी और श्मश्रु। वह पद्मासन लगाये आँखें मूँदे, ध्यान में लीन था...

और जाने अकस्मात् ही क्या हुआ...कृष्ण द्वैपायन की जटाएँ खुल गयीं। दाढ़ी विलीन हो गयी। वल्कल वस्त्रों के स्थान पर रेशमी वस्त्र आ गये। सुन्दर केश विन्यास हो गया। ध्यान में मग्न आँखें खुल गयीं। उनमें अध्यात्म की तटस्थता नहीं, लालित्य था और एक चमक थी।...कृष्ण द्वैपायन, अपने आसन से उठा और राजसिंहासन पर आ बैठा। सत्यवती ने अपने हाथों से उसे विभिन्न प्रकार के आभूषण पहनाये और अन्त में उसके मस्तक पर किरीट रख दिया...

चारणों ने जयघोष किया, 'हस्तिनापुर के सम्राट चक्रवर्ती कृष्ण द्वैपायन की जय!'

सत्यवती ने अपने हाथ जोड़ दिये। उसकी आँखें ऊपर आकाश की ओर उठ गईं, 'हे प्रभु! कहीं ऐसा सम्भव हो पाता...।'

[22]

भीष्म के द्वारा भेजे गये दूतों ने विभिन्न राज्यों से लौटकर जो सन्देश उन्हें दिये, वे न केवल निराशाजनक थे, वरन् कुरु वंश के लिए अत्यधिक अपमानजनक भी थे। जिन राजपरिवारों ने केवल नकारात्मक उत्तर भेजा था, उन्होंने तो मात्र इतना ही कहा कि विचित्रवीर्य का वय अभी विवाह-योग्य नहीं है। कुछ राजकुलों ने यह भी नहीं छिपाया था कि वे विचित्रवीर्य को स्वस्थ नहीं मानते। किन्तु, अन्य अनेक राजाओं ने इससे आगे बढ़कर भी उत्तर दिये थे—'कुरु वंश का अब सम्मान ही क्या है? बूढ़ा राजा मर चुका है, क्षत्रिय राजकुमार संन्यास धारण कर चुका... अब वह विचित्रवीर्य सम्राट् बननेवाला है, जिसके शरीर में निषाद माता का रक्त है...निर्बल, रोगी, निर्वीर्य...ऐसे राजकुमार से कौन अपनी पुत्री का विवाह करेगा...' ...कुछ राजाओं ने तो कुरु राज्य और कुरु वंश के सम्बन्ध में अनेक

भविष्यवाणियाँ भी कर डाली थीं। उनका विचार था कि कुछ ही दिनों में या तो विचित्रवीर्य स्वयं ही मर जायेगा, या कोई दासी उसका गला घोंट देगी, या फिर कोई शक्तिशाली राजा उसका वैसे ही वध कर देगा, जैसे गन्धर्वराज ने चित्रांगद को मार डाला था···फिर कहाँ कुरु राज्य और कहाँ कुरु वंश···

दूत आते रहे और सन्देश सुनाते रहे। भीष्म उन्हें सुनते रहे और आहत होते रहे···राजमाता पूछती थीं, 'कहीं से कोई सन्देश आया?' और भीष्म निर्णय नहीं कर पाते थे कि क्या कहें···राजमाता को वे ठीक-ठीक बता देते तो कितना कष्ट होता उन्हें। और भीष्म ने तो उन्हें वचन दे रखा था कि हस्तिनापुर के राज-सिंहासन पर विचित्रवीर्य और उसके उत्तराधिकारी शासन करेंगे···

अन्ततः वे बात टाल देते, "दूत तो आ-जा रहे हैं; किन्तु अभी कुरु वंश की वधू बनने योग्य, कोई उपयुक्त कन्या नहीं मिली है···।"

और तभी एक दूत काशी से होकर लौटा।

"राजकुमार!" उसने कहा, "काशिराज की विवाह योग्य तीन कन्याएँ हैं—अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका! वय की दृष्टि से वे तीनों ही युवराज विचित्रवीर्य से बड़ी हैं। सबसे छोटी, अम्बालिका का वय युवराज से कुछ ही अधिक होगा···।"

"क्या काशिराज हमारे युवराज के साथ अम्बालिका का सम्बन्ध करने को तैयार हैं?" भीष्म ने पूछा।

"नहीं!"

"कारण?"

"वे अपनी तीनों कन्याओं का स्वयंवर रच रहे हैं। उसमें वे देश-विदेश के राजाओं और राजकुमारों को आमन्त्रित कर रहे हैं। उनका कहना है कि युवराज विचित्रवीर्य स्वयंवर में भाग लेने के लिए सादर आमन्त्रित हैं। उसके पश्चात् निर्णय राजकुमारियाँ स्वयं ही करेंगी।"

"क्या वे कन्याएँ वीर्य-शुल्का हैं?"

"नहीं आर्य!" दूत ने उत्तर दिया, "वहाँ मात्र स्वयंवर है। राजकुमारियाँ अपना वर चुनने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। उनका निर्णय ही काशिराज को मान्य होगा।"

भीष्म समझ रहे थे कि काशिराज ने उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया है, किन्तु स्पष्ट अस्वीकार भी नहीं किया है···उन्होंने एक मध्यम मार्ग निकाल लिया है··· इस प्रस्ताव के लिए भीष्म न तो काशिराज को दोषी ठहरा सकते थे, न इसे अपना अपमान मान सकते थे। क्षत्रिय राजाओं में न केवल अपनी कन्याओं का स्वयंवर

कर विचित्रवीर्य के लिए कन्या ले आते। किन्तु काशिराज ने तो स्वयंवर किया है। अन्य राजा भी यही करेंगे। स्वयंवर का प्रचलन बढ़ रहा है। इसमें मात्र कन्या की इच्छा से वर चुना जाता है···और विचित्रवीर्य में ऐसा कुछ नहीं है कि कोई भी राजकुमारी उसे स्वयंवर में चुन ले···

तो क्या किसी कुरु-प्रमुख की कन्या से विचित्रवीर्य का विवाह कर दें या सूत वंश की किसी सुन्दरी से···या···या···किसी दासी से?···

पर नहीं! विचित्रवीर्य पर ही निषाद-कन्या का पुत्र होने का कलंक पर्याप्त नहीं है क्या कि उसकी सन्तानों को कुछ और भी सुनना पड़े···विचित्रवीर्य की पत्नी तो किसी किरीटधारी राजा की पुत्री ही होनी चाहिए। हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठनेवाली अगली पीढ़ियाँ क्षत्रिय समाज में किसी प्रकार भी उपेक्षित नहीं होनी चाहिए···

अगले ही दिन सत्यवती ने पुनः पूछा, "विचित्रवीर्य के विवाह के लिए कोई व्यवस्था···?"

भीष्म की इच्छा हुई कि पूछें, 'आप उस निर्बल, अस्वस्थ, रोगी और असंयमी लड़के के विवाह के लिए इतनी आतुर क्यों हैं? क्या आप यह नहीं समझतीं कि ऐसे वर के लिए कन्या कहीं से नहीं मिल सकती। और यदि कहीं से कोई कन्या मिल भी गयी तो विचित्रवीर्य का शरीर और मस्तिष्क, उसका दुर्बल स्नायु-तन्त्र··· दाम्पत्य जीवन का बोझ सह पायेंगे क्या?'

पर भीष्म जानते थे कि वे राजमाता को न ऐसा कुछ कह सकते हैं, न उनसे कोई ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं।···कुरुओं का राजसिंहासन भीष्म का था, उन्होंने स्वयं अपनी इच्छा से उसे त्यागा है। अब यदि वे एक भी ऐसा प्रश्न करेंगे, तो उसका अभिप्राय कहीं यह न समझ लिया जाये कि वे अपने त्याग पर पछता रहे हैं ···कोई यह अर्थ न निकाले कि वे इस प्रतीक्षा में हैं कि विचित्रवीर्य का कोई उत्तराधिकारी न हो और कुरुओं का राज्य पुनः भीष्म के हाथ में आ जाये?···नहीं! भीष्म के मन में ऐसा कुछ नहीं है, और वे ऐसा कुछ सुनना भी नहीं चाहते।···

गंगा-पार अपनी कुटिया में कितने प्रसन्न थे वे! न राज्य, न राज्य की समस्याएँ, न राज्य के उत्तराधिकारी की चिन्ता।···धीरे-धीरे कितनी भली प्रकार वे समझ रहे थे कि जिसे राज्य का धन, वैभव और सत्ता माना जाता है, वह और कुछ नहीं है, एक भ्रमजाल है। उसमें व्यक्ति एक बार प्रवेश कर जाये, तो उसके बन्धनों में बँधता ही जाता है। वह स्वयं को स्वामी समझता है और क्रमशः उस धन-वैभव और सत्ता का दास बनता जाता है—कैसे उसका भोग करूँ, कैसे उसकी रक्षा करूँ, कैसे उसका विस्तार करूँ—वह न स्वयं अपने आपको जान पाता है, न अपने

सृष्टा ब्रह्म की। वह तो उस माया का सेवक···नहीं बन्दी बनकर रह जाता है···

पर अब माया से मुक्ति का वह सुख भीष्म के लिए नहीं है।···उन्होंने राज्य त्याग दिया। पर त्यागना भी पर्याप्त नहीं है। जिसके लिए त्यागा है, उसके पास वह सुरक्षित रहना चाहिए···त्याग कर भी राज्य के झंझटों से वे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने माता सत्यवती को वचन दिया है कि हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर विचित्रवीर्य और उसकी सन्तानों की पीढ़ियाँ शासन करेंगी···

तो क्या करें भीष्म?

वे न तो स्वयं को इतना अक्षम मानते हैं कि अपने वचन का पालन न कर सकें और न वे इन राजाओं और सम्राटों को कुरु-कुल का अपमान करने देंगे···अब उन्होंने वचन दिया है तो वे उसे पूरा करेंगे···चाहे कुछ हो···अपने धर्म का पालन तो उन्हें करना ही होगा···

काशी में स्वयंवर हो रहा है। एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं का। क्षत्रिय समाज ने कन्याओं को अपना वर चुनने का अधिकार दिया है···पर साथ ही क्षत्रिय राजा के लिए कन्या-हरण भी गौरव का विषय है···

भीष्म चौंके।···क्या है उनके मन में? क्या वे काशिराज की कन्याओं के हरण की बात सोच रहे हैं?···किसी राजा की ओर से कन्यादान का प्रस्ताव नहीं आया है···विचित्रवीर्य इस योग्य नहीं है कि किसी स्वयंवर में जाकर किसी राजकुमारी का मन जीत सके।···तो फिर कुरु-कुल की लाज बचाने के लिए, कुरु-वंश के उत्तराधिकार की रक्षा के लिए, और अपने वचन को पूरा करने के लिए भीष्म को ही उद्यम करना पड़ेगा···

क्षत्रिय राजा कन्याओं का हरण करते हैं।···हाँ! पर अपने विवाह के लिए। और भीष्म ने अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की है···फिर हरण में कन्या की अपनी इच्छा भी होती है···कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसका हरण तो अपहरण हुआ··· पर कन्या की इच्छा क्या है, यह कौन जानता है···इससे पहले कि कन्या अपने लिए वर का चुनाव करे, अपनी इच्छा प्रकट करे, भीष्म इन कन्याओं का हरण कर लें?

···पर क्या यह धर्मसंगत होगा?

कन्याओं का उनकी इच्छा के विरुद्ध, या कम-से-कम उनकी इच्छा के अभाव में हरण तो अधर्म होगा···

किन्तु भीष्म को लगा कि उनकी इच्छा के विरुद्ध धर्म के तर्क उनके मस्तिष्क में टिक नहीं रहे। अपनी प्रतिज्ञा के पालन की इच्छा उनके मन में इतनी दुर्दान्त थी कि अपने विरुद्ध कोई तर्क वह सुन ही नहीं रही थी।···उनकी इच्छा ने फुफकार कर कहा, 'क्षत्रिय द्वारा युद्ध-निमन्त्रण देकर, शस्त्र बल के द्वारा, सार्वजनिक रूप

से कन्या का हरण, अधर्म कैसे हो सकता है ? युद्ध तो क्षत्रिय का धर्म है। युद्ध में कुछ भी विजय किया जा सकता है—धरती, गोधन, सम्पत्ति, स्त्री···प्रत्यक्ष युद्ध में वीरतापूर्वक किया गया प्रत्येक कृत्य धर्म है···'

किन्तु भीष्म को अपने लिए स्त्री नहीं चाहिए···कहीं कोई भ्रम न रहे··· विचित्रवीर्य के लिए कन्या-जय वे कैसे करें ?···

'क्यों', उनके मन ने तर्क किया, 'राजाओं के लिए उनके सेनापति विजय प्राप्त करते हैं। भीष्म भी हस्तिनापुर के राजसिंहासन के···' उनका मन रुक गया, 'क्या हैं राजसिंहासन के ?—सेवक, सेनापति, मन्त्री, जनप्रमुख···?'

और उनके एक अन्य मन ने उन्हें डाँटा, 'सावधान भीष्म ! तू राजा बनकर राज्य के मोह में नहीं फँसा तो अन्य पदों का क्या है।···तू राजसिंहासन का कुछ नहीं है। तू एक सभासद भी नहीं है। तू तो अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर !'

'हाँ !' उन्होंने सोचा, 'मैं अपने प्रतिज्ञा-धर्म का पालन करूँ। मैं अपने छोटे भाई के लिए कन्या-हरण कर लाऊँ। इसमें धर्म-विरुद्ध क्या है ?···'

'पर धर्म एकांगी तो नहीं है भीष्म !' उनके मन ने कहा, 'कहीं तुम अपनी इच्छा पूर्ण करने के अपने बलशाली अहंकार को ही तो धर्म का पट नहीं पहना रहे? तुम्हें सोचना चाहिए कि कन्या की इच्छा क्या है।'···'हाँ ! सोचना तो चाहिए।' उन्होंने अपने मन के साथ तर्क किया, 'किन्तु, विवाह के सन्दर्भ में तो कन्या की इच्छा कई बार उसके पिता भी नहीं पूछते···। वह दान की वस्तु है। काशिराज ने उसका दान न किया। भीष्म अपने क्षात्र-बल से उसे जीत लायें और उसका दान कर दें···'

पर भीष्म का मन हँसा, 'साहसिक का दान भी कभी दान हुआ है क्या ?···वे मात्र अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए अपनी इच्छा बलात् दूसरों पर आरोपित कर रहे हैं।'···उन्होंने मन को डाँटा, 'जब उन्होंने अपने पिता शान्तनु के लिए माता सत्यवती को प्राप्त करने के लिए दासराज को वचन दिया था, तब भी सत्यवती की इच्छा की चिन्ता उन्होंने नहीं की थी। राज्य त्यागने की प्रतिज्ञा की थी तो कुरु प्रदेश की प्रजा की इच्छा की चिन्ता उन्होंने नहीं की थी···और जब अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की थी तो कुरु-वंश के भविष्य की चिन्ता भी नहीं की थी···तो अब ही वे काशिराज की कन्याओं की चिन्ता क्यों करें···उन्होंने प्रतिज्ञा की है। वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। यही उनका धर्म है।'

अपनी प्रतिज्ञाओं के अन्धड़ के नीचे से एक धीमा-सा कोमल स्वर भी उन्हें सुनायी दे रहा था, 'तूने कंचन और कामिनी से दूर रहने के लिए प्रतिज्ञाएँ की थीं, या संसार में धँसे रहने के लिए ?···'

और जैसे भीष्म लौटकर उस क्षण में जा खड़े हुए, जब वे माता सत्यवती को हस्तिनापुर लाये थे और पिता से मिलने गये थे। पिता ने कहा था, 'कर्म

तुम्हारा है, स्वीकृति मेरी है'''कह नहीं सकता कि कर्म-बन्धन कितना तुम्हें बाँधेगा और कितना मुझे'''।'

'पिता!' भीष्म ने आकाश की ओर देखा।

[23]

"वीरसेन ! रथ रोक दो !" भीष्म ने अपने सारथि को आदेश दिया।

वीरसेन ने घोड़ों की वल्गा खींची; किन्तु कहे बिना नहीं रह सका, "अभी नगर दूर है राजकुमार !"

"हमें नगर से दूर ही रहना है !" भीष्म ने धीरे-से कहा।

वीरसेन अपेक्षा-भरी दृष्टि से भीष्म की ओर देखता ही रह गया; किन्तु भीष्म और कुछ नहीं बोले। सारथि के मन में अनेक प्रश्न थे : जब काशिराज की कन्याओं के स्वयंवर के लिए आये हैं, तो नगर के बाहर वन में रुकने का क्या अर्थ है, कोई मृगया के लिए तो आये नहीं हैं।'''पर यह राजकुमार से यह सब कह नहीं सकता था। उसे तो आदेश का पालन ही करना था।

भीष्म समझ रहे थे कि वीरसेन के मन में क्या है; किन्तु उसे इससे अधिक कुछ बताने का औचित्य वे नहीं मानते थे। अभी तो बहुत कुछ उनके अपने मन में भी स्पष्ट नहीं था, कि उन्हें क्या करना है, किस समय करना है; और किस विधि से करना है। इतना निश्चित था कि वे यहाँ से विचित्रवीर्य के लिए पत्नी प्राप्त करके ही जायेंगे'''

उन्हें या हस्तिनापुर के राज्य को काशी-नरेश ने इस स्वयंवर के लिए स्वयं निमन्त्रण नहीं भेजा था। हाँ ! हस्तिनापुर के दूतों से अवश्य कहलवा दिया था।''' ऐसा कोई नियम तो नहीं था कि बिना निमन्त्रण के स्वयंवर में जाया नहीं जा सकता था; किन्तु अधिक सम्माननीय तो यही था कि हस्तिनापुर के राजकुमारों को भी निमन्त्रित किया जाता।'''इस समय तो विचित्रवीर्य की पत्नी के रूप में उन्हें किसी उपयुक्त राजकन्या की खोज थी ही, अन्यथा भी शायद काशिराज द्वारा की गयी हस्तिनापुर की इस अवहेलना का दण्ड देने के लिए उन्हें काशी तक की यात्रा करनी ही पड़ती।'''जो भी हो, वे नगर में प्रवेश कर, स्वयंवर के लिए आमन्त्रित क्षत्रिय समाज के बीच रहना नहीं चाहते थे। राजकर्मचारियों को यह सूचित करने की उनकी तनिक भी इच्छा नहीं थी कि निमन्त्रण के अभाव में भी वे स्वयंवर में सम्मिलित होने के इच्छुक हैं। न वे यह विचार किसी के मन में आने देना चाहते हैं कि काशिराज ने चाहे हस्तिनापुर की कितनी ही उपेक्षा क्यों न की हो, हस्तिनापुर काशी की उपेक्षा नहीं करता'''

भीष्म रथ से उतर आये थे और गंगा के इस तट-प्रदेश को निहा

गंगा तो हस्तिनापुर में भी थी सहसा उनका ध्यान इस ओर गया···अब तक तो उन्होंने सोचा ही नहीं था। हस्तिनापुर और काशी में तो यह एक विशिष्ट सम्बन्ध है। ये दोनों नगरियाँ गंगा के तट पर बसी हुई हैं। इनका पालन-पोषण गंगा ने ही किया है। ये दोनों गंगा की पुत्रियाँ हैं···और भीष्म भी तो गंगा के ही पुत्र हैं। तो फिर काशी ने हस्तिनापुर के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने के स्थान पर यह उपेक्षा का भाव क्यों अपनाया है···यदि काशिराज ने हस्तिनापुर को भी बन्धु के रूप में अपने आयोजन में सम्मिलित होने का निमन्त्रण भेजा होता तो शायद भीष्म अत्यन्त सद्भावना के साथ आये होते। उन्होंने विचित्रवीर्य के लिए काशिराज से एक राजकुमारी की याचना की होती। काशी के इस मांगलिक आयोजन में आत्मीय बन्धु के रूप में सम्मिलित हुए होते···तब वे क्यों इस प्रकार नगर से बाहर, आमन्त्रित राज-समाज से विलग, वन में ठहरते···

उनकी दृष्टि गंगा-तट पर वृक्षों के एक झुण्ड पर पड़ी। कैसे पाँच-छह वृक्ष एक साथ जुड़े खड़े थे, जैसे परस्पर गले मिल रहे हों, या किसी गोपनीय परामर्श में संलग्न हों। छाया की दृष्टि से यह अच्छा स्थान था। तट से बहुत दूर भी नहीं था। कगार के नीचे उतरते ही गंगा की धारा थी। काशी आने-जानेवाले मार्गों से भी यह स्थान हटकर था। यहां रहने पर सभी आने-जानेवालों की दृष्टि में व्यर्थ ही पड़ने से भी वे बच जायेंगे। वे नहीं चाहते थे कि वे प्रत्येक यात्री की दृष्टि में पड़कर एक व्यर्थ की-सी उत्सुकता और जिज्ञासा को प्रेरित करें। लोग जानना चाहें कि यहाँ कौन ठहरा है, और जब पता चल जाये तो पूछें कि क्यों ठहरा है?··· उनके द्वारा सूचनाएँ काशी तक पहुँचें और काशी की वीथियों में यह चर्चा फैल जाये कि भीष्म किसी दस्यु के समान वन में छिपे बैठे हैं···

"वीरसेन!" उन्होंने पुकारकर कहा, "इस स्थान पर अपना शिविर स्थापित करो!"

"राजकुमार!"

उन्होंने वीरसेन की ओर देखा: शायद वह यही कहना चाह रहा था कि वे वन में क्यों शिविर स्थापित कर रहे हैं, पर कहने का साहस नहीं कर पा रहा था।···

"वीरसेन! हम आमन्त्रित नहीं हैं। अपनी इच्छा से आये हैं। अतः काशिराज के आतिथ्य का लाभ नहीं उठाना चाहते।"

वीरसेन कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। पर इससे अधिक की अपेक्षा भी वह नहीं कर सकता था। समझ गया कि राजकुमार के मन में बहुत कुछ है, पर शायद वे गोपनीय योजनाएँ हैं। उसे केवल आज्ञाओं का पालन करना है; अतः आज्ञा-पालन से ही सन्तुष्ट रहना होगा।

पीछे-पीछे आनेवाले दोनों रथ भी आ पहुँचे। उनमें कुछ सेवक थे और शेष शस्त्र ही शस्त्र। भीष्म अपने साथ एक भी योद्धा नहीं लाये थे।···

स्वयंवर-मण्डप एक व्यापक क्षेत्र को घेरकर बनाया गया था। यह स्थल नगर-प्राचीर के भीतर गंगा के घाटों के साथ लगता हुआ था और आमन्त्रित राजाओं के डेरे भी निकट ही थे। सैनिकों और सेवकों का स्थान वहाँ से कुछ हटकर था।

भीष्म स्वयंवर स्थल पर पहुँचे तो अनेक क्षत्रिय राजा अपने दो-एक निजी सेवकों के साथ वहाँ वर्तमान थे। काशिराज के सेवक और व्यवस्थापक लगातार उनके सत्कार में लगे हुए थे। स्वयंवर के आरम्भ होने के अभी कोई लक्षण नहीं थे; किन्तु शायद ये राजा लोग अभी से उसकी अपेक्षा भी नहीं रखते थे। यह शायद उनका सामाजिक स्नेह-मिलन था। वे परस्पर परिचय बढ़ाने में लगे थे। सम्भव है कि अनेक प्रकार के व्यक्तिगत और राजकीय सम्बन्ध यहाँ टूटते और जुड़ते हों। भीष्म को इसका कोई अनुभव नहीं था। भीष्म कभी इस सामाजिकता के अंग ही नहीं रहे। आज भी उनकी इसमें कोई रुचि नहीं थी···

भीष्म ने तटस्थ भाव से उस राज-समाज का निरीक्षण किया: विभिन्न वेश-भूषाओं में सजे, विभिन्न आकृतियों के राजा और राजकुमार एकत्रित थे वहाँ। अधिकांशतः नवयुवक थे, जो भीष्म को अत्यन्त चुभती हुई दृष्टि से देख रहे थे··· सहसा भीष्म का ध्यान अपने वय की ओर चला गया: वे अब पचपन वर्षों के होने को आये थे। केशों में कहीं-कहीं सफेदी आ गयी थी। दाढ़ी की श्वेत रेखाएँ तो दूर से भी दिखायी देती थीं···सहसा जैसे उन्हें उन नव-युवकों की दृष्टि का अर्थ समझ में आने लगा···कदाचित् वे समझ रहे थे कि भीष्म भी स्वयंवर के प्रत्याशी हैं ··भीष्म के भीतर जैसे एक चुहल-सी मचल गयी···स्वयंवर का प्रत्याशी और भीष्म!

उनकी दृष्टि अपने-आप से हटकर एक प्रौढ़ वय के राजा पर पड़ी: यह क्या कर रहा है यहाँ? सम्भवतः वह भी भीष्म के ही समान, किसी और के लिए आया होगा।···भीष्म के समान? पर भीष्म के समान कहाँ है वह। भीष्म के केश और दाढ़ी की श्वेतता उन्हें अपने वय से भी अधिक दिखा रही थी और उस प्रौढ़ राजा ने कदाचित् अपने नापित···या शायद सैरिन्ध्री की सहायता से उस श्वेतता को कलुषित कर रखा था···रंगे हुए बाल! भीष्म के मन में वितृष्णा जागी, क्या इन काले दिखनेवाले बालों से ही व्यक्ति युवक हो जायेगा? केशों की कालिमा क्या मुखाकृति की झुर्रियों को भी छिपा लेगी? और यदि झुर्रियाँ छिप भी जायें तो व्यक्ति का यौवन लौट आयेगा? युवा होना महत्त्वपूर्ण है या युवा दिखना? और किसलिए चाहिए इनको यौवन? नये विवाह के लिए? किसी राजकुमारी को भ्रमित करने के लिए? काम के दास बने रहने के लिए? यदि काम इन्हें छोड़ रहा है तो ये अपनी मुक्ति को पहचानने के स्थान पर लोलुप पंजों से उसे पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं···केश ही नहीं रंगे, और भी अनेक आयोजन किये हैं···लगता है, गंगा-जल से नहीं नहाये, सुगन्धित सरोवर में डुबकी लगाकर आये हैं···

उद्घोषक ने स्वयंवर की कार्यवाही आरम्भ होने की घोषणा की। राजा लोग अपने-अपने स्थानों पर आ गये; और भीष्म को भी परिचारक को अपना परिचय देना पड़ा, "सम्राट् शान्तनु के पुत्र, हस्तिनापुर के राजकुमार देवव्रत भीष्म!"

परिचारकों ने आश्चर्य से उनकी ओर देखा; पर तत्काल ही उनके लिए सम्मानपूर्ण स्थान की व्यवस्था कर दी गयी।

भीष्म का परिचय क्षण-भर में ही जैसे बहते हुए जल के समान फैलता चला गया। उनसे छिपा नहीं रहा कि अनेक उत्सुक और अनेक विरोधी दृष्टियाँ उन्हें देख रही थीं और अनेक प्रकार के स्वर भी उनके कानों से आ-आकर टकरा रहे थे। स्पष्टतः कहनेवाले लोग या तो सावधान नहीं थे या वे इस रूप में सावधान थे कि परस्पर के वार्तालाप में कही हुई उनकी बात, इतने उच्च स्वर में तो कही ही जाये कि भीष्म उसे सुन अवश्य लें।

"हमने तो सुना था कि भीष्म ने संन्यास ले लिया है।"

"संन्यास का तो पता नहीं, पर हाँ! यह तो मुझे भी बताया गया था कि उसने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा की थी।"

"ब्रह्मचर्य का पालन करने की ही तो प्रतिज्ञा की थी, स्वयंवर में सम्मिलित न होने की तो प्रतिज्ञा नहीं की थी।···"

"अरे तो यहाँ ही कौन उसके गले में जयमाला डालने को उत्सुक बैठा है। बेचारा बैठा है, राजकुमारियों को देखकर कुछ नयन-सुख प्राप्त कर लेगा, तो किसी का क्या बिगड़ जायेगा···।"

"पर इसने तो राज्य भी त्याग दिया था न?"

"हाँ।"

"तो राजकुमारियों के स्वयंवर में इसे किसने घुसने दिया?"

भीष्म की इच्छा हुई कि मुड़कर कहनेवाले उस व्यक्ति को तनिक देखें।···पर दूसरे ही क्षण उनका विवेक जागा···क्यों देखना चाहते हैं, वे उस व्यक्ति को?···अभी तो वे मात्र स्वर ही हैं। यदि उन्होंने उस व्यक्ति को देख लिया तो वह स्वर साकार होकर उनको अपना विरोधी, अपमान करनेवाला दिखने लगेगा। ऐसे में उनका हाथ अपने धनुष पर चला जायेगा···और क्षत्रिय का हाथ अपने धनुष पर चला जाय तो परिणाम प्रलयंकारी भी हो सकता है···

उनके चिन्तन ने नया मोड़ लिया···स्वयंवर में उनका उपस्थित होना मात्र, यदि क्षत्रिय राजाओं के इस समाज में ये प्रतिक्रियाएँ जगा रहा है, तो यदि उन्होंने काशिराज से आग्रह किया कि वे उन्हें विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने के लिए, एक कन्या प्रदान कर दें···तो क्या प्रतिक्रिया होगी इस राज-समाज में?···

इस बीच काशिराज सभास्थल में आ गये थे; और स्वयंवर के सम्बन्ध में अपनी इच्छा और प्रतिज्ञाओं की घोषणा कर रहे थे, "मेरी ज्येष्ठ पुत्री अम्बा है…"

भीष्म की दृष्टि अम्बा पर पड़ी…राजकुमारी सुन्दर थी…असाधारण सुन्दरी! कैसे तेज से राज-समाज को देख रही थी, जैसे चुनौती दे रही हो…है कोई तुम में, जो मेरा पति बनने योग्य हो?…उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थोड़ी देर के लिए झुकतीं भी तो पुनः उठकर जैसे राजाओं के उस समाज में से किसी को खोजने लगतीं… उसमें वयसन्धि का विभ्रम नहीं था…नव-यौवना का संकोच नहीं था। वह तो पूर्ण युवती थी, जो अपने पति को सहज अधिकार के रूप में खोज रही थी।

उसका वय सत्ताइस-अट्ठाइस वर्षों से कम नहीं रहा होगा। सम्भव है, उससे वर्ष-दो वर्ष अधिक ही हो…अभी तक काशिराज ने राजकुमारी का…अम्बा का …विवाह क्यों नहीं किया?…इस वयस तक तो राजकुमारियाँ अविवाहित नहीं रहती हैं…

सहसा भीष्म के मन में एक नया भाव जन्मा—'स्वयंवर' का तो अर्थ यही है, जहाँ राजकुमारी स्वयं अपने पति का वरण कर सके। उसके लिए आवश्यक है कि राजकुमारी विकसित बुद्धि की तो हो। कम वय की राजकुमारियाँ स्वयं वर चुनने का दायित्व नहीं निभा सकतीं। वे तो स्वयंवर का नाम ही करती हैं, वस्तुतः वे अपने पिता की ही इच्छा के अनुकूल चलती हैं…अम्बा, वस्तुतः स्वयंवर के लिए उपयुक्त वय में है…पर वय…हाँ! विचित्रवीर्य अभी छोटा है। कठिनाई से अभी सत्रह वर्षों का होगा। अम्बा उसके लिए उपयुक्त पत्नी नहीं हो सकती…

पर अम्बा सुन्दरी है। हस्तिनापुर की राजवधू होती तो राजप्रासाद की शोभा होती…और तभी जैसे भीष्म के भीतर का चिंतक जाग उठा—'क्या सुन्दर है अम्बा में?' भीष्म की दृष्टि उठकर अम्बा की मुखाकृति को निहारने लगी—'क्या सुन्दर है इस राजकुमारी में? क्या असाधारण है?'

'कुछ भी ऐसा सुन्दर नहीं है भीष्म!' उनके विवेक ने कहा, 'यौवन का [illegible]

[illegible]

नारी के रूप में नहीं, दुर्बलता पुरुष के हृदय में होती है…तुमने मात्र अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा नहीं की है; तुमने ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा की है। तुमने अपने पिता को देखा है: *उन्होंने काम-सुख कम, काम-यातना अधिक पायी।* यह जो कुछ भी सुख कहलाता है, वह दुख का मायावी मुखौटा है। तुम्हें मुखौटे के पीछे छिपे चेहरे को पहचानना होगा।…अपने हृदय के चुम्बक को घिसकर, चूर्ण बनाकर बहा दे। तेरा संकल्प प्रकृति के बन्धनों को तोड़ने का है, अपनी सीमाओं के अतिक्रमण का है। प्रकृति के माया-जाल से निकलना है, तो उन खूँटों को पहचान,

जो प्रकृति ने तुझे दास बनाये रखने के लिए, तेरे भीतर गाड़ रखे हैं···'

भीष्म ने अपने मस्तक को झटका। यह सब क्या सोच रहे हैं वे ?···वे यहाँ विचित्रवीर्य के लिए एक पत्नी प्राप्त करने के लिए आये हैं। और उन्होंने देख लिया है कि अम्बा वय की दृष्टि से विचित्रवीर्य की पत्नी होने योग्य नहीं है···इससे अधिक राजकुमारी में उनकी रुचि का अर्थ ?···

और तभी दूसरी राजकुमारी आयी और काशिराज ने घोषणा की, "यह मेरी दूसरी पुत्री है अम्बिका !···"

भीष्म ने देखा : अम्बिका, अम्बा से कम-से-कम पाँच-सात वर्ष अवश्य छोटी होगी। विचित्रवीर्य की पत्नी होने के लिए, वह भी बड़ी ही थी; किन्तु इनका अन्तराल कम था। आपद्धर्म के रूप में उसका विवाह विचित्रवीर्य से किया जा सकता था, यद्यपि वह आदर्श युगल नहीं होता···अम्बिका की मुखाकृति पर अम्बा जैसा तेज नहीं था। उसके रूप में प्रखरता के स्थान पर कोमलता थी। वह जैसे बौरायी-सी खड़ी थी और शायद चाहती थी कि या तो तत्काल यहाँ से हट जाय, या फिर अपनी आँखें बन्द कर ले···

तभी तीसरी राजकुमारी आयी। और काशिराज ने कहा, "यह मेरी तीसरी पुत्री है अम्बालिका !"

अम्बालिका···यह अम्बिका से भी चार-पाँच वर्ष छोटी थी। सुन्दर थी··· किशोरी-सी। हो सकता है, विचित्रवीर्य से दो-एक वर्ष बड़ी हो···किन्तु तीनों बहनों में वय की दृष्टि से वही विचित्रवीर्य के निकटतम थी···

'काशिराज ने अपनी बड़ी पुत्रियों का विवाह आज तक क्यों नहीं किया ?' भीष्म के मन में प्रश्न पुनः गूंजा, 'क्या उनको भी अपनी पुत्रियों के लिए उपयुक्त वर नहीं मिला ?···पर अम्बा को देखकर यह तो नहीं लगता कि ऐसी रूपवती राजकुमारी को कोई वर ही नहीं मिला होगा···या कोई और कारण ?···'

राजकुमारियाँ वरमाला हाथों में लिये मंच को छोड़ नीचे उतर आयीं।

···भीष्म जैसे स्वप्नलोक से जागे···वे दार्शनिक चिन्तन करने, या विश्व-भर की समस्याओं को सुलझाने यहाँ नहीं आये हैं।···उनका निश्चित उद्देश्य है। वे अपने धर्म का पालन करने आये हैं।···उनका वचन···

राजकुमारियाँ धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थीं। काशिराज के परिचारक उन्हें एक-एक राजा और राजकुमार का परिचय दे रहे थे। उनका परिचय समाप्त होता, तो राजा के अपने चारण उनकी प्रशंसा आरम्भ कर देते। राजकुमारियाँ सुनती रहतीं और फिर आगे बढ़ जातीं।

···सामान्यतः स्वयंवरों में राजकुमारियाँ एक बार सारे स्वयंवर-स्थल में घूम

कर प्रत्याशियों का परिचय प्राप्त कर लेती हैं—ऐसा भीष्म ने सुना था—और फिर अपने चुनाव के अनुसार दूसरी बार जाकर अपने प्रिय व्यक्ति के गले में जयमाला डाल देती है। किन्तु···भीष्म हल्की चिन्ता के साथ सोच रहे थे, 'यदि यह चुनाव, पहले से हो चुका हो। राजकुमारी या उसके पिता पहले से निर्णय कर चुके हों कि सम्बन्ध कहाँ होना है, तो फिर स्वयंवर तो एक आडम्बर मात्र ही रह जाता है।···' और भीष्म की चिन्ता जैसे घनीभूत-सी होने लगी, 'यदि काशिराज की इन पुत्रियों ने भी पहले ही यह निर्णय कर लिया हो और भीष्म तक पहुँचने से पूर्व ही उन्होंने अपना वर चुन लिया तो?···जयमाला गले में डालते ही, विवाह सम्पन्न हो गया मान लिया जायेगा।···ऐसे में विवाहिता राजकुमारियों का अपहरण नहीं किया जा सकता···वह अधर्म होगा, अन्याय···ऐसा तो दस्यु लोग ही करते हैं···

राजकुमारियाँ कुछ और आगे आ गयी थीं···पर भीष्म को लग रहा था कि उनकी आगे बढ़ने की गति अत्यन्त धीमी है। ऐसे तो उन्हें भीष्म तक पहुँचने में बहुत समय लगेगा···उनके मन में काशिराज के परिचारकों के प्रति खीझ जन्मी, क्यों उन्होंने भीष्म को यहाँ, इतनी दूर बैठा दिया···और सहसा यह खीझ पलटकर स्वयं भीष्म के अपने ऊपर आरूढ़ हो गयी। वे यहाँ बैठे ही क्यों? वे स्वयंवर में प्रत्याशी के रूप में भाग लेने नहीं आये हैं। तो फिर वे स्वयंवर के सारे नियम, सारे प्रतिबन्ध क्यों स्वीकार कर रहे हैं··· या तब यदि वे इस स्थान पर बैठ भी गये थे तो अब क्यों उठ खड़े नहीं होते···वे उठें, आगे बढ़ें और कहें कि वे इस स्वयंवर के किसी नियम को नहीं मानते···

ऊहापोह में समय बीत रहा था और राजकुमारियाँ आगे बढ़ रही थीं। अब वे भीष्म से बहुत दूर नहीं थीं और संयोग से अभी तक उनमें से किसी राजा या राजकुमार को चुना नहीं था···

भीष्म की चिन्ता कुछ कम हुई। अब इतने थोड़े-से समय में ऐसा सम्भव नहीं है कि तीनों की तीनों राजकुमारियाँ किसी का वरण कर लें···

और क्रमशः वे आकर भीष्म के सम्मुख खड़ी हुईं। भीष्म ने देखा : अम्बा उनकी ओर देख रही थी, एक परख भरी दृष्टि से। उसकी दृष्टि में जिज्ञासा थी, कई प्रश्न थे।···अम्बिका की दृष्टि इतनी झुकी हुई थी, कि उसकी आँखें प्रायः बन्द-सी लग रही थीं। अम्बालिका का जैसे अपना कोई अस्तित्व नहीं था, वह अपनी बहनों के साथ बँधी-बँधी चल रही थी···दबी-झुकी, संकुचित-सी···

परिचारक ने भीष्म का परिचय दिया, "राजकुमारी! ये हस्तिनापुर के राजकुमार देवव्रत हैं। इन्होंने अपने पारिवारिक कारणों से, स्वेच्छा से राज्याधिकार त्याग दिया है; और आजीवन ब्रह्मचर्य के पालन की प्रतिज्ञा की है। इन्हीं प्रतिज्ञाओं के कारण इनके पिता ने इन्हें 'भीष्म' की संज्ञा दी है। विवाह न करने की प्रतिज्ञा

करनेवाले ये राजकुमार इस स्वयंवर में···"

और तभी भीष्म उठ खड़े हुए, "ठहरो परिचारक ! देवव्रत भीष्म इस स्वयंवर में विवाह के प्रत्याशी के रूप में नहीं आया है।"

अम्बा ने जैसे चौंककर भीष्म को देखा और भीष्म को लगा कि अम्बिका की आँखें भी जैसे खुल गयीं और अम्बालिका की अन्यमनस्कता भी कुछ दूर हो गयी। आस-पास बैठे राजाओं की आँखों में भी अनेक प्रश्न उभर आये थे।

भीष्म ने अपना स्वर ऊँचा किया और घोषणा-सी करते हुए कहा, "काशिराज, काशी का राजपरिवार और उपस्थित सभी राजागण सुनें। मैं इस क्षत्रिय समाज के सम्मुख काशी की इन राजकुमारियों का हरण कर रहा हूँ। आप सब वीर हैं, शस्त्र-धारी हैं और योद्धा हैं। मेरे साथ युद्ध करने और मुझे रोकने के लिए आप स्वतन्त्र हैं। मेरा वध कर, इन राजकुमारियों को पुनः प्राप्त भी कर सकते हैं।···यदि मेरा वध हुआ तो राजकुमारियाँ स्वयंवर में विधिपूर्वक अपना वर चुनने में स्वतन्त्र हैं और यदि आप पराजित हुए तो मैं क्षत्रिय धर्म के अनुसार इन्हें हस्तिनापुर ले जाऊँगा।"

भीष्म ने अपना विशाल धनुष उठाया, "राजकन्याओ ! मण्डप से बाहर चलो। वहाँ मेरा रथ प्रतीक्षा कर रहा है···!"

अम्बा ने दृष्टि उठाकर अपने पिता की ओर देखा : काशिराज किंकर्तव्यविमूढ़-से खड़े कभी भीष्म को देख रहे थे, कभी अपनी कन्याओं को; और कभी राजाओं की उपस्थित भीड़ को।···पिता ने शायद अपनी कन्याओं के हरण जैसी किसी घटना की कल्पना भी नहीं की थी। उन्होंने अपनी सेना को ऐसी किसी आपात स्थिति के लिए सन्नद्ध भी नहीं रखा था। जहाँ-तहाँ कुछ प्रहरी अवश्य खड़े थे; किन्तु वे राजसी शोभा के ही अंग थे। वे भीष्म के साथ युद्ध जैसे दुर्धर्ष कृत्य के लिए किसी भी रूप में प्रस्तुत नहीं थे।···और वैसे भी अम्बा को बहुत सन्देह था कि पिता की सेना यदि तैयार होकर लड़ने भी आये, तो क्या भीष्म जैसे योद्धा का सामना कर पायेगी ?

तो फिर पिता ने स्वयंवर जैसा जोखिमपूर्ण आयोजन क्यों किया ? जहाँ इतने राजा एकत्रित हों···और सारे-के-सारे योद्धा हों, वहाँ इस प्रकार की स्थिति तो उपस्थित हो ही सकती है। कोई भी राजा युद्ध की चुनौती दे सकता है···या कहीं, पिता को इन उपस्थित राजाओं का ही तो भरोसा नहीं था। कहीं इन्हीं राजाओं की शक्ति पर ही तो अपनी सुरक्षा का विश्वास नहीं किये बैठे थे पिता···

उसकी दृष्टि राजाओं की उपस्थित भीड़ पर पड़ी : वे सबके सब खड़े थे। उनके हाथों में धनुष-बाण नहीं, बहुमूल्य उत्तरीय थे। उनकी भुजाओं में अंगद और कंगन थे, गले में बहुमूल्य रत्नमालाएँ थीं···

"राजकन्याओ !" भीष्म ने उन्हें पुनः सम्बोधित किया, "मुझे बल प्रयोग न

करना पड़े। तुम लोग चलकर रथ में बैठो। तब तक यह राज-समाज सोच ले कि इसे युद्ध करना है या नहीं।"

दोनों छोटी बहनों ने अम्बा की ओर देखा। अम्बा शायद अपना निर्णय ले चुकी थी। उसने संकेत किया, "चलो।"

राजकन्याएं चलीं तो अम्बा को ही नहीं, स्वयं भीष्म को भी आश्चर्य हुआ कि योद्धाओं का वह समाज उनके मार्ग में आड़े आने के स्थान पर फटता चला गया और उनके लिए मार्ग बनता गया···

काशिराज ने चीत्कार किया, "राजागण! मेरा क्या है। मैं मान लूंगा कि मैंने स्वयंवर में अपनी पुत्रियाँ वीर्यशुल्का घोषित कर दीं। भीष्म ने वीरता दिखायी और उन्हें हरकर ले गया; पर तुम लोग संसार को क्या मुख दिखाओगे?"

रथ पर पग धरते समय अम्बा की दृष्टि एक बार फिर राजाओं पर पड़ी।··· सौभराज शाल्व ने अपना उत्तरीय शरीर से हटा दिया था। वह चिल्लाया, "भीष्म! रुको। तुम ऐसे नहीं जा सकते। और कोई तुमसे लड़े या न लड़े; पर मैं तुम्हें इस प्रकार नहीं जाने दूंगा। ठहरो! मैं कवच धारण कर लूं···।"

भीष्म मुस्कराये, "शाल्व! मैं खड़ा हूं। तुम ही क्यों, इन सारे राजाओं से कहो कि ये लोग युद्ध-वेश सजा लें; कवच पहन लें; अस्त्र-शस्त्र धारण कर लें; रथ और सारथि मँगवा लें। मैं तुम्हें असावधान पाकर आकस्मिक आक्रमण कर कन्याओं को लेकर भाग जानेवाला दस्यु नहीं हूं। मैं भरत वंश का क्षत्रिय हूं। चुनौती दे चुका। अब तुम्हें तैयारी के लिए समय दे रहा हूं। युद्ध का अवसर भी दूंगा। बिना युद्ध किये इन कन्याओं का हरण कर ले गया तो इन राजकुमारियों का ही महत्त्व कम हो जायेगा। मैं नहीं चाहता कि कल कोई कहे कि भीष्म ने उन कन्याओं का हरण किया, जिनके लिए युद्ध करने को कोई राजकुमार तैयार नहीं था।"

राजकुमारियाँ रथारूढ़ हुईं और भीष्म अपना धनुष लेकर सन्नद्ध खड़े हो गये। नगर से बाहर, शिविर में छोड़े हुए दोनों रथों को भी उनके सारथि हाँक लाये। उनमें शस्त्रास्त्र लदे थे। वे दोनों रथ, भीष्म के रथ के दायें-बायें खड़े हो गये।

भीष्म आश्वस्त थे। उनके पास पर्याप्त शस्त्रास्त्र थे। शस्त्र-परिचालन का कौशल उन्हें अपने महान गुरुओं से मिला था; और उनके विश्वसनीय सेवक उनके साथ थे। यह सारा राज-समाज मिलकर भी उनके सम्मुख टिक नहीं पायेगा···

अम्बा जैसे एक आँख से शाल्व को देख रही थी और दूसरी से भीष्म को। शाल्व के सेवक उसके लिए कवच और शस्त्रास्त्र ले आये थे और वह कवच धारण कर रहा था। भीष्म आश्वस्त खड़े मुस्करा रहे थे—कैसा आत्मविश्वास था भीष्म में! ऐसा योद्धा तो अम्बा ने पहले कभी नहीं देखा था।

थोड़ी ही देर में स्वयंवर का मण्डप, रणक्षेत्र में परिणत हो गया। परिचारक हट गये, दासियाँ विलुप्त हो गयीं। राज-परिवार और उनके सम्बन्धी कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे। जिन काशिराज को आतिथेय के रूप में इतना समर्थ होना चाहिए था, कि वे सारे क्षत्रिय राजा परस्पर लड़ पड़ते तो वे इन सबका अनुशासन कर सकते, इनकी सुरक्षा का दायित्व ले सकते; वे दूर एक कोने में असहाय-से खड़े थे··· जाने क्या था उनके मन में!

युद्ध शाल्व ने ही आरम्भ किया। पहला बाण उसी ने छोड़ा, किन्तु तब तक अन्य अनेक राजा युद्ध के लिए तैयार हो गये थे। विभिन्न शस्त्रों की झंकार और मानव-कण्ठों का कोलाहल बहुत था, किन्तु प्रमुख तो धनुष ही था। दोनों ओर से बाण चल रहे थे।···किन्तु अम्बा ने आश्चर्य से देखा: कहीं ऐसा आभास नहीं हो रहा था कि एक ओर अकेले भीष्म हैं और दूसरी ओर अनेक वीर और युद्ध-प्रिय राजा! बराबर का युद्ध था। जितने बाण इतने सारे राजा मिलकर छोड़ते थे, उन सबका तोड़ अकेले भीष्म के पास था। शाल्व और अन्य राजाओं के बाण भीष्म तक नहीं पहुँच रहे थे। भीष्म के बाण उन्हें मार्ग में ही निरस्त कर देते थे।···और तब शायद अम्बा ने पहली बार समझा था कि युद्ध शरीर का बल नहीं था, युद्ध शायद मन का साहस भी नहीं था, युद्ध तो मात्र शस्त्र-कौशल था। शस्त्रों का ज्ञान था। शस्त्रास्त्रों का चुनाव था। अकेले भीष्म का कौशल, इतने राजाओं के सम्मिलित बल पर भारी पड़ रहा था। आखिर भीष्म के बाणों में क्या था कि शेष-नाग के समान वे शत्रुओं के शस्त्रास्त्रों को ऐसे खा लेते थे, जैसे वे मात्र केंचुए हों। लगता था कि सम्मिलित राज-समाज केवल अन्धाधुन्ध बाण फेंक रहा था, जैसे कोई भीड़ लक्ष्यहीन पथराव कर रही हो; और भीष्म इस प्रकार निश्चित शस्त्र-परिचालन कर रहे थे, जैसे उनका एक-एक लक्ष्य देखा और परखा हुआ हो···

आधे प्रहर में ही स्पष्ट हो गया कि भीष्म के विरुद्ध युद्ध करने की क्षमता उस सारे राज-समाज की सम्मिलित शक्ति में भी नहीं है। अब तक प्रायः राजाओं का युद्धोत्साह भी क्षीण हो गया था; केवल एक शाल्व ही पूरे उत्साह के साथ बाण चलाता जा रहा था।

"क्षत्रिय!" भीष्म बोले, "मैं तुम्हारे उत्साह की प्रशंसा करता हूँ और तुम्हारे साहस के लिए भी मेरे मन में सम्मान है। पर, मैं यहाँ कन्या-हरण के लिए आया हूँ, निरीह हत्याओं के लिए नहीं।···अब यदि युद्ध आगे चला, तो तुम्हारे साथी युद्ध छोड़ जायेंगे और तुम वीरगति प्राप्त करोगे।···इसलिए मैं अब अपना रथ चलाता हूँ। तुम चाहो तो मेरा रथ रोक लो।"

भीष्म ने अपने सारथि को संकेत किया। उनके रथ ने सारे युद्ध-क्षेत्र में एक चक्कर लगाया, जैसे सर्वेक्षण कर रहा हो; और नगर के बाहर जानेवाले मार्ग पर मुड़ गया।

भीष्म का कथन सत्य प्रमाणित हुआ। सारे राजा जहाँ-के-तहाँ खड़े रहे। बस अकेले शाल्व का रथ उनके पीछे चला; और उसके बाणों के साथ-साथ उसका स्वर भी भीष्म तक पहुँचा, "रुक जाओ भीष्म ! तुम मुझे पराजित किये बिना युद्ध-क्षेत्र से इस प्रकार नहीं भाग सकते।"

भीष्म के संकेत पर सारथि ने रथ रोक दिया।

"युद्ध की इच्छा पूरी कर लो।" वे बोले, "भीष्म युद्ध-क्षेत्र से भागने की कल्पना भी नहीं कर सकता।"

भीष्म के बाणों की गति सहसा ही बहुत तीव्र हो गयी। अम्बिका ने भय से आँखें बन्द कर लीं। अम्बालिका ने मुँह फेर लिया; और अम्बा कभी शाल्व को देख रही थी, कभी भीष्म को; जैसे निर्णय करना चाहती हो कि दोनों में अधिक वीर कौन है ?

शाल्व का सारथि आहत होकर चलते रथ से गिरकर भूमि पर लुढ़क गया। सारथि विहीन रथ के घोड़े, बाणों की बौछार से अनियन्त्रित होकर इतनी असावधानी से दौड़ रहे थे, जैसे अभी रथ को उलट देंगे और रथी को भूमि पर पटककर अपने ही रथ के पहियों से कुचल देंगे···

तभी भीष्म के बाणों ने एक-एक कर दोनों घोड़ों को मार गिराया। रथ रुक गया।

भीष्म अपने रथ से उतरकर शाल्व के पास पहुँचे; उन्होंने अपना खड्ग उसके वक्ष पर रखा···

अम्बा का मन हुआ कि वह अम्बिका के समान आँखें बन्द कर ले। पर न अम्बा आँखें बन्द कर पायी और न भीष्म ने खड्ग का प्रयोग किया।

भीष्म बोले, "मैं निरीह हत्याएँ नहीं करता। स्वयंवर वध के लिए होता भी नहीं। मेरा लक्ष्य पूरा हो गया। अब मत कहना कि भीष्म रणक्षेत्र से भागा है।"

शाल्व भूमि पर पड़ा-पड़ा, फटी-फटी आँखों से भीष्म को देखता रहा। उसकी आँखों में मृत्यु का साक्षात्कार था···

भीष्म ने खड्ग कोश में डाला। लौटकर रथारूढ़ हुए और बोले, "चलो सारथि !"

[24]

काशी को पीछे छोड़कर रथ काफी आगे बढ़ आया था, पर भीष्म सतर्क प्रहरी के समान सन्नद्ध बैठे रहे। अम्बा उन्हें देखती रही और सोचती रही कि यह व्यक्ति अब विश्राम क्यों नहीं करता ? अब क्यों तनकर धनुष हाथ में लिये बैठा है ? क्या

समझता है वह कि काशी-नरेश अपनी सेनाएँ लेकर उसका पीछा करेंगे ?···अम्बा का मन हुआ कि वह इस स्थिति में भी हँस पड़े। पर वह हँसी नहीं। उसने अपनी दोनों छोटी बहनों को देखा : कैसी सहमी बैठी हैं, जैसे किसी पक्षी के डरे हुए शावक हों। उसका मन हुआ कि अपनी इन दोनों छोटी बहनों को अंक में समेटकर आश्वासन दे। डरने की क्या बात है ? काशी में भी तो वे स्वयंवर में ही खड़ी थीं—विवाह के लिए। विवाह तो उनका अब भी हो ही जाएगा। अन्तर इतना ही है कि काशी के स्वयंवर में उनके सामने अनेक राजकुमार थे, राजा थे। वे उनमें से किसी एक को चुन सकती थीं, पर अब उनके सामने विकल्प नहीं था। भीष्म की इच्छा ही उनकी नियति थी, वही उनका भविष्य था।···वैसे पिता को भी क्या आपत्ति हो सकती थी। पिता इतना ही तो चाहते थे कि उनका विवाह हो जाए; तो विवाह तो हो ही जायेगा। ऐसे में पिता को सैन्य-संग्रह का, रक्तपात करने की क्या आवश्यकता थी। पिता, इस बात को समझते थे। शायद इसीलिए वे शान्त रहे। वे स्वयं किसी वर को चुनते, तो उसका दायित्व उन पर होता। उसके अच्छा या बुरा होने पर टीका-टिप्पणी की जाती ! पुरानी प्रथा के अनुसार वे अपनी कन्याओं को दान करते हुए उनके विनिमय में शुल्क लेते, तो शायद क्षत्रिय समाज उनकी निन्दा करता।···आजकल अनेक राजघरानों में यह चेतना घर कर गयी है कि कन्या के विक्रय और उसके विवाह में अन्तर है। विवाह एक सम्मानजनक प्रथा है, जिसमें एक नये परिवार से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। उसमें पिता कन्यादान करता है और साथ ही अपनी क्षमता-भर उपहार-स्वरूप कन्या को दहेज दिया जाता है। दहेज जितना अधिक होगा, ससुराल में कन्या का सम्मान भी उतना ही अधिक होगा। कन्या ससुराल में जाकर वहाँ की सारी सम्पत्ति की स्वामिनी बनती है, तो पितृकुल की ओर से भी तो कुछ योगदान होना चाहिए···या शायद यह सोचा गया कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी सारी सम्पत्ति पुत्रों को उत्तराधिकार में मिलती है। भाई अपनी बहन को कुछ नहीं देंगे, इसलिए पिता अपनी पुत्री को घर से विदा करते हुए, अपनी सम्पत्ति में से उसका अंश उसे दे देता है···

पिता कुछ भी सोचते, उनको तीन बेटियाँ विदा करने के लिए काफी कुछ देना पड़ता···अब विवाह तो इस ढँग से भी हो ही जायेगा; पिता को न कुछ देना पड़ा, न न देने के लिए निन्दा का भाजन बनना पड़ा।···यह सब सोचने पर पिता को प्रसन्नता नहीं होगी कि उनकी पुत्रियों को युद्ध-निमन्त्रण देकर, भरे-पूरे क्षत्रिय समाज में से हर लिया गया। वे हस्तिनापुर के राजपरिवार में गयीं। वीर क्षत्रियों का प्रमुख और प्रसिद्ध वंश···

क्या ऐसी ही किसी घटना की प्रतीक्षा में पिता ने आज तक अम्बा और अम्बिका का वय-प्राप्त होने पर भी विवाह नहीं किया था, या अपने अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए उन्हें अवकाश ही नहीं मिला था। पिता, अन्यत्र इतने व्यस्त थे, उनमें

सांसारिक व्यावहारिकता नहीं थी, वे पुत्रियों की ओर से उदासीन थे, या किन्हीं कारणों से वे उनका विवाह ही करना नहीं चाहते थे?···

अम्बा को आज भी याद है कि जिस दिन वह सोलह वर्षों की हुई थी, उसी दिन माँ ने पिताजी से कहा था कि वे अपनी कन्या के लिए वर ढूँढ़ने का प्रयत्न करें। तब अम्बिका दस वर्षों की थी, और अम्बालिका पाँच वर्षों की।

पिता ने हल्के-से गुनगुनाते हुए-से स्वर में कुछ ऐसा कहा था कि क्षत्रिय राजाओं को बहुत सारे काम होते हैं। स्त्रियों के समान केवल शादी-विवाह की ही सोचते रहना उनके लिए जीवन का लक्ष्य नहीं होता।

माँ ने कुछ याचना और कुछ उपालम्भ के-से मिश्रित स्वर में कहा था कि पिता को पिता का दायित्व निभाना ही पड़ेगा, चाहे वह सामान्य जन हो या राजा। रानी यह कहकर प्रसव से इन्कार नहीं कर सकती कि वह रानी है। वह भी सामान्य नारी के समान सन्तान को जन्म देती है; और उसका पालन-पोषण करती है।

माँ और पिता में ऐसी कहा-सुनी अम्बिका की सोलहवीं वर्षगाँठ पर भी हुई थी और फिर अम्बालिका की सोलहवीं वर्षगाँठ पर भी। और अन्त में तो माँ ने झल्लाकर यहाँ तक कह दिया था, 'पुत्रियों के विवाह नहीं करोगे तो ये किसी की भार्या बनकर सन्तान उत्पन्न करने के स्थान पर, हमारी कन्याओं के रूप में ही सन्तान को जन्म देंगी। उनकी कानीन सन्तान को स्वीकार करोगे तुम?'

'ऋषि तो कानीन सन्तान को भी उतना ही पवित्र और सम्मानजनक मानते हैं।' पिता ने निश्चिन्त भाव से कहा था।

'पर क्षत्रिय समाज तो अब कानीन सन्तान को स्वीकार करने में आनाकानी करने लगा है न!' माँ ने कहा था, 'आनाकानी ही क्यों, हमारा समाज तो अब इसे कलंक मानने लगा है।'

पिता ने कुछ कहा नहीं, पर उनका भाव कुछ ऐसा ही था, जैसे कह रहे हों, 'मानता है तो मानता रहे।'

क्रमशः माँ का आग्रह उग्र होता गया और पिता उदासीन होते गये। लगता था, जैसे वे इस विषय में कुछ सुनना ही नहीं चाहते थे; पर माँ ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। किन्तु, इस आग्रह का भी दबाव माँ के मन पर ही था, पिता के मन पर नहीं। परिणामतः माँ रोगिणी होकर शैया से लग गयी। माँ का आग्रह जिस अनुपात में बढ़ रहा था, उसी अनुपात में उनका रोग भी बढ़ रहा था; या जिस मात्रा में उनका रोग बढ़ रहा था, उसी अनुपात में उनका आग्रह भी बढ़ रहा था।

और फिर एक दिन सौभ नरेश शाल्व पिता से मिलने के लिए आये। किसी राजा का पिता से मिलने के लिए आना कोई नयी बात नहीं थी; पर इस प्रकार का राजा पहली बार ही आया था। उसने अम्बा को कैसी-कैसी आँखों से तो देखा था। जाने उन आँखों में क्या था कि अम्बा का मन जैसे उसकी ओर उमड़-उमड़

आता था, मानो सागर की उत्ताल लहरें पूर्णिमा के राकेश की ओर खिच-खिच जाती हैं।

"राजकुमारी ! तुम अत्यन्त सुन्दरी हो, असाधारण सुन्दरी ! कहीं तुम उर्वशी तो नहीं हो।"

अम्बा का चिर-तृषित मन कैसा तो हो गया था। आज तक किसी ने उसे ऐसी आँखों से नहीं देखा था। आज तक किसी ने उसके रूप का बखान इन शब्दों में नहीं किया था। अम्बा आज तक यह जानती ही नहीं थी, कि पुरुष की ऐसी दृष्टि और उसके ऐसे शब्दों का प्रभाव नारी-मन पर क्या होता है।···उसके हृदय के कपाट जैसे पहली बार किसी आगन्तुक के खटखटाने पर खुले थे। आगन्तुक उसकी ओर देख रहा था, जैसे सोच रहा हो कि द्वार खटखटा तो दिया है, पर अब प्रवेश भी करना है क्या ?···और अम्बा सोच रही थी, कपाट खोल तो दिये हैं, पर सामने आगन्तुक को देखकर संकोच से कपाट फिर से भिड़ा देने चाहिए या···पर यदि उसने कपाट भिड़ा दिये और आगन्तुक उस अस्वीकृति से निराश होकर लौट गया तो ? उसने दूसरी बार कपाट खटखटाये ही नहीं तो ?···

पर शाल्व ने इस असमंजस को अधिक देर तक नहीं टिकने दिया। बोला, "राजकुमारी ! मैं तुमसे विवाह करना चाहता हूँ। तुम मेरी पत्नी बनना चाहोगी ?"

"यह पिताजी को स्वीकार नहीं होगा।" जाने कैसे अम्बा ने बिना सोचे-समझे ही कह दिया।

"क्यों ?"

क्यों—यह तो अम्बा स्वयं भी नहीं जानती थी। क्या ऐसा है भी, वह यह भी नहीं जानती थी। उसने तो माँ के द्वारा पिता पर लगाये गये आक्षेपों को सच मान कर ऐसा कह दिया था।···

"क्यों ?" शाल्व ने पुनः पूछा।

"पता नहीं !" वह बोली, "मुझे ऐसा ही लगता है।"

"अम्बे !" शाल्व ने पहली बार उसे उसके नाम से सम्बोधित किया, "मैं सौभ का किरीटधारी राजा हूँ। मुझे काशिराज अस्वीकार कैसे कर सकते हैं ?"

"आपको अस्वीकार करने की बात नहीं है।" अम्बा बोली, "वे शायद मेरा विवाह ही नहीं करना चाहते।"

"क्यों ?" पुनः वही प्रश्न।

"मैं नहीं जानती !" अम्बा सहज भाव से कह गयी, "मुझे ऐसा लगता है।"

और कहने के साथ ही जैसे वह डर गयी, कहीं शाल्व ने पूछ लिया कि उसे ऐसा क्यों लगता है—तो ?

पर शाल्व ने 'क्यों' नहीं पूछा। उसने कहा, "यदि काशिराज तुम्हारा विवाह

मेरे साथ नहीं करेंगे, तो मैं तुम्हारा हरण करूँगा। यद्यपि मैं चाहता नहीं, किन्तु यदि आवश्यकता हुई तो मैं तुम्हारे पिता के साथ युद्ध भी करूँगा। संहार करना पड़ा तो संहार भी करूँगा। मैं रक्त की नदी में तैरकर, युद्ध-क्षेत्र में सहस्रों शवों को रौंदकर भी तुम्हें उठाकर ले जाऊँगा।"

अम्बा को शाल्व और भी अद्‌भुत लगने लगा। उसकी बातें अम्बा को बहुत प्रिय लगीं, जैसे वह युद्ध और रक्तपात की बातें न कर, उद्यान में खिल आये वसन्त के पुष्पों की चर्चा कर रहा हो।

"मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता, राजकुमारी!"

और अम्बा को लगा कि किसी ने अमृत घोलकर उसके कानों में टपका दिया हो।

पर जब शाल्व ने यह चर्चा काशिराज से की, तो उन्होंने एक बार भी मना नहीं किया। वे सहज तैयार थे। शाल्व चाहे तो अम्बा को आज ही ले जाये, इसी क्षण···

पर इस बार माँ, पुत्री के विवाह के लिए इतनी तत्पर नहीं दिखीं। उनका विचार था कि राजकुमारियाँ इस प्रकार ब्याह नहीं दी जातीं। उनके विवाहों में समारोह होते हैं, लोगों का जमघट होता है। राजा की मर्यादा भी कुछ होती है या नहीं?

"तो?" पिता ने पूछा।

"अम्बा का विवाह हो भी गया तो अम्बिका और अम्बालिका का क्या होगा?" माँ ने पूछा था, "उनका भी विवाह करना है या नहीं? या उन्हें भी अम्बा की अवस्था तक बैठा कर प्रतीक्षा करोगे कि शाल्व जैसा कोई राजा आकर स्वयं ही याचना करे?"

पिता ने माँ की ओर देखा, "पहेलियाँ मत बुझवाओ। अपना मन्तव्य स्पष्ट रूप से कहो।"

"क्षत्रिय राजा के समान स्वयंवर कीजिए। सारे जम्बूद्वीप के राजाओं को आमन्त्रित कीजिए।" माँ ने कहा, "अम्बा शाल्व का वरण करे और अम्बिका तथा अम्बालिका भी अपने मन-भावन चुन लें। मैं एक बार में ही इन तीनों को योग्य वरों को अर्पित कर मुक्त हो जाऊँ। जितने वर्ष मैंने अम्बा के लिए याचना भरी प्रतीक्षा की है, उतने-उतने वर्ष अब मैं इन दोनों के लिए प्रतीक्षा नहीं कर सकती।"

पिता सहमत हो गये।···और अम्बा सोचती ही रह गयी कि यदि पिता को स्वयंवर में कोई आपत्ति नहीं थी, तो उन्होंने पहले ही क्यों ऐसा नहीं किया। स्वयंवर आयोजित करने में उन्हें कठिनाई ही क्या थी?

स्वयंवर के लिए तैयारियाँ हुईं। इतने प्रत्याशी आये।···और अम्बा को लगा कि काम इतना ही सरल था···यदि विवाह के लिए निमन्त्रण भर ही भिजवाना था, तो पिता इतने वर्षों से माँ के आग्रह की उपेक्षा क्यों कर रहे थे?···पर इस प्रश्न का उत्तर उसके पास था नहीं; और पिता से वह पूछ नहीं सकती थी···

स्वयंवर में भी कोई कठिनाई होती है, इसका आभास तो तब हुआ, जब भीष्म ने उठकर अपने मन्तव्य की घोषणा की।···शाल्व ने तो केवल कहा ही था कि वह सहस्रों शवों को लाँघकर, रक्त की नदी में से तैरकर उसका हरण कर ले जायेगा, किन्तु भीष्म ने तो सचमुच धनुष उठा लिया था। अम्बा को ही नहीं, अम्बिका और अम्बालिका को भी जैसे हाँककर ला, रथ में बैठा लिया···

शाल्व बहुत वीरता से लड़ा था। उसका तेज दर्शनीय था। उसकी एक-एक उक्ति, एक-एक क्रिया, एक-एक भंगिमा के साथ, अम्बा के मन में ज्वार उठता था—यह सब मेरे लिये है।···नारी को तो अपने महत्त्व का आभास ही तब होता है, जब पुरुष उसके लिए अपने प्राणों का दाँव लगाता है···आज तक तो उसने सोचा ही नहीं था कि वह भी इस योग्य है कि उसके लिए कोई युद्ध करे, अपना रक्त बहाये या किसी दूसरे की हत्या करे···

अम्बा मुग्ध होती रही और शाल्व हारता रहा। जब उसके घोड़ों ने दम तोड़ दिया और उसका सारथि भूमि पर पड़ा कराह रहा था, तब उसने शाल्व को देखा। उसका असहाय क्रोध भी दर्शनीय था।···और तब अम्बा ने उसके विजेता भीष्म को जैसे पहली बार देखा था: राजसी वेश में मानो कोई संन्यासी हो। अलंकरण का नाम भी नहीं। मुख पर किसी प्रकार का भावावेश नहीं—विजय का दर्प भी नहीं। सहज रूप से भीष्म ने, बिना क्षोभ अपना उल्लास के, शाल्व को जीत लिया था। और जीतने के पश्चात् भी युद्ध की चुनौती देनेवाले इस शाल्व के विरुद्ध उस व्यक्ति के मन में कोई वैर-विरोध, भय-द्वेष—कुछ भी तो नहीं था। कण्ठ पर रखा खड्ग हटाकर कैसे उसने कहा था, 'भीष्म निरीह हत्याएँ नहीं करता।'

रथ जब चला तो प्रहरी के समान खड़े भीष्म को अम्बा ने पुनः देखा: कैसी दृढ़ता थी, इस व्यक्ति की मुखाकृति पर। कठिन श्रम···या तपस्या से कसा शरीर! दाढ़ी और सिर के कुछ केश कहीं-कहीं से सफेद होने लगे थे, पर अवस्था बहुत अधिक नहीं थी। प्रसाधन की उपेक्षा ने, या फिर सांसारिक प्रलोभनों की कठोर अवहेलना ने ही शायद एक विशेष प्रकार की रूक्षता पैदा कर दी थी, इस व्यक्तित्व के चारों ओर···वह रूक्षता भी कैसी आकर्षक थी···

[25]

प्रयाग के निकट, गंगा के तट पर भीष्म ने सारथि को रुकने का संकेत किया।

रथ रुक गया। भीष्म रथ से उतरे।

अम्बिका और अम्बालिका उनकी ओर डरी-डरी देख रही थीं।

अम्बिका और अम्बालिका का भय देखकर, भीष्म कुछ विचलित हो गये। उनकी आँखों में असमंजस उतरा। सान्त्वना के लिए जैसे हाथ आगे बढ़ा और कुछ सोचकर संकुचित हो गया।

उन्होंने अम्बा की ओर देखा : उसकी दृष्टि में सहज जिज्ञासा थी। उस खुली हुई सहज आत्मीयता ने जैसे भीष्म को असहज कर दिया। उन्होंने दृष्टि फेर ली, मानो उन आँखों का सामना करने का साहस न कर पा रहे हों।

अम्बा के अधरों पर मुस्कान की चाँदी फैलते-फैलते जैसे सिमट गयी।

"हम यहाँ थोड़ा विश्राम करेंगे।" भीष्म मुड़ गये; पर पग आगे बढ़ाने से पहले बोले, "तुम थक गयी होंगी!" वे दो पग आगे बढ़ गये, और फिर जैसे उन्हें कुछ याद आ गया, "इच्छा हो तो मुँह-हाथ धो लो। गंगा का जल तुम्हारा श्रम हर लेगा।···"

अम्बा को लगा, वह बहुत देर से भीष्म के साथ वार्तालाप करने का कोई अवसर ढूँढ रही है···पर अपहृत राजकुमारी की भी एक मर्यादा है, वह अपहरण-कर्ता के प्रति आत्मीयता प्रदर्शित नहीं कर सकती···और फिर भीष्म की सतर्क उपेक्षा···नहीं शायद उपेक्षा नहीं, तटस्थता···नहीं! तटस्थता भी नहीं, दूरी रखने का सायास उपक्रम···

किन्तु भीष्म के एक वाक्य ने जैसे उसके वाग्प्रवाह का अवरोध हटा दिया था। वह अनायास ही कह गयी, "हम जानती हैं। गंगा तो हमारी माँ है।"

भीष्म जैसे तड़पकर पलटे : गंगा तो उनकी माँ है। यह और कौन है, जो गंगा को अपनी माँ बता रही है···

अम्बा पर दृष्टि पड़ते ही उनका आवेश कुछ संयमित हो गया, "वह कैसे?"

"हम काशी के निवासी हैं।" अम्बा के स्वर में न उनका भय था, न उनसे संकोच, "हम गंगा को अपनी माँ ही मानते हैं।"

'मानते हैं···' भीष्म होंठों-ही-होंठों में बुदबुदाये, और फिर स्पष्ट रूप से बोले, "थोड़ा जल-पान भी कर लो।"

वे पलटकर दो डग भर चुके थे; किन्तु किसी अदमनीय आन्तरिक आकांक्षा के दबाव में फिर मुड़कर बोले, "अम्बे! अपनी छोटी बहनों से कहो, अब कोई असुविधा का कोई कारण नहीं है। उन्हें सान्त्वना दो। कुरु-कुल में नारी सम्मान की पात्र है। उनका कोई अहित नहीं होगा।"

अम्बा को भीष्म के मुख से अपना नाम सुनना अच्छा लगा : और वे उसे किस अधिकार से यह काम सौंप रहे हैं?···

उसकी इच्छा हुई कहे, 'आप निश्चिन्त रहें आर्य!' पर फिर कैसा तो लगा,

मुख से शब्द नहीं निकले।

अन्य दोनों रथ भी आ गये थे। सेवकों ने बैठने की उचित व्यवस्था कर दी थी। भीष्म के कहे अनुसार जल-पान का भी कुछ प्रबन्ध था...

अम्बा ने देखा : अम्बिका और अम्बालिका—दोनों वैसे ही परस्पर जुड़ी हुई, सहमी-सी बैठी थीं। मन हुआ कि उनसे कहे, कि यदि स्वयंवर के बाद उनके चुने हुए वर काशि-नरेश द्वारा विदा करायी हुई उनकी डोली लेकर जाते, तो उनकी स्थिति इससे कुछ भिन्न होती क्या?... पर कहा नहीं। जानती थी, दोनों कोई उत्तर नहीं देंगी ! और मान लो कि उन्होंने कह दिया, 'स्थिति भिन्न नहीं होती; तो भी वे इसी प्रकार भीत-संकुचित बैठी होतीं। पहली बार ससुराल जाती हुई वधू ऐसी ही तो भीत-संकुचित होती है।...'

हस्तिनापुर में प्रवेश करने से पहले वे लोग दो बार और भी रुके। अम्बा को लगा, भीष्म क्रमशः सहज होते जा रहे थे। अब वे विजेता भीष्म, अपहरणकर्ता भीष्म, उनके प्रहरी भीष्म न होकर, उनके अभिभावक थे। वे तीनों उनके संरक्षण में ही नहीं थीं, मानो सम्मान्य अतिथि थीं। उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना भीष्म का काम था। वे प्रयत्न कर रहे थे कि उन्हें यथासम्भव कोई कष्ट न हो। पर यात्रा तो यात्रा ही है। यात्रा में प्रासादों की सुख-सुविधाएँ कहाँ से जुटाई जा सकती हैं...

हस्तिनापुर के द्वार पर उनका भव्य स्वागत किया गया। कुरु-कन्याओं ने उनकी आरती उतारी। सजे-धजे सैनिकों ने उनकी अगवानी की। और अम्बा सोचती रही...यदि भीष्म उनके अपहरण की बात सोचकर ही गये थे, तो अपने साथ अपनी सुरक्षा के लिए, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए, सेना लेकर क्यों नहीं गये? क्या यह व्यक्ति मानता है कि सारे आर्यावर्त के राजाओं और उनकी सेनाओं से यह अकेला ही युद्ध कर उन्हें पराजित कर सकता है ? इतना विश्वास है इसको, अपने युद्ध-कौशल और शस्त्र-विद्या पर ?...इतना साहसी है यह ? साहसी है या दुस्साहसी ?...अम्बा की इच्छा हुई कि भीष्म के हाथ को अपनी हथेलियों में लेकर, उनकी आँखों में आँखें डालकर, मुस्कराकर उन्हें आदेश दे कि वे फिर कभी ऐसा दुस्साहस नहीं करेंगे...और फिर वह स्वयं, अपनी ही कल्पना से लजा गयी...क्या वे जीवन भर स्वयंवरों में कन्याओं का हरण ही करते रहेंगे?...एक लाज भरी हल्की-सी मुस्कान उसके अधरों के कोने में उभरी और तत्काल सिमट गयी...

राजप्रासाद में उनका स्वागत राजमाता सत्यवती ने किया।

राजमाता ने उन्हें मुस्कराकर देखा-परखा। उनके सामने ही उनके रूप की प्रशंसा में चार-छह वाक्य कहे। वैसे न भी कहतीं तो उनके चेहरे की प्रफुल्लता बता

रही थी कि उन्हें काशिराज की कन्याएँ पसन्द आ गयी हैं। उन्होंने कृतज्ञ दृष्टि से भीष्म की ओर क्षण भर को देखा और फिर परिचारिका की ओर देखकर कहा, "यात्रा से थकी हुई आयी हैं। इनके विश्राम की व्यवस्था करो।"

"पधारें!" परिचारिका ने सम्मानपूर्वक झुककर, हाथ से मार्ग का संकेत किया।

अम्बिका और अम्बालिका आदेश का पालन करने की बाध्यता में चुपचाप परिचारिका के पीछे चल पड़ीं; पर अम्बा को यात्रा-भर में परिचित हो गये इस व्यक्ति को छोड़कर पुनः अपरिचित लोगों के साथ जाने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। नारी-सुलभ लज्जा ने उसे पर्याप्त रोका, किन्तु उसकी आँखें, भीष्म की ओर उठ ही गयीं।

"जाओ अम्बे! विश्राम करो।" भीष्म ने भावना-शून्य तटस्थ स्वर में कहा।

अम्बा के पास अब और कोई विकल्प नहीं था।

अम्बा के जाने के पश्चात् सत्यवती, भीष्म की ओर मुड़ी, "राजकुमारियाँ सुन्दर हैं।" वह बोली, "किन्तु भीष्म! विचित्रवीर्य के लिए तो अम्बालिका ही पर्याप्त थी, तुम तीनों का हरण कर लाये।···"

राजमाता ने पूछा नहीं था; किन्तु भीष्म को लगा, जैसे उनसे स्पष्टीकरण माँगा जा रहा हो। क्षण भर रुककर बोले, "एक रानी तो किसी राजा के लिए पर्याप्त नहीं हुई माता! और फिर विचित्रवीर्य तो नारी-सौन्दर्य का गुणग्राहक है। बार-बार तो सम्राट् को रानी उपलब्ध कराने के लिए जाना शायद सम्भव न हो। एक ही बार में अधिकतम लाभ···।" भीष्म ने हँसकर वाक्य अधूरा छोड़ दिया।

माता भी हँसीं, "हाँ! जब तीन राजकुमारियाँ एक ही स्थान पर उपलब्ध थीं, तो···।" सहसा वे रुकीं, "पर पुत्र! क्या अम्बा का वय विचित्रवीर्य से बहुत अधिक नहीं है? बड़ी तो शायद अम्बिका भी है, पर अम्बा···।"

"हाँ! बड़ी तो है।" भीष्म बोले, "पर···स्वयंवर के बीच···किसका हरण हो और किसका न हो, यह चुनाव ही नहीं किया मैंने!"

"चलो ठीक है।"

भीष्म अपने कक्ष में आये तो जैसे माता सत्यवती फिर से उनके सम्मुख आ खड़ी हुईं, 'तुम जानते हो कि अम्बा वय में बहुत बड़ी है विचित्रवीर्य से। वह उसकी पत्नी होने योग्य नहीं है। तो फिर क्यों हरण कर लाये उसका? क्यों?? क्यों???'

क्या राजमाता के इस प्रश्न का कोई विशेष तात्पर्य था?···वे पूछ रही थीं,

था कुछ कहना चाहती थीं ? क्या कहना चाहती थीं ?···और भीष्म का अपना मन अनेक प्रश्न कर रहा था उनसे ! केवल प्रश्न ही नहीं कर रहा था, अनेक आरोप भी लगा रहा था···और भीष्म थे कि उन प्रश्नों को टाल नहीं पा रहे थे···वे बिस्तर से उठकर बैठ गये : उन्हें लगा वे सहसा ही बहुत अशान्त हो उठे हैं।··· यदि तीनों बहनों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया गया, तो निश्चित रूप से विचित्रवीर्य को वय के कारण अम्बा शेष दोनों की अपेक्षा बहुत कम प्रिय हो ! सम्भवत: वह उसे एकदम प्रिय न हो···बलात् हरकर लायी गयी राजकन्या यदि अपने पति के द्वारा उपेक्षित होगी तो उसके जीवन में जीने-योग्य क्या रह जायेगा ? ···क्या होगा अम्बा के जीवन का ?···भीष्म ने बड़े गर्व के साथ घोषणा की थी कि, 'वे निरीह हत्याएँ नहीं करते।' पर यह क्या है ? यह क्या निरीह हत्या नही है ? अम्बा अपना शेष सारा जीवन उपेक्षिता, परित्यक्ता स्त्री के रूप में व्यतीत करेगी तो क्या करेगी सारा जीवन, सिवाय भीष्म को कोसने के ? यह तो वध से भी अधिक कष्टप्रद हुआ। किसी को सारा जीवन तिल-तिलकर जलाना···

इससे तो अच्छा है कि अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया जाये···और अम्बा···? अम्बा का विवाह किससे हो ? भीष्म से ?···उन्हें लगा कि उनके मन में कोई खलनायक अट्टहास कर रहा है···

भीष्म ने बहुत चाहा कि उस खलनायक को अपने मन से खदेड़ दें; किन्तु वह उससे कहीं अधिक धृष्ट था, जितना उन्होंने सोचा था।

'इसमें अवांछनीय क्या है ?' खलनायक ने गम्भीर होकर पूछा।

'अवांछनीय !' भीष्म का जैसे सारा संयम टूट गया था, 'इसमें वांछनीय क्या है। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।'

खलनायक हँसा, 'अनेक ऋषियों ने विवाह किये हैं। सन्तानें उत्पन्न की हैं किन्तु, वे संसार के अन्यतम ब्रह्मचारी माने जाते हैं।'

'पर मेरे ब्रह्मचर्य का अर्थ है, अविवाहित रहना। स्त्री-प्रसंग से दूर रहना।'

'किन्तु दासराज ने तो इतना ही चाहा था कि तुम्हारी कोई सन्तान न हो ताकि उसके दौहित्र को राज्य-प्राप्ति में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। उ तुम्हारे चरित्र से, तुम्हारे ब्रह्मचर्य से, तुम्हारे आध्यात्मिक उत्थान से कुछ लेना-देन नहीं है।'

'उन्हें न सही, पर मुझे तो सारा कुछ सोचना-समझना है।' भीष्म बोले 'मैंने कंचन और कामिनी की माया को पहचान लिया है, तभी तो मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की है। मैं माया के इन सारे बन्धनों को तोड़ देना चाहता हूँ, जिनमें बँधकर व्यक्ति सुख के लोभ में किसी ओर लपकता है और अन्तत: मृग-तृष्णा के भँवर में फँसकर

कष्ट पाता है।'

'तोड़ सके?' खलनायक ने पूछा, 'अम्बा को देखते ही तुम्हारे मन में कामना नहीं जागी?...सच बोलना।'

भीष्म जैसे उस पर आँखें गड़ाये, चुपचाप पड़े रहे।

'बोलो!' उसने आग्रह किया, 'देखो! मुझसे कुछ छिपाना मत!'

'छिपाना क्या है!' भीष्म ने जैसे खलनायक को अपने साथ एकाकार ही कर लिया, 'मैं बन्धन तोड़ना चाहता हूँ; पर मैंने यह तो नहीं कहा कि मैं बन्धन तोड़ने में सफल हो गया हूँ। इतना ही सरल होता बन्धन तोड़ना तो श्मशान-वैराग्य के क्षण में प्रत्येक व्यक्ति ने मोह-माया के बन्धन तोड़ दिये होते। प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो गया होता। विचित्र स्थिति है हमारी...जीव जैसे माया के सरोवर में आकण्ठ डूबा खड़ा है। अपने हाथों से वह शरीर के किसी अंग से पानी को परे धकेलता है और पानी है कि द्विगुणित आग्रह से पुनः लौट आता है। यह भी तभी तक, जब तक वह सजग है, सचेत है। उसकी चेतना तनिक-सी शिथिल हुई नहीं कि उसका पैर फिसलता है और वह जल में डूब जाता है। माया का यह जल उसके प्राण ही ले लेता है।'

'इसीलिए तो कहता हूँ,' खलनायक फिर से उनके बीच से निकल आया और दूर खड़ा होकर, विरोधी के समान बोला, 'जब मुक्ति नहीं है, तो व्यर्थ ही उस जल को परे धकेलने का श्रम क्यों करते हो। न जल को परे हटा पाओगे, न शान्ति से खड़े रह पाओगे। जब अन्ततः डूबना ही नियति है तो जल से लड़-लड़कर क्यों हाँफ रहे हो? जल से विरोध छोड़ो। उसकी शीतलता का सुख लो। उसमें थोड़ी क्रीड़ा करो। तैरो, नहाओ, छींटे उड़ाओ, डुबकी लगाओ—देखो, वह तुम्हारे शरीर और मन को कितना सुख देता है।'

पर भीष्म का विवेक खलनायक से तनिक भी सहमत नहीं हो सका; 'नियति चाहे डूबना हो, किन्तु नीति तो संघर्ष ही है।'

'निश्चित पराजय सामने खड़ी हो तो संघर्ष का क्या लाभ?'

'क्षत्रिय तो वीरगति को भी लाभ ही मानता है।'

खलनायक ने मुँह बिचकाकर उन्हें देखा, जैसे कहना चाहता हो, 'क्षत्रिय तो मूर्ख हैं;' किन्तु उसने कहा नहीं। बोला, 'तुमने बन्धनों से मुक्त होने के लिए प्रतिज्ञाएँ कीं; पर क्या तुम मुक्त हो? क्या तुम्हें नहीं लगता कि साधारण गृहस्थ अपनी गृहस्थी से बँधा हुआ तो है, किन्तु उसे उस बन्धन की स्थिरता भी प्राप्त है और स्निग्धता भी!...और तुम तो किसी अन्य के खेत में स्वेद बहानेवाले मूर्ख हो, जिसकी न धरती अपनी है, न उपज!...अब तो समझ जाओ। जब कृषि-कर्म ही करना है, तो अपने खेतों में आओ। प्रजा का ही पालन करना है, तो अपनी प्रजा का पालन करो। गृहस्थी ही चलानी है; तो अपनी गृहस्थी चलाओ...।'

भीष्म जैसे क्रोध से जल उठे, और फिर क्रोध का अवरोह रुदन में बदल गया।

उन्हें लगा, उनकी आँखों में पानी आ गया है और उनका मन आज किसी के कन्धे पर मस्तक टेककर, सशब्द रुदन करना चाहता है : उनके मन में आज भी यह कलुष है ?···इस खलनायक के रूप में उनके अपने मन का ही तो कोई अंश बोल रहा है ···उन्होंने तो समझा था कि उन्होंने अब तक अपने मन का कलुष धो-पोंछ डाला था। अब उनके मन में न लोभ है, न भय; न द्वेष, न ईर्ष्या; न अपना, न पराया। ···पर नहीं ! उनके मन में तो सबकुछ है।···ऊपर से चाहे जो भी हो, किन्तु मन से तो वे किसी भी साधारण जन से तनिक भी भिन्न नहीं हैं।···उनके मन में भी तो वह सारा मल और अन्धकार ढका हुआ पड़ा है, जो मनुष्य के पैर-तले की धरती खिसकाकर उसे प्रवाह के साथ बहा ले जाता है···

हृदय का आवेग इतना बढ़ा कि वे कक्ष में बैठ नहीं पाये। वे अपने कक्ष से बाहर निकल आये।

प्रतिहारी ने आकर सिर झुकाया, "आज्ञा करें देव !"

"कुछ नहीं !" भीष्म बोले, "तुम विश्राम करो। मैं माँ गंगा के दर्शन करूँगा।"

"अभी स्नान का समय नहीं हुआ देव !" प्रतिहारी बोला।

"घाट पर नहीं जा रहा हूँ।" भीष्म बोले, "थोड़ी देर तक छत पर टहलूँगा, खुले आकाश के नीचे। वहीं से माँ के दर्शन करूँगा।"

"देव का मन अशान्त है ?"···

पर भीष्म ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया, वे चुपचाप सीढ़ियाँ चढ़ गये।

छत पर से गंगा की धारा स्पष्ट दिखायी दे रही थी। चाँदनी का प्रकाश इतना स्वच्छ था, मानो किसी ने सहस्रों दीपाधार बाल रखे हों।

गंगा की धारा बहती जा रही थी···खेतों को सींचती, नगरों की पिपासा शान्त करती, नौकाओं को गोद में खेलाती···कितनी आतुरता से चली जा रही थी··· सरित्पति के पास ! सागर में जाकर विलीन ही तो होना था माँ गंगा को; फिर भी कितनी आतुरता से बहती जा रही थी।

'तुमने ठीक ही कहा था भीष्म !' जैसे माँ का स्वर भीष्म के मन में गुंजित हुआ, 'नियति चाहे पराजय हो, पर नीति तो संघर्ष ही है। पुत्र ! क्षत्रिय की परम गति है वीरगति ! वह उसकी पराजय नहीं है।'

···और भीष्म को लगा, मानो माँ ने उनके केशों में अपनी लहरों की अँगुलियाँ फिराकर, उनके मस्तिष्क का समस्त उद्वेग हर लिया हो···।

विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक धूमधाम से हुआ।

सत्यवती को इतना सुख शायद चित्रांगद के सम्राट् बनने पर भी नहीं मिला था। चित्रांगद सम्राट् तो बना था, पर अपने विवाह से पहले ही वह वीरगति को प्राप्त हो गया था।...पर विचित्रवीर्य के साथ वैसा सम्भव नहीं था। वह स्वयं अपनी प्रकृति से ही युद्ध-प्रिय नहीं था। न वह मृगया के लिए जायेगा, न द्वन्द्व-युद्ध के लिए।...और फिर चित्रांगद के समय भीष्म उसका सहायक नहीं था। भीष्म हस्तिनापुर में ही नहीं था। किसी शत्रु को सहज ही ज्ञात हो सकता था कि हस्तिनापुर के राजा को भीष्म का समर्थन प्राप्त नहीं है।...विचित्रवीर्य पूर्णतः भीष्म के संरक्षण में था। भीष्म उसकी रक्षा के लिए वचनबद्ध था।...और पहले तो सत्यवती ने भीष्म की वीरता की चर्चा ही सुनी थी। उस पर बहुत विश्वास नहीं था उसको। किन्तु, जब से वह काशिराज की कन्याओं का हरण करके लाया था, तब से उसकी वीरता के विषय में धारणा ही बदल गयी थी सत्यवती की। उसने भीष्म के सारथि वीरसेन को बुलाकर सारा विवरण पूछा था, उस अभियान का। वीरसेन ने उसे बताया था कि स्वयंवर में उपस्थित सारे राजा एक ओर थे और अकेले भीष्म दूसरी ओर। उधर से सहस्रों बाणों की वर्षा हो रही थी, जैसे शेषनाग अपने सहस्रों फनों से एक साथ फुफकार रहे हों; और दूसरी ओर अकेले भीष्म थे —शान्त, आत्मविश्वस्त और आवेगशून्य। जाने क्या जादू था उनकी बाण-विद्या में कि उनके सामने शत्रुओं के उन सहस्रों बाणों की स्थिति ऐसी हो जाती थी, जैसे आँधी के विपरीत उड़नेवाले पत्तों की। एक बाण भी नहीं पहुँच पाया था उनके रथ तक। न वीरसेन को एक भी बाण लगा, न रथ में बैठी राजकन्याओं को।...

सत्यवती नहीं जानती थी कि वीरसेन के विवरण में कितना सत्य था और कितनी अतिशयोक्ति। पर इतना तो सत्य था ही कि भीष्म उस स्वयंवर में से काशिराज की तीनों कन्याओं का हरण करके लाया था। वहाँ सम्पूर्ण आर्यावर्त के राजा वर्तमान थे। वे लोग भीष्म के मित्र नहीं थे, न उनको भीष्म द्वारा यह कन्या-हरण रुचिकर हुआ होगा। उन्होंने अवश्य ही भीष्म का विरोध किया होगा। युद्ध हुआ होगा। ...और यदि सत्यवती यह मान ले कि उन राजाओं ने भीष्म का विरोध नहीं किया था, युद्ध भी नहीं हुआ था...तो ऐसा उन राजाओं के भीष्म के प्रति स्नेह और सौहार्द के कारण नहीं हुआ होगा। भीष्म के तेज और शूरवीरता के कारण ही उन लोगों को साहस नहीं हुआ होगा कि वे भीष्म का विरोध करें।... इतना आतंक थी है भीष्म का...और वही भीष्म आज विचित्रवीर्य के रक्षक के रूप में खड़ा है...तो विचित्रवीर्य को किसी का क्या भय हो सकता है।...चित्रांगद ने भी अपनी वीरता के स्थान पर भीष्म की वीरता का आश्रय लिया होता, तो इस

प्रकार यमराज की दृष्टि उस पर न पड़ी होती। यदि भीष्म गन्धर्वराज को पराजित करता, तो सम्भव है कि हस्तिनापुर का राज्य कुछ और विस्तार पाता। गन्धर्वों की बहुत सारी भूमि अपने साम्राज्य में मिलायी जा सकती···और यदि किसी कारण से भीष्म गन्धर्वराज को पराजित न कर पाता और अपने प्राणों से हाथ धोता, तो मान लिया जाता कि हस्तिनापुर राज्य का एक महारथी नहीं रहा ···इसके पश्चात् चित्रांगद को गन्धर्वराज से लड़ने की आवश्यकता ही नहीं थी। वह उससे किसी प्रकार की सन्धि कर सकता था···पर अब चित्रांगद नहीं था, विचित्रवीर्य था। विचित्रवीर्य को चित्रांगद के अनुभवों से भी लाभ उठाना चाहिए। भीष्म जैसे समर्थ व्यक्ति का पूरा उपयोग होना चाहिए। भीष्म की भुजाएँ, साम्राज्य की रक्षा करें और साम्राज्य का भोग करे विचित्रवीर्य। प्रजा का पालन करे भीष्म, और उसका स्वामी हो विचित्रवीर्य···भीष्म को 'धाय' बना दिया जाये, जिसे माता के दायित्व तो सारे निभाने पड़े, अधिकार उसे एक भी न हो···

एक क्षण के लिए सत्यवती के मन में एक प्रश्न जागा : क्या उसे भीष्म से तनिक भी स्नेह नहीं है? उसके प्रति सत्यवती के मन में कोई भी कोमल भावना नहीं है? ···पर सत्यवती ने उस प्रश्न को टिकने नहीं दिया। प्रश्न की उस चिंगारी पर उसने जल का एक पूरा भांड उलट दिया : 'प्रेम तो मुझे पराशर से भी था···'

पराशर के नाम से ही उसे कृष्ण द्वैपायन की स्मृति भी हो आयी।···सुना है कृष्ण अब ऋषि बन गया है। पिता के समान पूज्य माना जाने लगा है···किन्तु कैसी बाध्यता है सत्यवती की कि वह उसे विचित्रवीर्य के राज्याभिषेक में भी नहीं बुला पायी। यज्ञ करनेवाले पुरोहित के रूप में भी नहीं···

राज्याभिषेक के तत्काल बाद विचित्रवीर्य के विवाह की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। सत्यवती का वश चलता तो वह राज्याभिषेक के साथ ही या उसके अगले ही क्षण विचित्रवीर्य का विवाह कर देती : किन्तु भीष्म ही नहीं, मन्त्रि-परिषद् का भी यही कहना था कि हस्तिनापुर के सम्राट् का विवाह पूर्ण समारोह के साथ होना चाहिए···

सत्यवती उन्हें कैसे बताती कि वह पुत्र के विवाह के लिए कैसी व्यग्र है···पता नहीं चित्रांगद की असामयिक मृत्यु ने उसका मन कैसा तो कर दिया है। उसके मन में अनहोनी का भय समा गया है।···फिर भी किसी प्रकार उसने धैर्य रखा।··· समारोह की तैयारी होती रही। प्रासादों का अलंकरण हुआ। फिर नगर का प्रसाधन हुआ। स्थान-स्थान पर तोरण खड़े किये गये। मार्ग चौड़े किये गये। साज-सज्जा के लिए जो सम्भव था, वह हुआ। अभ्यागतों के ठहरने के लिए व्यवस्था की गयी।···आगन्तुक राजाओं के साथ उनके रथ होंगे···रथों के साथ घोड़े होंगे,

सारथि होंगे, सेवक होंगे, कुछ सैनिक होंगे···सबको ठहरने का स्थान चाहिए। उनको ठहराने के लिए गंगा के पार जैसे मण्डपों का एक नया नगर ही बसा दिया गया।

···निमन्त्रण भेजने का कार्य अलग चल रहा था। भीष्म को लग रहा था कि निमन्त्रण भेजने का काम भी अपने-आप में कम श्रम-साध्य नहीं है। पहले तो यही निश्चय करते-करते मस्तक में पीड़ा होने लगती है कि किसे निमन्त्रित किया जाये और किसे नहीं। फिर उन लोगों के सम्मान के अनुकूल दूत का चयन। और दूतों को भेजने की व्यवस्था। उनके लिए घोड़े-रथ।···इस समय जब हस्तिनापुर में ही इतना कार्य पड़ा था, आधी क्षमता अतिथियों को निमन्त्रण भेजने में लग रही थी। ···आमन्त्रित राजा हस्तिनापुर में आ जायेंगे और उनके आवास, खान-पान तथा सम्मान की समुचित व्यवस्था नहीं होगी तो क्या उन्हें अच्छा लगेगा?···और यदि यहाँ पूरी व्यवस्था कर दी गयी और अतिथियों तक निमन्त्रण ही न जा सका तो?···

अम्बा अपने कक्ष में ही बैठी बहुत कुछ देखती और सुनती रही। अनायास ही उसके कानों में विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ पड़ती रहती थीं। कुछ दासियाँ उसे बता जाती थीं। कुछ परस्पर चर्चा के बहाने, उसे सुना जाती थीं। जब से वह हस्तिनापुर में आयी थी, यहाँ कुछ-न-कुछ हो ही रहा था।···पहले उसने विचित्रवीर्य के राज्याभिषेक की चर्चा सुनी। सब लोग इतने उल्लसित थे, पर उसे तनिक भी अच्छा नहीं लगा। किन्तु उसकी इच्छा का महत्त्व ही क्या था। जब काशी में ही उसकी इच्छा से कुछ नहीं हुआ, तो यह तो हस्तिनापुर था।···पर फिर भी उसके चिन्तन पर तो कोई बन्धन नहीं था। वह जो चाहे सोच सकती थी, कल्पना कर सकती थी।···

सैरिन्ध्री ने अम्बा के कंगनों का नाप लिया और भर दृष्टि उसे देखा, "साम्राज्ञी बनकर राजकुमारी देव कन्याओं से अधिक सुशोभित होंगी।"

"साम्राज्ञी!" अम्बा चौंकी, "पर सम्राट् के रूप में तो राजमाता सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य का अभिषेक हुआ है न?"

"हाँ! क्यों?" सैरिन्ध्री मुस्करायी, "उन्हीं की तो साम्राज्ञी बनेंगी आप।"

"पर हमारा हरण करनेवाले तो राजकुमार भीष्म थे।" न चाहते हुए भी अम्बा के मुख से निकल ही गया।

"हाँ। महाराजकुमार ही थे हरण करनेवाले।" वह बोली, "हमारे सम्राट् तनिक भी युद्धप्रिय नहीं हैं। इसलिए ऐसे कार्य महाराजकुमार ही करते हैं।"

अम्बा ने देखा, उसके चेहरे पर एक रहस्यमयी मुस्कान थी।

अम्वा ने कुछ नहीं कहा। सैरिन्ध्री चली गयी।

परिचारिका आयी तो अम्बा ने उससे पूछा, "हम यहाँ बन्दिनी तो नहीं हैं न?"

परिचारिका ने दाँतों-तले जिह्वा दबा ली, "हस्तिनापुर की भावी साम्राज्ञी ऐसी बात क्यों सोचती हैं?"

"मैं चाहूँ तो महाराजकुमार भीष्म से साक्षात्कार कर सकती हूँ?"

परिचारिका मुस्करायी, "इतनी-सी बात! सम्राट् के विवाह-समारोह की तैयारियाँ चल रही हैं, इसलिए महाराजकुमार को अवकाश नहीं मिलता; अन्यथा वे स्वयं ही अब तक कई बार आपका कुशल समाचार पूछने आ चुके होते।"

"बुलाने पर आयेंगे?"

"क्यों नहीं।" परिचारिका बोली, "महाराजकुमार तो किसी अकिंचन याचक की इच्छा पर भी दौड़े चले आयेंगे। आप तो भावी साम्राज्ञी हैं।..."

"तो मुझ पर एक कृपा कर।" अम्बा बोली, "उन्हें अविलम्ब बुला ला।"

परिचारिका ने देखा : अभी तक सहज-स्वाभाविक रूप में बात करनेवाली अम्बा अकस्मात् ही असहज हो उठी थी। कितनी व्यग्र लग रही थी वह।

"कोई विशेष प्रयोजन?"

"हाँ! है तो विशेष ही। किन्तु उन्हीं को बताऊँगी।"

सचमुच भीष्म के आने में तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ। शायद वे कहीं समीप ही उपस्थित थे और परिचारिका के सूचित करते ही आ गये थे।

"क्या बात है, अम्बे?'

कैसा आत्मीय सम्बोधन था—अम्बा ने सोचा—एक व्यक्ति एक ही समय में कैसे इतना आत्मीय और इतना पराया एक साथ हो सकता है।

"आप बहुत व्यस्त हैं?"

भीष्म ने उसे देखा : क्या यही पूछने के लिए अम्बा ने उसे बुलाया था?

बोले, "आजकल हस्तिनापुर में सब ही व्यस्त हैं।" और फिर उनकी मुद्रा में थोड़ा-सा परिहास का रंग घुल गया, "तुम्हारे विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं।"

"मेरे विवाह की या आपके सम्राट् के विवाह की?" अम्बा के स्वर में व्यंग्य की धार स्पष्ट थी।

भीष्म ने चौंककर उसे देखा, "क्या बात है?"

"कुछ नहीं।" अम्बा बोली, "मैंने तो मात्र एक जिज्ञासा की थी।"

"किन्तु विवाह तो वर और वधू, दोनों का होता है।"

"तो वर सम्राट् विचित्रवीर्य हैं और वधुएँ—हम तीनों बहनें?"

"हाँ। क्यों?"

"तो फिर हमारा हरण करने तुम क्यों गये थे?"

भीष्म चौंके : क्या हो गया है अम्बा को? वह उन्हें 'आप' के स्थान पर अकस्मात् ही 'तुम' कहने लगी है और उसके स्वर में कैसा चीत्कार है यह! यह प्रश्न नहीं था। यह तो जैसे आरोप था, आक्षेप था।

"विचित्रवीर्य तुम लोगों का हरण करने में समर्थ नहीं था। मैंने उसके साथ विवाह करवाने के लिए ही तुम लोगों का हरण किया था।"

"तो यह कहा होता, काशी के स्वयंवर-मण्डप में।" अम्बा का स्वर, जैसे स्वर नहीं था, पीड़ा का चीत्कार था।

भीष्म अवाक् खड़े अम्बा को निहारते रहे।...क्या कहना चाहती है राजकुमारी? क्या अर्थ है इसका?...हाँ। ठीक है कि स्वयंवर में उन्होंने इतना ही कहा था कि वे इन कन्याओं का हरण कर ले जा रहे हैं।...यह शायद नहीं कहा था कि वे उनका विवाह विचित्रवीर्य से करेंगे।...पर उससे क्या? यह तो हरणकर्ता की इच्छा है कि वह अपहृत कन्याओं का विवाह जिससे चाहे कर दे...

"राजकुमारी! तुम्हारे परिचारक ने मेरा परिचय देते हुए कहा था कि मैंने आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रतिज्ञा की है।"

"हमारे परिचारक ने तो कहा था महाराजकुमार!" अम्बा का स्वर वैसा ही तेजोमय था, "किन्तु उस परिचय से ही क्षुब्ध होकर तुमने हम तीनों के हरण की घोषणा की थी।..."

भीष्म समझ रहे थे कि अम्बा का अभिप्राय क्या है।...पर क्या लाभ! वह असम्भव था।...पर फिर भी भीष्म का वक्ष कैसा शीतल हो गया था। मन था कि जैसे द्रवित ही होता जा रहा था। पर यह द्रवणशीलता रोकी न गयी तो महँगी पड़ सकती है।

"हाँ।" भीष्म बोले, "मुझे उस सारे वातावरण में एक व्यंग्य की गन्ध आ रही थी। मुझे लगा कि सब लोग जैसे मुझ पर कटाक्ष कर रहे हैं।...पर शायद भूल मेरी ही थी। मुझे यह घोषणा कर देनी चाहिए थी। मैं चूक गया...।"

"तो महाराजकुमार! एक चूक मुझसे भी हो गयी थी।" अम्बा की वाणी की करुणा, भीष्म के वक्ष को जैसे छीले दे रही थी, "मैं भी तब तुम्हें नहीं बता पायी कि मैं अपनी इच्छा और अपने पिता की सहमति से सौभ नरेश राजा शाल्व को अपने पति के रूप में वर चुकी हूँ। स्वयंवर में तुमने मेरा हरण न किया होता, तो मैं उन्हीं का वरण करती।" उसने रुककर भीष्म को देखा, "तुम धर्मज्ञ हो महाराजकुमार! इस सूचना के पश्चात् जो तुम्हारी इच्छा हो, करो।"

भीष्म के मन में क्षोभ उठा। मन हुआ, पूछें, 'जब शाल्व मुझसे युद्ध कर रहा था, जब वह अपने प्राणों पर खेल रहा था; तब तुम चुपचाप क्यों बैठी रहीं ? वह कोई कौतुक था क्या ? क्यों नहीं बोलीं तब तुम ? मैं उसी क्षण तुम्हें रथ से उतारकर शाल्व को समर्पित कर देता।···तब तुम मुंह खोलतीं, तो मेरी समझ में आ ही जाता कि क्यों शाल्व अपने प्राण देने पर तुला हुआ था। क्यों वही इतना उग्र हो गया था। क्यों उसी ने भीष्म के विरुद्ध अभियान छेड़ा था।···' पर भीष्म कुछ पूछ नहीं सके।···अम्बा ने उन्हीं का तर्क तीखे बाण के समान उन्हीं की ओर लौटा दिया था।

"इतना मैं तो अपनी धर्म-बुद्धि से कह सकता हूँ कि ऐसी स्थिति में तुम्हारा विवाह विचित्रवीर्य के साथ नहीं होना चाहिए।" भीष्म अत्यन्त शान्त स्वर में बोले, "किन्तु कोई निर्णय करने से पहले मुझे धर्मज्ञ ब्राह्मणों और माता सत्यवती से पूछना पड़ेगा।"

"यदि वे न मानें तो मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध विचित्रवीर्य से होगा ?" अम्बा बोली, "क्या महाराजकुमार की प्रतिज्ञा की चिन्ता किये बिना उनका विवाह किसी और की इच्छा से हो सकता है ?"

"नहीं।" भीष्म रोष के साथ बोले, "मेरी प्रतिज्ञा को भंग करने का अधिकार किसी को नहीं है।"

"तो महाराजकुमार, मेरी प्रतिज्ञा का भी महत्त्व समझें और उसकी रक्षा करने में मेरे सहायक हों।"

अम्बा की बात का उत्तर देने के लिए भीष्म को उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहे थे। वे देख रहे थे कि इतने क्षोभ में भी अम्बा का मस्तिष्क अत्यन्त सन्तुलित था—वह भीष्म को उन्हीं के तर्कों में बाँध रही थी। और भीष्म थे कि सिवाय छटपटाकर रह जाने के और कुछ कर नहीं पा रहे थे।

"मैं प्रयत्न करूँगा।" भीष्म बोले और अम्बा पर दृष्टि डाले बिना बाहर चले गये।

अम्बा ने जाते हुए भीष्म को देखा : वे पीड़ित थे—क्या अपराध-बोध से ? या कोई और बात थी ? वे अम्बा की आँखों में देखने का साहस नहीं कर पा रहे थे··· अम्बा को लगा, भीष्म को पीड़ित कर, वह भी प्रसन्न नहीं है···

विवाह-कार्य सम्पन्न करवाने के लिए आये विद्वान् और धर्म के ज्ञाता ब्राह्मणों को भीष्म की बात सुनकर निर्णय करने में एक क्षण भी नहीं लगा। जो कन्या, मन-ही-मन किसी अन्य पुरुष का वरण कर चुकी है, वह एक प्रकार से उस पुरुष की विवाहिता ही है, अतः किसी अन्य पुरुष से उसका विवाह नीति-संगत नहीं है।···

वैसे भी यदि अम्बा का विवाह विचित्रवीर्य से न भी हो, तो भी विचित्रवीर्य के लिए दो रानियाँ पर्याप्त थीं।...

राजवैद्य का परामर्श नहीं माँगा गया था, फिर भी उन्होंने एकान्त में भीष्म से कहा, "महाराजकुमार! सम्राट् के लिए एक ही रानी पर्याप्त है। एकाधिक रानियाँ सम्राट् के स्वास्थ्य के लिए शुभ नहीं हैं।"

"अपना मन्तव्य स्पष्ट कहें वैद्यराज।"

"बड़ी राजकुमारी ने तो अस्वीकार कर ही दिया है; सम्भव हो तो दूसरी राजकुमारी का विवाह भी किसी अन्य स्थान पर कर दें। सम्राट् के लिए तीसरी राजकुमारी ही पर्याप्त है।"

"यह आपका निश्चित मत है?"

"सम्यक् सुचिन्तित।" राजवैद्य बोले, "मैं तो सम्राट् को एक पत्नी की अनुमति भी जोखिम ही मानता हूँ।"

इन विचारों को लेकर भीष्म सत्यवती के पास पहुँचे। सत्यवती ने भीष्म की सारी बात सुनी और पूछा, "तुम्हारा क्या मत है?"

भीष्म ने देखा : सत्यवती के चेहरे की सहज उत्फुल्लता विलीन हो गयी थी। कदाचित् यह सारा प्रसंग ही उसके मनोनुकूल नहीं था।...तो क्या माता चाहती हैं कि तीनों राजकुमारियों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ हो?...पर क्यों? क्या लाभ? मनोनुकूल एक पत्नी भी पति के लिए जीवन-भर का आनन्द होती है।

पर माता ने उनका मत पूछा था। वे समझ रहे थे कि माता को उनका मत पसन्द नहीं आयेगा; किन्तु सत्य तो बोलना ही पड़ेगा, "मेरा विचार है कि विद्वान् ब्राह्मणों का मत ही स्वीकार्य है।"

"अर्थात्?"

"अम्बा का विवाह विचित्रवीर्य के साथ न किया जाये।"

"पर तुमने उसका हरण तो उसी प्रयोजन से किया था।"

"हाँ।" भीष्म बोले, "किन्तु तब तक मुझे मालूम नहीं था कि वह शाल्व की अनुरागिनी है।...और फिर..." भीष्म ने रुककर सत्यवती को देखा, "आपने भी तो कहा था कि उसका वय विचित्रवीर्य से अधिक है।"

"हाँ। पर यह भी तो कहा था कि राजकुमारी सुन्दर है।"

तो यह कारण है—भीष्म ने सोचा—राजमाता को सुन्दर राजकुमारी का मोह है। माता का मन शायद सन्तान से भी अधिक लोभी होता है। सन्तान भोग को विष मान भी ले तो माता सन्तान को भोग से विरत नहीं होने देगी। वह अपने मोह में अपनी सन्तान के लिए उस विष का संचय ही नहीं करेगी, उसके पान का आग्रह भी करेगी...

सहसा सत्यवती की मुखाकृति पर आवेश झलका, "वह शाल्व की अनुरागिनी

थी, या वाग्दत्ता थी···तो इतने दिनों तक वह मौन धारण किये क्यों बैठी रही ? हरण के समय तुम्हें बताती। काशी से हस्तिनापुर आने तक के बीच में बहुत समय था। हस्तिनापुर आने के पश्चात् भी इतने समय तक वह वाक्-शून्य प्रस्तर-प्रतिमा बनी रही। अब, जब विवाह की पूर्ण तैयारी हो चुकी है, तो आज शाल्व के प्रति उसका अनुराग जाग उठा है। हस्तिनापुर के राजपरिवार की मर्यादा के साथ खिलवाड़ कर रही है वह।"

भीष्म चुपचाप सुनते रहे। उन्हें कहना ही क्या था।

पर शायद राजमाता का आवेश चुका नहीं था, "तुमने उससे पूछा नहीं कि वह आज तक मौन क्यों रही ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"कोई लाभ नहीं। जब वह किसी अन्य पुरुष का वरण कर ही चुकी है···।"

भीष्म चुप हो गये; किन्तु उनका मन चीत्कार करता रहा, 'राजमाता ! तुम तो नारी हो। क्यों नहीं समझतीं नारी-मन को। यदि अम्बा से यह प्रश्न पूछा गया, तो वह हस्तिनापुर के राजकुल की मर्यादा के लिए घातक भी हो सकता है।'

भीष्म चुप रहे। सत्यवती भी कुछ नहीं बोली।

"तो ?" अन्ततः भीष्म ने ही पूछा।

"उसे पुनर्विचार का एक अवसर और दो।"

"उसकी इच्छा के विरुद्ध ?"

"अपहृत राजकुमारियों की अपनी कोई इच्छा नहीं होती।" सत्यवती ने प्रायः आदेशात्मक स्वर में कहा।

भीष्म थोड़ी देर खड़े विचार करते रहे : कहें या न कहें ?···

"कोई और बात भी है ?"

"हाँ ! माता !" भीष्म धीरे से बोले, "राजवैद्य का मत है कि सम्राट् के लिए एक से अधिक रानियाँ हितकर नहीं हैं।"

सत्यवती के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ उभरीं और फिर जैसे उसने अपनी इच्छा के विरुद्ध कहा, "तो फिर अम्बा को जाने दो।···"

भीष्म मुड़े।

"किसी दासी को आदेश दो," सत्यवती ने जोड़ा, "कि उसे कह आये कि वह अपनी इच्छानुसार कहीं भी जाने के लिए स्वतन्त्र है।"

भीष्म ने सत्यवती की ओर देखा, तो उनकी आँखों में प्रतिवाद था। किन्तु उनकी वाणी ने प्रतिवाद नहीं किया। धीरे से बोले, "मैं उपयुक्त व्यवस्था कर देता हूँ।"

और भीष्म जब कक्ष के द्वार तक पहुँचे तो उन्हें लगा कि उन्होंने राजमाता

की एक सिसकी में लिपटे हुए धीमे-से शब्द सुने, 'यदि मेरा चित्रांगद जीवित होता।...'

भीष्म ने पलटकर नहीं देखा। देखने का क्या लाभ?...माता की स्वामित्व तृष्णा का शायद कोई अन्त नहीं था।

"राजकुमारी!" भीष्म ने कहा, "विद्वान् ब्राह्मणों का मत है कि यदि तुम सौभराज शाल्व की अनुरागिनी हो, तो तुम्हारा विवाह सम्राट् विचित्रवीर्य के साथ नहीं होना चाहिए। अतः हस्तिनापुर का राजकुल तुम पर से अपने स्वामित्व का अधिकार और प्रतिबन्ध हटा रहा है।"

अम्बा ने भीष्म की ओर देखा: एक सुखद सूचना देने का अभिनय करने के पूर्ण प्रयत्न के बाद भी उनकी वाणी में से उल्लास नहीं, विषाद ही ध्वनित हो रहा था।

...भीष्म ने भी देखा, इस सूचना को सुनकर अम्बा के जिस आह्लाद की कल्पना उन्होंने की थी—वह किसी भी अंश में प्रकट नहीं हुआ था।

भीष्म अम्बा के उत्तर की प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु अम्बा कुछ बोली नहीं। और उनके अपने पास कहने को और कुछ था नहीं।...

अन्ततः मौन को अम्बा ने ही तोड़ा, "तुम क्रूर हो भीष्म! निष्कासन के समय भी 'अम्बा' कहकर सम्बोधित नहीं कर सके।"

अम्बा का एक वाक्य, भीष्म के हृदय में उतना ही उत्पात कर गया, जितना उनचास पवन मिलकर सागर तल पर मचा सकते हैं।...किन्तु उस उत्पात को प्रकट करने से मर्यादा भंग होती, भीष्म की प्रतिज्ञा दुर्बल पड़ती...। उत्पात का दमन वे कर नहीं सकते थे। पर उसे अनदेखा तो किया ही जा सकता था। अब तो उन्हें पर्याप्त अभ्यास भी हो गया था, चीजों को अनदेखा करने का। सबसे अधिक अनदेखा तो उन्होंने अपने हृदय की भावनाओं का ही किया था...।

"मेरा सारथि वीरसेन तुम्हें मेरे रथ में सौभनरेश शाल्व के पास ले जायेगा।" भीष्म अपने स्वर को यथासाध्य सन्तुलित करके बोले, "इच्छा तो थी कि जैसे काशी से लाया था, वैसे ही स्वयं अपने रथ में बैठाकर तुम्हें सौभ ले जाता और स्वयं अपने हाथों तुम्हें तुम्हारे प्रिय को समर्पित करता। किन्तु हस्तिनापुर में सम्राट् के विवाह का आयोजन है। सारे दायित्व मुझ पर हैं। मैं हस्तिनापुर छोड़ नहीं पाऊँगा।..."

अम्बा का चेहरा कुछ और आक्रामक हो गया, "दाह चन्दन-काष्ठ से हो, या बबूल की लकड़ी से—शव के लिए दोनों में कोई भेद नहीं है।"

"राजकुमारी! शव-दाह करते हुए जो अपना हृदय दग्ध होता है, चन्दन-काष्ठ उस पर हल्का-सा शीतल लेप कर देता है।" भीष्म कहे बिना नहीं रह सके।

अम्बा के चेहरे पर छाये अन्धकार में हल्की-सी दरक पड़ गयी, जैसे प्रभात के समय काले अन्धकार के सलेटी होने से पड़ती है।

"आश्वस्त हुई !" अम्बा के स्वर की कटुता की धार कुछ मन्द हो गयी थी, "इसी को पर्याप्त मानूँगी।"

"एक अनुग्रह मुझ पर करना।" भीष्म बोले, "मार्ग में ही कहीं रथ छोड़ मत देना। वीरसेन को अपने गन्तव्य तक पहुँचने देना। मार्ग में विघ्न मत डालना। तुम्हें शाल्व के पास पहुँचाकर, उसकी ओर से सन्देश लेकर वीरसेन लौटेगा, तो ही मेरे मन को सन्तोष होगा।"

"तुम्हारे सन्तोष को अपनी उपलब्धि मानूँगी।" अम्बा की आँखें डबडबा आयीं।

अम्बा अपनी बहनों से विदा लेने गयी, तो वे दोनों ही अत्यन्त विचलित हो उठीं। अपनी दशा छिपाने के लिए अम्बिका ने अपनी आँखें बन्द कर लीं और अपने जबड़े कस लिये। किन्तु, अम्बालिका, अम्बा के जाने की सूचना पाकर भय से एकदम पीली पड़ गयी; और घबराहट के मारे उसके शरीर में हल्की-सी कँपकँपी दौड़ गयी, "दीदी ! हम यहाँ अकेली कैसे रहेंगी ?"

अपने विषाद के बीच भी, अम्बा अपनी मुस्कान रोक नहीं पायी, "पगली ! यदि हम तीनों का इस प्रकार एक साथ हरण न हुआ होता, और तुम अपने मन-भावन वर के साथ अपने ससुराल गयी होतीं, तो वहाँ भी तुम्हारे साथ तुम्हारी दीदी होती क्या ?"

अम्बालिका का स्वर कुछ खुला, "पर दीदी ! वहाँ हम अपने ससुराल में होतीं। यहाँ इस प्रकार अपरिचित अपहरणकर्ताओं के बीच।···"

अम्बिका की आँखें खुल गयीं। वह अम्बालिका की बात पर हल्के से मुस्करायी पर बोली कुछ नहीं।

"अब तुम अपरिचित अपहरणकर्ताओं के बीच नहीं हो।" अम्बा गम्भीर स्वर में बोली, "सम्राट् के साथ तुम दोनों के विवाह का आयोजन हो रहा है। तुम दोनों साम्राज्ञियाँ बनोगी। यह तुम्हारा ससुराल ही तो है।···फिर तुम दोनों तो साथ हो, अकेली तो मैं जा रही हूँ।" अम्बा ने रुककर देखा : आसपास कोई नहीं था, "और एक बात याद रखना।"

दोनों बहनें अम्बा के निकट सरक आयीं।

अम्बा धीमे स्वर में बोली, "यहाँ तुम्हारे सबसे बड़े हितैषी, तुम्हारा हरण करके लानेवाले महाराजकुमार भीष्म ही हैं। आवश्यक होने पर, उनसे कहने से मत चूकना।"

अम्बा ने अपनी आँखें पोंछीं और उठ खड़ी हुई, "अच्छा। चलती हूँ।"

वह कक्ष से बाहर निकली तो देखा, वीरसेन उसकी प्रतीक्षा में खड़ा था—अकेला।

अम्बा को निराशा हुई।···

'किस बात की निराशा है?'—उसने अपने-आपसे पूछा—'भीष्म उससे विदा लेकर जा चुके हैं···और फिर अब भीष्म आयें न आयें···।'

पर उसने पूछ ही लिया, "महाराजकुमार नहीं आये?"

"उन्होंने कहा था कि आपसे कह दूँ कि उन्हें कार्यवश अन्यत्र जाना पड़ रहा है। वे आ नहीं सकेंगे।। आप उन्हें क्षमा करें।" वीरसेन ने बताया।

अम्बा कुछ नहीं बोली। चुपचाप चलती हुई बाहर आयी। रथ तैयार खड़ा था। वह उसमें जा बैठी।

रथ चला तो अम्बा की आँखें अनायास ही प्रासाद की ओर उठ गयीं··· शायद किसी गवाक्ष से दो नयन झाँक रहे हों···शायद किसी द्वार पर कोई अपनी आँखों में विषाद की छाया लिये खड़ा हो···

पर कहीं कोई नहीं था।

अम्बा के मन में भावों के कई द्वन्द्व परस्पर गुँथे हुए, एक-दूसरे को परास्त करने का प्रयत्न कर रहे थे···

अब कोई आये या न आये, गवाक्ष से एक जोड़ी आँखें झाँकें या न झाँकें, किसी द्वार पर कोई निराश-सा खड़ा हो या न हो···क्या अन्तर पड़ेगा···वह तो जा ही रही है···भीष्म अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहा है···

पर इन द्वन्द्वों के आवेग को झेलते हुए क्या वह शाल्व के साथ प्रसन्न रह पायेगी?···शाल्व उसे पाकर कितना प्रसन्न होगा। कितने उत्साह से उसका स्वागत करेगा। अपने प्राणों को जोखिम में डालकर उसने भीष्म से युद्ध किया था। अपने प्राणों के मूल्य पर भी जिसे वह पा नहीं सका···वह भीष्म की अनुकम्पा से, उसे सहज ही प्राप्त हो गयी···उसके जीवन में तो उत्सव होगा···किन्तु अम्बा के मन की यह ग्रन्थि···अपनी इस ग्रन्थि के साथ शाल्व के उत्सव को झेल पायेगी अम्बा?···

यदि भीष्म उसके मार्ग में न आया होता···उसने शाल्व के कण्ठ में जयमाल डाल दी होती। वे पति-पत्नी आजीवन प्रेमी-युगल का-सा उत्सव मनाते रहते···पर विधाता की क्रीड़ा-वृत्ति कैसे परितृप्त होती··· अब यह एक कसक···एक फफोला···एक शल लेकर जीना···और कहीं उसका कोई भाव उद्घाटित हो गया, तो दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न होनेवाली समस्याएँ···ओ मेरे विधाता!···

अम्बा का मस्तक उसकी हथेली पर आ टिका।

हस्तिनापुर का नगर-द्वार आ गया।

अम्बा की चेतना बहिर्मुखी हुई। उसने चारों ओर देखा : शायद···

नगर-द्वार के बाहर भीष्म रथ पर बैठे थे। वीरसेन ने उनके निकट पहुँचकर वल्गा खींच ली।

"राजकुमारी! मैं तुम्हें हस्तिनापुर लाया था," भीष्म धीरे-से बोले, "इस-लिए तुम्हें हस्तिनापुर से विदा करने का दायित्व भी मेरा ही है। मैंने सोचा, इस अवसर पर मेरा उपस्थित न होना, शालीन कृत्य नहीं होगा···।"

"कृपा है तुम्हारी भीष्म!" अम्बा बोली, "जाते हुए एक कृपा की याचना और कर रही हूँ।"

"क्या?"

"एक अभिभावक के समान मेरी बहनों की देख-भाल करना।" अम्बा ने अत्यन्त कोमल स्वर में कहा, "वे दोनों मूर्ख होने की सीमा तक अबोध हैं। देखना, उन्हें कोई कष्ट न हो।"

"मुझे तुम्हारा वचन याद रहेगा अम्बे!" भीष्म ने कहा, और रथ से परे हट गये।

वीरसेन अपने स्वामी का संकेत समझ गया। उसने रथ हाँक दिया।

अम्बा और अम्बालिका का विचित्रवीर्य के साथ बहुत धूमधाम से विवाह हुआ। भीष्म इस विवाह के विभिन्न कार्यों में ऐसे जुटे हुए थे, जैसे वर उन्हीं का पुत्र हो, और वधुएँ उनकी पुत्रियाँ।

कुछ लोगों ने टोका भी! स्वयं माता सत्यवती ने समझाया, "इस प्रकार अपने साथ अत्याचार मत करो। ऐसा न हो कि तुम्हारा स्वास्थ्य ढीला पड़ जाये। फिर इस सारे कार्य-कलाप को सँभालेगा कौन?"

पर भीष्म जैसे स्वयं अपने हठ के दास हो गये थे। विचित्रवीर्य के विवाह के सम्बन्ध में हुए प्रत्येक समारोह के नियन्ता वे ही थे। कहीं किसी भी कार्य में न्यूनता न रह जाये···

और मन-ही-मन भीष्म जानते थे कि वे अपने-आपसे लड़ रहे थे। विदा होती हुई अम्बा की वह छवि, उनके हृदय में ऐसी अंकित हुई थी कि मिटना तो दूर, वह तनिक-सी धूमिल भी नहीं हुई।···एकान्त का एक क्षण मिलते ही जैसे हृदय में अंकित अम्बा की छवि सजीव हो उठती, 'तुमने मेरे साथ अत्याचार किया है भीष्म!···शाल्व के प्रति मेरा आकर्षण अवश्य था, क्योंकि मेरे जीवन की वाटिका में पवन का कोई दूसरा झोंका आया ही नहीं था।···किन्तु जब तुम आये, मुझे अपने हृदय को टटोलना पड़ा···शाल्व के लिए मेरे मन में क्या था···अनुराग? या···

तुमने मेरा हरण किया···और मैं तुम्हारी वीरता पर रीझ-रीझ गयी। कोई सन्देह नहीं कि शाल्व ने भी वीरता दिखायी थी। वह अनेक राजाओं के साथ मिलकर अपनी 'प्रिया' के लिए तुमसे लड़ पड़ा था···और तुम अकेले··· मैंने तुम्हारा रूप देखा, तुम्हारा संकल्प देखा, तुम्हारा साहस और धैर्य देखा, तुम्हारी शस्त्र-कला देखी, तुम्हारा युद्ध-कौशल देखा···और जैसे-जैसे तुम्हारी तुलना शाल्व से करती रही, तुम पर रीझती गयी।···वह हस्तिनापुर तक की यात्रा ···तुम्हारे एक सम्बोधन 'अम्बे' पर मेरा हृदय जाने कैसी-कैसी कल्पनाएँ कर गया। मेरे जीवन में जो वसन्त कभी नहीं जागा था, वह तुम्हारा एक सम्बोधन जगा गया ···और अन्ततः तुमने जैसे मुझे हिमालय के उच्चतम शिखर से सागर की अतल गहराई में धक्का दे दिया, 'मैंने तुम तीनों का हरण विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने के लिए किया था···'

भीष्म अपने मन में बोलती अम्बा की छवि को बड़ी कठिनाई से चुप कराते। ···वे मानते थे, यह सब उनका भ्रम है। नहीं! शायद यह भ्रम भी नहीं है, उन्होंने आज तक अपनी जिन कामनाओं का बलात् दमन किया था, उन सबने ही मिलकर जैसे अम्बा का रूप धारण कर लिया था···उनका अपना हृदय ही उन्हें छल रहा था।···वे समझते थे कि उन्होंने अपनी कामनाओं को जीत लिया है, काम को पराजित कर दिया है। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। अधिक-से-अधिक, उन्होंने अपने संकल्प से उन सबको दबा रखा है। उनके संकल्प के शिथिल होने का कोई बहाना उपस्थित हुआ और उनकी सारी दुर्बलताएँ साँप-बिच्छुओं के समान कुलबुलाने लगती हैं···और ऐसे में भीष्म का मन काँप-काँप जाता है···युवावस्था में अपनी दुर्बलताओं को वे संकल्पपूर्वक बाँधे रहे···और प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था आने पर उनका संकल्प शिथिल हो जाये···तब अपने पिता के समान बड़ी अवस्था में उनका काम जागा तो क्या होगा भीष्म का? प्रतिज्ञा निभाने का यश उतना नहीं मिलता जितना दुर्बल पड़ने पर अपयश···क्या अन्त में भीष्म के भाग्य में कलंक ही लिखा है?···

भीष्म जैसे स्वयं अपने-आप पर मुस्कराये :···उन्होंने पिता को काम-यातना में तड़पते देखकर समझा था कि उनके अपने मन में जैसे काम का आकर्षण है ही नहीं। तभी तो वैसी प्रतिज्ञा कर पाये थे वे।···उनका विवेक आज भी जानता है कि काम तो एक दाम है, जीव को बाँधने के लिए···किन्तु मन···मन मानता है क्या?··· कैसे तड़पता है मन···और विवेक खड़ा देखता ही रह जाता है।···कहीं एक क्षण के लिए विवेक सोया और मन ने अनर्थ किया···

पिता ने उनकी प्रतिज्ञा सुनकर उनका नाम भीष्म रख दिया था। सारा संसार यह मानता है कि भीष्म जैसा दृढ़ संकल्प किसी में नहीं है। दृढ़ता और संकल्प···भीष्म का मन हुआ, स्वयं पर ज़ोर-ज़ोर से हँसें। वे जानते हैं अपने

संकल्पों को···अम्बा ने कैसे डिगा दिया है उनके संकल्प को···नहीं अम्बा ने क्या डिगाया है। उनका अपना मन ही इतना लोलुप है कि लपके बिना नहीं रहता··· बाहर क्या रूप है भीष्म का···और उनके भीतर···

भीष्म को लगा, वे अपने-आपसे ही डरने लगे हैं।

[27]

विचित्रवीर्य प्रातः जागा, तो उसे हल्का-सा ज्वर था। शरीर बहुत दुर्बल लग रहा था और सिर का भारीपन भी कुछ बढ़ गया था···वैसे उसके लिए अपनी इस अवस्था में कोई नवीनता नहीं थी। वर्षों से वह ऐसा ही चल रहा था। वह तो एक प्रकार से उसका अभ्यस्त भी हो गया था।···मन तनिक स्वस्थ हुआ और तन ने साथ दिया तो दासियों को बुला लिया।···शरीर दुर्बल लगा, मन भारी हुआ तो मदिरा के कई पात्र···फिर न शरीर की दुर्बलता का भान रहता, न मन के भारीपन का।···पर जब से भीष्म और माता सत्यवती में कोई समझौता हो गया था, तब से दासियों की अपेक्षा उसे अपना अधिक समय ब्राह्मणों की संगति में बिताना पड़ता था; और मदिरा से अधिक उसे राजवैद्य की तिक्त औषधियों का पान करना पड़ता था।···और ऊपर से माता ने भीष्म के साथ मिलकर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा था।···उन्होंने उसे सम्राट् बना दिया था। सम्राट् बनने तक उसे कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु उसके बाद प्रतिदिन जाकर राजसभा में सिंहासन पर बैठे रहना और मन्त्रियों, जन-प्रमुखों, ब्राह्मणों···और जाने किस-किसके भाषण सुनना··· और फिर उन पर विचार करना···यह सब विचित्रवीर्य के वश का नहीं था। इससे तो अच्छा था कि उसे मदिरा का एक भांड देकर, अपने कक्ष में छोड़ दिया जाता···

"आर्यपुत्र !"

विचित्रवीर्य ने आँखें खोलीं : अम्बिका और अम्बालिका, दोनों ही सामने खड़ी थीं।···ये दोनों इस प्रकार एक-दूसरी से क्यों जुड़ी रहती हैं—उसने सोचा—जब देखो, तब एक साथ ! विचित्रवीर्य तो दो दिन में ही ऊब जाये, यदि उसे किसी एक के साथ इस प्रकार जुड़कर रहना पड़े।

"उठिए।" अम्बिका बोली, "विलम्ब हो रहा है। राजसभा आपकी प्रतीक्षा में है।"

'राजसभा।' विचित्रवीर्य का मन हुआ, वे ऊँचे स्वर में चिल्लाये···पर उसके सिर का भारीपन उसे चिल्लाने की अनुमति ही नहीं दे रहा था। इससे पहले कि वह सिर के भारीपन पर खीझता, उसका ध्यान दूसरी ओर चला गया, "मैं आज सभा में नहीं जाऊँगा।···" वह धीरे-से बोला, "मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है।"

अम्बिका ने उसके माथे पर हाथ रखा : उसे ज्वर का आभास हुआ। ··उसने

अम्बालिका की ओर देखा। अम्बालिका ने उसका तात्पर्य समझकर अपनी हथेली विचित्रवीर्य के माथे पर रखी।

"ज्वर है।" वह बोली।

"माता को सूचित करें?" अम्बिका ने पूछा।

"माता को क्या सूचित करना है!" विचित्रवीर्य ने खीझकर कहा, "मुझे विश्राम करने दो।"

"पर माता को सूचित करने में क्या आपत्ति है आपको?"

"क्योंकि मैं बच्चा नहीं हूँ, कि मेरे सम्बन्ध में प्रत्येक छोटी-बड़ी बात की सूचना माता को दी जाये।"

"तो क्या हैं आप?"

"मैं अब युवक हूँ।"

"आपके यौवन से पर्याप्त परिचित हैं हम!" अम्बिका के स्वर का कटाक्ष प्रत्यक्ष था।

"क्या परिचित हो यौवन से ···" विचित्रवीर्य की खीझ उभरी; किन्तु अगले ही क्षण उसका स्वर दब गया, "अस्वस्थ हूँ इन दिनों, अतः दुर्बल हूँ।"

"तो माता को सूचित क्यों नहीं करने देते?"

"जाओ! सूचित कर दो माता को।" विचित्रवीर्य की खीझ मुखर हो उठी, "वे वैद्य को बुलाएँ। वैद्य मुझे विष के समान तिक्त ओषधियाँ पिलाये।···जाओ। बता दो माता को।"

किन्तु सत्यवती को बताने के लिए किसी को जाना नहीं पड़ा। वह स्वयं ही कक्ष में आ गयी, "क्या बताना है माता को?"

"आर्यपुत्र का स्वास्थ्य?···" अम्बिका बोली।

"क्या हुआ मेरे बच्चे को।" सत्यवती झपटकर विचित्रवीर्य के पास आयी और उसके माथे पर हाथ रखकर बोली, "इसे तो ज्वर है।"

उसने अम्बिका की ओर देखा : अम्बिका ने सिर झुका लिया, जैसे इसमें उसी का दोष हो। अम्बालिका जाकर अम्बिका के पीछे खड़ी ही नहीं हुई, उसने स्वयं को बड़ी बहन की ओट में पूर्णतः छिपा लिया था।

सत्यवती ने साथ आयी परिचारिका की ओर अपनी आँखें फेरी, "राजवैद्य को सूचित करो। तुरन्त! किसी तीव्रगामी अश्वारोही को भेजो···या ऐसा करो, किसी सारथि को भेजो, वैद्य को अपने साथ रथ पर बैठाकर ले आये।"

"जो आज्ञा।" परिचारिका चली गयी।

सत्यवती की इच्छा हुई, पीछे से पुकारकर कहे कि किसी को भेजकर भीष्म और महामन्त्री को भी सूचित कर दे···किन्तु फिर कुछ सोचकर चुप ही रही।

परिचारिका चली गयी।

उन्हें अब राजवैद्य की प्रतीक्षा ही करनी थी। पर इतनी देर तक सत्यवती निष्क्रिय तो नहीं बैठ सकती थी।...वह जाकर विचित्रवीर्य के सिरहाने बैठ गयी।

"लाओ ! तुम्हारा सिर दबा दूं मेरे लाल !"

विचित्रवीर्य ने संकोच से अपनी पत्नियों की ओर देखा।

सत्यवती की दृष्टि ने उसकी आँखों का पीछा किया; और सहसा वह रोष मिश्रित स्वर में बोली, "खड़ी देख क्या रही हो। तुम्हारा पति अस्वस्थ है। उसकी सेवा करनी चाहिए। पैर दबाओ अपने पति के।"

अम्बिका और अम्बालिका ने एक-दूसरी की ओर देखा और एक मूक समझौते के अधीन आकर विचित्रवीर्य के पैरों के पास, पलँग के दोनों ओर बैठ गयीं। वे दोनों धीरे-धीरे पति की टाँगें चाँपने लगीं।

विचित्रवीर्य ने एक झुरझुरी-सी ली और अपनी टाँगें खींच लीं। उसने सत्यवती की ओर देखा, "बन्द करो माँ ! यह सब।"

"क्यों ?" सत्यवती चकित थी, "क्या बात है मेरे लाल ? कोई असुविधा हुई ? क्या शरीर को आराम नहीं मिलता ?"

"इनके स्पर्श से मेरे शरीर का ताप बढ़ता है।"

अम्बिका और अम्बालिका ने संकोच से दृष्टि भूमि में गाड़ ली।

सत्यवती को विचित्रवीर्य की असुविधा समझने में थोड़ा समय लगा।... समझने के पश्चात् उसे थोड़ा आश्चर्य हुआ।...पत्नी का स्पर्श भी उसके शरीर में ताप बढ़ाता है...इतना कामातिरेक है विचित्रवीर्य में...

राजवैद्य ने आकर विचित्रवीर्य की नाड़ी देखी। सम्राट की आँखों, जिह्वा और त्वचा का परीक्षण किया। थोड़ी देर सोचते रहे और बोले, "राजमाता ! मेरे साथ आयें।" उसने मुड़कर अम्बिका और अम्बालिका की ओर देखा, "आप लोग जायें। सम्राट् को विश्राम की आवश्यकता है।"

राजवैद्य के साथ सत्यवती दूसरे कक्ष में आयी।

"क्या बात है वैद्यराज ?"

"सम्राट् की कामेच्छा असाधारण रूप से प्रबल है। शरीर दुर्बल है।...और आपने उन्हें एक नहीं, दो-दो सुन्दरी पत्नियाँ उपलब्ध करा रखी हैं।..."

सत्यवती को लगा, राजवैद्य ने पूरी बात नहीं कही थी।

"स्पष्ट कहें वैद्यराज !"

"और स्पष्ट क्या कहूँ राजमाता !" राजवैद्य ने सिर झुका लिया। उसका स्वर और भी धीमा हो गया, "मुझे सम्राट् में क्षय रोग के लक्षण दिखायी दे रहे हैं।..."

सत्यवती फटी-फटी आँखों से राजवैद्य को देखती रही...शब्द जैसे सारे-के-

सारे खो गये थे···

"मैंने तो राजमाता से पहले भी निवेदन किया था कि सम्राट् को स्त्री-प्रसंग से दूर रखें।" राजवैद्य के शब्दों में विषाद की ध्वनि स्पष्ट थी, "सम्राट् के विवाह से पहले भी मैंने महाराजकुमार से निवेदन किया था कि सम्राट् के स्वास्थ्य के लिए एक पत्नी भी जोखिम का कारण हो सकती है। फिर भी दो रानियाँ···।"

"किन्तु राजाओं के लिए दो रानियाँ कोई अतिरिक्त विलास का प्रमाण नहीं है वैद्यराज!" सत्यवती के स्वर में प्रतिवाद की ध्वनि थी।

"वे राजा सैकड़ों योजन की यात्रा घोड़े की पीठ पर करते हैं और आठ-आठ प्रहर शस्त्र-परिचालन करते हुए भी थकते नहीं हैं राजमाता! हमारे सम्राट् का शारीरिक स्वास्थ्य उस कोटि का नहीं है।" राजवैद्य ने कहा, "कृपया रानियों को सम्राट् से दूर रखें ताकि न तो रानियों पर सम्राट् के रोग का प्रभाव पड़े और न सम्राट् व्यर्थ ही कामोत्तेजना के कारण अपने स्वास्थ्य का और भी क्षय करें···।"

सत्यवती का मन जैसे एकदम बुझ गया।

क्या है यह सब? कौन-सा पाप किया है सत्यवती ने, जिसका उसे यह दण्ड मिल रहा है। पहले अपना प्रिय तापस छूटा, नन्हे कृष्ण द्वैपायन को त्यागा; फिर वृद्ध पति पाया, विधवा हुई, चित्रांगद छोड़ गया और अब यह विचित्रवीर्य···क्या यह सब केवल इसलिए कि सत्यवती और उसके बाबा ने राज्य का लोभ किया, या इसलिए कि उसने भीष्म के अधिकार का अपहरण किया···पर क्या पाया उसने? सबकुछ तो खोया ही खोया है···क्या यह सब उसका अपना कृत्य है··या किसी और का?···भगवान् का या मनुष्य का?···

सत्यवती को लग रहा था कि वह या तो सशब्द रो पड़ेगी और दीवारों से अपना सिर टकरायेगी, या फिर वह किसी का मुँह नोच लेगी···उसे मालूम तो होना चाहिए कि उसी के साथ यह सब क्यों हो रहा है?···राजवैद्य कहता है कि उसने भीष्म को बताया था कि सम्राट् के लिए एक भी पत्नी···तो भीष्म बार-बार क्यों कहता रहा कि विचित्रवीर्य का विवाह कर दिया जाये? वह विचित्रवीर्य को पत्नी उपलब्ध कराने के लिए इतना व्यग्र क्यों था?···क्या इसलिए कि पत्नी को पाकर अपनी कामासक्ति के कारण विचित्रवीर्य अपने स्वास्थ्य का नाश कर ले और प्राणों से हाथ धोये·· हाँ! क्यों नहीं चाहेगा, भीष्म ऐसा?··वह कैसे भूल सकता है कि उसे राज्याधिकार से अपदस्थ करनेवाली मैं हूँ···मुझे और मेरी सन्तान को वह सुखी देख ही कैसे सकता है।···जब चित्रांगद मृत्यु से जूझ रहा था, तो वह तपस्या का ढोंग कर गंगा पार अपनी कुटिया में जा बैठा था।···कोई बड़ी बात नहीं है, यदि इसी ने गन्धर्वराज को उकसाकर चित्रांगद से लड़ने को भेजा हो।··· और अब मुझसे मीठी-मीठी बातें कर, मेरे पुत्र को पत्नी का लोभ दिया, तीन-तीन कन्याओं का हरण कर लाया···यह जानता था कि विचित्रवीर्य के लिए काम-प्रसंग

घातक है, तो भी वह तीन-तीन कन्याएँ हर लाया…

यह भीष्म मेरा और मेरी सन्तान का नाश करके ही छोड़ेगा…

सत्यवती आवेश में बाहर निकली। सारथि को रथ लाने का संकेत किया और रथारूढ़ होकर कहा, "महाराजकुमार के प्रासाद में ले चलो।"

भीष्म के प्रतिहारी ने राजमाता को प्रणाम किया।

"महाराजकुमार हैं?"

"हैं राजमाता!" उसने कहा, "वे सारथि वीरसेन से चर्चा कर रहे हैं। वीरसेन अभी-अभी सौभ से लौटे हैं।"

सत्यवती ने और जिज्ञासा व्यर्थ समझी। कक्ष में प्रवेश किया तो जिस व्यक्ति पर सबसे पहले उसकी दृष्टि पड़ी, वह अम्बा थी। लम्बी-ऊँची गौर-वर्णा नारी। बड़ी-बड़ी काली आँखें, तीखी नाक, लम्बे काले बाल, आकर्षक नारी अवयव। पूर्ण और विकसित नारीत्व की स्वामिनी!…किन्तु इस समय थकी हुई, एक लम्बी यात्रा से धूल-धूसरित। बिखरे हुए केश। कुछ-कुछ लालिमा लिये आँखें, जैसे अभी-अभी रोई हो…

पर यह यहाँ क्या कर रही है? यह तो सौभ गयी थी।

"राजकुमारी तुम!" सत्यवती का आश्चर्य प्रकट हो ही गया।

पर अम्बा ने न तो राजमाता के प्रश्न का उत्तर दिया; और न प्रणाम ही किया। उसने उपेक्षा से मुख फेर लिया; और सत्यवती को लगा, उसने ओट में होकर अपनी आँखें पोंछी हैं।

भीष्म और वीरसेन ने राजमाता को प्रणाम किया।

"भीष्म! यह?" सत्यवती ने पूछा।

"हाँ माता! शाल्व ने राजकुमारी को स्वीकार नहीं किया। वह कहता है कि वह क्षत्रिय राजा है। युद्ध में जीत सकता तो जीत लेता, वह भीष्म का दिया दान नहीं ले सकता।" भीष्म धीरे से बोले।

"पूरी बात क्यों नहीं बताते तुम!" सहसा अम्बा रुदन और आक्रोश-भरे स्वर में बोली, "मुझसे सुनो राजमाता!" उसकी आँखें सत्यवती पर जम गयीं, "वह कहता है कि जिस क्षण भीष्म ने स्वयंवर-मण्डप में मेरी बाँह पकड़ मुझे अपने रथ पर बैठाया—मैं उसी क्षण से स्वयंवर में जीती हुई भीष्म की वीर्यशुल्का पत्नी हो गयी। और जो धर्मतः भीष्म की पत्नी है, उसे धर्मज्ञ सौभराज शाल्व अपनी पत्नी के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता है। वह परस्त्रीगामी नहीं बनना चाहता।…"

'पर यह झूठ है।' सत्यवती का मन ऐसे काँपा, जैसे आकाश उस पर टूट

का नाश होता है।···अर्जुन को लगा कि उसके मन ने जैसे उसके विवेक की बात मान ली है। उसने उस दिशा में सोचना छोड़ दिया है, फिर भी उसकी आँखों ने जैसे अश्वत्थामा की खोज नहीं छोड़ी। अश्वत्थामा उससे छोटा था, उसके बराबर वेग से भाग भी नहीं सकता था, फिर भी वह कैसे सबसे पहले आचार्य के निकट पहुँच जाता था ? यह कला तो उससे सीखनी ही होगी।

व्यायाम के पश्चात् सबको अपने-अपने कुंभ लेकर जल लाने के लिए जाना था। अर्जुन ने देखा, सबसे पहले अश्वत्थामा ही कुंभागार की ओर भागा। निश्चित रूप से अन्य किसी शिष्य को जल लाने की कोई जल्दी नहीं थी। किंतु अर्जुन को तो जल्दी थी ही।···

कुंभागार के द्वार पर ही आचार्य-पत्नी खड़ी थीं। अश्वत्थामा को देखते ही उन्होंने कुंभ उठाकर उसकी ओर बढ़ा दिया। कुंभ लेकर अश्वत्थामा झपटकर पीछे लौटा।

अर्जुन भी जाकर आचार्य-पत्नी के निकट खड़ा हो गया। उसने उनके चरण छूकर प्रणाम किया। किंतु आचार्य-पत्नी ने कोई भी कुंभ उठाकर, उसकी ओर नहीं बढ़ाया। आशीर्वाद देकर भी, उनकी भुजा किसी कुंभ की ओर नहीं बढ़ी। मुस्कराकर उन्होंने पूछा, "कैसे हो वत्स ?"

अर्जुन को अच्छा लगा। आचार्य-पत्नी के प्रश्न में स्नेह था। उन्हें आचार्य के शिष्यों के कुशल-मंगल के समाचार में रुचि थी। किंतु, अर्जुन यह भूल नहीं पा रहा था कि उसे विलंब हो रहा है। इतनी देर में तो अश्वत्थामा गंगा के जल तक जा पहुँचेगा, इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक अर्जुन कुंभ लेकर घाट पर पहुँचेगा, तब तक अश्वत्थामा, अभ्यास-क्षेत्र में पहुँच जाएगा; और जब तक अर्जुन जल का कुंभ आचार्य-पत्नी को सौंपकर अभ्यास-क्षेत्र में पहुँचेगा, तब तक गुरुदेव अश्वत्थामा को धनुर्वेद का नया मंत्र दे भी चुके होंगे।··

"आर्ये ! मेरा कुंभ !"

आचार्य-पत्नी ने तब भी कुंभ उसकी ओर नहीं बढ़ाया। मुस्कराकर बोलीं, "खोज लो पुत्र ! और हाँ ! देखो, अपना ही कुंभ लेकर जाना। वही, जो कल लेकर गए थे। यह न हो कि तुम किसी और का कुंभ ले जाओ और वह बेचारा अपना कुंभ खोजता ही रह जाए।···"

अर्जुन का मन जैसे हताश हो गया : इतने कुंभ थे यहाँ। उनमें से अपना कुंभ अर्जुन कैसे खोज सकता है। और यदि वह खोज भी लेगा तो इस खोज में ही कितना विलंब हो जाएगा। और उधर···

किंतु कुंभ तो उसे खोजना ही था।

शाल्व के प्रति अपना अनुराग प्रकट करके भी कोई अन्याय नहीं किया। और शाल्व का तुम्हें अंगीकार न करने का कारण भी धर्म-विरुद्ध नहीं है···।"

"सबने अपने धर्म का ही निर्वाह किया है तो यह अधर्म क्यों हो रहा है?" अम्बा क्षुब्ध स्वर में बोली, "पिता के घर से मैं स्वयंवर में हरी गयी। अत: मैं लौटकर अपने पितृ-कुल में नहीं जा सकती। जो मुझे हर कर लाया, वह मुझे ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा में बँधा हुआ है; और जो मुझसे प्रेम करता था और विवाह करना चाहता था, वह मुझे इसलिए अंगीकार नहीं कर रहा, क्योंकि वह मेरा हरण नहीं कर सका···जब किसी ने भी अधर्म नहीं किया, किसी ने पाप नहीं किया, किसी ने अन्याय नहीं किया—तो फिर यह सारी यातना मेरे ही लिए क्यों?···तुम क्यों नहीं मेरे समान वन-वन और नगर-नगर भटक रहे?···"

"राजकुमारी! यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।" भीष्म यथासम्भव शान्त स्वर में बोले, "कभी-कभी जीवन में परिस्थितियों के ऐसे विचित्र समीकरण बन जाते हैं कि व्यक्ति कष्ट भी पाता है, और उसके लिए किसी को दोषी भी नहीं ठहरा सकता। तुम ऐसी ही एक स्थिति में खड़ी हो इस क्षण!···किन्तु ऐसी कोई कठिनाई नहीं है, जिसका पार हम धैर्य और विवेक से नहीं पा सकते। तुम धैर्य रखो। हम तुम्हारी सहायता करेंगे। तुम पितृ-कुल में लौटना चाहो तो, विचित्रवीर्य से विवाह करना चाहो तो···"

और सहसा सत्यवती के मन में ज्वार उठा, 'नहीं! नहीं!! भीष्म, ऐसा मत करना। राजवैद्य विचित्रवीर्य को स्त्री-प्रसंग से दूर रखने का आदेश दे रहा है और तुम उसके लिए एक और पत्नी की व्यवस्था कर रहे हो···हत्या करोगे क्या उसकी?'

पर सत्यवती बोली कुछ नहीं।

"क्या बात है माता? आप इतनी उद्विग्न क्यों हैं?" भीष्म ने पूछा।

किन्तु, इससे पहले कि सत्यवती कोई उत्तर देती, अम्बा बोली, "मुझे न अब पितृ-कुल में लौटना है, न निर्वीर्य विचित्रवीर्य से विवाह करना है, न कुरु-कन्या बनकर हस्तिनापुर में रहना है, न सौभ-नरेश शाल्व के पास जाना है···।"

"तो क्या इच्छा है राजकुमारी?"

"मैं जिसकी भार्या हूं, वह मुझे अंगीकार करे। मुझे कुरुकुल में अपना उचित, उपयुक्त, धर्मयुक्त स्थान प्राप्त हो, नहीं तो···।"

"नहीं तो?"

"नहीं तो मैं अपने अपमानित जीवन के प्रतिकार-स्वरूप भीष्म! कोई भयंकर कृत्य करूंगी···" उसने भीष्म की ओर देखा, "इस एक स्त्री के सुख के लिए, तुम मेरा जीवन इस प्रकार नष्ट नहीं कर सकते। यह अपने जिस वंश के सुख के लिए यह सब कर रही है, मैं उस वंश का सम्पूर्ण नाश कर दूंगी।···"

सत्यवती की इच्छा हुई कि वह अपनी आँखें बन्द कर ले : उसके सामने काशि-राज की पुत्री अम्बा नहीं, जो उसे और उसके वंश का सर्वनाश करने पर तुली हुई थी, यह तो कोई भयंकर कृत्या थी, शापग्रस्त, उद्विग्न प्रेतात्मा···यदि उसकी बात मान ली जाये। सत्यवती यदि भीष्म को उससे विवाह करने की अनुमति दे दे, तो अपने ही क्षण हस्तिनापुर की साम्राज्ञी के रूप में अधिकार ग्रहण कर, भीष्म का राज्याभिषेक करवायेगी और सम्भव है कि विचित्रवीर्य को वधिकों से हवाले कर दे···और यदि उसकी बात न मानी जाये तो···कहीं यह भीष्म का वध न करवा दे···भीष्म का, जिसका जीवन, सम्पूर्ण कुरु-साम्राज्य का जीवन है···भीष्म की आवश्यकता आज सत्यवती से अधिक किसे होगी···अपने प्रासाद से चलते हुए सत्यवती ने सोचा था कि भीष्म उसका सबसे बड़ा शत्रु है···तब वह उसका नाश चाह रही थी···किन्तु इस समय अम्बा उसे समझा रही थी कि भीष्म का नाश, सत्यवती का ही नाश है···अम्बा भीष्म को उससे छीन लेना चाहती है···जीवित या मृत !···अम्बा भीष्म की नहीं, सत्यवती की सबसे बड़ी शत्रु है।···भीष्म ठीक कहता है कि कभी-कभी परिस्थितियों के ऐसे समीकरण आ उपस्थित होते हैं··· सत्यवती ने तो अम्बा को कभी हानि नहीं पहुँचायी···

"तो अम्बे !" भीष्म के स्वर में सहसा किंचित माधुर्य घुल गया, "विधाता का यही विधान है, तो यही सही ! मैं नहीं जानता था कि दुर्बलता का एक क्षण इस प्रकार हमारे विनाश की घड़ी ले आयेगा।"

सत्यवती को लगा, अम्बा के चेहरे पर भी हल्की-सी कोमलता उभरी, "तुम जानते हो भीष्म ! मैं तुम्हारी प्राण भी हूँ और विनाश भी।" और सहसा, वह फिर तटस्थ हो गयी, "तो क्या सोचा है मेरे लिए ?"

"राजकुमारी ! तुम्हारी इच्छा इस जन्म में तो पूरी नहीं कर पाऊँगा।"

"यह अन्तिम उत्तर है ?"

"सर्वथा अन्तिम !"

"तो फिर मुझे शैखावत्य मुनि के आश्रम तक पहुँचवाने की व्यवस्था कर दो, ताकि मैं हस्तिनापुर के विनाश का प्रबन्ध कर सकूँ।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा !" भीष्म बोले। उन्होंने परिचारिका को बुलाकर आदेश दिया, "राजकुमारी थकी हुई हैं। उनके स्नान, भोजन और विश्राम का प्रबन्ध करो।"

अम्बा परिचारिका के पीछे चली तो उसने एक दृष्टि भीष्म पर भी डाली। भीष्म ने देखा, उसकी आँखों में कितनी करुणा थी···और कितनी प्रचण्डता।

"दीदी हस्तिनापुर आयी तो है," अम्बिका ने कहा, "किन्तु हमसे मिलने की उन्होंने

अंकुश रहा है। धन तो सदा ही प्रजा की धरोहर है। उसके रक्षक क्षत्रिय राजा हैं। उसी प्रकार ज्ञान भी मानव-समाज की धरोहर है। उसके रक्षक आचार्य होते हैं। जिस प्रकार राजा अपनी बुद्धि के अनुसार उस धन का सर्वश्रेष्ठ उप-योग करता है, उसी प्रकार आचार्य का कार्य है यह देखना कि मानव-समाज की यह धरोहर किस प्रकार विकसित हो सकती है, किस प्रकार संचित हो सकती है; और किस प्रकार वितरित होना चाहिए···।"

"आप ठीक कहते हैं ज्येष्ठ !" अर्जुन बोला, "किसी गुरु से बलात् विद्या प्राप्त नहीं की जा सकती। किंतु क्षत्रिय राजकुमार शस्त्र-विद्या के अधिकारी नहीं हैं—यह कहना उचित नहीं है। विशेष रूप से मैं, धनुर्वेद के मंत्र का अधि-कारी हूँ और दूसरे का नहीं हूँ—यह स्वीकार करना मेरे लिए कठिन है। मध्यम की नीति के अनुसार मैं पितामह से यह कहने तो नहीं जा रहा कि आचार्य मुझे एक मंत्र विशेष नहीं सिखा रहे; किंतु आचार्य के निर्णय को अपने भाग्य का संकेत मानकर मैं निष्क्रिय नहीं रह सकता। धनुर्विद्या को मैं उसकी पूर्णता में प्राप्त करना चाहता हूँ। यह मेरे जीवन का लक्ष्य है।···"

"तो फिर साधना करो कनिष्ठ !" सहदेव बोला, "साधना के माध्यम से ही तो हम वे शक्तियाँ प्राप्त करते हैं जो प्रकृति ने सामान्यतः हमें नहीं दे रखीं।"

अर्जुन वहाँ से उठ आया। वह कहीं एकांत में बैठकर सोचना चाहता था। वह जानता था कि वह न युधिष्ठिर की नीति पर चल सकता था; और न भीम के समान आंदोलन खड़ा करना चाहता था। कदाचित् सहदेव ने ही ठीक कहा था—जो हमें स्वतः न मिले, उसके लिए हमें साधना करनी पड़ती है।···उसके मन में बहुत सारे क्षेत्रों की बहुत सारी महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं जागतीं। वह बहुत कम से संतुष्ट और सुखी रह सकता है; किंतु धनुर्विद्या तो उसके लोभ का क्षेत्र है। उसे ज्ञात हो कि धनुर्विद्या का कोई मंत्र कहीं से उसे मिल सकता है—और वह उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, यह कैसे संभव है।···किंतु यदि आचार्य उसे सिखाना नहीं चाहते तो?···उसका मन इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर अपना ही एक प्रश्न रटता जा रहा था—'पर आचार्य क्यों सिखाना नहीं चाहते ?'···

सहसा उसका मन एक नई दिशा में मुड़ गया : गुरु ने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद दिया है, फिर भी उनका मन उसके प्रति इतना उदार नहीं है कि वृक्ष के समान अपने सारे फल उसे दे सकें। कहीं कोई विरोध है, कोई अविश्वास, कोई दूरी, कोई अंतर ! गुरु के मन का कोई कोना है, जो उसे देखकर विगलित नहीं होता। उसने अपने गुरु के मन को पूर्णतः विजय नहीं किया है। उसकी गुरु-भक्ति में कहीं कोई कमी है, प्रयत्न में अपूर्णता है। सहदेव ठीक कहता है—उसे अभी साधना करनी चाहिए···

अर्जुन का मन शांत नहीं था : उसके मन की व्याकुलता उसे गंगा तट पर ले आई थी और वह एक वृक्ष के नीचे बैठा अनायास ही कंकड़ियाँ उठा-उठा कर जल में फेंकता जा रहा था : 'क्या गुरु के प्रति उसके समर्पण में कहीं सचमुच कोई कमी है ? कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई कमी तो है ही। नहीं तो उसका समर्पण गुरु का मन जीत क्यों नहीं पाया ? ऐसा कैसे हो गया कि गुरु के लिए शिष्य से बढ़कर उनका पुत्र हो गया ?'···सहसा उसके मन ने चेताया—वह ऐसा क्यों सोच रहा है ? गुरु क्या मनुष्य नहीं हैं ? वे व्यक्ति नहीं हैं ? उनके अपने व्यक्तिगत संबंध नहीं हैं ? गुरु, गुरु होते हुए भी व्यक्ति हैं; और उस व्यक्ति का अपना एक पुत्र है। व्यक्ति को पुत्र से बढ़कर प्रिय, और कोई नहीं होता···

किंतु अर्जुन का हठी मन गुरु की पूर्णता में कहीं कोई कमी नहीं मानना चाहता था। गुरु अपूर्ण कैसे हो सकते हैं ? उनमें मानवीय दुर्बलताएँ हो ही कैसे सकती हैं। वे तो पूर्ण मानव हैं। मानवता का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व ! यदि ऐसा नहीं होगा, तो वे अपने लिए भौतिक सुखों को अर्जित और संचित करने की प्रवृत्ति छोड़कर, ज्ञान के संचयन में कैसे लगेंगे ? ज्ञान तो न किसी एक व्यक्ति की थाती है और न किसी एक व्यक्ति के लिए है। इसीलिए तो ज्ञान को अर्जित तथा वितरित करने वाले व्यक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य, भौतिक सुखों से दूर रखना पड़ता है। लोभ और स्वार्थ को विस्मृत करना पड़ता है। वह जानता है कि जो कुछ वह अर्जित कर रहा है, वह उसी का नहीं है, उसी के लिए नहीं है; और उसी तक सीमित रहेगा भी नहीं···

किंतु अर्जुन के मन में अश्वत्थामा का वह बाण कैसी चुभन उत्पन्न कर रहा था, जिसमें अश्वत्थामा ने एक साथ तीन वृक्षों के तीन लक्ष्य वेध दिए थे।···वैसे तो यह साधारण-सी बात थी। सुविधा से मान लिया जा सकता था कि उसमें कुछ चमत्कार अवश्य है; किंतु अधिक उपयोगी नहीं है। देखने वाले को थोड़ा चमत्कृत कर देता है···और क्या ?···किंतु अर्जुन का मन कहता है कि तीन ही लक्ष्य क्यों। इसी मंत्र की क्षमता बढ़ाकर तीन के स्थान पर तीस लक्ष्य-वेध भी किए जा सकते हैं।···और जब इसका प्रयोग युद्ध में किया जाएगा तो एक बाण से एक व्यक्ति नहीं मरेगा, सैनिकों की पंक्तियों की पंक्तियाँ कट जाएँगी। एक बाण की क्षमता, कितनी अधिक हो जाएगी, और वह धनुर्धर कैसा शक्तिशाली हो जाएगा···क्या आचार्य नहीं चाहते कि अर्जुन इतना शक्तिशाली बने ? क्या उनके मन में, शस्त्र-ज्ञान देने के अतिरिक्त भी, शक्ति और क्षमता की कोई योजना कार्य कर रही है ?···

अर्जुन उठकर, युद्धशाला में अपने कुटीर में आया।

भीम को भोजन करते देख, उसे ध्यान आया कि वह संध्या से ही अन्यमनस्क-सा गंगा-तट पर बैठा रहा है। अर्थात् वह युद्धशाला की अनेक गतिविधियों से

अंकुश रहा है। धन तो सदा ही प्रजा की धरोहर है। उसके रक्षक क्षत्रिय राजा हैं। उसी प्रकार ज्ञान भी मानव-समाज की धरोहर है। उसके रक्षक आचार्य होते हैं। जिस प्रकार राजा अपनी बुद्धि के अनुसार उस धन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करता है, उसी प्रकार आचार्य का कार्य है यह देखना कि मानव-समाज की यह धरोहर किस प्रकार विकसित हो सकती है, किस प्रकार संचित हो सकती है; और किस प्रकार वितरित होना चाहिए···।"

"आप ठीक कहते हैं ज्येष्ठ !" अर्जुन बोला, "किसी गुरु से बलात् विद्या प्राप्त नहीं की जा सकती। किंतु क्षत्रिय राजकुमार शस्त्र-विद्या के अधिकारी नहीं हैं—यह कहना उचित नहीं है। विशेष रूप से मैं, धनुर्वेद के मंत्र का अधिकारी हूँ और दूसरे का नहीं हूँ—यह स्वीकार करना मेरे लिए कठिन है। मध्यम की नीति के अनुसार मैं पितामह से यह कहने तो नहीं जा रहा कि आचार्य मुझे एक मंत्र विशेष नहीं सिखा रहे; किंतु आचार्य के निर्णय को अपने भाग्य का संकेत मानकर मैं निष्क्रिय नहीं रह सकता। धनुर्विद्या को मैं उसकी पूर्णता में प्राप्त करना चाहता हूँ। यह मेरे जीवन का लक्ष्य है।···"

"तो फिर साधना करो कनिष्ठ !" सहदेव बोला, "साधना के माध्यम से ही तो हम वे शक्तियाँ प्राप्त करते हैं जो प्रकृति ने सामान्यतः हमें नहीं दे रखीं।"

अर्जुन वहाँ से उठ आया। वह कहीं एकांत में बैठकर सोचना चाहता था। वह जानता था कि वह न युधिष्ठिर की नीति पर चल सकता था; और न भीम के समान आंदोलन खड़ा करना चाहता था। कदाचित् सहदेव ने ही ठीक कहा था—जो हमें स्वतः न मिले, उसके लिए हमें साधना करनी पड़ती है।···उसके मन में बहुत सारे क्षेत्रों की बहुत सारी महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं जागतीं। वह बहुत कम में संतुष्ट और सुखी रह सकता है; किंतु धनुर्विद्या तो उसके लोभ का क्षेत्र है। उसे ज्ञात हो कि धनुर्विद्या का कोई मंत्र कहीं से उसे मिल सकता है—और वह उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, यह कैसे संभव है।···किंतु यदि आचार्य उसे सिखाना नहीं चाहते तो ?···उसका मन इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर अपना ही एक प्रश्न रटता जा रहा था—'पर आचार्य क्यों सिखाना नहीं चाहते ?'···

सहसा उसका मन एक नई दिशा में मुड़ गया : गुरु ने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद दिया है, फिर भी उनका मन उसके प्रति इतना उदार नहीं है कि वृक्ष के समान अपने सारे फल उसे दे सकें। कहीं कोई विरोध है, कोई अविश्वास, कोई दूरी, कोई अंतर ! गुरु के मन का कोई कोना है, जो उसे देखकर विगलित नहीं होता। उसने अपने गुरु के मन को पूर्णतः विजय नहीं किया है। उसकी गुरु-भक्ति में कहीं कोई कमी है, प्रयत्न में अपूर्णता है। सहदेव ठीक कहता है—उसे अभी साधना करनी चाहिए···

अर्जुन का मन शांत नहीं था : उसके मन की व्याकुलता उसे गंगा तट पर ले आई थी और वह एक वृक्ष के नीचे बैठा अनायास ही कंकड़ियाँ उठा-उठा कर जल में फेंकता जा रहा था : 'क्या गुरु के प्रति उसके समर्पण में कहीं सचमुच कोई कमी है ? कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई कमी तो है ही। नहीं तो उसका समर्पण गुरु का मन जीत क्यों नहीं पाया ? ऐसा कैसे हो गया कि गुरु के लिए शिष्य से बढ़कर उनका पुत्र हो गया ?'···सहसा उसके मन ने चेताया—वह ऐसा क्यों सोच रहा है ? गुरु क्या मनुष्य नहीं हैं ? वे व्यक्ति नहीं हैं ? उनके अपने व्यक्तिगत संबंध नहीं हैं ? गुरु, गुरु होते हुए भी व्यक्ति है; और उस व्यक्ति का अपना एक पुत्र है। व्यक्ति को पुत्र से बढ़कर प्रिय, और कोई नहीं होता···

किंतु अर्जुन का हठी मन गुरु की पूर्णता में कहीं कोई कमी नहीं मानना चाहता था। गुरु अपूर्ण कैसे हो सकते हैं ? उनमें मानवीय दुर्बलताएँ हो ही कैसे सकती हैं। वे तो पूर्ण मानव हैं। मानवता का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व ! यदि ऐसा नहीं होगा, तो वे अपने लिए भौतिक सुखों को अर्जित और संचित करने की प्रवृत्ति छोड़कर, ज्ञान के संचयन में कैसे लगेंगे ? ज्ञान तो न किसी एक व्यक्ति की थाती है और न किसी एक व्यक्ति के लिए है। इसीलिए तो ज्ञान को अर्जित तथा वितरित करने वाले व्यक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य, भौतिक सुखों से दूर रखना पड़ता है। लोभ और स्वार्थ को विस्मृत करना पड़ता है। वह जानता है कि जो कुछ वह अर्जित कर रहा है, वह उसी का नहीं है, उसी के लिए नहीं है; और उसी तक सीमित रहेगा भी नहीं···

किंतु अर्जुन के मन में अश्वत्थामा का वह बाण कैसी चुभन उत्पन्न कर रहा था, जिसमें अश्वत्थामा ने एक साथ तीन वृक्षों के तीन लक्ष्य वेध दिए थे।···वैसे तो यह साधारण-सी बात थी। सुविधा से मान लिया जा सकता था कि उसमें कुछ चमत्कार अवश्य है; किंतु अधिक उपयोगी नहीं है। देखने वाले को थोड़ा चमत्कृत कर देता है···और क्या ?···किंतु अर्जुन का मन कहता है कि तीन ही लक्ष्य क्यों। इसी मंत्र की क्षमता बढ़ाकर तीन के स्थान पर तीस लक्ष्य-वेध भी किए जा सकते हैं।···और जब इसका प्रयोग युद्ध में किया जाएगा तो एक बाण से एक व्यक्ति नहीं मरेगा, सैनिकों की पंक्तियों की पंक्तियाँ कट जाएँगी। एक बाण की क्षमता, कितनी अधिक हो जाएगी; और वह धनुर्धर कैसा शक्तिशाली हो जाएगा···क्या आचार्य नहीं चाहते कि अर्जुन इतना शक्तिशाली बने ?··· क्या उनके मन में, शस्त्र-ज्ञान देने के अतिरिक्त भी, शक्ति और क्षमता की कोई योजना कार्य कर रही है ?···

अर्जुन उठकर, युद्धशाला में अपने कुटीर में आया !

भीम को भोजन करते देख, उसे ध्यान आया कि वह संध्या से ही अन्यमनस्क-सा गंगा-तट पर बैठा रहा है। अर्थात् वह युद्धशाला की अनेक गतिविधियों से

अनुपस्थित भी रहा है। संभव है कि उसकी खोज भी की गई हो; और उसके न मिलने पर गुरु कुछ रुष्ट भी हुए हों। किंतु अर्जुन क्या करता ? उसका मन तो जैसे उसके नियंत्रण में ही नहीं था। उसे जब-जब अश्वत्थामा के उस बाण का स्मरण हो आता था, उसका मन इतना विपण्ण हो उठता था; और इंद्रियाँ इतनी व्याकुल हो जाती थीं कि उसे जीवन निरर्थक-सा लगने लगता था।

उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि मन की इस खिन्न अवस्था में वह गंगा-तट पर जीवित कैसे बैठा रहा। अपनी खिन्नता में वह गंगा के जल में कूद भी सकता था।

"आओ अर्जुन ! भोजन करो।" भीम ने कहा; और उसने रसोइए को पुकारा, "अरे शार्दूल ! अर्जुन को भी इसका भोजन दे, नहीं तो यह मेरे भाग में से ही खा जाएगा; और फिर तू कहेगा कि मैं अपने भाग से भी अधिक खाता हूँ।..."

अर्जुन जानता था कि भीम और शार्दूल में पर्याप्त मैत्री थी; और होनी भी चाहिए थी। भीम जैसा भोजन का पारखी, शार्दूल को दूसरा कहाँ मिलेगा। भीम दूसरों के समान नहीं था कि जो कुछ सामने आया, चुपचाप खा लिया और उठ गए, जैसे भोजन न किया हो, किसी के आदेश का पालन किया हो। भीम न केवल दूसरों की तुलना में अधिक खाता था — वह भोजन में रुचि भी शेष लोगों से अधिक लेता था। उसके भोजन के साथ आस्वादन प्रक्रिया भी चलती थी। क्या पकाया गया है ? कैसे पकाया गया है ? कैसा पका है ? किसने पकाया है ? ...ऐसा संभव ही नहीं था कि भीम और रसोइए में मित्रता न हो।

शार्दूल भोजन ले आया।

अर्जुन का ध्यान भोजन की ओर गया ही नहीं। उसका मन तो अब भी उसी मंत्र में उलझा था, जो धनुर्धर को एकाधिक लक्ष्य-वेधन में समर्थ कर देता था।...

"भोजन कर लो।" भीम ने उसे समझाया, "इस बात का ध्यान रखो कि जहाँ कारण होता है, वहाँ कार्य भी होता है। इसलिए जहाँ भोजन होता है, वहाँ भोजन करने वाला भी होता है। यह न हो कि स्वयं अपने आलस्य के कारण बैठे रहो और बाद में मुझे दोष दो कि तुम्हारा भोजन मैं खा गया।" भीम उच्च स्वर में हँसा, "मेरा तो अभ्यास ही है, एक के पश्चात् दूसरा काम करते जाने का। एक थाली समाप्त कर मैं तत्काल दूसरी थाली की ओर आकृष्ट हो जाता हूँ।...

तभी वायु का एक ज़ोर का झोंका आया और कक्ष का दीपक बुझ गया।

अर्जुन की अरुचि में वृद्धि हुई। अँधेरे में कोई भोजन कैसे करेगा ? उसकी इच्छा हुई कि वह उठकर, कक्ष से बाहर चला जाए और ज्योत्स्ना धुले किसी

अनुपस्थित भी रहा है। संभव है कि उसकी खोज भी की गई हो; और उसके न मिलने पर गुरु कुछ रुष्ट भी हुए हों। किंतु अर्जुन क्या करता ? उसका मन तो जैसे उसके नियंत्रण में ही नहीं था। उसे जब-जब अश्वत्थामा के उस बाण का स्मरण हो आता था, उसका मन इतना विषण्ण हो उठता था; और इंद्रियाँ इतनी व्याकुल हो जाती थीं कि उसे जीवन निरर्थक-सा लगने लगता था।

उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि मन की इस खिन्न अवस्था में वह गंगा-तट पर जीवित कैसे बैठा रहा। अपनी खिन्नता में वह गंगा के जल में कूद भी सकता था।

"आओ अर्जुन ! भोजन करो।" भीम ने कहा; और उसने रसोइए को पुकारा, "अरे शार्दूल ! अर्जुन को भी इसका भोजन दे, नहीं तो यह मेरे भाग में से ही खा जाएगा; और फिर तू कहेगा कि मैं अपने भाग से भी अधिक खाता हूँ।..."

अर्जुन जानता था कि भीम और शार्दूल में पर्याप्त मैत्री थी; और होनी भी चाहिए थी। भीम जैसा भोजन का पारखी, शार्दूल को दूसरा कहाँ मिलेगा। भीम दूसरों के समान नहीं था कि जो कुछ सामने आया, चुपचाप खा लिया और उठ गए, जैसे भोजन न किया हो, किसी के आदेश का पालन किया हो। भीम न केवल दूसरों की तुलना में अधिक खाता था — वह भोजन में रुचि भी शेष लोगों से अधिक लेता था। उसके भोजन के साथ आस्वादन प्रक्रिया भी चलती थी। क्या पकाया गया है ? कैसे पकाया गया है ? कैसा पका है ? किसने पकाया है ? ...ऐसा संभव ही नहीं था कि भीम और रसोइए में मित्रता न हो।

शार्दूल भोजन ले आया।

अर्जुन का ध्यान भोजन की ओर गया ही नहीं। उसका मन तो अब भी उसी मंत्र में उलझा था, जो धनुर्धर को एकाधिक लक्ष्य-वेधन में समर्थ कर देता था।...

"भोजन कर लो।" भीम ने उसे समझाया, "इस बात का ध्यान रखो कि जहाँ कारण होता है, वहाँ कार्य भी होता है। इसलिए जहाँ भोजन होता है, वहाँ भोजन करने वाला भी होता है। यह न हो कि स्वयं अपने आलस्य के कारण बैठे रहो और बाद में मुझे दोष दो कि तुम्हारा भोजन मैं खा गया।" भीम उच्च स्वर में हँसा, "मेरा तो अभ्यास ही है, एक के पश्चात् दूसरा काम करते जाने का। एक थाली समाप्त कर मैं तत्काल दूसरी थाली की ओर आकृष्ट हो जाता हूँ।...

तभी वायु का एक जोर का झोंका आया और कक्ष का दीपक बुझ गया।

अर्जुन की अरुचि में वृद्धि हुई। अँधेरे में कोई भोजन कैसे करेगा ? उसकी इच्छा हुई कि वह उठकर, कक्ष से बाहर चला जाए और ज्योत्स्ना धुले किसी

टीले पर जा बैठे। शार्दूल कहीं से अग्नि लाकर दीपक प्रज्वलित कर ले तो वह आकर भोजन कर सकेगा।...

वह जाने के लिए उठा; किंतु भीम ने उसकी बाँह पकड़ ली, "कहाँ जा रहे हो? भोजन नहीं करोगे क्या?"

"अंधकार में भोजन कैसे कर सकता हूँ?" अर्जुन बोला, "दीपक प्रज्वलित होते ही आ जाऊँगा।"

"क्यों? अंधकार में भोजन क्यों नहीं कर सकते?" भीम ने पूछा, "देखो! मैं भोजन कर रहा हूँ या नहीं! इसमें प्रकाश की आवश्यकता ही क्या है? हाथ जानता है कि भोजन कहाँ है; और हाथ यह भी जानता है कि मुख कहाँ है। क्या तुम्हारे हाथ को इतना भी अभ्यास नहीं हुआ कि वह अंधकार में, थाली में से एक ग्रास उठाकर मुख में डाल दे?"

भीम के वाक्य से, अकस्मात् ही जैसे अर्जुन के मन में ज्ञान का एक स्रोत फूट पड़ा, '...मध्यम ठीक कह रहा है। यह तो हाथ का अभ्यास मात्र है। प्रकाश हो या न हो, प्रत्येक ग्रास मुख में डालते समय हम क्या देखते हैं...कि भोजन कहाँ है, तथा क्या हमारा हाथ भोजन को ठीक दिशा में ले जा रहा है? नहीं! हाथ में यदि ग्रास आ गया, तो वह मुँह में ही जाएगा।...वैसे ही धनुष को यदि हम अपना हाथ मान लें और बाण को भोजन का ग्रास, तो बाण को भी अपने लक्ष्य तक ही पहुँचना चाहिए, जैसे ग्रास मुख तक पहुँचता है...।' अर्जुन के मन में जैसे आविष्कार का उल्लास जागा, '...मध्यम ठीक कह रहा है, यह सब तो अभ्यास से ही होता है। अभ्यास से अंधकार में बाण चलाया जा सकता है। अभ्यास से काल्पनिक लक्ष्यों का एक बाण से भेदन किया जा सकता है। अभ्यास से ध्वनि पर बाण चलाया जा सकता है। अभ्यास... अभ्यास...अभ्यास...'

भोजन करते हुए भी अर्जुन का हाथ इस प्रकार चल रहा था जैसे वह उसका धनुष हो और वह ग्रास को मुख तक न पहुँचा रहा हो, बाण को तूणीर में से लेकर लक्ष्य का वेधन कर रहा हो। मुख में डाले गए ग्रास के स्वाद के प्रति वह सजग नहीं था। वह क्या खा रहा था, उन पदार्थों से वह परिचित नहीं था—वह तो जैसे लक्ष्यवेध का आनंद प्राप्त कर रहा था...

भोजन के पश्चात् वह उठा। उसने अपना धनुष और तूणीर उठाया और बाहर की ओर चल पड़ा।

"कहाँ जा रहे हो?" भीम ने पूछा, "सोना नहीं है क्या? भोजन के पश्चात् सोना चाहिए।"

"भोजन करने जा रहा हूँ।" अर्जुन हँसता हुआ बोला और बाहर निकल गया।

एक क्षण के लिए उसका ध्यान युधिष्ठिर की ओर गया भी। उसे अपने कुटीर में न पाकर युधिष्ठिर चिंतित होगा। प्रमाणकोटि की घटना के पश्चात् से युधिष्ठिर

अपने भाइयों की पूरी चौकसी करता था। थोड़ी देर के लिए भी, उनमें से कोई एक दिखाई न दे, तो वह चिंतित हो उठता था।···किंतु युधिष्ठिर उसके कुटीर में अब क्या करने आएगा ? अपने कुटीर में वह, नकुल तथा सहदेव — या तो सो गए होंगे, या सोने की तैयारी कर रहे होंगे।···भीम भी थोड़ी देर में प्रगाढ़ निद्रा में खो जाएगा।···किसी को कुछ पता भी नहीं चलेगा।···वैसे भी कदाचित् अब अर्जुन अपने वश में नहीं था। वह रुक नहीं सकता था। रुकने का अर्थ था, स्वयं को धनुर्विद्या के अमूल्य मंत्रों से वंचित करना···

फिर भी जाते-जाते वह कह ही गया, "ज्येष्ठ आएँ तो कहना कि मेरे लिए चिंतित न हों। मैं लक्ष्य-वेध के अभ्यास के लिए जा रहा हूँ।"

आचार्य द्रोण की निद्रा समय से पहले ही उचट गई।

उन्होंने चकित होकर जैसे स्वयं अपने-आपसे ही प्रश्न किया, 'क्या हुआ ? अभी तो प्रत्यूष वेला के आगमन में विलंब है। फिर ?'

और फिर स्वतः ही उनका ध्यान एक अस्पष्ट-सी मंद ध्वनि की ओर चला गया।·· कोई ध्वनि थी जो प्रकृति के चक्र के समान अपने नियमित समय पर गुंजरित होती थी, जैसे निश्चित अंतराल के पश्चात् जल की कोई एक बूंद टपकती है।···कदाचित यही ध्वनि थी, जो अपनी निरंतरता के कारण उनकी चेतना के लिए हथौड़े का कार्य कर रही थी, और उनकी निद्रा में बाधा बन रही थी··· और दूसरे ही क्षण उनका ध्यान उस ध्वनि की प्रकृति की ओर चला गया। कैसी ध्वनि थी यह ?···संभवतः यह धनुष की टंकार की ध्वनि थी···। किंतु इस समय ? रात्रि के तीसरे प्रहर में, कौन धनुष की प्रत्यंचा को छेड़ रहा था ? यह युद्धशाला है, वन तो है नहीं कि कोई आखेट कर रहा हो। युद्धशाला में केवल उनके शिष्य रहते हैं, या फिर कुछ कर्मचारी। कर्मचारियों को धनुर्विद्या में कोई रुचि नहीं है।···तो क्या उनका कोई शिष्य इस समय धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहा है ? कौन है वह ? निद्रा का मोह त्यागकर धनुर्विद्या की सेवा करने वाला कौन है ?

द्रोण स्वयं को रोक नहीं पाए। उन्होंने पादुकाएँ भी नहीं पहनीं। संभव है वह धनुर्धारी अपनी गतिविधि को गुप्त ही रखना चाहता हो। ऐसे में पादुकाओं के शब्द से उसे ज्ञात हो जाएगा कि कोई आ रहा है, और उसकी गतिविधि अब गुप्त नहीं रह गई है।···

द्रोण को स्वयं ही विचित्र लगा कि इस युद्धशाला के आचार्य और कुलपति होते हुए भी, वे इस प्रकार दबे-पांव, गोपनीय रूप से क्यों जा रहे हैं ? क्यों नहीं वे अधिकारपूर्वक प्रत्यक्ष रूप से जाकर देखते कि कौन है वह व्यक्ति; और रात्रि

के इस प्रहर में बाण चलाने के पीछे उसका उद्देश्य क्या है ?

किंतु इस अवसर पर उन्होंने आचार्य के अधिकार का प्रयोग करना उचित नहीं समझा। यदि वह व्यक्ति अपनी इस गतिविधि को गुप्त ही रखना चाहता है तो उन्हें भी गुप्त रूप से ही उसका परिचय प्राप्त करना होगा...

ध्वनि से दिशा स्पष्ट थी। वे उसी दिशा में चल पड़े। जैसे-जैसे आगे बढ़ते जा रहे थे, शब्द तीव्रतर होता जा रहा था...या तो उनकी पदचाप में शब्द ही उत्पन्न नहीं हो रहा था, या फिर वह व्यक्ति अपने कर्म में इतना तल्लीन था कि उसे वह शब्द सुनाई ही नहीं पड़ रहा था, अथवा उसे अपनी गोपनीयता भंग होने का कोई भय नहीं था...

द्रोण उसके सर्वथा निकट पहुँच गए और उन्होंने आश्चर्य से देखा, वह व्यक्ति और कोई नहीं, उनका अपना शिष्य अर्जुन था !

"अर्जुन तुम ?"

अर्जुन की भी जैसे समाधि भग हुई। उसने गुरु को प्रणाम किया। द्रोण देख रहे थे कि उनके आ जाने से न तो वह व्याकुल हुआ था, न व्यथित; न ही गोपनीयता भग होने की लज्जा अथवा पीड़ा उसके चेहरे पर प्रकट हुई थी। वह तो प्रसन्न ही दिखाई दे रहा था।

"क्या कर रहे हो पुत्र ?"

"मत्र सिद्ध कर रहा हूँ गुरुदेव !"

"मत्र ? कैसा मत्र ?" द्रोण चकित थे।

"धनुर्विद्या का मंत्र गुरुदेव !" अर्जुन बोला, "एक बाण से एकाधिक लक्ष्य-वेध। शब्दवेधी बाण। अधकार में लक्ष्य-वेध !"

द्रोण को लगा, जैसे अर्जुन उन्हें उपालभ दे रहा हो। वे समझ रहे थे कि अर्जुन को यह ज्ञात हो गया है कि उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद देकर भी गुरु उसे वह सब नहीं सिखा रहे, जो अश्वत्थामा को सिखा रहे हैं।...किंतु उपालभ की विधि ? किस निरीह ढंग से वह उन्हें जता रहा है...

"यह मत्र कैसे करोगे पुत्र ?"

"अभ्यास से गुरुदेव !"

द्रोण चमत्कृत हो गए। अर्जुन की वाणी में कहीं कोई विरोध अथवा उपालंभ नहीं था। कहीं कोई कटुता नहीं थी, श्रम की क्लांति भी नहीं थी। वह सहज उल्लास के साथ कह रहा था, जैसे प्रसन्नता का सदेश दे रहा हो। द्रोण का मन विगलित होने लगा – इस शिष्य का आत्म-समर्पण अद्भुत है।...और यही है, जो द्रुपद से उनका प्रतिशोध भी लेगा। ...और फिर उन्हें स्वयं ही आश्चर्य हुआ .. इस शिष्य से उन्हें इतनी अपेक्षाएँ हैं। यही जीवन में उनके लिए अद्भुत कर्म

करेगा; और इसले ही वे अपनी विद्या को सुरक्षित रख रहे हैं।···अश्वत्थामा को वे द्रुपद के साथ युद्ध करने के लिए नहीं भेजेंगे और धनुर्विद्या वे उसी को सिखा रहे हैं। युद्ध में जाने से पहले यदि वे सैनिक को शस्त्र नहीं देंगे तो सैनिक युद्ध कैसे करेगा ?···

द्रोण जानते हैं कि वे पुत्र और शिष्य के द्वंद्व से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।··· वे यह भी जानते हैं कि वे पुत्र को अपना सब कुछ दे डालना चाहते हैं, उससे कुछ पाने की इच्छा उनकी नहीं है; जबकि शिष्य को उतना ही देना चाहते हैं, जितने से वह उनका काम साध पाए···उनको भय है कि उनका धन पाकर, उनका शिष्य, कहीं उनके पुत्र से अधिक धनी न हो जाए···

किंतु यह शिष्य !···

"तुम कब से अभ्यास कर रहे हो पुत्र ?" द्रोण ने पूछा।

"रात्रि भोजन के पश्चात् से ही !"

"सोए नहीं ?"

"यह जीवन सोकर नष्ट करने के लिए तो नहीं है गुरुदेव !"

"किंतु पुत्र ! निद्राहीन जीवन कब तक व्यतीत किया जा सकता है ?" द्रोण बोले, "जीवन के लिए निद्रा भी अनिवार्य है।"

अर्जुन ने उनकी ओर मूक पीड़ायुक्त आँखों से देखा; और फिर जैसे अपनी पीड़ा का दमन कर बोला, "धनुर्विद्याहीन जीवन का मुझे करना भी क्या है गुरुदेव ! निद्रा तो प्रत्येक जीव के जीवन में है; किंतु धनुर्विद्या किसी-किसी के भाग्य में होती है···"

"कब तक अभ्यास करोगे ?"

"जब तक मंत्र सिद्ध नहीं होता गुरुदेव !"

द्रोण कुछ देर खड़े, जैसे कुछ सोचते रहे। उनका विवेक अपनी तुच्छता से संघर्ष कर रहा था और एक प्रश्न बार-बार उनके मन में गूंज रहा था,···'अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए भी, ऐसे सुपात्र को धनुर्विद्या का ज्ञान नहीं दोगे तो तुम्हारी धनुर्विद्या वृक्ष पर लगे-लगे सड़ जाने वाले फल के समान नहीं हो जाएगी ?'

अंततः द्रोण बोले, "तुम अब अपने कुटीर में जाओ पुत्र ! जाओ, विश्राम करो। निश्चित रहो। तुम्हारे इन सारे मंत्रों की सिद्धि मैं करवाऊँगा।··· जाओ।"

द्रोण का हाथ अर्जुन के सिर पर ठहरा। उन्होंने स्वयं अपनी वाणी में पहली बार स्नेह तथा संकल्प का ऐसा सम्मिश्रण अनुभव किया था···

11

दिन-भर के आखेट के पश्चात् लौटकर राजकुमार युद्धशाला में गुरु को प्रणाम करने के लिए आए।

"कैसा रहा तुम लोगों का आखेट?" आचार्य ने पूछा।

उनकी दृष्टि अर्जुन की ओर घूम गई। मन में था कि मृगया के लिए जाते तो सारे राजकुमार हैं, किंतु मृगया का आनंद तो धनुर्धर ही जानता है। गदा, खड्ग अथवा भाले से मृगया करने वाला, वस्तुतः मृगया नहीं करता। वह छोटे जीव-जंतुओं की निरीह हत्या करता है या पशु-युद्ध करता है। इससे उसकी हिंस्र-वृत्ति चाहे शांत हो जाए; किंतु शस्त्र-विद्या की दृष्टि से आखेट, उसके लिए तनिक भी लाभदायक नहीं है। पशु न तो किए गए प्रहार को रोकता है और न ही पलटकर अपनी ओर से शस्त्र-प्रहार करता है। इसलिए मृगया-कर्मी को न तो आत्मरक्षा का ही कोई गुण सीखने में सहायता मिलती है, और न ही शत्रु के प्रहार को रोकने का अभ्यास ही होता है। इसलिए वे सारे राजकुमार या तो शाला के अनुशासन से मुक्त होने के लिए मृगया करने गए होंगे, या अपनी हिंस्र-वृत्ति की तृप्ति के लिए; अथवा स्वादिष्ट मांस के लोभ में।···किंतु अर्जुन! अर्जुन वास्तविक धनुर्धारी है। मृगया में धनुर्धर का लक्ष्य-वेध का अभ्यास होता है। पूर्ण स्वतंत्रता तथा क्षमता-भर तीव्र गति से भागता हुआ मृग भी शत्रु-सैनिक के समान, अभ्यास के लिए श्रेष्ठ लक्ष्य होता है। यदि वन में वृक्ष बाधा के रूप में आएँ, तो वे युद्ध-भूमि में खड़े शत्रु सैनिकों के समान विघ्न उत्पन्न करते हैं। यदि युद्ध से कोई भेद है तो यही कि मृगया में शत्रु आक्रमण नहीं करता। सिंह का आखेट करने पर, शत्रु के प्रत्याक्रमण का जोखिम भी उठाना ही पड़ता है।···

किंतु अर्जुन तो दिन-भर के इस आखेट से तनिक भी प्रसन्न दिखाई नहीं दे रहा था, जैसे कुछ अधिक प्राप्त करने की लालसा में जाकर वह अपना पिछला भी सब कुछ लुटाकर लौटा हो।

"कैसा रहा तुम लोगों का आखेट?" आचार्य ने अपना प्रश्न दोहराया। इस बार उनकी दृष्टि सारे राजकुमारों पर से घूम गई।

सब लोगों ने अपने-अपने ढंग से मृगया के विषय में अपनी-अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। उन्हें दिन-भर की स्वतंत्रता मिली थी, किसी प्रकार का कोई नियम अथवा अनुशासन मानने की कोई अनिवार्यता नहीं थी। स्वयं अपने हाथों आखेट कर, सेवकों की सहायता से पकाकर खाया था। भागे-दौड़े थे। वृक्षों और टीलों से टकराए थे, गिरे थे। सबके अपने-अपने, छोटे-छोटे सुख थे, इसलिए वह सारा दिन, उन्हें बहुत अच्छा लगा था; और वे चाहते थे कि इस प्रकार का कार्यक्रम बार-बार बनाया जाए और ऐसे दिन अधिक संख्या में व्यतीत किए जाएँ।

करेगा; और इसले ही वे अपनी विद्या को सुरक्षित रख रहे हैं।···अश्वत्थामा को वे द्रुपद के साथ युद्ध करने के लिए नहीं भेजेंगे और धनुर्विद्या वे उसी को सिखा रहे हैं। युद्ध में जाने से पहले यदि वे सैनिक को शस्त्र नहीं देंगे तो सैनिक युद्ध कैसे करेगा ?···

द्रोण जानते हैं कि वे पुत्र और शिष्य के द्वंद्व से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।··· वे यह भी जानते हैं कि वे पुत्र को अपना सब कुछ दे डालना चाहते हैं, उससे कुछ पाने की इच्छा उनकी नहीं है; जबकि शिष्य को उतना ही देना चाहते हैं, जितने से वह उनका काम साध पाए···उनको भय है कि उनका धन पाकर, उनका शिष्य, कहीं उनके पुत्र से अधिक धनी न हो जाए···

किंतु यह शिष्य !···

"तुम कब से अभ्यास कर रहे हो पुत्र ?" द्रोण ने पूछा।

"रात्रि भोजन के पश्चात् से ही !"

"सोए नहीं ?"

"यह जीवन सोकर नष्ट करने के लिए तो नहीं है गुरुदेव !"

"किंतु पुत्र ! निद्राहीन जीवन कब तक व्यतीत किया जा सकता है ?" द्रोण बोले, "जीवन के लिए निद्रा भी अनिवार्य है।"

अर्जुन ने उनकी ओर मूक पीड़ायुक्त आँखों से देखा; और फिर जैसे अपनी पीड़ा का दमन कर बोला, "धनुर्विद्याहीन जीवन का मुझे करना भी क्या है गुरुदेव ! निद्रा तो प्रत्येक जीव के जीवन में है; किंतु धनुर्विद्या किसी-किसी के भाग्य में होती है···"

"कब तक अभ्यास करोगे ?"

"जब तक मंत्र सिद्ध नहीं होता गुरुदेव !"

द्रोण कुछ देर खड़े, जैसे कुछ सोचते रहे। उनका विवेक अपनी तुच्छता से संघर्ष कर रहा था और एक प्रश्न बार-बार उनके मन में गूंज रहा था,···'अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए भी, ऐसे सुपात्र को धनुर्विद्या का ज्ञान नहीं दोगे तो तुम्हारी धनुर्विद्या वृक्ष पर लगे-लगे सड़ जाने वाले फल के समान नहीं हो जाएगी ?'

अंततः द्रोण बोले, "तुम अब अपने कुटीर में जाओ पुत्र ! जाओ, विश्राम करो। निश्चिंत रहो। तुम्हारे इन सारे मंत्रों की सिद्धि मैं करवाऊँगा।··· जाओ।"

द्रोण का हाथ अर्जुन के सिर पर ठहरा। उन्होंने स्वयं अपनी वाणी में पहली बार स्नेह तथा संकल्प का ऐसा सम्मिश्रण अनुभव किया था···

11

दिन-भर के आखेट के पश्चात् लौटकर राजकुमार युद्धशाला में गुरु को प्रणाम करने के लिए आए।

"कैसा रहा तुम लोगों का आखेट?" आचार्य ने पूछा।

उनकी दृष्टि अर्जुन की ओर घूम गई। मन में था कि मृगया के लिए जाते तो सारे राजकुमार हैं, किंतु मृगया का आनंद तो धनुर्धर ही जानता है। गदा, खड्ग अथवा भाले से मृगया करने वाला, वस्तुतः मृगया नहीं करता। वह छोटे जीव-जंतुओं की निरीह हत्या करता है या पशु-युद्ध करता है। इससे उसकी हिंस्र-वृत्ति चाहे शांत हो जाए; किंतु शस्त्र-विद्या की दृष्टि से आखेट, उसके लिए तनिक भी लाभदायक नहीं है। पशु न तो किए गए प्रहार को रोकता है और न ही पलटकर अपनी ओर से शस्त्र-प्रहार करता है। इसलिए मृगया-कर्मी को न तो आत्मरक्षा का ही कोई गुण सीखने में सहायता मिलती है, और न ही शत्रु के प्रहार को रोकने का अभ्यास ही होता है। इसलिए वे सारे राजकुमार या तो शाला के अनुशासन से मुक्त होने के लिए मृगया करने गए होंगे, या अपनी हिंस्र-वृत्ति की तृप्ति के लिए; अथवा स्वादिष्ट मांस के लोभ में।···किंतु अर्जुन! अर्जुन वास्तविक धनुर्धारी है। मृगया में धनुर्धर का लक्ष्य-वेध का अभ्यास होता है। पूर्ण स्वतंत्रता तथा क्षमता-भर तीव्र गति से भागता हुआ मृग भी शत्रु-सैनिक के समान, अभ्यास के लिए श्रेष्ठ लक्ष्य होता है। यदि वन में वृक्ष बाधा के रूप में आएँ, तो वे युद्ध-भूमि में खड़े शत्रु सैनिकों के समान विघ्न उत्पन्न करते हैं। यदि युद्ध से कोई भेद है तो यही कि मृगया में शत्रु आक्रमण नहीं करता। सिंह का आखेट करने पर, शत्रु के प्रत्याक्रमण का जोखिम भी उठाना ही पड़ता है।···

किंतु अर्जुन तो दिन-भर के इस आखेट से तनिक भी प्रसन्न दिखाई नहीं दे रहा था, जैसे कुछ अधिक प्राप्त करने की लालसा में जाकर वह अपना पिछला भी सब कुछ लुटाकर लौटा हो।

"कैसा रहा तुम लोगों का आखेट?" आचार्य ने अपना प्रश्न दोहराया। इस बार उनकी दृष्टि सारे राजकुमारों पर से घूम गई।

सब लोगों ने अपने-अपने ढंग से मृगया के विषय में अपनी-अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। उन्हें दिन-भर की स्वतंत्रता मिली थी, किसी प्रकार का कोई नियम अथवा अनुशासन मानने की कोई अनिवार्यता नहीं थी। स्वयं अपने हाथों आखेट कर, सेवकों की सहायता से पकाकर खाया था। भागे-दौड़े थे। वृक्षों और टीलों से टकराए थे, गिरे थे। सबके अपने-अपने, छोटे-छोटे सुख थे, इसलिए वह सारा दिन, उन्हें बहुत अच्छा लगा था; और वे चाहते थे कि इस प्रकार का कार्यक्रम बार-बार बनाया जाए और ऐसे दिन अधिक संख्या में व्यतीत किए जाएँ।

"हमारे साथ एक महत्त्वपूर्ण घटना भी घटित हुई आचार्य !" इस उत्तेजना के परिवेश में युधिष्ठिर अत्यंत शांत भाव से बोला।

"क्या वत्स ? कैसी घटना ?"

"हम लोग सामान्यतः एक साथ ही रहे हैं गुरुदेव !" युधिष्ठिर बोला, "फिर भी कभी-कभी विलग हो ही जाते थे। ऐसे ही किसी अवसर पर सेवक के साथ हमारा कुत्ता 'वघेरा' हमसे विलग होकर कहीं भटक गया। हमने उसकी कोई विशेष चिंता भी नहीं की। हम जानते थे कि वह लौट ही आएगा। मेरे लिए तो शेष लोगों को ही इकट्ठा रखना कठिन था, वघेरे को अपने ही साथ रखना तो बहुत ही बड़ा काम था। एक तो जाति का कुकुर, फिर स्वभाव का इतना चंचल। वह हमारे ही साथ कैसे रहता। और फिर वन में उसके भौंकने के अनेक लक्ष्य थे, झपटने के लिए अनेक जंतु थे, सूंघने के अनेक पदार्थ थे।

"और फिर सहसा ही वघेरा बहुत आक्रामक ढंग से रोषपूर्ण स्वर में भौंकने लगा। उसका भौंकना, जब कुछ असाधारण रूप से बढ़ गया, तो हमारा ध्यान भी उधर आकृष्ट हुआ। मेरा मन हुआ कि जाकर देखूं कि वह इतना व्यग्र क्यों है। कहीं कोई बड़ा पशु उस पर आक्रमण तो नहीं कर रहा। किंतु मन में यह विचार भी आया कि सेवक उसके साथ ही है। यदि संकट की कोई बात होती, तो वह अवश्य पुकारता।...और जब तक कि हम कोई निर्णय करें, उसके भौंकने का शब्द बंद हो गया। हम निश्चित हो गए और अपने लक्ष्य-वेध में लग गए।

"किंतु सबसे अधिक आश्चर्य हमें तब हुआ, जब वघेरा लौटकर हमारे पास आया। तब हमें ज्ञात हुआ कि उसका भौंकना, उसके शांत हो जाने के कारण बंद नहीं हुआ था। वस्तुतः अब वह भौंक ही नहीं सकता था। किसी ने बाणों से उसका मुंह भर दिया था...।"

"बाणों से ?" आचार्य के मुख से अनायास निकला।

"मुझे तो ऐसा लगा गुरुदेव !" भीम बीच में ही बच्चों के उल्लास के साथ बोला, "कि किसी ने उसके मुख को तूणीर बना दिया हो। वैसे किसी को चुप कराने की तो यह अद्भुत युक्ति है गुरुदेव ! किसी ने मुख खोला और हमने उसमें अपने शस्त्र रखने आरंभ कर दिए।"

"वघेरा मर गया क्या ?" आचार्य द्रोण ने चिंतित स्वर में पूछा।

वघेरा उनका प्रिय कुत्ता था।

"नहीं गुरुदेव !" युधिष्ठिर ने ही पुनः कहा, "उसका कष्ट दूर करने के लिए हमने उसके मुख से एक-एक कर सारे बाण निकाल लिये। और वघेरे की मृत्यु तो बहुत दूर की बात है गुरुदेव ! उसके मुख से तो रक्त की एक बूंद भी नहीं निकली। उसका मुख खोलकर भीतर से देखना तो संभव नहीं था; किंतु वघेरे का व्यवहार बता रहा था कि उसके कंठ में कोई कष्ट नहीं था। कदाचित् धनु-

धर ने बाण इस प्रकार मारे थे कि बघेरे का मुख भर तो जाए किंतु बाण उसकी त्वचा को क्षति न पहुँचाए ···"

"जैसे आपने कुएँ से बीटा निकालने के लिए बाण मारे थे," सहसा अर्जुन बोला, "बीटा में बाण चुभ तो गया था, किंतु बीटा की तनिक भी क्षति नहीं हुई थी।"

आचार्य ने एक गहरी अर्थपूर्ण दृष्टि अर्जुन पर डाली और युधिष्ठिर से ही पूछा, "क्या बाणों के सिरे पर लोहे का फल था?"

"नहीं गुरुदेव! बाण तो बिना फल के ही थे, किंतु पर्याप्त नुकीले थे। साधारण धनुर्धारी यदि उनका प्रयोग करता, तो भी बघेरा पर्याप्त कष्टकर स्थिति में होता।"

आचार्य के मुख पर विस्मय प्रकट हुआ, "तुम लोगों ने उस धनुर्धर को खोजा नहीं?"

युधिष्ठिर मुस्कराया, "हम तो शायद टाल भी जाते, किंतु अर्जुन कहाँ मानने वाला था। हमने जाकर उसे ढूंढा। वह कोई भील था। बहुत ही दरिद्रावस्था में था। या कह सकते हैं कि अपनी तपस्या के कारण, वैसा हो गया था। शरीर पर मैल की परतें चढ़ी हुई थीं। सिर के केश, जटाओं में परिणत हो गए थे। वस्त्रों के नाम पर उसने चिथड़े धारण कर रखे थे। किंतु वह सर्वथा एकाग्रचित्त होकर अपना अभ्यास कर रहा था। मुझे लगा कि अपनी स्थिति के प्रति उसके मन में कोई संकोच नहीं था। शायद उसके प्रति वह सचेत ही नहीं था। उसकी सपूर्ण चेतना उसके धनुसँचालन में ही तल्लीन थी।"···

"तुम लोगों ने पूछा नहीं कि वह कौन है? उसका गुरु कौन है?" आचार्य के स्वर में हल्की-सी उत्तेजना थी।

"हमने पूछा था गुरुदेव!" युधिष्ठिर बोला, "उसने बताया कि वह भिल्लराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य था; और गुरुदेव सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि उसने बताया कि वह आचार्य द्रोण का शिष्य है···।"

आचार्य चौंके · द्रोण का शिष्य···वे अपनी स्मृति में जैसे कहीं बहुत गहरे उतरकर खोज रहे थे···कौन था यह—द्रोण का शिष्य एकलव्य? उसने कब उनसे धनुर्विद्या सीखी? कब?···और सहसा उन्हें स्मरण आया · आया तो था एक दिन···हस्तिनापुर की इसी युद्धशाला में···भिल्लराज का पुत्र एकलव्य।··· उसने याचना की थी। वह धनुर्विद्या सीखना चाहता था · द्रोण को उसमें प्रतिभा और तेजस्विता दिखाई भी दी थी···किंतु क्या लाभ, ऐसे युवक को शिष्य बनाने का? यदि उसमें प्रतिभा न हो, तो उस पर व्यर्थ श्रम करने का क्या लाभ? द्रोण को अपने शिष्यों की भीड़ तो इकट्ठी करनी नहीं थी·· वे केवल उन्हीं लोगों को अपना समय, अपना श्रम और अपना ज्ञान देना चाहते हैं, जो

उनका नाम उज्ज्वल करें। जो अपनी प्रतिभा से अपने गुरु का परिचय दे सकें।...और यदि उस युवक में वैसी प्रतिभा और तेजस्विता थी, यदि उसने सचमुच ही आचार्य द्रोण की विद्या को ग्रहण कर लिया, तो उसका अर्थ होगा—आर्यों की विद्या का भीलों में संचरण! शक्ति-संतुलन का नाश। तब भील भी वैसे ही सेनाएँ सज्जित कर युद्ध करेंगे, जैसे आर्य करते हैं। तब ब्राह्मण तथा गुरु की श्रेष्ठता स्वीकार करने वाले आर्यों का वर्चस्व समाप्त हो जाएगा।... द्रोण ने उसे शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया था।...क्या, यह वही एकलव्य है?...

"क्या उसने मुझसे मेरे आश्रम में विद्या प्राप्त की थी?" द्रोण ने पूछा।

"यह तो हमने उससे पूछा नहीं!..."

"अच्छा! तुम लोग जाओ पुत्र!" द्रोण बोले, "और अर्जुन! तुम ठहरो पुत्र! तुमसे मुझे एक बात करनी है।"

शेष लोगों के चले जाने के पश्चात् द्रोण बोले, "बैठो पुत्र! एक कुशासन ले लो।"

अर्जुन ने आज्ञा का पालन किया।

"तुम कुछ खिन्न प्रतीत होते हो!" आचार्य बोले।

अर्जुन ने उनकी ओर देखा और फिर धीरे से बोला, "प्रयत्न कर रहा हूँ कि खिन्नता दूर कर सकूँ। मैं इससे निरंतर युद्ध कर रहा हूँ गुरुदेव! किंतु सिवाय अपनी अक्षमता का साक्षात्कार करने के और कुछ नहीं कर पाया हूँ।"

"खिन्नता का कारण?"

अर्जुन मौन बैठा रहा, जैसे अपने मन में गुरु के प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ रहा हो, या फिर अपने विचारों को सुनियोजित करने का प्रयत्न कर रहा हो, ताकि गुरु के प्रश्न का उचित उत्तर दे सके। फिर धीरे से बोला, "एकलव्य की धनुर्विद्या देखकर, मेरे मन में अपने गुरु के प्रति उपालंभ जन्मा। इसलिए अपने-आपसे खिन्न हूँ कि मेरी श्रद्धा इतनी निर्बल क्यों है..."

द्रोण मन-ही-मन चमत्कृत हुए: अर्जुन उन्हें दोष नहीं दे रहा था। वह यह नहीं कह रहा था कि उन्होंने वचन देकर भी उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर नहीं बनाया। यह कह रहा था कि उसकी श्रद्धा इतनी निर्बल क्यों है...

द्रोण का मन स्नेह से आप्लावित हो उठा।

किंतु उन्होंने तो एकलव्य को शिक्षा दी ही नहीं है।...वह अपने गुरु के रूप में उनका नाम क्यों बता रहा है? अपनी विद्या का श्रेय उन्हें क्यों दे रहा है?... उसके इस वक्तव्य के पश्चात् कौन इस बात को स्वीकार करेगा कि वे उसके गुरु नहीं हैं। अर्जुन के मन की पीड़ा वे समझते हैं। उन्हें अर्जुन से बहुत स्नेह है। वह उनके लिए बहुत उपयोगी है। उन्होंने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनने का

आशीर्वाद भी दिया है।···फिर भी सिखाया उन्होंने अश्वत्थामा को ही अधिक है · और अब यह एकलव्य ··

"अच्छा पुत्र !" वे अत्यंत कोमल स्वर मे बोले, "अब तुम जाओ। विश्राम करो। दिन-भर के थके होगे···"

अर्जुन ने कुछ कहा नही। बस उसकी खिन्न दृष्टि एक बार पुन: उनको ओर उठ-भर गई।

"कल हम —मैं और तुम, एकलव्य के पास जाएंगे। मैं देखूंगा कि वह मेरा कौन-सा शिष्य है, और कैसा शिष्य है।" द्रोण बोले। और फिर अजाने ही, एक कठोर भाव उनके चेहरे पर व्याप्त हो गया, "आशा है तुम्हारी खिन्नता, तुम्हें अधिक देर तक व्याकुल नही कर पाएगी।"

अर्जुन को तो उसकी खिन्नता दूर करने का आश्वासन देकर भेज दिया; किंतु द्रोण अपनी खिन्नता का क्या करते। वे समझ ही नही पा रहे थे कि कोई व्यक्ति अकारण ही अपनी संपूर्ण श्रेष्ठता का श्रेय किसी दूसरे को क्यों देगा ?···यह सब अकारण नहीं हो सकता···उनका मन कहता था कि एकलव्य उनसे अपने तिरस्कार का प्रतिशोध ले रहा है। उसने जो कुछ भी, किसी भी गुरु से सीखा था—उसका श्रेय उन्हें देकर वह उनका गौरव नहीं बढ़ा रहा था। · यह तो सोचा-समझा, सुविचारित षड्यंत्र था।···आज तो अर्जुन ही खिन्न है। कल जब भीष्म और धृतराष्ट्र इस प्रसग को जान जाएंगे, तो क्या वे यह सोचकर खिन्न नही होंगे कि आचार्य ने युद्धशाला तो कौरवो के धन से कौरवों की धरती पर बनाई है और अपनी श्रेष्ठतर विद्या का दान वे अन्यत्र कर रहे हैं ?·· बहुत संभव है कि यह कौरवो के मन मे उनके प्रति विरोध जगाने की ही चाल हो··· हो सकता है कि इस कार्य के लिए द्रुपद ने ही एकलव्य को सहमत कर लिया हो और उसने प्रयत्नपूर्वक कौरव राजकुमारो के सम्मुख ऐसा प्रदर्शन कर द्रोण के प्रति उनका मन खट्टा करना चाहा हो।···नहीं तो एकलव्य हस्तिनापुर के आस-पास के वनों मे क्या कर रहा है, उसे तो अपने पिता के पास लौट जाना चाहिए था···

और सहसा द्रोण की आंखो के सम्मुख, शून्य मे जैसे एक दृश्य घटित हो गया: · भीष्म और धृतराष्ट्र ने रुष्ट होकर द्रोण को हस्तिनापुर से निकाल दिया है। वे असहाय और असुरक्षित वन-वन भटक रहे हैं और द्रुपद हँस रहा है और हँसता ही जा रहा है···

द्रोण के भयभीत मन ने जैसे अपना कवच कस लिया. द्रोण ऐसा कुछ भी नहीं होने देंगे। वे कौरवो के प्रति अपनी निष्ठा प्रमाणित कर देंगे।

अर्जुन मार्ग दिखाता हुआ आचार्य को एकलव्य के स्थान तक ले आया।

आचार्य ने एकलव्य के सम्मुख प्रकट होने से पूर्व, उसके विषय में अधिक से अधिक जान लेने की इच्छा से चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। निकट ही न तो कोई ग्राम था, न मानवों की बस्ती। एकलव्य वन्य-पशुओं के मध्य, पूर्णतः वनवासी होकर रह रहा था। उसने थोड़ी-सी भूमि साफ कर ली थी। एक ओर कदाचित् उसका कुटीर था और उसके सम्मुख का सारा क्षेत्र उसका अभ्यास-क्षेत्र था। उसने अनेक प्रकार के लक्ष्य चिह्नित कर रखे थे। बाणों का भी अभाव प्रतीत नहीं होता था। अपने परिसर के केंद्र में उसने किसी की मूर्ति स्थापित कर रखी थी।

यह युद्धशाला नहीं थी। यह तो किसी तपस्वी की तपोभूमि थी। वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर रहा था; वह तो तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या का लक्ष्य कदाचित् धनुर्विद्या ही थी।···द्रोण का मन क्षण-भर को कांप गया। · यदि यह पाखंड नहीं है, तो वस्तुतः बहुत कठोर तपस्या है; और ऐसे औघड़ तपस्वी के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है।···जाने क्यों इसने धनुर्विद्या के लिए तपस्या की है, यह तो ब्रह्म-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता, तो इसके लिए वह भी दुर्लभ नहीं होता।···

कल युधिष्ठिर ने इसका बहुत सटीक वर्णन किया था: चिथड़ों में लिपटा हुआ, शरीर पर मैल की परतें चढ़ी हुईं, सिर के केश जटाओं में परिणत हो चुके थे···किंतु कितनी एकाग्रता से अभ्यास कर रहा था। उसके चेहरे पर परम संतोष था, पूर्ण आनंद की-सी स्थिति···

द्रोण उसके सम्मुख जाकर खड़े हो गए।

उसका ध्यान भंग हुआ। क्षण-भर के लिए, उसकी आंखों में आकस्मिकता की स्तब्धता झलकी और फिर उसने अपने गुरु को पहचान लिया। उसने साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया और जैसे चरम उपलब्धि की भाव-विह्वलता के रूप में कहा, "गुरुदेव आप !"

अपने मन की सारी चेतावनियों के बाद भी द्रोण अनासक्त नहीं रह पाए। स्नेह-सिंचित स्वर में बोले, "मैं तुम्हारा गुरु कैसे हूं एकलव्य ? मैंने तो तुम्हें शिष्य-रूप में कभी स्वीकार ही नहीं किया।"

"चयन केवल गुरु की ओर से ही नहीं होता आचार्य !" एकलव्य हाथ जोड़े उनके सम्मुख खड़ा था, "कभी-कभी शिष्य भी अपना गुरु स्वयं को नियुक्त कर लेता है।"

"किंतु मैंने तो तुम्हें कुछ सिखाया ही नहीं।"

"फिर भी मैंने सब कुछ आप ही से सीखा है।" वह बोला।

"कब ?"

"हर पल ! हर क्षण !"

"कैसे ?"

एकलव्य चलता हुआ, केंद्र में स्थापित मूर्ति के सम्मुख जा खड़ा हुआ। द्रोण उसके पीछे-पीछे वहां पहुंचे !...और वे पहली ही दृष्टि में पहचान गए कि वह स्वयं उनकी ही मूर्ति थी !

"आप सदा मेरे निकट वर्तमान हैं गुरुदेव !" एकलव्य बोला, "देखा आपने ! शिष्य की आतुरता को देखकर कोई भी गुरु उसका तिरस्कार नहीं कर सकता। आपको भी मेरे निकट रहना ही पड़ा।...मैं तो आपके ही आदेश से सोता-जागता हूं। आपके आदेश से ही धनुष उठाता हूं, प्रत्यंचा चढ़ाता हूं, बाण-संधान करता हूं; और फिर लक्ष्य-बेध करता हूं। आप ही मुझे बताते हैं कि विधि क्या हो। आप ही मेरे गुण और दोष बताते हैं। आप कभी मेरी ताड़ना करते हैं और कभी आशीष देते हैं। आपने मुझे सब कुछ दिया है गुरुदेव !... और यदि कुछ नहीं दिया, तो वह मेरे ही समर्पण की कमी के कारण..."

द्रोण का मन कह रहा था कि यह षड्यंत्र नहीं है, कदाचित् यह पाखंड भी नहीं है। एकलव्य की भक्ति और समर्पण अद्भुत था... किंतु कितना भयंकर ! ...यह समर्पण द्रोण के विवेक को आच्छादित कर सकता था। द्रोण उसको आशीर्वाद दे सकते थे...और द्रोण की कौरवों के प्रति निष्ठा कलंकित हो सकती थी...! नहीं ! एकलव्य की यह अबोध अंध-भक्ति उसका विनाश करेगी... और उसके साथ-ही-साथ द्रोण का भी ! ...द्रोण यह स्थिति स्वीकार नहीं कर सकते...

उन्होंने शिष्य के रूप में उसे इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि वहीं वह उनसे शिक्षा पाकर असाधारण धनुर्धर न बन जाए। उनके उस असहयोग के बाद भी, आज वह असाधारण रूप से श्रेष्ठ धनुर्धर बन गया था।...अर्जुन के मन की खिन्नता अकारण नहीं थी। अर्जुन तो क्या, अभी वे अश्वत्थामा को भी यह विद्या सिखा नहीं पाए हैं। उन्होंने आज तक जो कुछ सिखाया है, उसका सारा बल लक्ष्य-बेध पर है। एक लक्ष्य अथवा अनेक लक्ष्य ! वे एक बाण से अनेक लक्ष्य, अनेक बाणों से एक लक्ष्य, एक ही क्षण में अनेक बाणों से अनेक लक्ष्य—बेधना सिखा सकते हैं। किंतु बाण-संधान के लिए लगाए बल पर कदाचित् उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। कितने बल से प्रहार किया जाए कि बाण लक्ष्य को छुए-भर, कितने बल से प्रहार किया जाए कि बाण लक्ष्य में जौ-भर प्रवेश करे, कितने बल से प्रहार किया जाए कि बाण लक्ष्य में अंगुल भर प्रवेश करे। ...इस विद्या में केवल बल का नियंत्रण ही प्राप्त नहीं है, यह जानना भी आवश्यक है कि लक्ष्य किस पदार्थ का बना है और वह बाण की गति में कितना प्रतिरोध उत्पन्न करेगा। ...इसी विद्या के बल पर तो उन्होंने बीटा को कुएं से निकाला था और कौरवों के घर में शरण पाई थी। किंतु अपने शिष्यों को तो उन्होंने यह सब नहीं सिखाया। यदि उनके शिष्यों ने बघेरा पर ऐसे बाण चलाए

होते, तो वे वघेरा के तालू को छेदकर बाहर निकल आए होते···।···एकलव्य ने यदि इस विद्या पर भी अधिकार पा लिया है तो समग्र धनुर्वेद पर अधिकार करने में उसे क्या कठिनाई होगी ?

···और सहसा द्रोण का हृदय सर्वथा करुणाविहीन हो गया : वे अपने प्रतिद्वंद्वी के प्रति कोमल नहीं हो सकते। ऐसी विद्या वे किसी के पास नहीं रहने देंगे। मिट्टी के द्रोण के इस शिष्य को वे इन सारी क्षमताओं के साथ, पृथ्वी पर उन्मुक्त विचरण नहीं करने देंगे···

"एकलव्य !"

"आर्य !"

"मैं तुम्हारा गुरु हूँ ?"

"निःसंदेह गुरुदेव !"

"तुम मेरे शिष्य हो ?"

"हाँ ! गुरुदेव !"

"तो क्या तुम मेरी गुरुदक्षिणा देने को प्रस्तुत हो ?" द्रोण समझ नहीं पा रहे थे कि वे एकलव्य की शक्ति का प्रयोग द्रुपद के विरुद्ध करें या·· पर नहीं ! द्रुपद से प्रतिशोध लेने के पश्चात् भी एकलव्य मुक्त रूप से विचरण करेगा। इस धरती पर···और कौरवों के प्रति द्रोण की निष्ठा का प्रमाण ?···द्रोण के मन का द्वंद्व जैसे मिटता जा रहा था। उनकी बुद्धि प्रखर होकर अपना आधिपत्य स्थापित कर रही थी···'कभी करुणा के बहकावे में मत आना द्रोण। करुणा आत्मघातिनी होती है। वह तुम्हें ही नहीं समस्त आर्य राज्यों को बहुत महँगी पड़ेगी। हिंस्र शत्रुओं के प्रति करुणा नहीं दिखाई जाती। शत्रु से प्रेम करने वाला व्यक्ति मूर्ख होता है।···' '···किंतु उसका समर्पण तो देखो।' करुणा ने प्रतिशोध किया, 'वह बिना शिक्षा पाए, गुरुदक्षिणा देने के कठिन व्रत का निर्वाह करने को प्रस्तुत है। ऐसे निरीह, विश्वासी तथा समर्पित व्यक्ति को क्या दंडित करना चाहिए ?' 'दंडित करने का क्या अर्थ ?' उनकी बुद्धि बोली, 'यह निरीह, सहज विश्वासी और समर्पित व्यक्ति कल कहीं और समर्पण कर बैठा तो अपना सारा ज्ञान और कौशल उसके चरणों में समर्पित कर देगा।···इसकी यह निरीहता, विश्वास और समर्पण—इसकी सरलता ही नहीं, मूर्खता का भी प्रमाण है। इतने गुणी व्यक्ति की मूर्खता हमारे लिए घातक हो सकती है।···इसकी मूर्खता दूर नहीं हो सकती, तो इसकी क्षमता को तो कम किया ही जा सकता है।···'

"क्यों नहीं गुरुदेव !" एकलव्य ऐसे मुस्करा रहा था, जैसे पूर्णकाम हो गया हो, "गुरु को दक्षिणा नहीं दूँगा तो मेरा ज्ञान सफल कैसे होगा !"

"क्या दक्षिणा दोगे ?"

"जो गुरु की आज्ञा होगी।" एकलव्य के स्वर में पूर्ण आश्वस्ति थी, कहीं

संशय का एक हल्का-सा कंपन भी नहीं था, "मेरे लिए क्या यह कम है कि गुरु मेरी दक्षिणा स्वीकार कर मेरे शिष्यत्व को प्रामाणिकता प्रदान कर रहे हैं।"

क्षण-भर के लिए गुरु की आंखों में चिंतन के जाले प्रकट हुए, किंतु अगले ही क्षण जैसे उनका मन अपना मार्ग स्पष्ट देख रहा था, "कहीं तुम्हें गुरु-दक्षिणा अपनी क्षमता से अधिक न लगे।"

एकलव्य का आत्मविश्वास ऐसे मुस्कराया कि आचार्य का मन डोल गया, "आप आज्ञा करें गुरुदेव! जितनी अधिक गुरु-दक्षिणा चुकाऊंगा, मेरी विद्या उतनी ही अधिक मूल्यवान हो जाएगी।..."

"तो एकलव्य!" द्रोण ने निष्कंप स्वर में कहा, "अपने दाहिने हाथ का अंगूठा, अपने हाथ से पृथक् कर मुझे गुरु-दक्षिणा में दे दो।"

द्रोण का स्वर चाहे निष्कंप था, किंतु वे एकलव्य की ओर देखने का साहस नहीं कर पाए।

अर्जुन को लगा कि कदाचित् आचार्य, एकलव्य की गुरु-भक्ति की परीक्षा ले रहे हैं। किंतु अर्जुन की इस परीक्षा में कोई रुचि नहीं थी। उसकी एकलव्य से न कोई स्पर्धा थी, न ईर्ष्या! वह तो मात्र गुरु से पाया हुआ सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने का आशीर्वाद, सत्य होते देखना चाहता था। जाने गुरु क्या करना चाहते थे...

एकलव्य के मन में क्षण-भर के लिए भी यह विचार नहीं आया कि गुरु उसका अंगूठा क्यों मांग रहे हैं। उसके लिए, गुरु की आज्ञा का पालन करने से बढ़कर यह, अपने समर्पण के परीक्षण की घड़ी थी। उसके लिए यह महत्त्वपूर्ण था ही नहीं कि गुरु के मन में क्या है। उसने विद्या भी अपने समर्पण के बल पर ही पाई थी और वह दक्षिणा भी समर्पण का एक रूप थी। वह यदि दक्षिणा देने में असमर्थ रहता है; उसका मन इस दक्षिणा के गुण-दोष, इसकी सार्थकता-निरर्थकता का विवेचन करने बैठ जाता है, अथवा उसके मन में इस आज्ञा अथवा आज्ञा देने वाले के विरुद्ध रोष का एक कण भी जागता है, तो गुरु के प्रति उसका समर्पण पूर्ण नहीं है...

एकलव्य ने तीक्ष्ण फलक का एक बाण उठाया और उसे अपने बाएं हाथ में लेकर दाएं हाथ का अंगूठा, उसके मूल से पृथक् कर दिया। रक्त-रंजित उस मांस-पिंड को जल से धो स्वच्छ किया और अंजुलि में सुसज्जित कर गुरु की ओर बढ़ा दिया।

अंगूठा स्वीकार करते हुए द्रोण का मन विचलित नहीं हुआ, उनके हाथ नहीं कांपे...उनके चेहरे पर कहीं अपराध-बोध नहीं था।

"अखंड यश पाओ।" उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और मुड़कर चल पड़े।

अर्जुन ने देखा, गुरु के चेहरे पर विजय और सफलता की मुस्कान थी। ऐसा नहीं लग रहा था कि वे अपने किसी शिष्य की इतनी कठोर परीक्षा ले, उसके जीवन की संपूर्ण साधना को ध्वस्त कर लौट रहे हैं। उनके चेहरे पर अपने मार्ग में आए, विघ्नों को नष्ट कर, अपने गंतव्य की ओर सफलतापूर्वक बढ़ने का उल्लास और गर्व था…

अर्जुन को आश्चर्य हुआ : गुरु को एकलव्य का अँगूठा कटवाने की क्या आवश्यकता थी ? वे उसे भी एकलव्य की विद्या सिखा देते तो अर्जुन निश्चित रूप से उससे श्रेष्ठतर धनुर्धर हो जाता।…तब एकलव्य का अँगूठा कटवाने की आवश्यकता नहीं पड़ती…क्यों किया गुरु ने ऐसा ? क्या वे एकलव्य की विद्या अर्जुन को नहीं सिखा सकते थे ? क्या वे एकलव्य से भयभीत थे ? · क्या एकलव्य गुरु की निरर्थकता का प्रमाण था ?…किंतु गुरु से कुछ भी तो पूछा नहीं जा सकता था।…

अर्जुन को लगा, शायद वह भी मन में प्रसन्न है।…यदि गुरु उसे वह विद्या सिखा सकते, तो एकलव्य का अँगूठा क्यों कटवाते। और एकलव्य का अँगूठा, अपने स्थान पर रहते शायद अर्जुन संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हो नहीं सकता था। गुरु ने अपने आशीर्वाद की पूर्ति के लिए ही यह क्रूर कर्म किया है।

किंतु अर्जुन को कहीं यह भी लग रहा था कि एकलव्य से पराजय ही उसकी नियति है।…यदि उसका अँगूठा न कटता, तो कदाचित् अर्जुन उससे धनुर्विद्या में पराजित होता…कम से कम गुरु के इस क्रूर कृत्य से तो उनकी इसी आशंका का आभास होता है।…और अँगूठा काटकर एकलव्य ने गुरु के प्रति आत्म-समर्पण के क्षेत्र में उसे पराजित कर दिया है। ··क्या अर्जुन के लिए इस प्रकार अँगूठा दे देना संभव होता ? · तभी तो गुरु ने उसे 'अखंड यश प्राप्ति' का आशीर्वाद दिया है…सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होकर वह सफल योद्धा होता और अक्षय यश अर्जित करता।…अब उसने इस अपूर्व आत्म-समर्पण से वही यश सहज ही प्राप्त कर लिया है। गुरु ने उसे यही आशीर्वाद तो दिया है…

युधिष्ठिर ने सुना तो तत्काल उसके मुख से निकला, "यह तो नृशंसता है।"

किंतु भीम ने आचार्य का समर्थन किया, "नृशंस हुए बिना भी कोई महत्त्वाकांक्षा पूरी हुई है ज्येष्ठ ?"

"परंतु अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का मूल्य हम दूसरों से क्यों लेना चाहते हैं।" युधिष्ठिर बोला, "या फिर ऐसी महत्त्वाकांक्षाओं की सार्थकता ही क्या, जिनके लिए मनुष्य को इतना नृशंस होना पड़े।"

"यह गुरु-विरोध है।" ः धीरे से बोला।

"जानता हूँ।" युधिष्ठिर का स्वर उत्साहशून्य था, "इसके लिए मुझे गुरु क्षमा करें। किंतु न तो महत्त्वाकांक्षा की यह क्रीड़ा मुझे रुचिकर है और न ही यह रण-नीति ! स्पर्धा अपने विकास में होनी चाहिए, दूसरे के ह्रास में नहीं !"

अर्जुन जानता था कि युधिष्ठिर का कथन सत्य है, किंतु फिर भी वह उसका समर्थन नहीं कर पा रहा था।...

12

अधिरथ को लगा, जैसे उसकी आत्मा उसके शरीर से निकलकर पवन के झोंके पर आरूढ़ किसी मेघ-खंड के समान, जिन्हीं विचित्र लोकों में तैर रही थी; सहसा धरती पर पड़े उसके शरीर पर जैसे कोई संकट आ गया और उसने आत्मा को अपनी रक्षा के लिए पुकार लिया। आत्मा जैसे हाँफती हुई, अटपटे वेग से शरीर में प्रवेश कर गई और तब अधिरथ अपने परिवेश के विषय में सजग हुआ। वह अपने घर में अपनी शैया पर सो रहा था। रात्रि का कदाचित् एक-आध प्रहर व्यतीत भी हो चुका था।...एक शब्द था, जो बार-बार ध्वनित हो रहा था। कदाचित् इसी शब्द ने उसकी आत्मा को अन्य लोकों से खींचकर धरती पर ला पटका था।...उसने उस शब्द को पहचाना...कोई उसके घर का बाहरी किवाड़ पीट रहा था।

उसने राधा की ओर देखा। वह अपनी शैया पर ही लेटी थी, किंतु सोई हुई नहीं थी।

"कोई हमारा किवाड़ पीट रहा है।"

"मैं देखती हूँ !" राधा उठ खड़ी हुई।

और सहसा अधिरथ के भीतर अलसाया हुआ पुरुष सावधान हो गया, "नहीं, ठहरो ! मैं देखता हूँ।"

"तुम विश्राम करो ! मैं देख देती हूँ।" राधा बोली, "तुम्हें दिन में तो विश्राम मिलता नहीं; रात्रि में भी ठीक से सोओगे नहीं, तो स्वास्थ्य कैसे ठीक रहेगा।"

"वह सब ठीक है," अधिरथ बोला, "किंतु असमय में द्वार खटका है। कोई संकट की ही बात होगी। मुझे ही देखना होगा। अंधे धृतराष्ट्र के राज्य में हस्तिनापुर इतना सुरक्षित नहीं है कि आधी रात में कोई बिना कुछ सोचे-समझे, अपने घर के कपाट खोल दे।"

अधिरथ उठकर कक्ष से बाहर आया; किंतु राधा भी अपने स्थान पर रुकी

नहीं रह सकी। वह अधिरथ के पीछे-पीछे बाहरी द्वार तक आई। उसके मन में अनेक आशंकाएँ थीं। अधिरथ का स्वास्थ्य, आजकल ठीक नहीं चल रहा था। कुछ तो वय के कारण ही शरीर ढीला था, और कुछ श्रम भी आजकल अधिक ही करना पड़ रहा था। शरीर में सामर्थ्य न हो और इस प्रकार श्रम करना पड़े; तो स्वास्थ्य कहाँ से ठीक रहे।…बढ़ती हुई अवस्था के साथ जहाँ एक ओर महाराज धृतराष्ट्र का शरीर शिथिल हो रहा था, वहीं दूसरी ओर उनका मन अधिक चंचल होता जा रहा था। कदाचित् वे टिककर अपने प्रासाद में रह नहीं सकते थे। उन्हें सारा दिन कहीं-न-कहीं आते-जाते रहना होता था। ऐसे में उन्हें रथ की भी आवश्यकता थी और सारथि की भी। जाने क्यों उन्हें सारथियों में अधिरथ पर ही इतना विश्वास था कि वे उसे तनिक भी विश्राम नहीं करने देना चाहते थे।

"…और क्या संकट होगा। तुम्हारे उस अंधे महाराज के मन में इस समय कहीं जाने की उमंग समाई होगी। ऐसे समय में और कौन-सा सारथि मिलेगा। सोचा होगा, 'चलो ! इस भले आदमी अधिरथ का ही द्वार खटखटाओ'।"

और राधा को लगा, मुख से चाहे वह कुछ भी कहे, किंतु उसके मन में इस समय धृतराष्ट्र के प्रति कम, अपने कर्ण के प्रति अधिक रोष जागा था। क्या उसका पालन-पोषण कर इसलिए इतना बड़ा किया था कि अब, जब समय आया था कि वह अपने वृद्ध पिता के लिए अवलंब बनता—वह बिना कुछ कहे-सुने, बिना किसी को कोई सूचना दिए चुपचाप घर छोड़कर चल दे ? …वह यहाँ होता, तो बहुत संभव था कि राजकुमार दुर्योधन से अपनी मैत्री के कारण, वह राजा से कहकर, अपने पिता की कोई सहायता कर पाता। या फिर स्वयं पिता के कुछ दायित्व सँभालता, पिता के विश्राम की व्यवस्था करता, छोटे भाइयों के सिर पर संरक्षण का हाथ रखता। कर्ण बालक नहीं था अब। गृहस्थी सँभालने का समय आ चुका था उसके लिए। वह जिस क्षण चाहता, राज-सेवा में उसे सारथि का पद प्राप्त हो सकता था। राजा तथा राजकुमार दोनों ही अत्यंत कृपालु थे उस पर।…

अधिरथ ने राधा की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर देने की आवश्यकता भी नहीं थी। वह तो हर समय कुछ न-कुछ बोलती ही रहती थी। सब कुछ वह उत्तर पाने के लिए कहती भी नहीं थी। तो यह एकदम आवश्यक नहीं था कि वह उसे उत्तर देता अथवा कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करता…

वह धीरे-धीरे चलता हुआ आया और द्वार के निकट खड़ा हो गया।

"कौन है ?" अधिरथ ने कपाट खोलने से पहले उच्च स्वर में पूछा।

"पिताजी ! कपाट खोलिए !" किसी ने स्वर को सायास मंद कर कहा।

कपाट खटखटाने वाले ने अपने कंठ को अवरुद्ध कर स्वर दबाकर, ये शब्द

कहे थे; किंतु राधा को लगा, यह कर्ण का ही स्वर था। उसके अपने वसु का। अभी जिसे वह धिक्कारने के ब्याज से स्मरण कर रही थी, उसी कर्ण का···

किंतु अगले ही क्षण उसने अपने मन को झिड़क दिया: उसे तो हर समय प्रत्येक दिशा में कर्ण ही दिखाई पड़ता है; प्रत्येक शब्द कर्ण के ही कंठ का शब्द लगता है। मोह की भी कोई सीमा होती है ··

"कपाट तो खोलूंगा ही।" अधिरथ अपने स्वर की उत्तेजना को संयत करता हुआ बोला, "किंतु तुम हो कौन ?"

"पहचाना नही पिताजी !" स्वर आया, "मैं हूं आपका वसुषेण कर्ण !"

"मेरे वसुषेण होते तो मुझे इस प्रकार छोड़कर, बिना कुछ बताए हुए घर से न भाग जाते।" अधिरथ की जिह्वा ने कहा और हाथों ने कपाट की अर्गला हटा दी।

राधा को लगा, उसके अपने मन मे भी ठीक वे ही भाव थे, जो उसके पति ने व्यक्त किए थे। यदि द्वार पर खड़ा व्यक्ति उसका वसु ही था, तो वह कपाट खोलकर अपने घर मे उसका स्वागत ही नही करना चाहती, अपनी दोनो भुजाएँ फैलाकर उसे अपने आलिंगन में बांध भी लेना चाहती है; किंतु साथ ही वह अपना रोष भी अवश्य ही प्रकट करना चाहती है···वह उन्हें छोड़कर इस प्रकार गुपचुप क्यों चला गया ? ··· उसने उनसे दुराव क्यों किया ? उसने उनकी आत्मीयता और विश्वास का प्रत्याख्यान क्यो किया ? ···

कर्ण ने भीतर प्रवेश कर दोनों के चरण छुए और उनके सम्मुख किंकर्तव्य-विमूढ़-सा खड़ा हो गया। उसकी आँखों मे संकोच भी था, हल्की-सी ग्लानि भी, कुछ पीड़ा भी और कुछ प्रेम तथा उल्लास भी; किंतु उसकी जिह्वा के पास एक भी शब्द नही था।

"आओ !" राधा ने कहा और भीतर के कक्ष की ओर मुड़ गई। कर्ण भी बिना कुछ कहे हुए उसके पीछे चला; और बहुत कुछ कहने को आतुर, कपाट को अपने दाहिने हाथ मे पकड़े, खड़ा अधिरथ मानो अपने चरण घसीटता हुआ उन दोनो के पीछे-पीछे चल पड़ने को बाध्य हो गया।

कक्ष मे आकर राधा अपनी शैया पर बैठ गई और उसने हाथ के संकेत से कर्ण को भी अपने निकट बैठने के लिए कहा। कर्ण, बिना कुछ कहे, चुपचाप माँ द्वारा बताए गए स्थान पर बैठ गया; जैसे वह अपने घर न लौटा हो, किसी पराए घर मे गृहस्वामिनी की अनुमति से ही किसी स्थान-विशेष पर बैठने का अधिकारी हो···

कुछ देर तक अधिरथ चुपचाप खड़ा, रोषपूर्वक कर्ण को देखता रहा; किंतु कर्ण का ध्यान उसकी ओर नही था। वह चुपचाप सिर झुकाए हुए, भूमि की ओर देख रहा था। अंततः अधिरथ भी अपनी शैया पर बैठ गया। वस्तुतः वह

नहीं रह सकी। वह अधिरथ के पीछे-पीछे बाहरी द्वार तक आई। उसके मन में अनेक आशंकाएँ थीं। अधिरथ का स्वास्थ्य, आजकल ठीक नहीं चल रहा था। कुछ तो वय के कारण ही शरीर ढीला था, और कुछ श्रम भी आजकल अधिक ही करना पड़ रहा था। शरीर में सामर्थ्य न हो और इस प्रकार श्रम करना पड़े; तो स्वास्थ्य कहाँ से ठीक रहे।···बढ़ती हुई अवस्था के साथ जहाँ एक ओर महाराज धृतराष्ट्र का शरीर शिथिल हो रहा था, वहीं दूसरी ओर उनका मन अधिक चंचल होता जा रहा था। कदाचित् वे टिककर अपने प्रासाद में रह नहीं सकते थे। उन्हें सारा दिन कहीं-न-कहां आते-जाते रहना होता था। ऐसे में उन्हें रथ की भी आवश्यकता थी और सारथि की भी। जाने क्यों उन्हें सारथियों में अधिरथ पर ही इतना विश्वास था कि वे उसे तनिक भी विश्राम नहीं करने देना चाहते थे।

"···और क्या संकट होगा। तुम्हारे उस अंधे महाराज के मन में इस समय कहीं जाने की उमंग समाई होगी। ऐसे समय में और कौन-सा सारथि मिलेगा। सोचा होगा, 'चलो! इस भले आदमी अधिरथ का ही द्वार खटखटाओ'।"

और राधा को लगा, मुख से चाहे वह कुछ भी कहे, किंतु उसके मन में इस समय धृतराष्ट्र के प्रति कम, अपने कर्ण के प्रति अधिक रोष जागा था। क्या उसका पालन-पोषण कर इसलिए इतना बड़ा किया था कि अब, जब समय आया था कि वह अपने वृद्ध पिता के लिए अवलंब बनता—वह बिना कुछ कहे-सुने, बिना किसी को कोई सूचना दिए चुपचाप घर छोड़कर चल दे? ···वह यहाँ होता, तो बहुत संभव था कि राजकुमार दुर्योधन से अपनी मैत्री के कारण, वह राजा से कहकर, अपने पिता की कोई सहायता कर पाता। या फिर स्वयं पिता के कुछ दायित्व सँभालता, पिता के विश्राम की व्यवस्था करता, छोटे भाइयों के सिर पर संरक्षण का हाथ रखता। कर्ण बालक नहीं था अब। गृहस्थी सँभालने का समय आ चुका था उसके लिए। वह जिस क्षण चाहता, राज-सेवा में उसे सारथि का पद प्राप्त हो सकता था। राजा तथा राजकुमार दोनों ही अत्यंत कृपालु थे उस पर।···

अधिरथ ने राधा की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर देने की आवश्यकता भी नहीं थी। वह तो हर समय कुछ न-कुछ बोलती ही रहती थी। सब कुछ वह उत्तर पाने के लिए कहती भी नहीं थी। तो यह एकदम आवश्यक नहीं था कि वह उसे उत्तर देता अथवा कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करता···

वह धीरे-धीरे चलता हुआ आया और द्वार के निकट खड़ा हो गया।

"कौन है?" अधिरथ ने कपाट खोलने से पहले उच्च स्वर में पूछा।

"पिताजी! कपाट खोलिए!" किसी ने स्वर को सायास मंद कर कहा।

कपाट खटखटाने वाले ने अपने कंठ को अवरुद्ध कर स्वर दबाकर, ये शब्द

कहे थे; किंतु राधा को लगा, यह कर्ण का ही स्वर था। उसके अपने वसु का। अभी जिसे वह धिक्कारने के व्याज से स्मरण कर रही थी, उसी कर्ण का···

किंतु अगले ही क्षण उसने अपने मन को झिड़क दिया : उसे तो हर समय प्रत्येक दिशा में कर्ण ही दिखाई पड़ता है; प्रत्येक शब्द कर्ण के ही कंठ का शब्द लगता है। मोह की भी कोई सीमा होती है ··

"कपाट तो खोलूंगा ही।" अधिरथ अपने स्वर की उत्तेजना को संयत करता हुआ बोला, "किंतु तुम हो कौन ?"

"पहचाना नहीं पिताजी !" स्वर आया, "मैं हूँ आपका वसुषेण कर्ण !"

"मेरे वसुषेण होते तो मुझे इस प्रकार छोड़कर, बिना कुछ बताए हुए घर से न भाग जाते।" अधिरथ की जिह्वा ने कहा और हाथों ने कपाट की अर्गला हटा दी।

राधा को लगा, उसके अपने मन में भी ठीक वे ही भाव थे, जो उसके पति ने व्यक्त किए थे। यदि द्वार पर खड़ा व्यक्ति उसका वसु ही था, तो वह कपाट खोलकर अपने घर में उसका स्वागत ही नहीं करना चाहती, अपनी दोनों भुजाएँ फैलाकर उसे अपने आलिंगन में बांध भी लेना चाहती है; किंतु साथ ही वह अपना रोष भी अवश्य ही प्रकट करना चाहती है···वह उन्हें छोड़कर इस प्रकार गुपचुप क्यों चला गया ?···उसने उनसे दुराव क्यों किया ? उसने उनकी आत्मीयता और विश्वास का प्रत्याख्यान क्यों किया ?···

कर्ण ने भीतर प्रवेश कर दोनों के चरण छुए और उनके सम्मुख किंकर्तव्य-विमूढ़-सा खड़ा हो गया। उसकी आँखों में सकोच भी था, हल्की-सी ग्लानि भी, कुछ पीड़ा भी और कुछ प्रेम तथा उल्लास भी; किंतु उसकी जिह्वा के पास एक भी शब्द नहीं था।

"आओ !" राधा ने कहा और भीतर के कक्ष की ओर मुड़ गई। कर्ण भी बिना कुछ कहे हुए उसके पीछे चला; और बहुत कुछ कहने को आतुर, कपाट को अपने दाहिने हाथ में पकड़े, खड़ा अधिरथ मानो अपने चरण घसीटता हुआ उन दोनों के पीछे-पीछे चल पड़ने को बाध्य हो गया।

कक्ष में आकर राधा अपनी शैया पर बैठ गई और उसने हाथ के सकेत से कर्ण को भी अपने निकट बैठने के लिए कहा। कर्ण, बिना कुछ कहे, चुपचाप माँ द्वारा बताए गए स्थान पर बैठ गया; जैसे वह अपने घर न लौटा हो, किसी पराए घर में गृहस्वामिनी की अनुमति से ही किसी स्थान-विशेष पर बैठने का अधिकारी हो···

कुछ देर तक अधिरथ चुपचाप खड़ा, रोषपूर्वक कर्ण को देखता रहा; किंतु कर्ण का ध्यान उसकी ओर नहीं था। वह चुपचाप सिर झुकाए हुए, भूमि की ओर देख रहा था। अंततः अधिरथ भी अपनी शैया पर बैठ गया। वस्तुतः वह

नहीं चाहता था कि इतने दिनों तक घर से विलुप्त पुत्र के रात्रि के इस प्रहर में चुपचाप लौट आने पर कोई बवंडर खड़ा करे; किंतु वह जानता था कि यदि उसके मन का रोष अपनी उपयुक्त अभिव्यक्ति न पा सका तो कदाचित् उसका मस्तिष्क फट जाएगा। तो कुछ तो उसे कहना ही होगा; किंतु अच्छा हो कि पहले राधा ही उसे डांट-डपट ले। राधा की ताड़ना का वह बुरा नहीं मानता। जाने कैसे राधा की ताड़ना में से भी प्रेम छलकता है, और उसके अपने प्रेम में भी ताड़ना घुली-मिली होती है। वह कर्ण को डाँटती भी है तो उससे यही आभास होता है कि कर्ण द्वारा पीड़ित किए जाने पर वह अपनी पीड़ा का विलाप कर रही है। उसकी ताड़ना कर्ण को अपराधी बना देती है।...इतने वर्ष साथ रहकर भी अधिरथ, राधा से ताड़ना की यह कला नहीं सीख पाया।...राधा, कर्ण को डांट लेगी तो अधिरथ उसी से अपने मन को समझा लेगा। कहीं यह न हो कि पहले वह बोले और कोई इतनी तीखी और चुभती हुई बात कह दे कि इतने दिनों के पश्चात् घर लौटे कर्ण के मर्म को छीलकर रख दे; और कर्ण पुनः घर छोड़कर चला जाए...ऐसी ताड़ना का भी क्या लाभ, जिससे उसी घटना की पुनरावृत्ति हो, जिसके लिए ताड़ना की आवश्यकता पड़ी थी।

...किंतु न तो राधा ही कुछ पूछ रही थी...और न ही कर्ण को ही कोई स्पष्टीकरण देने की जल्दी थी... और अधिरथ का मन फटने-फटने को हो रहा था...

"कहां चले गए थे तुम?" अंततः जैसे अधिरथ के मन में बैठे क्रोध के प्रेत ने पूछ ही लिया।

"मैं धनुर्विद्या प्राप्त करने के लिए गुरु परशुराम के आश्रम में चला गया था।"

"क्यों? क्या आवश्यकता थी उसकी?" अधिरथ के मन की कड़वाहट जैसे धुआं बनकर, उसके शब्दों में सम्मिलित हो, कर्ण की आंखों और कानों के माध्यम से, उसके मन तक पहुंच रही थी।

"जब जल की धारा का एक मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तो वह दूसरा मार्ग खोज ही लेती है।" कर्ण धीरे से बोला।

"धारा बनना ही जल की एक मात्र नियति नहीं है।" अधिरथ का रोष कम नहीं हो रहा था। उसकी अपेक्षा के अनुसार कर्ण के व्यवहार में कहीं पश्चात्ताप अथवा ग्लानि नहीं थी। वह यह अनुभव ही नहीं कर रहा था कि उसने इस प्रकार घर से भागकर, कोई भूल की थी, अथवा किसी को कोई कष्ट पहुंचाया था। वह तो अपने इस कृत्य को जैसे अपनी उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत कर रहा था, "जल, सरोवर भी बन सकता है और समुद्र भी। और एक बार वह समुद्र बन जाए तो पृथ्वी की सारी धाराएं आकर उसी में समा जाने को अपनी पूर्णता मानती हैं।"

कर्ण ने जीवन में जैसे पहली बार अपनी आंखें पूरी खोलकर, दृष्टि भर,

अपने इस सारथि पिता को देखा : उसने यह बात तो सोची ही नहीं थी। गंगा-तट पर रहते-रहते उसने तो धारा बनने की ही महत्त्वकांक्षा अपने मन में पाली थी। किंतु वहीं रहने वाला उसका यह सारथि पिता सागर बनने की महत्त्वाकांक्षा की कल्पना कर सकता है ? उसने कदाचित् अपने पिता को कम जाना है, कम आंका है। उसने तो सदा यही सोचा था कि उसके पिता अपने इस नगण्य जीवन में ही इतने संतुष्ट हैं कि उन्होंने जीवन में गति की कभी कल्पना ही नहीं की। शायद सारथि जीवन की परिणति ही यही है कि यह दिन-भर चलता रहे, किंतु गति से उसका कोई परिचय ही न हो। वह अपने आंगन से ही चिपका रहे...किंतु उसके पिता तो...

"आप ठीक कह रहे हैं पिताजी !" वह धीरे से बोला, "मैंने तो सागर खोजने की ही क्षमता विकसित की है; सागर बनने की नहीं। मैं तो आज तक इसी बात से भयभीत रहा कि यदि जल की धारा गतिमान नहीं होगी, तो उसे धरती पी जाएगी।"

अधिरथ को लगा, उसका आवेग कुछ शांत हो रहा है : उसका यह पुत्र अत्यंत महत्त्वाकांक्षी रहा है, शायद इसलिए उसे कभी भी संतोष-धन नहीं मिला और अधिक पाने की आकांक्षा ने उसे अपने गुणों को पर्याप्त नहीं मानने दिया इसलिए उसने सदा अपने-आपको हीन और अक्षम माना। कदाचित् इसीलिए यह सदा भयभीत रहा है कि उसके अस्तित्व को धरती सोख न ले। बेचारे ने यह कभी नहीं सोचा कि जल के लिए यदि धरती द्वारा सोख लिए जाने का संकट है, तो सागर द्वारा लील लिए जाने का भी; उतना ही संकट है। यदि धारा को धरती अपनी शत्रु दिखाई पड़ती है, तो उसका अर्थ यह तो एकदम नहीं है कि सागर उसका मित्र ही है। ...धारा का अस्तित्व अपने मूल रूप में न तो धरती पर रहता है, न सागर में। यदि वह सागर में अपना अस्तित्व खोकर सारे सागर को अपना मानकर संतुष्ट हो सकती है, तो पृथ्वी की सारी हरीतिमा में वह अपना अस्तित्व क्यों नहीं खोजती ? क्या विकास का एक ही मार्ग है—सागर में जा मिलना ?

"पुत्र ! सृष्टि के रहस्य अभेद्य हैं !" अधिरथ के स्वर में ताड़ना का भाव कम, प्रबोध का भाव अधिक हो गया था, "हम उतना ही समझते हैं, जितना समझने की क्षमता हमारी बुद्धि में होती है; किंतु हमारी बुद्धि ही संसार का अंतिम सत्य नहीं है।" उसने स्नेह से कर्ण को देखा, "मैं तो आज तक यह ही समझ नहीं पाया कि पृथ्वी ने सागर को अपनी गोद में स्थान दे रखा है अथवा सागर ने पृथ्वी को अपनी भुजाओं में उठा रखा है ? पृथ्वी, सागर को सोखती रहती है, या सागर पृथ्वी को घोलता रहता है ? मैं तो आज तक निर्णय नहीं कर पाया, तुम कर पाओ, तो मुझे बताओ—हम धरती की संतान हैं अथवा सागर के

पुत्र ? हम अपने शरीर की मिट्टी को अपना मानें अथवा उसके जल-तत्त्व की रक्षा करें ?…" उसने क्षण-भर रुककर कर्ण की ओर देखा, "तुमने कभी सोचा है कि जिस समुद्र को अपना मानकर धारा उसकी ओर दौड़ती है, वह सागर उसके संपूर्ण अस्तित्व को लील जाता है; और जिस धरती को वह पराया मान, उससे दूर भागती है, वह धरती, तट बांधकर उसके अस्तित्व की रक्षा करती है ?"

"फिर तुमने अपना यह प्रलाप आरंभ कर दिया !" राधा के स्वर में उत्तेजना थी, "यह नहीं कि इतने लंबे अंतराल के पश्चात् जो पुत्र घर लौटा है, उसका कुशल-मंगल जानें, उसकी थकान मिटाने और उसे विश्राम देने का प्रयत्न करें। उल्टे आधी रात को जगाकर उसे मृत्तिका और जल-तत्त्व का महत्त्व समझा रहे हैं।…"

"मैं उसे मृत्तिका और जल-तत्त्व का महत्त्व नहीं समझा रहा हूं सुमंगले ! मैं तो केवल यह कह रहा हूं कि जीवन में यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि हमारा अपना कौन है और पराया कौन ! हमारा मंगल एक में अंतर्निहित हो जाने में है, अथवा दूसरे में लय हो जाने में। इस संश्लिष्ट सृष्टि में संतुलन बनाए रखना बहुत आवश्यक है…।"

"तुम रहने दो।" राधा को अधिरथ के मन में झांकने में कोई रुचि नहीं थी। उसे पूर्ण विश्वास था कि अधिरथ को ऐसी बातें कहने में सुख मिलता है, जो राधा की समझ से बाहर हों।

"पुत्र ! यह बताओ तो कि गुरु परशुराम का आश्रम है कहां ?"

इस बार संकट का अनुभव कर्ण को हुआ। मां सहज ही यह समझ नहीं पाएगी कि आश्रम कहां है। उसके जानते, मां ने बहुत कम भ्रमण किया है। संसार इतना कम देखा है कि उसे उसकी व्यापकता समझाने में भी कठिनाई होगी !

"मां ! वह आश्रम यहां से बहुत दूर है। यहां से पूर्व की ओर मां !" कर्ण को थोड़ी देर सोचना पड़ा, "इस प्रकार समझ लो कि पूर्व की ओर तनिक-सा दक्षिण होकर, तब तक चलते चले जाएं, जब तक धरती का अंत नहीं आ जाता—तो हम गुरु परशुराम के आश्रम में पहुंच जाएंगे। सागर के तट पर महेन्द्रगिरि के ऊपर गुरु परशुराम का आश्रम है मां !"

"तो तुम धरती के अंत तक चलते चले गए थे पुत्र ?"

"कौन जानता है कि धरती का अंत कहां है।" अधिरथ जैसे अपने-आपसे कह रहा था।

"तुम चुप रहो।" राधा ने अपने पति को इस प्रकार डांटा, जैसे कोई समझदार व्यक्ति नासमझ बालक को डांटता है; और अधिरथ ने उसी प्रकार उपेक्षापूर्वक देखा, जैसे कोई समझदार व्यक्ति, किसी बालक की उद्दंडता को उपेक्षा से

देखता है।

"पिताजी ठीक कह रहे हैं माँ !" कर्ण ने पिता के समर्थन के विचार मे नही, सत्य की रक्षा के विचार से कहा, "धरती का अंत कोई नही जानता। धरती समाप्त होती है, तो सागर का आरंभ होता है, किंतु सागर के पार पुनः धरती है। पृथ्वी पर सर्वत्र धरती तथा सागर साथ-साथ ही हैं।"

"मैं भी तुम्हें यही समझा रहा हूँ पुत्र !" अधिरथ कुछ उत्साह के साथ बोला, "यदि धरती का अंत सागर का आरंभ है, तो सागर का अंत धरती का आरंभ भी है। जीवन भी पृथ्वी के ही समान है पुत्र ! इसमे भी यदि एक स्थान पर दुख का अवसान सुख में है, तो दूसरे स्थान पर सुख का अवसान दुख में भी है।..."

इससे पहले कि कर्ण यह विचार कर पाता कि पिता क्या कह रहे हैं, राधा ने पूछा, "तो इतनी दूर जाने में तुम्हें कष्ट तो बहुत हुआ होगा पुत्र ?"

"कष्ट क्या है माँ ! यात्रा का अपना ही एक सुख होता है।" कर्ण बोला, "नये-नये स्थान। नये-नये लोग। पहले से कुछ भी निश्चित नही। नवीनता का सुख होता है यात्रा में माँ। अपने घर मे तो प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना, प्रत्येक व्यक्ति पूर्ववत् ही होता है। कुछ परिवर्तित ही नही होता। नवीनतान्वेषी व्यक्ति उससे ऊब जाता है।"

"यही तो अंतर है पुत्र !" राधा ने उत्तर दिया, "तुम्हारे लिए परिवर्तन नवीनता उत्पन्न करता है और मेरे लिए अनिश्चितता। घर में मेरे लिए सब कुछ परिचित है, निश्चित है। यात्रा में कुछ भी निश्चित नही है—कब तक चलेंगे ? कहाँ रुकेंगे ? क्या खाएँगे ? कब खाएँगे ? कहाँ विश्राम करेंगे ? विश्राम मिल पाएगा या नही ? मार्ग मे सहयात्री होंगे या नही ? होंगे, तो कैसे होंगे ?·· मुझे तो यात्रा के नाम से ही भय-सा लगने लगता है पुत्र !"

"मैं जानता हूँ माँ ! तुममे जो एक संतोष का भाव है, उसके कारण व्यतिक्रम तुम्हें अच्छा नही लगता; किंतु संसार में ऐसे लोग भी तो हैं, जिनके लिए व्यतिक्रम ही क्रम बन जाता है।"

"अवश्य होंगे पुत्र !" राधा बोली, "तो तुम सुविधापूर्वक गुरु परशुराम के आश्रम तक पहुँच गए ?"

"हाँ माँ ! वैसे तो मै अकेला ही चला था; किंतु मार्ग मे मुझे तपस्वियो का एक दल मिल गया था। उसी से मार्ग खोजने मे तनिक भी असुविधा नही हुई।"

"गुरु परशुराम तुम्हें शिष्य के रूप मे पाकर प्रसन्न हुए होंगे।"

कर्ण का चेहरा जैसे बुझ गया। राधा का ध्यान उधर नही गया, किंतु अधिरथ ने स्पष्टतः लक्ष्य किया कि असफलता की एक छाया आकर, कर्ण के मुख पर पसर गई। उस छाया को ही अलक्षित रखने के लिए जैसे कर्ण अपना चेहरा

उनसे छिपा रहा था।

"क्यों ? क्या गुरु प्रसन्न नहीं हुए ?" अधिरथ ने बलपूर्वक पूछा, "क्या तुममें उन्होंने एक अच्छे शिष्य के लक्षण नहीं देखे ?"

कर्ण ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्यों ? बोलते क्यों नहीं पुत्र ?" राधा के स्वर में आग्रह था, "पिता की बात का उत्तर क्यों नहीं देते ?"

"उत्तर तो मेरे अपने मन में स्पष्ट नहीं है मां !" कर्ण ने मां की ओर देखा, तो उसकी आंखों में से झांकते हुए पीड़ित अहंकार ने राधा को भी जैसे घायल कर दिया।

राधा के मन में सहस्रों प्रश्न थे; किंतु वह समझ नहीं पा रही थी कि वह कौन-सा प्रश्न पहले पूछे।

"जिसे उन्होंने अपना शिष्य माना, उससे वे अत्यंत प्रसन्न रहे मां ! जितना उन्होंने मुझे अपना शिष्य माना, उतने तो वे मुझ पर कृपालु ही रहे ! किंतु तथ्य तो यही है मां ! कि जिसे वे अपना शिष्य मानते रहे—वह मैं नहीं था। वह एक ब्राह्मण कुमार था।"

"इसका अर्थ ?" अधिरथ, कर्ण की बात समझ नहीं पा रहा था।

"यह तो मुझे उनके आश्रम में जाकर ही मालूम हुआ कि उनके आश्रम में मुक्तहस्त विद्यादान नहीं होता···" कर्ण कुछ थमकर बोला, "और यह भी सुखद संयोग ही था कि गुरु परशुराम को अपना परिचय देने से पूर्व ही मुझे यह ज्ञात भी हो गया।" उसने रुककर अपने माता-पिता को देखा : उन दोनों की आंखों में अनेक प्रश्न तैर रहे थे; किंतु शायद शब्दों में वे कुछ भी पूछना नहीं चाहते थे।

"गुरु परशुराम शस्त्र-शिक्षा के लिए केवल ब्राह्मण शिष्य स्वीकार करते हैं।" कर्ण बोला, "आचार्य द्रोण ने मुझ सूतपुत्र को राजकुमारों के साथ शस्त्र-शिक्षा देना अस्वीकार किया; किंतु गुरु परशुराम तो क्षत्रियों को भी शस्त्र-शिक्षा नहीं देते।"

"यह झूठ है।" राधा बोली, "आर्यश्रेष्ठ भीष्म, उनके शिष्य रहे हैं।"

"मैं जानता हूं मां ! किंतु पितामह भीष्म को शस्त्र-शिक्षा देने वाले परशुराम, वर्तमान गुरु परशुराम के गुरु के भी गुरु रहे हैं।" कर्ण बोला. "एक परशुराम वे थे, जो भीष्म पितामह के गुरु थे। दूसरे वे थे जिन्होंने आचार्य द्रोण को अपने शस्त्रों का दान किया था। वे सर्वस्वदान कर, आश्रम छोड़, किसी अज्ञात स्थान की ओर चले गए हैं। अब वर्तमान परशुराम···।"

"तो परशुराम भी अनेक हैं ?" राधा के मुख से जैसे अनायास निकल गया।

"परशुराम-पीठ का प्रत्येक कुलपति, परशुराम ही कहलाता है मां !" कर्ण

बोला, "और प्रत्येक कुलपति का व्यक्तित्व तथा नीति, पिछले कुलपतियों से भिन्न भी हो सकती है।"

"तो तुम इतने दिन क्या करते रहे?" अधिरथ ने तीक्ष्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा, "तुम्हें तो उन्होंने अपने शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया होगा···"

"नहीं! मैंने उनके चरणों के निकट बैठकर शस्त्र-विद्या का अभ्यास किया।" कर्ण ने अधिरथ को देखते हुए कहा; और फिर सिर झुकाकर बोला, "मैंने उन्हें अपना परिचय भार्गव गोत्र के एक ब्राह्मण कुमार के रूप में दिया···।"

अधिरथ की आंखों में रोष झलका, "तुमने फिर मिथ्या-भाषण किया। वह भी गुरु के सम्मुख और विद्या-प्राप्ति के लिए!···छल किया गुरु से?"

"तो क्या इसमें मेरा दोष है?" कर्ण के स्वर में भी आक्रोश था, "जब सत्य बोलकर संसार में कुछ प्राप्त नहीं होगा, तो असत्य-भाषण नहीं होगा क्या? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि प्रत्येक स्थान पर सत्य बोलकर वंचित होता रहूँ। संसार में कुछ व्यावहारिक होना पड़ता है···।"

अधिरथ कुछ सोचता रहा, फिर जैसे अपने-आपसे बोला, 'कर्ण वहीं तक सत्य का समर्थक है, जहाँ तक उसे सत्य से लाभ होता है!'

"उन्होंने स्वयं मुझे झूठ बोलने को बाध्य किया।" कर्ण किसी हठी बालक के समान बोला, "यदि मेरा वास्तविक परिचय पाकर भी वे मुझे शस्त्र-विद्या का दान करते तो मैं मिथ्या-भाषण क्यों करता?"

"हाँ पुत्र! दोष तो सदा दूसरों का ही होता है। तुम दोषी हो ही कैसे सकते हो।"

पिता की बात जैसे कर्ण के मर्म में चुभ गई, "मैं जानता हूँ कि आपको मेरा आचरण कभी उचित नहीं लगता, किंतु आप मुझे बताएँ कि विद्या का अधिकार सबको क्यों नहीं है? विद्या-दान के मध्य वर्ण कहाँ से आ जाता है? मैं शस्त्र-विद्या-विशारद क्यों नहीं हो सकता? क्या कमी है मुझमें? मानवों के वर्ण-भेद कर, वर्ग-भेद कर, कुछ को हीन और कुछ को श्रेष्ठ मानने का क्या अर्थ है? समाज में कुछ लोगों के लिए सुविधाएँ क्यों जुटाई जाती हैं और कुछ की इतनी उपेक्षा क्यों की जाती है?···"

"मैं कोई विद्वान पंडित अथवा चिंतक-विचारक नहीं हूँ पुत्र! इसलिए तुम्हारे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। किंतु तुमसे यह पूछना अवश्य चाहता हूँ कि तुम सामाजिक अन्याय की बात कर रहे हो या व्यक्तिगत लाभ की चिंता है तुम्हें?"

"मैं सामाजिक अन्याय का विरोध कर रहा हूँ पिताजी!"

"यदि ऐसा ही है पुत्र! तो तुम्हें स्वयं को ब्राह्मण कुमार बनाकर शिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए थी। तुम्हें सूतपुत्रों के एक बड़े समुदाय को साथ लेकर आग्रह

करना चाहिए था कि उन सबको शस्त्र-शिक्षा दी जाए !...सामाजिक न्याय की बात तुम्हारे मन में होती तो तुम सामाजिक विधान की बात करते। सूतपुत्रों के ही नहीं, सारे वर्णों के कुमारों के लिए नीति निर्धारित करते। शिक्षा के समग्र रूपों का विधान करते और अंत में तुम भी किन्हीं ऐसे ही निष्कर्षों पर पहुँचते कि किसे किस प्रकार की विद्या दी जानी चाहिए...।"

"जाने क्यों आप सदा मेरा विरोध करते हैं।" कर्ण के स्वर में स्पष्ट खीझ थी।

"यही तो मैं भी कह रही हूँ।" राधा ने कर्ण के साथ अपना स्वर मिलाया, "इतने दिनों के अज्ञातवास के पश्चात् पुत्र घर लौटा है और पिता है कि उसका कुशल-मंगल न पूछकर, उसे स्नेह अनुराग न देकर, जाने किन-किन विषयों का वितंडावाद खड़ा कर, उसे सारी रात जगाए रखने का संकल्प किए बैठा है।"

"सत्य कहती हो भद्रे। किंतु इतना तो तुम भी समझ ही लो कि पिता का दायित्व, मां के समान बालक को लाड़-प्यार देने, पेट-भर खिलाने और सुख-पूर्वक सुलाने तक ही सीमित नहीं होता। पिता को पुत्र के शरीर की ही नहीं, उसके मन और उसकी आत्मा की भी चिंता करनी पड़ती है। यदि ऐसा न हो तो उसका भ्रमित मन उसके शरीर के साथ-साथ उसकी आत्मा को भी संकट में डाल देता है।..."

"तो उसके मन की चिंता आज, इसी समय करनी है क्या ?" राधा के स्वर का विरोध कम नहीं हुआ था।

"तुम्हारे पुत्र ने ही चर्चा की थी। मैंने तो चर्चा को आगे ही बढ़ाया था।" अधिरथ बोला, "और वैसे भी आज यह आया है; हम एक साथ बैठे हैं, तो चर्चा हो रही है; अन्यथा इसके पास हमारे लिए समय ही कहाँ होता है। फिर यह होगा, इसका मित्र दुर्योधन होगा, गुरु-पुत्र अश्वत्थामा होगा और वह होगा राजा का साला गंधारकुमार शकुनि।..."

"ठहर जाओ माँ !" कर्ण बोला, "इस चर्चा में कोई हानि नहीं है। मैं पिताजी से ही पूछ लूं कि क्या शिक्षा का अधिकार सबको नहीं है ? शिक्षा और ज्ञान क्या ब्राह्मण और क्षत्रिय-पुत्रों की ही बपौती है ?"

"शिक्षा का अधिकार तो सबका है पुत्र !" इस बार अधिरथ अत्यंत शांत स्वर में बोला, "क्योंकि अपने विकास का अधिकार समस्त जीवों को है—शारीरिक, मानसिक और आर्थिक विकास। अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए भी विद्या-प्राप्ति का अधिकार सबको है। किंतु इसके पश्चात् भी ज्ञान, चेतना तथा शारीरिक और मानसिक कौशल के अनेक क्षेत्र हैं; जिनके विषय में सामाजिक नेतृत्व यह तय करता है कि कौन-सा व्यक्ति, कौन-सी विद्या ग्रहण कर, समाज के लिए अधिक उपयोगी होगा। क्या तुम्हें नहीं लगता कि लोहार

बनने की क्षमता रखने वाले व्यक्ति को चित्रकला सिखाने का कोई लाभ नहीं है। यह, विद्या और शिक्षक—दोनों का ही अपव्यय है। संगीतशास्त्र में पारंगत होने वाले व्यक्ति को मल्लविद्या सिखाने का क्या लाभ ?…और शस्त्र-विद्या की शिक्षा तो बहुत ही सोच-समझकर दी जानी चाहिए ! शस्त्र तो केवल उनके हाथ में दिया जाना चाहिए, जो शरीर से ही नहीं, मन और आत्मा से भी क्षत्रिय हों। जो केवल न्याय और सत्य की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करता हो; जो निर्बल को आततायी से रक्षा करता हो; जो अधर्म, अन्याय, शोषण और अत्याचार के विरोध में अपने प्राण देने को आतुर हो।"…

"तो आपका विचार है कि ये सारे क्षत्रिय न्याय के लिए शस्त्र धारण किए खड़े हैं !" कर्ण के स्वर में स्पष्ट क्रोध था, "मैं कहता हूँ पिताजी ! ये लोग शक्तिशाली होने के लिए, सत्ता को अपने हाथ में बनाए रखने के लिए, शस्त्र धारण करते हैं। ये लोग हम सूतकुमारों को हीन मानते हैं; और हमें हीन बनाए रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि हम सदा उनके दास बने रहें। यह तो जातीय शोषण है पिताजी !"

अधिरथ का चेहरा क्षोभ से आरक्त हो गया। लगा, जैसे उसकी वाणी का विस्फोट होगा; किंतु उसका संयम, उसके क्षोभ से अधिक बली प्रमाणित हुआ। उसने जैसे अपना सारा रोष पी लिया, "मैं जानता हूँ पुत्र ! कि आज के ये सारे शस्त्रधारी क्षत्रिय न तो क्षत्रिय कहलाने योग्य हैं और न शस्त्र धारण करने के। इनमें धर्म, न्याय और विचार की मात्रा कम हो रही है—भोग, हिंसा और स्वार्थ की मात्रा बढ़ रही है। ये न्याय की स्थापना के लिए आत्मबलिदान के व्रतधारी सात्विक जीव नहीं हैं; ये भोग के लिए आतुर, अहंकार के बौराए हुए, रजोगुणी जीव हैं। इसीलिए तो कहता हूँ कि शस्त्र-शिक्षा बहुत सोच-विचारकर, अत्यंत संयमी और विचारवान लोगों को दी जानी चाहिए। यदि किसी अपात्र अथवा कुपात्र को कुंभ-निर्माण की शिक्षा दी जाएगी, तो वह अपनी विद्या से यदि समाज का हित नहीं कर पाएगा तो अहित भी क्या करेगा। सुंदर और कलात्मक कुंभों का निर्माण नहीं करेगा—कुछ कुरूप और कलाहीन भाजन गढ़ेगा; किंतु कुपात्र के हाथ में शस्त्र दिया जाएगा, तो वह समाज का विनाश कर देगा।…"

"आप यह नहीं मानते कि वे हमें—सूतों को—स्वयं से हीन मानते हैं और हीन ही बनाए रखना चाहते हैं ?" कर्ण ने पिता की बात बीच में ही काट दी।

"अवश्य मानता हूँ।" अधिरथ बोला, "सूत माता-पिता के घर में उत्पन्न हुआ हूँ। सूतों के समाज में पला और बढ़ा हूँ। किंतु कर्ण ! आज तक 'सूत-पुत्र' संबोधन से किसी सूत-पुत्र को मैंने इतना पीड़ित होते नहीं देखा, जितने पीड़ित तुम होते हो। क्षत्रियजन सूतों को कितना हीन मानते हैं—कह नहीं सकता; किंतु तुम उसे जितना बड़ा कलंक मानते हो, वह मैं जानता हूँ।" अधिरथ ने कर्ण को

देखा, "तुम्हारे वश में होता, तो तुम कब के अपने इस कलंक को धो चुके होते। तुम इसे इतना अपमानजनक मानते हो, इसीलिए इससे मुक्त होने के लिए इस प्रकार तड़पते भी हो। जहाँ तक मैं समझता हूँ, तुम्हें क्षत्रियों की घृणा से अधिक, अपना हीनता-बोध पीड़ित कर रहा है। यह हीनता का भाव ही तो है, जिसने तुम्हारे भीतर इतनी प्रतिहिंसा कूट-कूटकर भर रखी है। तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा, अपनी विकास-भावना से प्रेरित नहीं है—वह तुम्हारी प्रतिहिंसा की उपज है।··· तुम स्वयं ऊँचा उठने से अधिक, किसी और को नीचा दिखाना चाहते हो।···"

कर्ण ने पिता को देखा : वह नहीं जानता था कि पिता ने कभी उसके विषय में इतना सोचा था। क्या उसके पिता, उसके विषय में, उससे भी अधिक जानते हैं ?

"पिताजी ! यदि मैं शस्त्र-विद्या के क्षेत्र में और अधिक विकास करना चाहता हूँ, यदि मैं युद्ध-शास्त्र के विषय में और अधिक जानना चाहता हूँ, तो इसमें हीन भावना और प्रतिहिंसा की बात कहाँ से आ गई ? यदि अर्जुन धनु-विद्या में पारंगत होना चाहता है, तो उसके विषय में तो कोई ऐसी बात नहीं कहता।"

"यही बात है तेरी। यही बात ! अच्छा हुआ, तूने स्वयं ही यह नाम ले लिया।" लगा, कि अधिरथ जैसे अपना सारा संतुलन खो बैठा है, "तेरी सारी महत्त्वाकांक्षा इसलिए है कि तू अर्जुन को नीचा दिखा सके। तेरी याचना सरस्वती के मंदिर में भी कितनी तमोगुणी है—यह तूने कभी सोचा है ? अरे धनुर्धर ही बनना चाहता है, तो जीवन में किसी ऊँची आकांक्षा को लेकर चल !" अधिरथ ने किसी प्रकार स्वयं को संतुलित किया, "तू कहता है कि ये क्षत्रिय हमें हीन समझते हैं—मैं पूछता हूँ कि क्या साधारण क्षत्रिय—ये द्वारपाल, ये रक्षक, ये साधारण सैनिक ही नहीं, साधारण गुल्मपाल और छोटे-मोटे सेनाधिकारी—ये सब हमसे अच्छे हैं क्या ? उनका क्या स्थान है राजपरिवार में ? अरे हम तो फिर राज-सहचर हैं। किंतु तू उनसे अपनी तुलना नहीं करता। तू अपनी तुलना करता है, राजकुमारों से। तेरी सारी पीड़ा यही है कि तू राजकुमार क्यों न हुआ ! क्षत्रियों से तेरा विरोध है तो दुर्योधन से क्यों नहीं है विरोध तेरा—केवल अर्जुन से ही क्यों है ? और तेरा तिरस्कार तो ब्राह्मणों ने किया है—द्रोण हों या परशुराम। तू ब्राह्मणों का विरोध क्यों नहीं करता ? तेरा सारा आक्रोश अंततः आकर पांडवों, और उनमें भी अर्जुन पर ही क्यों केंद्रित हो जाता है। उसने क्या बिगाड़ा है तेरा ?"

अधिरथ की दृष्टि आकर जैसे कर्ण के चेहरे पर ही नहीं, उसकी आँखों में धँस गई। वह जैसे कर्ण से अपने प्रश्नों का उत्तर माँग ही नहीं रहा था, बलात् उसके भीतर से वह उत्तर खींच निकालने का प्रयत्न कर रहा था।

"क्षमा करें तात् !" अंततः कर्ण बोला, "मेरी समझ में यह नहीं आता कि आप महाराज धृतराष्ट्र की सेवा में रहते हुए भी, पांडवों के इतने बड़े समर्थक क्यों हैं ?" और सहसा उसके स्वर में आवेश का मिश्रण हो आया, "अपने मित्र और शत्रु चुनने का अधिकार किसी भी व्यक्ति को है।...मैंने अपने शैशव में महाराज धृतराष्ट्र को ही हस्तिनापुर के राजा के रूप में देखा है और मैं उन्हीं की महत्ता स्वीकार करता हूँ। साधारण राजकुमार ही नहीं, युवराज होते हुए भी सुयोधन ने सदा मुझे अपना मित्र माना है। मैं जानता हूँ कि मुझे क्षत्रिय राजकुमार की महत्ता नहीं मिल सकती; किंतु मैं इन नंगे पांडवों को यह महत्ता बाँटते हुए, अथवा बलात् ओढ़ते हुए नहीं देख सकता।... नहीं देख सकता।"

बात समाप्त करते-करते, कर्ण को स्वयं लगा कि आक्रोश के अतिरेक से उसका कंठ अवरुद्ध हो रहा है।

"यही तो तेरी अबोधता है।" इस बार अधिरथ का स्वर पूर्णतः कोमल था, "मैं यही तुझे समझाना चाहता हूँ पुत्र ! हम राज-सहचर सूत हैं। मैं हस्तिनापुर के सम्राट का सारथि हूँ, धृतराष्ट्र का नहीं। सम्राट बदलते रहते हैं, किंतु राज-तंत्र और राजकर्मचारी वही रहते हैं। हमारी निष्ठा व्यक्तियों के प्रति नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी इस तथ्य को पहचानो। अपने स्थान और धर्म को समझो। राजपरिवार की राजनीति में मत पड़ो। तुम उनके पक्ष और विपक्ष मत बनो। तभी तो मैं कहता हूँ पुत्र ! कि धरती यदि जलधारा को सोख सकती है, तो समुद्र उसे लील सकता है। हम नहीं जानते हैं कि हमारे लिए धरती कौन है और सागर कौन ! तुम जो हो, वही बने रहो। हमारा अपना ज्ञान ही अंतिम सत्य नहीं होता। हम जिसे अपना अहित मान बैठते हैं—बहुत संभव है कि वह हमारे हित से भी बड़ा हितैषी हो। कौन जानता है, पांडव तुम्हारे मित्र दुर्योधन से भी बढ़कर तुम्हारे आत्मीय बन जाएँ। तुम अपने स्थान पर स्थिर रहो पुत्र ! दृढ़ बनो। अपना विकास करो। अपने मन में प्रतिहिंसा का विष मत पालो।..."

कर्ण की आँखों में आया वेग अदमनीय था। उसकी वाणी में उद्दंडता थी, "यहीं आकर मेरा संयम नष्ट हो जाता है तात् ! मैं उस मोटे भीम और उस का इयाँ अर्जुन को इस हस्तिनापुर में पलते-फूलते नहीं देख सकता। आप मुझे क्षमा करें, आपका आदेश और उपदेश —दोनों ही मेरे लिए अग्रहणीय हैं। ..."

इस बार अधिरथ के कुछ कहने से पूर्व ही राधा बोली, "आप दोनों इस विषय को यहीं छोड़कर, कोई और बात नहीं कर सकते ? इससे तो अच्छा है कि आप मौन रहें। इतने दिनों के पश्चात् पुत्र घर आया है। मुझे उससे प्रेम के दो बोल बोल लेने दीजिए। उसे कुछ खिला-पिला लेने दीजिए।

देखा, "तुम्हारे वश में होता, तो तुम कब के अपने इस कलंक को धो चुके होते। तुम इसे इतना अपमानजनक मानते हो, इसीलिए इससे मुक्त होने के लिए इस प्रकार तड़पते भी हो। जहाँ तक मैं समझता हूँ, तुम्हें क्षत्रियों की घृणा से अधिक, अपना हीनता-बोध पीड़ित कर रहा है। यह हीनता का भाव ही तो है, जिसने तुम्हारे भीतर इतनी प्रतिहिंसा कूट-कूटकर भर रखी है। तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा, अपनी विकास-भावना से प्रेरित नहीं है—वह तुम्हारी प्रतिहिंसा की उपज है।··· तुम स्वयं ऊँचा उठने से अधिक, किसी और को नीचा दिखाना चाहते हो।···"

कर्ण ने पिता को देखा : वह नहीं जानता था कि पिता ने कभी उसके विषय में इतना सोचा था। क्या उसके पिता, उसके विषय में, उससे भी अधिक जानते हैं ?

"पिताजी ! यदि मैं शस्त्र-विद्या के क्षेत्र में और अधिक विकास करना चाहता हूँ, यदि मैं युद्ध-शास्त्र के विषय में और अधिक जानना चाहता हूँ, तो इसमें हीन भावना और प्रतिहिंसा की बात कहाँ से आ गई ? यदि अर्जुन धनुर्विद्या में पारंगत होना चाहता है, तो उसके विषय में तो कोई ऐसी बात नहीं कहता।"

"यही बात है तेरी। यही बात ! अच्छा हुआ, तूने स्वयं ही यह नाम ले लिया।" लगा, कि अधिरथ जैसे अपना सारा संतुलन खो बैठा है, "तेरी सारी महत्त्वाकांक्षा इसलिए है कि तू अर्जुन को नीचा दिखा सके। तेरी याचना सरस्वती के मंदिर में भी कितनी तमोगुणी है—यह तूने कभी सोचा है ? अरे धनुर्धर ही बनना चाहता है, तो जीवन में किसी ऊँची आकांक्षा को लेकर चल !" अधिरथ ने किसी प्रकार स्वयं को संतुलित किया, "तू कहता है कि ये क्षत्रिय हमें हीन समझते हैं—मैं पूछता हूँ कि क्या साधारण क्षत्रिय—ये द्वारपाल, ये रक्षक, ये साधारण सैनिक ही नहीं, साधारण गुल्मपाल और छोटे-मोटे सेनाधिकारी—ये सब हमसे अच्छे हैं क्या ? उनका क्या स्थान है राजपरिवार में ? अरे हम तो फिर राज-सहचर हैं। किंतु तू उनसे अपनी तुलना नहीं करता। तू अपनी तुलना करता है, राजकुमारों से। तेरी सारी पीड़ा यही है कि तू राजकुमार क्यों न हुआ ! क्षत्रियों से तेरा विरोध है तो दुर्योधन से क्यों नहीं है विरोध तेरा—केवल अर्जुन से ही क्यों है ? और तेरा तिरस्कार तो ब्राह्मणों ने किया है—द्रोण हों या परशुराम। तू ब्राह्मणों का विरोध क्यों नहीं करता ? तेरा सारा आक्रोश अंततः आकर पांडवों, और उनमें भी अर्जुन पर ही क्यों केंद्रित हो जाता है। उसने क्या बिगाड़ा है तेरा ?"

अधिरथ की दृष्टि आकर जैसे कर्ण के चेहरे पर ही नहीं, उसकी आँखों में धँस गई। वह जैसे कर्ण से अपने प्रश्नों का उत्तर माँग ही नहीं रहा था, बलात् उसके भीतर से वह उत्तर खींच निकालने का प्रयत्न कर रहा था।

"क्षमा करें तात !" अंततः कर्ण बोला, "मेरी समझ में यह नहीं आता कि आप महाराज धृतराष्ट्र की सेवा में रहते हुए भी, पांडवों के इतने बड़े समर्थक क्यों हैं ?" और सहसा उसके स्वर में आवेश का मिश्रण हो आया, "अपने मित्र और शत्रु चुनने का अधिकार किसी भी व्यक्ति को है।...मैंने अपने शैशव में महाराज धृतराष्ट्र को ही हस्तिनापुर के राजा के रूप में देखा है और मैं उन्हीं की महत्ता स्वीकार करता हूं। साधारण राजकुमार ही नहीं, युवराज होते हुए भी सुयोधन ने सदा मुझे अपना मित्र माना है। मैं जानता हूं कि मुझे क्षत्रिय राजकुमार की महत्ता नहीं मिल सकती; किंतु मैं इन नंगे पांडवों को यह महत्ता बांटते हुए, अथवा बलात् ओढ़ते हुए नहीं देख सकता। नहीं देख सकता।"

बात समाप्त करते-करते, कर्ण को स्वयं लगा कि आक्रोश के अतिरेक से उसका कंठ अवरुद्ध हो रहा है।

"यही तो तेरी अबोधता है।" इस बार अधिरथ का स्वर पूर्णतः कोमल था, "मैं यही तुम्हें समझाना चाहता हूं पुत्र ! हम राज-सहचर सूत हैं। मैं हस्तिनापुर के सम्राट का सारथि हूं, धृतराष्ट्र का नहीं। सम्राट बदलते रहते हैं, किंतु राज-तंत्र और राजकर्मचारी वही रहते हैं। हमारी निष्ठा व्यक्तियों के प्रति नहीं ! मैं चाहता हूं कि तुम भी इस तथ्य को पहचानो। अपने स्थान और धर्म को समझो। राजपरिवार की राजनीति में मत पड़ो। तुम उनके पक्ष और विपक्ष मत बनो। तभी तो मैं कहता हूं पुत्र ! कि धरती यदि जलधारा को सोख सकती है, तो समुद्र उसे लील सकता है। हम नहीं जानते हैं कि हमारे लिए धरती कौन है और सागर कौन ! तुम जो हो, वही बने रहो। हमारा अपना ज्ञान ही अंतिम सत्य नहीं होता। हम जिसे अपना अहित मान बैठते हैं—बहुत संभव है कि वह हमारे हित से भी बड़ा हितैषी हो। कौन जानता है, पांडव तुम्हारे मित्र दुर्योधन से भी बढ़कर तुम्हारे आत्मीय बन जाएं। तुम अपने स्थान पर स्थिर रहो पुत्र ! दृढ़ बनो। अपना विकास करो। अपने मन में प्रतिहिंसा का विष मत पालो।..."

कर्ण की आंखों में आया वेग अदमनीय था। उसकी वाणी में उद्दंडता थी, "यहीं आकर मेरा संयम नष्ट हो जाता है तात ! मैं उस मोटे भीम और उस काइयां अर्जुन को इस हस्तिनापुर में फलते-फूलते नहीं देख सकता। आप मुझे क्षमा करें, आपका आदेश और उपदेश—दोनों ही मेरे लिए अग्रहणीय हैं।..."

इस बार अधिरथ के कुछ कहने से पूर्व ही राधा बोली, "आप दोनों इस विषय को यहीं छोड़कर, कोई और बात नहीं कर सकते ? इससे तो अच्छा है कि आप मौन रहें। इतने दिनों के पश्चात् पुत्र घर आया है। मुझे उससे प्रेम के दो बोल बोल लेने दीजिए। उसे कुछ खिला-पिला लेने दीजिए।

और कुछ नहीं तो उसे विश्राम ही कर लेने दीजिए।…"

अधिरथ उठ खड़ा हुआ, "ठीक है। इसे खिलाओ-पिलाओ। इसके शरीर और मन को सुख और विश्राम दो।" उसने जैसे जाने से पहले अपनी पत्नी और पुत्र को देखा, "मैं भी अपने प्रेम के ही कारण इसे यह सब कह रहा था। प्रयत्न कर रहा था कि भविष्य में उसके मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं के प्रति उसे सचेत कर दूं; किंतु यदि पिता इतना ही समर्थ होता, तो कोई भी पुत्र जीवन में कष्ट ही क्यों पाता ?…"

खीझ और हताशा की साकार मूर्ति बना अधिरथ कक्ष से बाहर निकल गया।

कर्ण भी उठ खड़ा हुआ, "तुम भी विश्राम करो माँ ! मुझे भोजन की आवश्यकता नहीं है ! यदि नींद आ जाए तो इस समय सोना ही चाहूँगा।…"

राधा के कुछ कहने से पहले ही कर्ण कक्ष से निकल गया।

अपनी शैया पर लेटकर भी कर्ण को नींद नहीं आई।

उसने घर छोड़ने से पहले भी, इस विषय में कोई गंभीर विचार नहीं किया था, और न ही लौटते ही समय सोचा था कि उसके माता-पिता उसके इस प्रकार चले जाने से क्या सोचेंगे और क्या अनुभव करेंगे।…वस्तुतः उसके मन में ऐसी धुन समाई थी कि किसी और के सोचने-विचारने; भावना-संवेदना, इच्छाओं-आकांक्षाओं के लिए उसके मन में कहीं कोई अवकाश ही नहीं बचा था। उसके मन में कहीं गहरे यह बात समाई हुई थी कि जैसे ही वह हस्तिनापुर छोड़ने का विचार प्रकट करेगा, उसकी माँ उससे लिपट-लिपटकर रोने लगेगी, पिता उसे हस्तिनापुर में रहने के संबंध में उपदेश देने लगेंगे। ऐसी स्थिति में या तो वह जा ही नहीं पाएगा, अथवा माता-पिता से झगड़ा कर जाना होगा। क्या यही अच्छा नहीं कि वह चुपचाप ही चल दे…

'क्या इतनी ही बात थी ?' उसके मन के किसी कोने में बैठे हुए, उसके आलोचक ने डपटकर पूछा।

कर्ण जैसे मन-ही-मन सहम गया।…क्या उसका कोई भेद खुल रहा था ?… पर यह तो उसके मन की ही ऊहापोह थी।…हाँ ! बात केवल इतनी ही नहीं थी।…द्रोणाचार्य द्वारा तिरस्कृत होने पर उसके मन में कहीं यह भय बैठ गया था कि कदाचित् कोई भी गुरु उसे शिक्षा नहीं देगा…कोई भी ब्राह्मण गुरु…यह भी संभव था कि हस्तिनापुर में लोगों को यह ज्ञात हो जाता कि वह गुरु परशुराम के आश्रम में जा रहा है तो आचार्य द्रोण अथवा पांडवों के इन हितैषियों में से कोई उन्हें भी समझा आता कि सूत-पुत्र को इतनी शस्त्र-विद्या और रणकौशल

का क्या करना है।···वह अपने माता-पिता से ही क्यों, वह तो सारे हस्तिनापुर से छिपकर भार्गव-आश्रम में गया था···

किंतु वापस लौटते हुए उसके मन में कहीं भी तनिक-सा भी संशय नहीं था कि उसके माता-पिता, उसके मित्र तथा सहपाठी—उसे पुन. अपने बीच पाकर प्रसन्न होंगे।—माता तो प्रसन्न हुईं भी ! किंतु पिता···प्रसन्न तो वे भी थे कि वह लौट आया, किंतु उसके जाने से उत्पन्न खिन्नता, उसके मन से मिटी नहीं थी।···

क्यों इतने खिन्न थे पिता कि इतने लंबे अंतराल के पश्चात् उसके लौटने पर भी वे उसको क्षमा कर, सहज नहीं हो पाए ? क्या केवल इसलिए कि वह उनको सूचना दिए बिना चला गया था ? नहीं ! इतनी-सी बात से वे इतने लंबे समय तक रोष पाले नहीं रह सकते। वह अपने पिता को जानता है। कारण कुछ और होना चाहिए।···क्या वे भयभीत थे कि वह योद्धा हो गया तो उसे हस्तिनापुर में सारथि का पद नहीं मिलेगा ?—या वे यह मान बैठे थे कि भविष्य में युधिष्ठिर का हस्तिनापुर का राजा होना निश्चित था और सुयोधन का मित्र होने के कारण, कर्ण राजा का सारथि नहीं बन पाएगा। उसे लगा, उसके मन में अपने पिता के लिए दया का भाव उत्पन्न हो रहा है - बेचारे ! कितना सीमित संसार है उनका। कितनी छोटी-छोटी आशाओं-आकांक्षाओं को लेकर व्याकुल रहते हैं। वे जीवन को स्थिर और स्थायी मान बैठे हैं। वे तनिक-से परिवर्तन की भी कल्पना नहीं कर सकते। परिवर्तन की संभावना की चर्चा होते ही जैसे काँप उठते हैं। सारथि जैसे पद को वे इतना महत्त्वपूर्ण समझ बैठे हैं कि उस पद के छिन जाने की आशंका से उनके मन में पुत्र के घर लौटने पर संभावित प्रसन्नता का तनिक-सा भी स्फुरण नहीं हुआ; तनिक-सा मुस्करा भी नहीं सके वे। जीवन में कभी संकट नहीं झेले हैं उन्होंने। कभी निश्चित को छोड़, अनिश्चित को पाने का प्रयत्न नहीं किया उन्होंने ! हस्तिनापुर के राजपरिवार के संरक्षण में बहुत सुरक्षित जीवन व्यतीत किया है उन्होंने।···

किंतु कर्ण को ऐसी सुरक्षा नहीं चाहिए, जो जीवन को जड़ बना दे, उसका प्राण-रस छीन ले।— और वे पांडवों का पक्ष क्यों लेते हैं ? जब कभी कर्ण पांडवों का विरोध करता है, वह उनके लिए असहनीय क्यों हो जाता है ? क्या राजकर्मचारियों का सदा यही दृष्टिकोण होता है ? क्या व्यक्ति के प्रति उनकी तनिक भी निष्ठा नहीं होती ? सारी निष्ठा पद के प्रति ही होती है ? क्या उनकी दृष्टि सदा यही देखती है कि संभावित शासक कौन है ?

और सहसा कर्ण को लगा कि यदि राजकर्मचारियों का यही दृष्टिकोण होता है, तो भी उसके पिता के समस्त भय और आशंकाएं व्यर्थ हैं।···यदि वह सुयोधन को ठीक-ठीक जानता है, तो युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता – किंतु जाने, उसकी अनुपस्थिति में, पीछे हस्तिनापुर में क्या-क्या

घटित हो गया है। उसने भी तो पिता से कोई समाचार नहीं पूछा। बस विवाद में उलझता ही चला गया। निश्चित रूप से पिताजी भी घर आए पुत्र का ऐसा स्वागत नहीं करना चाहते होंगे; किंतु विवाद की तो प्रक्रिया ही ऐसी है, जिसमें उलझकर व्यक्ति यह सोचता ही रह जाए कि मैं विरोध करना तो नहीं चाहता था, फिर मैं विरोधी हो कैसे गया ?···

उसे कल प्रातः सुयोधन से मिलना होगा। उससे सारे समाचार प्राप्त करने होंगे। हस्तिनापुर में रहने के लिए, हस्तिनापुर को जानना भी होगा। उसे जाने बिना, उसमें वास करना, किसी के लिए भी घातक हो सकता है।···

प्रातः गंगा में स्नान कर, और सूर्यदेव को अर्घ्य देकर कर्ण युद्धशाला की ओर चला गया। उसका सुयोधन मे मिलना अत्यंत आवश्यक था।···किंतु जाने आजकल आचार्य ने अपने शिष्यों के लिए कैसा कार्यक्रम बना रखा था। वह उससे मिल भी पाएगा या नहीं। परम गुरु भार्गव के आश्रम की नियम-परायणता वह देख चुका था। आचार्य द्रोण ने तो अनुशासन को कभी आश्रम का विधान नहीं बनाया; किंतु परशुराम के आश्रम में अनुशासन और विधान में कहीं कोई अंतर ही नहीं था। उनके यहाँ नियम भंग करना अपराध था, जो विधान के अनुसार सर्वथा दंडनीय था···

यह उसके लिए सुखद संयोग ही था कि सुयोधन और अश्वत्थामा दोनों ही, प्रातः की उपासना के पश्चात् अभ्यास-क्षेत्र में जाने से पूर्व ही उसे मिल गए। उसे इस प्रकार युद्धशाला-क्षेत्र में अपने सम्मुख खड़ा देख सुयोधन का उल्लास जैसे असंतुलित वेग से, टूटकर उसकी ओर बढ़ा, "तुम कब आए कर्ण ! हमें कोई सूचना ही नहीं दी !"

कर्ण मुस्कराया, "सूचना देने ही तो आया हूँ। कल अर्द्ध रात्रि के समय तो मैं घर ही पहुँचा हूँ; और आज प्रातः तुम्हारे सम्मुख आ खड़ा हुआ हूँ राज-कुमार ! आशंका थी कि कहीं तुम लोग आचार्य के पास अभ्यास-क्षेत्र में चले गए तो कदाचित् आज दिन-भर तुम लोगों से भेंट ही न हो पाए।···"

"नहीं ! आजकल वह बात नहीं है।" दुर्योधन बोला।

"क्यों ? अब क्या हो गया है ?"

"अब आचार्य की ओर से शिक्षा समाप्त हो चुकी है।" दुर्योधन बोला, "अब सब लोग स्वेच्छा से अभ्यास करने के लिए स्वतंत्र हैं। अभ्यास न करना चाहें, न करें। किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है। किसी को कोई कठिनाई हो, कोई विशेष जिज्ञासा हो तो आचार्य के पास जा सकता है; अन्यथा आचार्य अपनी साधना में रत हैं और हम लोग आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण में लगे हुए

हैं।"

"तो तुम लोग अपने-अपने परिवार में क्यों नहीं लौट जाते?" कर्ण को आश्चर्य हुआ, "जब यहां करने को कुछ है ही नहीं, तो व्यर्थ समय नष्ट करने का क्या लाभ?"

दुर्योधन हँसा, "आचार्य ने औपचारिक अनुमति नहीं दी है, इसलिए हम अपने परिवार में नहीं लौट रहे हैं।"

"वैसे कोई जाना चाहे तो कदाचित् पिताजी को कोई आपत्ति नहीं होगी।" अश्वत्थामा बोला, "राजकुमार दुर्योधन अपनी इच्छा से युद्धशाला में ठहरे हुए हैं।"

"दुर्योधन!" कर्ण चौंका, "तुम युवराज को दुर्योधन कह रहे हो। उनके नाम को विकृत कर रहे हो!"

दुर्योधन हँसा, "मुझे स्वयं अपना यह नाम रुचिकर हो गया है। 'सुयोधन' में यह जो सुचारु ढंग से युद्ध करने की ध्वनि है, वह कुछ मेरे मनोनुकूल नहीं है। मैं तो दुर्द्धर्ष युद्ध करना चाहता हूँ, इसलिए दुर्योधन ही ठीक है। सुशासन ने भी अपना नाम दुःशासन ही कर लिया है—कठोर शासन। 'सुयोधन' और 'सुशासन' में जो कोमलता का भाव है—वह हमें तनिक भी प्रिय नहीं है।"

"ओह!" कर्ण मुस्कराया, "तो आप लोग अपने परिवार में क्यों लौट नहीं रहे राजकुमार दुर्योधन!"

"यदि हम युद्धशाला छोड़ना चाहें तो आचार्य को आपत्ति नहीं होगी।" दुर्योधन बोला, "किंतु अब, जब, इतने कठोर श्रम के पश्चात् गुरु का अनुशासन कुछ शिथिल हुआ है, तब कोई क्यों चाहेगा कि वह अपने परिवार में लौटकर माता-पिता के अनुशासन में बंध जाए, अथवा माता-पिता द्वारा निश्चित की गई, हाथ में जयमाला लिये प्रतीक्षारत कामिनी के कटाक्षों से विद्ध होकर उसके बाहुपाश का बंदी हो जाए।···अरे ये ही तो दिन हैं, उन्मुक्त वातावरण में मन-चाहे विश्राम के···।"

"ओह! तो यह सत्ता-परिवर्तन के दिनों की स्वतंत्रता है।" कर्ण हँसा, "वृषभ के कंधों पर पड़ा पहला जुआ कुछ शिथिल हुआ है; किंतु वह इस भय से उसे झटक नहीं रहा कि कहीं उसे पूर्णतः मुक्त देखकर उसे दूसरे स्थान पर जोत न दिया जाए।"

"सर्वथा उचित बिम्ब है यह हमारी परिस्थितियों का।" दुर्योधन ने अट्टहास किया, "और एक बात और भी है।"

कर्ण ने उसकी ओर देखा, "क्या?"

"अरे वह मूर्ख भीम अब भी अनवरत परिश्रम कर रहा है। जब देखो, वह या तो मल्लशाला में स्वेद बहाता रहता है अथवा गदा-क्षेत्र में गर्जना करता

फिरता है। उधर वह कन्या-राशि अर्जुन अपने धनुष की टंकार बंद ही नहीं करता। जब देखो, तब लक्ष्य से दृष्टि चिपकाए, बाण को कान से सटाए, लक्ष्य-भेद करता रहता है···"

कर्ण को लगा, दुर्योधन द्वारा तिरस्कारपूर्वक दी गई यह सूचना उसके लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह सूचना पाते ही जैसे उसका उल्लास कहीं खो गया। लंबे अंतराल के पश्चात् अपने मित्रों के साथ व्यतीत होने वाले ये निश्चित क्षण, अब उतने आनंदमय नहीं रहे थे।

"आओ ! चलकर गंगातट पर कहीं बैठते हैं।" कर्ण और अश्वत्थामा के मध्य में चलते हुए दुर्योधन ने अपनी दोनों भुजाएँ फैला, उन दोनों की पीठ पर जैसे हल्का दबाव डालकर, गंगा-तट की ओर मुड़ने के लिए प्रेरित किया, "बहुत दिनों के पश्चात् मिले हैं। बहुत-सी बातें करनी हैं।" दुर्योधन कहता गया, "हमारा मित्र कर्ण वहाँ सर्वथा एकाकी और मित्रहीन रहा होगा। उसने अपने मन की बात कभी किसी से कही भी नहीं होगी। सुनाने के लिए उसके पास ढेर सारी बातें होंगी। संभव है कि उसकी बातों का ढेर पर्वत के बराबर ऊँचा हो।" दुर्योधन ने अश्वत्थामा की ओर देखा, "गुरु-पुत्र मेरे साथ ही था, किंतु यह बोलता बहुत कम है। इतने दिनों तक मैं ही बोलता रहा हूँ। आज मुझे अपनी वाणी की थोड़ी बहुत प्रतिध्वनि तो मिलेगी ही !"

वृक्षों की छाया में स्वच्छ-सा स्थान देखकर वे बैठ गए।

"हाँ सुनाओ ! तुम इतने दिन कहाँ रहे ? क्या करते रहे ?" दुर्योधन बोला, "हमें बताकर क्यों नहीं गए ? तुम तो ऐसे विलीन हो गए जैसे धारा में लहर समा जाती है"

कर्ण को लगा, उसका खोया उल्लास जैसे अभी लौटा नहीं है। जब तक उसके मन का बोझ कुछ हल्का नहीं हो जाएगा, कदाचित् वह, सहज होकर वार्तालाप नहीं कर पाएगा।···

"आचार्य ने तुम लोगों को युद्धशाला में क्यों रोक रखा है ?" उसने दुर्योधन के प्रश्नों का उत्तर न देकर, अपनी जिज्ञासा उनके सम्मुख रखी, "क्या वे तुम लोगों की परीक्षा लेंगे ?"

"परीक्षा तो हमारी वे ले चुके हैं। अब तो उन्हें अपने लिए साधुवाद जुटाना है।" दुर्योधन हँसा तो उसके स्वर में परिहास के साथ थोड़ा उपहास भी था, "आचार्य ने इतना समय लगाकर, इतने श्रम से अपने शिष्यों को जो सिखाया है, राजपरिवार तथा प्रजा के सामने वे उसका प्रदर्शन नहीं करेंगे तो उनकी प्रशंसा कैसे होगी; पता कैसे चलेगा कि उनकी उपलब्धियाँ क्या-क्या हैं ?"

"क्यों ? जब युद्ध होगा तो क्या पता नहीं चलेगा कि आचार्य के शिष्य कितने प्रबल तथा प्रखर योद्धा हैं ?" कर्ण बोला।

"युद्ध तो जब होगा, तब होगा।" दुर्योधन बोला, "इतनी प्रतीक्षा कौन करे। बहुत संभव है कि हममें से अनेक लोगों को युद्धों में अपना सामर्थ्य प्रदर्शित करने का कभी अवसर ही न मिले।···वैसे भी आचार्य देव प्रशंसा पाने की शीघ्रता में हैं।···"

दुर्योधन ने अश्वत्थामा की ओर देखा। अश्वत्थामा प्रतिक्रियावश अपने अधरों पर क्षीण-सी मुस्कान ले आया; किंतु उस मुस्कान में कहीं अपने पिता के तिरस्कार के प्रति निर्बल रोष की भावना भी थी।

"यह प्रदर्शन कैसे होगा ?" कर्ण से पूछे बिना रहा नहीं गया।

"तुम्हें नहीं मालूम ?···ओह ! तुम तो कल रात ही लौटे हो। लगता है, अभी किसी ने तुमसे चर्चा नहीं की।" दुर्योधन बोला, "अरे भई ! नगर के बाहर एक रंगशाला का निर्माण हो रहा है। उसमें सहस्रों आमंत्रित नागरिक बैठेंगे। राजपरिवार के सदस्य होंगे। मंत्री, सभासद तथा सेना-नायक होंगे। उन सबके सामने आचार्य अपने शिष्यों को नगाड़े की चोट पर प्रस्तुत करेंगे; और सबको दिखाएँगे कि उन्होंने अपने शिष्यों को क्या-क्या सिखाया है।"

"क्या-क्या सिखाया है ?" कर्ण के मुख से जैसे अनायास ही निकल गया, "आचार्य ने अर्जुन को क्या-क्या सिखा दिया है ?"

"क्या-क्या सिखा दिया है गुरु-पुत्र ?" दुर्योधन ने अश्वत्थामा की ओर देखा।

"प्रायः सब ही कुछ सिखा दिया है।" अश्वत्थामा सरल भाव से बोला, "भूमि पर खड़े होकर अश्वारोहियों, रथारोहियों तथा गजारोहियों से लड़ना, द्वैरथ-युद्ध करना, अनेक लोगों से एक साथ युद्ध करना, व्यूह रचना, व्यूह तोड़ना··· शब्द-वेधी बाण चलाना।··· और भी···धनुर्विद्या के प्राय. सारे मंत्र। धनुष पर रखकर चलाए जाने वाले सारे अस्त्र।···"

"क्या आचार्य ने उसे ब्रह्मास्त्र भी दे दिया है ?" कर्ण को लगा, उसके शब्दों में गूंज न होकर सन्नाटा था।

उसने गुरु-पुत्र की ओर उस अपेक्षा से देखा कि अश्वत्थामा अभी अस्वीकृति में सिर हिला देगा।

"हाँ ! पिताजी ने उसे ब्रह्मास्त्र भी दे दिया है।" अश्वत्थामा सहज भाव से बोला।

कर्ण को लगा, जैसे उसके वक्ष पर वज्रपात हो गया हो। अर्जुन ने हस्तिनापुर में बैठे-बैठे ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर लिया और वह जैसे सारी पृथ्वी का भ्रमण कर, वनों, सरिताओं, मरुभूमियों और पर्वतों पर भटकता फिरा···कुछ लोग भाग्य के कितने धनी होते हैं।

"अश्वत्थामा ! अश्वत्थामा ! अश्वत्थामा···।" जाने कैसा आवेश था यह ! कर्ण को लग रहा था, कहीं वह अपना संतुलन खोकर अश्वत्थामा पर अपने

अधिकार

बलिष्ट हाथों से प्रहार ही न कर बैठे···और जैसे स्वयं को संयत रखने के लिए ही, उसने अपनी दोनों मुट्ठियाँ धरती पर दे मारीं।

"क्या है कर्ण ?" अश्वत्थामा ने शिशु की-सी अबोधता में उसकी ओर देखा, "तुम स्वस्थ तो हो ?"

"मैं तो स्वस्थ ही हूँ।" कर्ण जैसे अवरुद्ध कंठ से बोला, "तुम लोग यहाँ बैठे क्या करते रहे ? क्या तुम्हें नहीं लगता कि अर्जुन को ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए थी ? क्या आवश्यक था कि तुम्हारे पिता अर्जुन को उस प्रत्येक अस्त्र और विधि की शिक्षा देते, जो उन्होंने तुम्हें दी ? क्या वे पुत्र और शिष्य में भेद नहीं कर सकते थे ? उनके जीवन में जाने कितने शिष्य आएँगे, किंतु पुत्र तो एक तुम्हीं हो।···"

"ओह ! यह बात है।" अश्वत्थामा उसी प्रकार भोली सरलता के साथ मुस्कराया, "इसमें इतने आवेश में आने की क्या बात है कर्ण ! यह अंतर तो कोई भी व्यक्ति करेगा। पिताजी ने भी यह अंतर किया ही था। किंतु तुम कदाचित् अर्जुन को नहीं जानते !"

"क्यों ? इसमें अर्जुन के विषय में क्या जानना है ? अर्जुन में ऐसी कौन-सी विशिष्टता है ?"

अश्वत्थामा की दृष्टि ऊपर उठी। अब उसमें शिशुओं का-सा भोलापन नहीं था। स्वच्छता उसमें अब भी थी; पारदर्शी स्वच्छता। उसमें जैसे ज्ञान का प्रकाश भर आया था। उसकी वाणी में गांभीर्य ही नहीं, अनुगूंज भी थी, जो केवल श्रद्धामिश्रित प्रशंसा के भाव से ही उत्पन्न हो सकती है, "अर्जुन शिष्य के रूप में संसार में अद्वितीय है। गुरु के प्रति उसका समर्पण और विद्या के प्रति उसकी निष्ठा अपने-आपमें सर्वथा संपूर्ण हैं। पिताजी का विचार है कि अर्जुन, शिष्य-भाव से जिस किसी के पास पहुँचेगा, वह गुरु अपनी कोई विद्या, कोई ज्ञान, अपने तक सीमित नहीं रख सकेगा। अर्जुन को अपने सम्मुख पा, गुरु के लिए कुछ भी अदेय नहीं रह जाता··।"

"ऐसा क्या है अर्जुन में ?" कर्ण के स्वर में ऐसा चीत्कार था, जैसा कोई मार्मिक आघात खाकर किसी आहत के कंठ से फूटता है, "ऐसा क्या किया है उसने ?"

"तुम ज्ञान के प्रति उसकी आतुरता नहीं जानते !" अश्वत्थामा ने अत्यंत शांत स्वर में कहा।

"तुमने उसकी आतुरता देखी है; किंतु क्या तुम मेरी आतुरता से परिचित नहीं हो गुरु-पुत्र !" कर्ण के स्वर में कटुता ही कटुता थी, "मुझे आचार्य ने सर्वथा ठुकरा दिया। और मैं ज्ञान के प्रति अपनी इसी आतुरता में महेन्द्रगिरि तक चलता चला गया। जानते हो, वहाँ क्या हुआ ?" कर्ण रुक गया।

"क्या हुआ ?" दुर्योधन बोला, "मैंने तुमसे पहले भी पूछा था, तुमने कुछ बताया ही नहीं।"

"जब मैं थका-हारा, भूखा-प्यासा गुरु भार्गव के आश्रम में पहुँचा तो मुझे उनसे मिलने का अवसर ही नहीं दिया गया। मुझे दो दिन आश्रम के बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी; और फिर मुझे भेंट का अवसर भी मिला तो गुरु से नहीं, व्यवस्थापक से। व्यवस्थापक से निबटकर मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के सम्मुख उपस्थित हुआ।...और जानते हो, उन्होंने मुझसे क्या कहा ?" कर्ण ने रुककर उनकी ओर देखा।

अश्वत्थामा और दुर्योधन—दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। उन्होंने कर्ण की ओर देखा-भर !

"क्या चाहते हो ?" गुरु ने कर्ण की ओर देखा।

"ज्ञान, गुरुदेव !" कर्ण ने अत्यंत दीन स्वर में कहा।

"किस क्षेत्र का ज्ञान ?"

"धनुर्वेद का ज्ञान गुरुदेव !"

"क्षत्रिय हो ?" गुरु का स्वर अत्यंत कठोर था और दृष्टि अत्यंत तीक्ष्ण, जैसे कर्ण के मस्तक का भेदन कर, वे उसके मन की प्रत्येक बात जान लेंगे।

फिर वही बाधा...कर्ण का मस्तक जैसे सन्नाने लगा था। यदि वह क्षत्रिय नहीं है, तो क्या उसे कहीं भी ज्ञान नहीं मिलेगा ?... संसार के इन सारे महान आचार्यों ने निश्चय कर लिया है कि संसार का ज्ञान जाति और वर्णों के कारागारों में बंदी होकर रह जाएगा।... कहाँ वह सोच रहा था कि वह महान् गुरु भार्गव को अपना परिचय देगा, तो वे प्रसन्न होकर उसे अपने वक्ष से लगा लेंगे और कहेंगे, 'तुम सच्चे जिज्ञासु हो कर्ण ! तुमने ज्ञान के लिए इतनी दूर आने का श्रम किया है। मुझे तुम पर गर्व है। मुझे विश्वास है कि तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ शिष्य सिद्ध होगे।...' और कहाँ यह व्यवहार !

अंततः कोई और विकल्प न पाकर कर्ण ने सत्य न बोलने का निश्चय किया।

"नहीं ! मैं क्षत्रिय नहीं हूँ।"

गुरु ने भी शांति का निःश्वास छोड़ा, "अच्छा ही है कि तुम क्षत्रिय नहीं हो। नहीं तो मुझे, तुम्हें निराश करना पड़ता।"

"क्यों गुरुदेव ?" कर्ण ने सहज जिज्ञासावश पूछा।

"क्योंकि हमारे आश्रम में केवल ब्राह्मणकुमारों को ही शस्त्र-शिक्षा दी जाती है। तुम ब्राह्मण हो हो न ?"

कर्ण की महत्त्वाकांक्षाओं का गरुड़ उस समय उसके मस्तक पर आ बैठा था।

सत्यासत्य उसे विस्मृत हो गया। महत्त्वाकांक्षा के गरुड़ ने उसके मस्तक पर अपनी तीखी चंचु से प्रहार किया, 'बोल, हाँ ! नहीं तो यहाँ से भी जाएगा। यहाँ कौन जानता है तुझे। किसे मालूम है कि तू सूतपुत्र है। व्यर्थ ही सत्यवादी बनने के पाखंड में अपने जीवन की चरम उपलब्धि को नष्ट मत होने दे।···बोल ! बोल ! 'मैं ब्राह्मण हूँ।' ब्राह्मणों का ऐसा कौन-सा गुण है, जो तुझमें नहीं है···'

"हाँ ! मैं ब्राह्मण हूँ।" कर्ण बोला।

"मैं तो तुम्हें देखते ही समझ गया था।" गुरु बोले, "ऐसा रंग-रूप सिवाय ब्राह्मण के और किसी का हो ही नहीं सकता।" उन्होंने रुककर उसकी ओर देखा, "गोत्र ?"

एक क्षण के लिए कर्ण की बुद्धि पर पुनः धुंधलका छा गया।···ब्राह्मण मात्र कह देना उसके लिए सरल था; किंतु उसके आगे यह गोत्र-प्रगोत्र, जाति-प्रजाति···

किंतु तभी उसकी महत्त्वाकांक्षा के गरुड़ ने पुनः उसके मस्तक पर चोंच मारी, 'गुरु, पिता के समान होता है। गुरु का गोत्र ही, शिष्य का भी गोत्र होता है।'

धुंधलका छँट गया ! उसे अपना मार्ग स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उसे अपना बढ़ा हुआ पग पीछे नहीं हटाना था। उसका लक्ष्य कलुषित नहीं था। वह किसी की कोई हानि करने नहीं जा रहा था। किसी को वंचित नहीं कर रहा था। वह तो ज्ञान प्राप्त करना चाहता था। ज्ञान, जो सत्य है, ज्ञान जो ईश्वर है।···

"भार्गव !" उसने अपना गोत्र बता दिया।

गुरु प्रसन्न हो उठे, "समाज में शस्त्र-विद्या के सर्वोत्तम अधिकारी ब्राह्मण ही हैं पुत्र ! और ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ हैं भार्गव ! भार्गवों ने ही शस्त्रों के प्रयोग को विद्या के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया है और युद्ध-ज्ञान को शास्त्र का पद दिलाया है···"

"तात् ! क्षत्रिय क्यों शस्त्र-विद्या के अधिकारी नहीं रहे ?" कर्ण से पूछे बिना नहीं रहा गया, "परंपरा से तो शस्त्र-विद्या क्षत्रियों का ही अधिकार रहा है।"

"ठीक कहते हो वत्स ! किंतु क्षत्रियों ने अब इस विद्या को कलुषित कर दिया है। शस्त्र-ज्ञान और शस्त्र-प्रयोग अब क्षत्रियों के लिए न्याय और धर्म का उपकरण नहीं रहे; वे अत्याचार, शोषण और पीड़न के साधन हो गए हैं। शस्त्र-धारण और शस्त्र-परिचालन—इन दोनों का ही अधिकार केवल उन लोगों को है, जिनका विवेक स्थिर है। क्षत्रियों का न विवेक स्थिर है और न ही उनकी दृष्टि सत्य और धर्म पर टिकी है। उन्हें उन्माद हो गया है। सत्ता का मद, मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता; वह उसे पशु बना देता है। इसलिए आज के क्षत्रिय

भी पशु हो गए हैं।···" उन्होंने रुककर कर्ण को देखा, "क्या नाम है तुम्हारा? कहाँ के निवासी हो?"

कर्ण को लगा, उसने एक बार के मिथ्या-कथन ने, अपने-आपको बाँध लिया था। अब यदि वह उन्हें बताता कि वह हस्तिनापुर के अधिरथ का पुत्र कर्ण है, तो बहुत संभव था कि किसी-न-किसी प्रकार, उनके कानों तक यह बात पहुँच ही जाती कि वह ब्राह्मण-पुत्र नहीं है। अब तो उसे सब कुछ ही गुप्त रखना होगा—नाम, पिता का नाम, निवास···

"मैं काशी के धर्ममित्र का पुत्र, ज्ञानमित्र हूँ गुरुवर!"

"उपयुक्त नाम रखा है, तुम्हारे पिता ने!"

"यह था गुरु के प्रति तुम्हारा पूर्ण समर्पण!" अश्वत्थामा के स्वर में कटुता का भाव स्पष्ट था, "गुरु से झूठ बोलकर, उनसे ज्ञान प्राप्त करना। ज्ञान की चोरी···।"

"तो क्या करता मैं!" कर्ण खीझकर बोला, "जब ज्ञान के सारे द्वार बंद हो गए थे तो क्या करता मैं? आलसियों के समान निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाता?" कर्ण ने क्षण-भर थमकर अश्वत्थामा को देखा, "मैं न तो आलसी हूँ और न ऐसी साधारण बाधाओं से हताश होने वाला जीव हूँ गुरु-पुत्र! मैं तो उन लोगों में से हूँ, जो रूठे भाग्य के हाथों से उपलब्धियों को बलात् छीन लाते हैं।"

"मिथ्या भाषण कर!" अश्वत्थामा की वाणी में भर्त्सना का स्वर पर्याप्त मुखर हो आया था, "और फिर पूछते हो कि अर्जुन में ऐसा क्या है कि मेरे पिता शिष्य और पुत्र में अंतर नहीं कर पाए।"

"तो फिर बताते क्यों नहीं कि अर्जुन में ऐसा क्या है?" कर्ण ने आवेश में अपनी मुट्ठियों को एक बार फिर धरती पर दे मारा।

"पूर्ण समर्पण! गुरु-भक्ति!"

"आचार्य ने मुझे विद्या का दान अस्वीकार न किया होता, तो वे देखते कि कर्ण का समर्पण किस कोटि का है। मैंने गुरु परशुराम की इतनी सेवा की है, जितनी मानवता के इतिहास में आज तक किसी औरस पुत्र ने भी अपने पिता की न की होगी। उनकी नींद सोया, उनकी नींद जागा। उनकी आँखों के संकेत मात्र पर अपने प्राण समर्पित करने को प्रस्तुत था मैं।···गुरु को कितना स्नेह था मुझसे। वे गुरु भार्गव, जो अपना सामर्थ्य बनाए रखने के लिए, अपने किसी शिष्य का तनिक-सा सहारा भी नहीं लेते थे, जब अभ्यास करते थे, मुझे अपने साथ ले जाते थे। स्वयं इतना अभ्यास करते थे, किंतु मेरे अभ्यास से चकित और प्रमुदित होकर, सदा कहते थे कि मैं अपने प्रति इतना क्रूर क्यों हूँ।" और तुम जानते भी

हो, उस दिन क्या हुआ ?"

"क्या हुआ ?" अश्वत्थामा ने पूछा।

दुर्योधन कुछ नहीं बोला। वह अत्यंत तटस्थ भाव से कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद सुन रहा था, जैसे कोई वयोवृद्ध व्यक्ति बालकों के व्यर्थ के विवाद का आनंद ले रहा हो।

गुरु भार्गव ने लक्ष्य-वेध में कुछ नये प्रयोग किए थे और उसके परिणामों से वे अत्यंत उत्साहित हुए थे। इसी उत्साह के वेग में वे अपने वृद्ध शरीर की मर्यादा को भूल गए। और यह भी भूल गए कि पिछले दिनों के लंबे उपवास ने उनके शरीर को पर्याप्त दुर्बल कर दिया था। उनका शस्त्राभ्यास तब तक निरंतर चलता रहा, जब तक उनका शरीर सर्वथा असमर्थ होकर हताश ही नहीं हो गया।...कर्ण, प्रातः से ही उनके साथ था। अपने उत्साह में वे वन के इस भाग में, आश्रम से बहुत दूर निकल आए थे। साथ आने के इच्छुक ब्रह्मचारियों को उन्होंने कब से लौटा दिया था। कर्ण का इतना अधिक आग्रह न होता, अपने प्रति उसके एकाग्र तथा संपूर्ण समर्पण से वे इतने प्रभावित न होते, तो कदाचित् उन्होंने उसे भी अपने साथ आने की अनुमति नहीं दी होती।...अकेला वह ही उनके साथ था, इसलिए उनकी देख-भाल का सारा दायित्व उसी का था; और वह देख रहा था कि वे अपने वृद्ध शरीर की क्षमता को लाँघकर, कहीं अधिक श्रम कर चुके हैं। अब उनकी देह शिथिल हो रही थी और उन्हें विश्राम की अत्यधिक आवश्यकता थी। वह यह भी जानता था कि गुरु भार्गव की आत्म-श्रद्धा कभी भी यह स्वीकार नहीं करेगी कि वे थक गए हैं और उन्हें विश्राम की आवश्यकता है।...वे आश्रम से इतनी दूर थे कि कर्ण, किसी और व्यक्ति की सहायता भी प्राप्त नहीं कर सकता था। वैसे भी वन में ऐसी सुविधा कहाँ थी, जहाँ वह उनसे विश्राम करने का आग्रह करता। वह अपनी गुरु-भक्ति के कारण अत्यंत चिंतित था, और लगातार सोच रहा था कि ऐसा कौन-सा उपाय करे, जिससे गुरु अब और अधिक श्रम करने से विरत हो जाएँ तथा थोड़ा विश्राम कर लें।...सहसा उसके मन में आया कि वह अपनी ओर से गुरु से यह निवेदन करे कि थक गया है और विश्राम करना चाहता है। अतः वे लोग आश्रम की ओर लौट चलें।...किंतु तत्काल उसके मन ने कहा—यह अवसर अपनी दुर्बलता प्रदर्शित करने का नहीं, अपना सामर्थ्य प्रमाणित करने का है। यदि उसने अपनी क्लांति की बात कही, तो बहुत संभव है कि गुरु न केवल इस समय उसे आश्रम में लौट जाने का आदेश दे दें, वरन् भविष्य में भी ऐसे किसी अभियान में उसे अपने साथ रखना स्वीकार न करें। इसलिए उचित यही है कि वह उन्हें ही सहमत करे कि

वे थक गए हैं, और उन्हें विश्राम की आवश्यकता है। वह समर्थ है, सक्षम है और उनकी देख-भाल कर सकता है।...

सहसा उनका हाथ काँपा और उनके मुख से अनायास निकला, "यह मुझे क्या हो रहा है ? मेरा यह हाथ मेरा आदेश क्यों नहीं मान रहा ?"

कर्ण को लगा, यही उचित अवसर था। यदि इस समय वह उन्हें विश्राम के लिए सहमत न कर पाया, तो वह अवसर पुनः नहीं आएगा।...

"गुरुदेव ! आप क्लांत हो गए हैं।" वह धीरे से बोला, "आज प्रातः से ही बहुत अधिक श्रम किया है आपने। अब आपको थोड़ा विश्राम करना चाहिए।"

वे हँसे, "नये प्रयोग में पूर्ण दक्षता प्राप्त किए बिना विश्राम करना, परशुराम की मर्यादा नहीं है पुत्र ! एक बार आश्रम में लौट गए तो यह प्रयोग आज अधूरा ही रह जाएगा। कल प्रातः पुनः आरंभ करना होगा। और यह समय होते-होते तुम पुनः विश्राम का आग्रह करोगे।...क्या मैं मान लूँ कि अब इस शरीर में किसी नये प्रयोग में दक्षता प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं रहा ? क्या परशुराम अब अस्तमान सूर्य है ?"

वे हँस रहे थे किंतु वह हँसी उनके आहत मन की पीड़ा की कथा कह रही थी। वह तो कर्ण ने उस दिन ही अनुभव किया था कि असफल हो जाने मात्र की पीड़ा, कोई पीड़ा नहीं है। वास्तविक पीड़ा तो यह मान लेने में है कि अब अंत आ गया है और भविष्य में सफलता की कोई आशा नहीं रही !

"नहीं गुरुदेव !" कर्ण बोला, "आपका सामर्थ्य ही तो हम सबकी शक्ति है। आप असमर्थ नहीं हुए हैं, केवल थक गए हैं। आश्रम तक लौटने की भी आवश्यकता नहीं है। आप यहीं थोड़ा विश्राम कर लें, और उसके पश्चात् पुनः अपने प्रयोग को आगे बढ़ाएँ।..."

"यहाँ ?" परशुराम ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई।

कर्ण समझ गया कि विश्राम के लिए तो वे सहमत हो गए हैं; किंतु यहाँ कदाचित् उन्हें विश्राम के लिए उचित स्थान और परिवेश दिखाई नहीं दे रहा था।

गुरु-सेवा की भावना से पूर्णतः मग्न, कर्ण अपने भाग्य को सराह रहा था। उसने तत्काल एक वृक्ष की छाया में, पेड़ों से गिरे हुए पत्तों को एकत्रित कर, एक शैया बनाई। उनके हाथ से धनुष लेकर वृक्ष की शाखा से टाँगा। तूणीर को वृक्ष के तने के साथ टिकाया और बोला, "विश्राम करें गुरुवर !"

वह देख रहा था कि गुरु का शरीर विश्राम के लिए व्याकुल था; किंतु उनका मन जैसे हठ छोड़ नहीं रहा था। उसके लिए और थोड़ा आग्रह करने की आवश्यकता थी। उसने सस्नेह उनकी भुजा पकड़ी और उनसे लेट जाने का आग्रह किया; और जब वे लेटने के लिए तत्पर हो गए तो वह उनके सिर की

हो. उस दिन क्या हुआ ?"

"क्या हुआ ?" अश्वत्थामा ने पूछा।

दुर्योधन कुछ नहीं बोला। वह अत्यंत तटस्थ भाव से कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद सुन रहा था, जैसे कोई वयोवृद्ध व्यक्ति बालकों के व्यर्थ के विवाद का आनंद ले रहा हो।

गुरु भार्गव ने लक्ष्य-वेध में कुछ नये प्रयोग किए थे और उसके परिणामों ने वे अत्यंत उत्साहित हुए थे। इसी उत्साह के वेग में वे अपने वृद्ध शरीर की मर्यादा को भूल गए। और यह भी भूल गए कि पिछले दिनों के लंबे उपवास ने उनके शरीर को पर्याप्त दुर्बल कर दिया था। उनका शस्त्राभ्यास तब तक निरंतर चलता रहा, जब तक उनका शरीर सर्वथा असमर्थ होकर हताश ही नहीं हो गया।...कर्ण, प्रातः से ही उनके साथ था। अपने उत्साह में वे वन के इस भाग में, आश्रम से बहुत दूर निकल आए थे। साथ आने के इच्छुक ब्रह्मचारियों को उन्होंने कब से लौटा दिया था। कर्ण का इतना अधिक आग्रह न होता, अपने प्रति उसके एकाग्र तथा संपूर्ण समर्पण से वे इतने प्रभावित न होते, तो कदाचित् उन्होंने उसे भी अपने साथ आने की अनुमति नहीं दी होती।...अकेला वह ही उनके साथ था, इसलिए उनकी देख-भाल का सारा दायित्व उसी का था; और वह देख रहा था कि वे अपने वृद्ध शरीर की क्षमता को लांघकर, कहीं अधिक श्रम कर चुके हैं। अब उनकी देह शिथिल हो रही थी और उन्हें विश्राम की अत्यधिक आवश्यकता थी। वह यह भी जानता था कि गुरु भार्गव की आत्म-श्रद्धा कभी भी यह स्वीकार नहीं करेगी कि वे थक गए हैं और उन्हें विश्राम की आवश्यकता है।...वे आश्रम से इतनी दूर थे कि कर्ण, किसी और व्यक्ति की सहायता भी प्राप्त नहीं कर सकता था। वैसे भी वन में ऐसी सुविधा कहां थी, जहां वह उनसे विश्राम करने का आग्रह करता। वह अपनी गुरु-भक्ति के कारण अत्यंत चिंतित था, और लगातार सोच रहा था कि ऐसा कौन-सा उपाय करे, जिससे गुरु अब और अधिक श्रम करने से विरत हो जाएं तथा थोड़ा विश्राम कर लें।...सहसा उसके मन में आया कि वह अपनी ओर से गुरु से यह निवेदन करे कि थक गया है और विश्राम करना चाहता है। अतः वे लोग आश्रम की ओर लौट चलें।...किंतु तत्काल उसके मन ने कहा—यह अवसर अपनी दुर्बलता प्रदर्शित करने का नहीं, अपना सामर्थ्य प्रमाणित करने का है। यदि उसने अपनी क्लांति की बात कही, तो बहुत संभव है कि गुरु न केवल इस समय उसे आश्रम में लौट जाने का आदेश दे दें, वरन् भविष्य में भी ऐसे किसी अभियान में उसे अपने साथ रखना स्वीकार न करें। इसलिए उचित यही है कि वह उन्हें ही सहमत करे कि

वे थक गए हैं, और उन्हें विश्राम की आवश्यकता है। वह समर्थ है, सक्षम है और उनकी देख-भाल कर सकता है।···

सहसा उनका हाथ काँपा और उनके मुख से अनायास निकला, "यह मुझे क्या हो रहा है ? मेरा यह हाथ मेरा आदेश क्यों नहीं मान रहा ?"

कर्ण को लगा, यही उचित अवसर था। यदि इस समय वह उन्हें विश्राम के लिए सहमत न कर पाया, तो वह अवसर पुनः नहीं आएगा।···

"गुरुदेव ! आप क्लांत हो गए हैं।" वह धीरे से बोला, "आज प्रातः से ही बहुत अधिक श्रम किया है आपने। अब आपको थोड़ा विश्राम करना चाहिए।"

वे हँसे, "नये प्रयोग में पूर्ण दक्षता प्राप्त किए बिना विश्राम करना, परशुराम की मर्यादा नहीं है पुत्र ! एक बार आश्रम में लौट गए तो यह प्रयोग आज अधूरा ही रह जाएगा। कल प्रातः पुनः आरंभ करना होगा। और यह समय होते-होते तुम पुनः विश्राम का आग्रह करोगे।···क्या मैं मान लूँ कि अब इस शरीर में किसी नये प्रयोग में दक्षता प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं रहा ? क्या परशुराम अब अस्तमान सूर्य है ?"

वे हँस रहे थे किंतु वह हँसी उनके आहत मन की पीड़ा की कथा कह रही थी। यह तो कर्ण ने उस दिन ही अनुभव किया था कि असफल हो जाने मात्र की पीड़ा, कोई पीड़ा नहीं है। वास्तविक पीडा तो यह मान लेने में है कि अब अंत आ गया है और भविष्य में सफलता की कोई आशा नहीं रही !

"नहीं गुरुदेव !" कर्ण बोला, "आपका सामर्थ्य ही तो हम सबकी शक्ति है। आप असमर्थ नहीं हुए हैं, केवल थक गए हैं। आश्रम तक लौटने की भी आवश्यकता नहीं है। आप यहीं थोड़ा विश्राम कर लें, और उसके पश्चात् पुनः अपने प्रयोग को आगे बढ़ाएँ।···"

"यहाँ ?" परशुराम ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई।

कर्ण समझ गया कि विश्राम के लिए तो वे सहमत हो गए हैं; किंतु यहाँ कदाचित् उन्हें विश्राम के लिए उचित स्थान और परिवेश दिखाई नहीं दे रहा था।

गुरु-सेवा की भावना में पूर्णतः मग्न, कर्ण अपने भाग्य को सराह रहा था। उसने तत्काल एक वृक्ष की छाया में, पेड़ों से गिरे हुए पत्तों को एकत्रित कर, एक शैया बनाई। उनके हाथ से धनुष लेकर वृक्ष की शाखा में टाँगा। तूणीर को वृक्ष के तने के साथ टिकाया और बोला, "विश्राम करें गुरुवर !"

वह देख रहा था कि गुरु का शरीर विश्राम के लिए व्याकुल था; किंतु उनका मन जैसे हठ छोड़ नहीं रहा था। उसके लिए और थोड़ा आग्रह करने की आवश्यकता थी। उसने सस्नेह उनकी भुजा पकड़ी और उनसे लेट जाने का आग्रह किया; और जब वे लेटने के लिए तत्पर हो गए तो वह उनके सिर को

हो, उस दिन क्या हुआ ?"

"क्या हुआ ?" अश्वत्थामा ने पूछा।

दुर्योधन कुछ नहीं बोला। वह अत्यंत तटस्थ भाव से कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद सुन रहा था, जैसे कोई वयोवृद्ध व्यक्ति बालकों के व्यर्थ के विवाद का आनंद ले रहा हो।

गुरु भार्गव ने लक्ष्य-वेध में कुछ नये प्रयोग किए थे और उसके परिणामों ने वे अत्यंत उत्साहित हुए थे। इसी उत्साह के वेग में वे अपने वृद्ध शरीर की मर्यादा को भूल गए। और यह भी भूल गए कि पिछले दिनों के लंबे उपवास ने उनके शरीर को पर्याप्त दुर्बल कर दिया था। उनका शस्त्राभ्यास तब तक निरंतर चलता रहा, जब तक उनका शरीर सर्वथा असमर्थ होकर हताश ही नहीं हो गया।···कर्ण, प्रातः से ही उनके साथ था। अपने उत्साह में वे वन के इस भाग में, आश्रम से बहुत दूर निकल आए थे। साथ आने के इच्छुक ब्रह्मचारियों को उन्होंने कब से लौटा दिया था। कर्ण का इतना अधिक आग्रह न होता, अपने प्रति उसके एकाग्र तथा संपूर्ण समर्पण से वे इतने प्रभावित न होते, तो कदाचित् उन्होंने उसे भी अपने साथ आने की अनुमति नहीं दी होती।···अकेला वह ही उनके साथ था, इसलिए उनकी देख-भाल का सारा दायित्व उसी का था; और वह देख रहा था कि वे अपने वृद्ध शरीर की क्षमता को लांघकर, कहीं अधिक श्रम कर चुके हैं। अब उनकी देह शिथिल हो रही थी और उन्हें विश्राम की अत्यधिक आवश्यकता थी। वह यह भी जानता था कि गुरु भार्गव की आत्म-श्रद्धा कभी भी यह स्वीकार नहीं करेगी कि वे थक गए हैं और उन्हें विश्राम की आवश्यकता है।···वे आश्रम से इतनी दूर थे कि कर्ण, किसी और व्यक्ति की सहायता भी प्राप्त नहीं कर सकता था। वैसे भी वन में ऐसी सुविधा कहाँ थी, जहाँ वह उनसे विश्राम करने का आग्रह करता। वह अपनी गुरु-भक्ति के कारण अत्यंत चिंतित था, और लगातार सोच रहा था कि ऐसा कौन-सा उपाय करे, जिससे गुरु अब और अधिक श्रम करने से विरत हो जाएँ तथा थोड़ा विश्राम कर लें।···सहसा उसके मन में आया कि वह अपनी ओर से गुरु से यह निवेदन करे कि थक गया है और विश्राम करना चाहता है। अतः वे लोग आश्रम की ओर लौट चलें।···किंतु तत्काल उसके मन ने कहा—यह अवसर अपनी दुर्बलता प्रदर्शित करने का नहीं, अपना सामर्थ्य प्रमाणित करने का है। यदि उसने अपनी क्लांति की बात कही, तो बहुत संभव है कि गुरु न केवल इस समय उसे आश्रम में लौट जाने का आदेश दे दें, वरन् भविष्य में भी ऐसे किसी अभियान में उसे अपने साथ रखना स्वीकार न करें। इसलिए उचित यही है कि वह उन्हें ही सहमत करे कि

और सुखासन में बैठ गया। उनके जटाजूट वाले सिर को उसने अपनी जंघा पर टिकाया और वस्त्र से हवा करते हुए बोला, "आप थोड़ी देर तक निश्चिंत होकर निद्रा का सुख लें।"

गुरु ने मुस्कराकर कर्ण को देखा और बोले, "वत्स ! संसार की रीति यही है कि स्वस्थ होने पर भी बालक ही अपने माता-पिता की गोद में सोते हैं। पिता यदि पुत्र की गोद में सिर रखकर सोए तो मानना चाहिए कि वह स्वस्थ नहीं है। इस समय मैं अस्वस्थ नहीं हूँ; और तुम मेरे पुत्र भी नहीं हो···किंतु कभी-कभी शिष्य भी अपनी सेवा से पुत्र का-सा अधिकार प्राप्त कर लेता है। इस समय ऐसा ही एक क्षण है। तुम्हारी सेवा से प्रसन्न होकर, मैं तुम्हें पुत्र-भाव से ग्रहण कर रहा हूँ। मैं अस्वस्थ नहीं हूँ, फिर भी तुम्हारी इस सेवा के सुख का लाभ उठाना चाहता हूँ। कदाचित् संसार में किसी गुरु को इतना प्रिय शिष्य न मिला होगा; और किसी शिष्य को गुरु ने अपने औरस पुत्र का यह अधिकार न दिया होगा।"

गुरु ने आँखें बंद कर लीं और कर्ण अपनी विह्वल अवस्था में कुछ कह नहीं सका। कुछ कहना आवश्यक था भी नहीं।

कर्ण की इच्छा तो बस इतनी ही थी कि गुरु उस समय कठोर श्रम से निरत होकर थोड़ा विश्राम कर लें। उससे अधिक तो उसने कुछ सोचा भी नहीं था।··· किंतु वे सचमुच इतने थके हुए थे कि लेटकर आँखें मूँदते ही उन्हें नींद आ गई। कर्ण के लिए यह अपनी अपेक्षा से भी अधिक फल पाने की स्थिति थी। और जब व्यक्ति अपनी अपेक्षा से भी अधिक फल पा जाए, तो उसकी रक्षा के लिए भी वह उतना ही सक्रिय हो जाता है।···उस समय, उसके मन में गुरु के लिए, कैसा तो स्नेह जागा, जो कभी अपने पिता के लिए भी नहीं जागा था। वह अपनी ही सफलता से जैसे अभिभूत हो गया था—उसे लगा कि अब गुरु का मात्र श्रम से विरत होना ही पर्याप्त नहीं था, उनका लेटकर विश्राम करना भी पर्याप्त नहीं था, उनका सो जाना—और इस प्रकार उसकी गोद में सो जाना भी उसकी तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं था, कदाचित् उन्हें अधिक से अधिक समय तक सुखपूर्वक सुलाए रखना ही उसकी सफलता होगी : जैसे उसकी किसी से प्रतिस्पर्धा हो कि कौन उन्हें अधिक से अधिक समय तक सुलाए रख सकता है।···माँ भी तो अपनी गोद में सोए बालक की विघ्न-बाधाओं से रक्षा करती है - उस बालक की, जो प्रतिदिन उसकी गोद में सोता है।···गुरु का इस प्रकार गोद में सोना, क्या कोई दिनचर्या का अंग है? यह तो कोई बहुमूल्य, दुर्लभ क्षण है, जो विश्व के इतिहास में कभी-कभार ही आता है। और उसके लिए तो जैसे, उसके अपने पूर्व-जन्मों का कोई पुण्य उदित हुआ था—वह अपने गौरव के इन क्षणों को न कम होने देना चाहता था और न ही समाप्त होने देना चाहता था···

"तो अंततः हुआ क्या?" दुर्योधन ने अकुलाकर पूछा, "गुरु पूरी नींद लेकर उठे और उन्होंने अपनी प्रसन्नता जताई? तुम्हें कोई वरदान दिया? कोई नया शस्त्र दिया?"

"गुरु ने तुम्हें ब्रह्मास्त्र तो नहीं दे दिया?" अश्वत्थामा ने पूछा।

कर्ण के चेहरे का तेज, एक बार तपाकर पानी में डाल दिए गए ताँबे के समान काला पड़ गया था। अपनी आँखों में आ जाने वाले असफलता, पीड़ा तथा असहायता के आँसू रोकने के लिए वह उतना ही प्रयत्न कर रहा था, जितना कोई व्यक्ति, स्वयं को कुचले जाने से बचाने के लिए, अपने ऊपर आ गिरने वाली चट्टान को रोकने के लिए करता है।

दुर्योधन और अश्वत्थामा हतप्रभ रह गए। यह क्या हो गया उसे?

तब कर्ण जैसे अपने अश्रुओं को पीकर बोला, "मैं क्या जानता था कि जिसे मैं अपने सौभाग्य के उत्कर्ष का चरम क्षण मान रहा था, वही मेरे दुर्भाग्य का चरम क्षण था।..."

वह पुनः मौन हो गया; किंतु इस बार दुर्योधन और अश्वत्थामा ने उससे कुछ पूछा नहीं। वे धैर्यपूर्वक उसके बोलने की प्रतीक्षा करते रहे।

कर्ण जब अपने इस सुख में समाधिस्थ होने का प्रयत्न कर रहा था कि सहसा उसकी दाईं जंघा में एक तीखी चुभन हुई, ऐसी जैसे किसी ने कोई तीखा शूल अत्यधिक वेग से चुभो दिया हो। वह उसका कारण जानने के लिए उठ खड़ा होना चाहता था; किंतु उसकी गोद में सिर रखे गुरुदेव सुख की निद्रा में निमग्न थे। वह जानता था कि वे बहुत कच्ची नींद सोते थे। उसके तनिक-से कंपन से भी वे जाग सकते थे।...किंतु इस रूप में स्थिर बैठना तो बहुत कठिन था। अब ऐसा लग रहा था, जैसे कोई किसी तीक्ष्ण शस्त्र से धीरे-धीरे उसके मांस को छील रहा था। पहले घाव की पीड़ा ही कम नहीं होती थी कि वही दश पुनः पीड़ा जगा देता था।...उसने अपने हाथ से टटोलकर अनुभव करना चाहा कि वह था क्या? किंतु न तो हिले-डुले बिना उसका हाथ उस नन्हे आक्रमणकारी तक पहुँच सकता था, न उसकी दृष्टि उसे देख सकती थी...और कर्ण गुरु-द्रोही हो नहीं सकता था...गुरु की निद्रा में विघ्न डाले बिना, जहाँ तक वह अपने हाथ से अनुभव कर सकता था—उसने प्रयत्न किया। उसका हाथ रक्त से जैसे भीग गया...अब तक उसे अनुमान हो चुका था कि यह कोई कृमि ही होगा, जो उसकी जंघा को नीचे से अपने नन्हें दाँतों से आरी के समान धीरे-धीरे काट रहा था। संभव है वह उसका रक्त-पान भी कर रहा हो; किंतु जितना रक्त वह पी रहा था, उससे कहीं अधिक तो वह बहा रहा था...

वह समझ गया था कि यह उसकी परीक्षा की घड़ी थी। बहुत संभव है कि गुरु ने सोने के लिए स्वेच्छा से यही स्थान चुना हो। यहां अलर्क नामक कृमि बहुत होते हैं। उनके दंश की यही प्रकृति है। वे रक्तपान भी करते हैं।···संभवतः गुरु ने अपने प्रति कर्ण की भक्ति की परीक्षा लेने के लिए ही, यहां, इस शयन की व्यवस्था की हो। संभव है कि गुरु का यह सारा व्यवहार, एक नाटक ही हो···यह नाटक हो या न हो···गुरु जानते हों, या न जानते हों···किंतु कर्ण के लिए वह परीक्षा की ही घड़ी थी···और इस परीक्षा में उसे सफल होना ही था। वह अलर्क यदि कर्ण की पूरी जंघा भी खा जाए, तो भी वह हठपूर्वक, बिना हिले-डुले, इसी प्रकार यहां बैठा रहेगा···वह आज अपनी ही कष्ट-सहन-क्षमता और हठ की परीक्षा लेगा···

वह अपनी पीड़ा से लड़ता, अपने मानसिक ऊहापोह में लीन बैठा ही था कि अकस्मात् ही गुरु ने आंखें ही नहीं खोल दीं—वे उठकर बैठ गए।···उसने देखा, उनके कपोल पर रक्त लगा हुआ था—कदाचित् उसी का अपना रक्त !···उन्होंने अपने हाथ से कपोल को छुआ। उनकी हथेली पर भी रक्त लग गया। और उसी क्षण उनकी दृष्टि कर्ण की जंघा पर पड़ी, जो इस समय तक रक्त-रंजित ही नहीं, रक्त-निमज्जित भी हो चुकी थी।

"यह क्या है ज्ञानमित्र ! उठो। खड़े हो जाओ।"

आदेश में बंधा कर्ण, उठ खड़ा हुआ, और तब उसने अपने शत्रु को देखा—छोटा-सा कीट ! अलर्क ही था। कैसे उसने उसे रक्त-निमज्जित कर दिया था, जैसे किसी बड़े युद्ध में कर्ण ने कोई बड़ा घाव खाया हो।···और तब उसका ध्यान अपने गुरु की ओर गया। निद्रा का प्रभाव उन पर शेष नहीं था, न ही उसे इस प्रकार रक्त में भीगा देख, उनके मन में करुणा जागी थी।···उनकी आंखें, क्रोध से कुछ फैल गई थीं। उस क्लांत मुख पर तेज भी पर्याप्त था। उन्होंने अत्यंत कठोर में स्वर पूछा, "कौन है तू प्रवंचक ?"

कर्ण समझ नहीं पाया कि गुरु उसे प्रवंचक क्यों कह रहे हैं—उसने तो यह सारा कष्ट इसलिए सहन किया था कि गुरु की सुख-निद्रा भंग न हो और गुरु उसकी इस सेवा का तिरस्कार कर···

"ब्राह्मण इतना सहनशील नहीं हो सकता और भार्गव ब्राह्मण तो किसी भी रूप में प्रतिवाद किए बिना इतना कष्ट सह नहीं सकता।" गुरु का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था, जैसे पूर्ण चंद्र की रात्रि में सागर की लहरें, "तू अवश्य ही क्षत्रिय है ! बोल ! तू क्षत्रिय ही है न ? इतनी सहनशीलता और किसमें होगी ? यह कष्ट-सहन-क्षमता···।"

कर्ण, गुरु के मन की स्थिति समझ गया। उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था कि वह क्षत्रिय ही है। क्षत्रिय—जिनके आधिपत्य का वे विरोध कर रहे थे।

जिन्हें वे युद्ध-विद्या और शस्त्र-बल में आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे।...और एक क्षत्रिय ने मिथ्या-कथन कर, उन्हें भ्रम में रख, उनसे उनका ज्ञान प्राप्त कर लिया था...

वह हाथ जोड़, आँखों में अश्रु भरे, उनके चरणों पर गिर पड़ा। उनका क्रोध शांत करने के लिए, वह मात्र प्रदर्शन नहीं था। अपनी भाग्यहीनता से वह इतना त्रस्त हो गया था कि या तो वह क्षुब्ध ही हो सकता था, या दीन-हीन होकर रुदन ही कर सकता था। और वे तो उसके गुरु थे। उनके सम्मुख वह अपनी पीड़ा न कहता तो किसके सामने कहता।...और फिर जो कुछ वे समझ रहे थे, कर्ण की वास्तविकता वह नहीं थी।...

"मैं क्षत्रिय नहीं हूँ गुरुदेव!" उसने बताया, "मैं हस्तिनापुर के अधिरथ सूत का पुत्र वसुषेण कर्ण हूँ।"

"सूतपुत्र कर्ण!" गुरु वैसे ही क्रोध में थे, "तूने मुझसे अपनी वास्तविकता क्यों छिपाई?"

"यदि मैं आपको अपना वास्तविक परिचय देता तो आप मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार ही नहीं करते।"

"तो यह है तुम्हारी नीति कर्ण!" गुरु का स्वर कुछ शांत हुआ, "यदि याचना कर कोई वस्तु नहीं मिलेगी, तो तुम उसे चुरा लोगे?" गुरु की दृष्टि प्रखर होकर उसकी आँखों में चुभने लगी थी, "कल तुम्हारी इच्छा धन, स्त्री अथवा राज्य पाने की होगी—और याचना करने पर तुम्हें तुम्हारा मनोवांछित नहीं मिलेगा, तो तुम उसे चुरा लोगे?"

"नहीं गुरुदेव! मैं चोर नहीं हूँ। मैं चोर नहीं हूँ।" कर्ण ने आवेश में उनके चरणों पर अपना मस्तक पटका, "विद्या तो पराया धन नहीं है गुरुदेव! वह किसी व्यक्ति विशेष की संपत्ति तो नहीं है। ज्ञान तो प्रकृति का वैसा ही वरदान है, जैसे वायु, जल और प्रकाश है—कल कोई यह नियम बना दे कि जल, वायु और प्रकाश भी ब्राह्मणों को ही मिलेगा, तो यह न्याय तो नहीं होगा गुरुदेव!"

"गुरु से तर्क कर रहे हो; तो तर्क ही सही सूतपुत्र!" परशुराम का स्वर शांत हो आया था, "जल, वायु और प्रकाश किसी व्यक्ति की संपत्ति नहीं है; किंतु यदि कोई व्यक्ति, समाज अथवा राज्य, इनको अपने अवरोध में रख सके, तो वह उसकी संपत्ति है। जल व्यक्ति की संपत्ति नहीं, किंतु कूप, व्यक्ति की संपत्ति हो सकता है, घाट व्यक्ति की संपत्ति हो सकता है। नदियों, सागर-तटों तथा अपनी भूमि के ऊपर के वायुमंडल पर समाज और राज्य का नियंत्रण होता है। उसी प्रकार सार्वभौम ज्ञान पर प्रत्येक प्राणी का अधिकार हो सकता है, किंतु व्यक्तिगत ज्ञान पर व्यक्ति का ही नियंत्रण है। तुम उसे उस व्यक्ति की इच्छा के

विरुद्ध, बल अथवा छलपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकते। ज्ञान-पिपासु उसे सदा ही गुरु की कृपा के रूप में प्राप्त करता है। उसे छल, प्रपंच, बलप्रयोग अथवा धृष्टता के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जाता। उसका क्रय करना भी उसे दूषित करना है।" उन्होंने रुककर कर्ण को देखा, "तुमने मुझे तो प्रवंचित किया ही है, तुमने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तुम अपने स्वार्थ के लिए किसी सामाजिक विधान को स्वीकार नहीं करोगे। दूसरे व्यक्ति अथवा समाज की इच्छा का तुम्हारे लिए कोई महत्त्व नहीं है। तुम अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए उचित-अनुचित कुछ भी करोगे। तुम स्वेच्छाचारी हो सूतपुत्र !"

"नहीं गुरुदेव !" कर्ण की आंखों के अश्रु परशुराम के चरणों पर टपक आए, "नहीं गुरुदेव ! नहीं ! मुझे सूतपुत्र कहकर तिरस्कृत किया जा रहा था। मैं इस तिरस्कार का प्रतिशोध लेना चाहता था···।"

"शस्त्रबल से ?" गुरु के अधरों पर व्यंग्य था, "जो तुम्हें सूतपुत्र कहेगा, तुम उसका वध करोगे ?"

"नहीं गुरुदेव ! क्षत्रियों की समकक्षता प्राप्त करके !"

"देखो कर्ण ! इसका निर्णय मैं नहीं करूँगा कि सूतपुत्र कहकर कितना तुम्हारा तिरस्कार किया गया और कितना तुमने अपना तिरस्कार स्वयं ही मान लिया। अधिरथ सूत होकर भी धृतराष्ट्र के मित्र हैं। वे इसे अपना तिरस्कार नहीं मानते। विदुर दासी-पुत्र होकर भी हस्तिनापुर के मंत्री हैं। उन्होंने तुम्हारे समान क्षत्रिय बनने का प्रयत्न नहीं किया। क्षत्रिय राजा, दीन-हीन ब्राह्मणों के चरण छूते हैं और उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं—इसे उन्होंने अपना तिरस्कार नहीं माना। विश्वामित्र ने अपना क्षत्रियत्व स्वीकार नहीं किया, इसलिए नहीं कि 'क्षत्रिय' हीन होता है, वरन् इसलिए कि क्षत्रियत्व में उन्हें अपना पूर्ण विकास होता दिखाई नहीं दिया। किंतु उन्होंने स्वयं को ब्रह्मर्षि बताया नहीं, अपनी तपस्या से स्वयं को ब्रह्मर्षि बनाया। तुमने स्वयं को भार्गव-गोत्र का ब्राह्मण बताया—स्वयं को ब्राह्मण बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। तुमने साधना और तपस्या का मार्ग छोड़कर, छल और मिथ्याकथन का मार्ग अपनाया। तुम्हारे साधन शुद्ध नहीं थे। मुझे लगता है कि तुम्हारी आत्मा भी शुद्ध नहीं है।···तुम्हें शस्त्र-विद्या की आवश्यकता क्यों है ? क्या करोगे तुम इस शस्त्र-बल का ?"

कर्ण कुछ नहीं बोला।

"क्या तुम्हें आत्मरक्षा के लिए उसकी आवश्यकता है ?"

"नहीं गुरुदेव !"

"तो क्यों चाहिए तुम्हें शस्त्रबल ? और ब्रह्मास्त्र में तुम्हारी इतनी अधिक आसक्ति क्यों है ?" परशुराम ने इस बार रुककर उसे देखा, तो उनकी वाणी में भी तेज था और आंखों में भी, "इस प्रकार असत्य भाषण मत करना,

अन्यथा···।"

"नहीं ! झूठ नहीं बोलूंगा, गुरुदेव !"

"तो सत्य बोलो।"

"मैं कुंतिपुत्र अर्जुन की प्रगति से पीड़ित हूं गुरुदेव ! मैं उससे श्रेष्ठतर धनुर्धर योद्धा बनना चाहता हूं।"

"मैं पहले ही समझ रहा था कि तुम्हारी वृत्ति सात्विक नहीं है। तुम अपना विकास नहीं चाहते, तुम दूसरे का विनाश चाहते हो। तुम्हारी वृत्ति निर्माण की है ही नहीं, तुम ध्वंस और विनाश के प्रवर्तक हो। तुम्हें अपने अहंकार की तुष्टि के लिए यह सब चाहिए। तुम्हारी ईर्ष्या और प्रतिहिंसा तुम्हें कभी भी उचित-अनुचित और धर्म-अधर्म का विचार करने नहीं देगी। तुम्हारा शस्त्रबल किसी सज्जन की रक्षा के काम नहीं आएगा। सदा ही पापियों की ओर से उसका दुरुपयोग होगा। इसलिए द्रोण ने ठीक ही किया था कि तुम्हें विद्या नहीं दी। मैंने जितनी विद्या तुम्हें दी है, उतना ही पाप किया है। उचित तो होता कि अपने परशु के एक ही प्रहार से तुम्हारा मुंड, रुंड से पृथक् कर देता, ताकि इस शुद्ध ज्ञान का दुरुपयोग न होता; किंतु जिसे शिष्य के रूप में सिखाया, पुत्रवत् पाला — उसके वध के लिए यह हाथ उठना नहीं चाहता।···पर अब इस आश्रम में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है। तुम इसी क्षण यहां से विदा हो जाओ। ऐसा न हो कि मेरा मन कुछ कठोर हो जाए और मेरा निश्चय बदल जाए···।"

"तो तुम यहां से चले आए ?" सहसा दुर्योधन ने पूछा।

"नहीं ! इतनी सरलता से तो नहीं आया। वस्तुतः गुरु का क्रोध कुछ कम होते देख, मेरी महत्त्वकांक्षा पुन: उभर आई थी। मेरा मन बार-बार कह रहा था कि यदि मैं आग्रह करूंगा तो कदाचित् वे मान जाएंगे। मेरा ब्रह्मास्त्र-प्रशिक्षण आरंभ ही हुआ था। यदि कुछ दिन और यह रहस्य न खुलता, तो मेरा ब्रह्मास्त्र-प्रशिक्षण पूरा हो चुका होता।···अब यदि मेरा आग्रह मानकर मुझे कुछ दिन और अपने आश्रम में रहने देते तो कदाचित् मेरे जीवन की यह महत्त्वाकांक्षा पूर्ण हो सकती। "

"तो तुमने यह दुराग्रह भी किया ?" अश्वत्थामा के स्वर में कर्ण के लिए न तो सहानुभूति ही थी और न ही सम्मान !

"आग्रह तो मैंने किया ही — चाहे तुम उसे दुराग्रह कहो।···"

कर्ण ने पुनः हाथ जोड़ दिये। आंखों में हृदय की मूर्त दीनता को प्रदर्शित करते

हुए, वह गुरु के सम्मुख भूमि पर लेट गया, "मेरा इस प्रकार परित्याग न करें गुरुवर ! बस मुझे ब्रह्मास्त्र का प्रशिक्षण पूरा कर लेने दें। ब्रह्मास्त्र पर अधिकार प्राप्त होते ही मैं यहां से चला जाऊंगा।"

"असंभव !" परशुराम बोले, "मैंने तुम्हें दंडित नहीं किया—क्या यह कम है ?"

"गुरुदेव !" कर्ण उठकर बैठ गया, "क्या मेरा अपराध इतना बड़ा है ? मैंने तो अपने गुरु के कुल-गोत्र को अपना माना ! क्या गुरु भी पिता के समान नहीं होता ?"

"कुतर्क मत करो कर्ण !" गुरु बोले, "गुरु का महत्त्व, पिता के समान होता है। गुरु का संबंध, पिता का संबंध नहीं है। रंग-रूप, जाति-गोत्र इत्यादि हम पिता से प्राप्त करते हैं। गुरु, व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करता है। तुम्हारा अपराध कितना छोटा या बड़ा है, मेरे लिए यह भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है तुम्हारी वृत्ति।...जीवन में कई बार अपना परिचय छिपाना भी पड़ता है। कई बार व्यक्ति कहीं अपना पूर्ण परिचय नहीं देना चाहता, अथवा छद्म परिचय देता है। ऐसे में हम उसे मिथ्यावादी नहीं मानते। हम यही मानते हैं कि किसी प्रयोजन-विशेष से उसने छद्म-वेश धारण किया है। किंतु हमें इस पर विचार करना पड़ता है कि उसका प्रयोजन अपने धर्म की रक्षा करना है अथवा किसी को प्रवंचित करना। तुमने मिथ्या कथन किया, गुरु को प्रवंचित किया, ज्ञान की चोरी की—और यह सब करवाया तुम्हारी तमोगुणोन्मुखी रजोवृत्ति ने। तुम्हारी क्षमता और शक्ति, समाज के कल्याण में नहीं, अपनी अहंकारमूलक महत्त्वाकांक्षा में लगेगी। तुम्हारी क्षमताएं न्याय और धर्म का विचार नहीं करतीं। वस्तुतः प्रतिहिंसा उत्पन्न ही हीन वृत्तियों से होती है। तुम अब जाओ कर्ण ! ब्रह्मास्त्र का जो प्रशिक्षण तुम्हें मिला भी है, उसे भी अभ्यास के अभाव में तुम भूल जाओगे।...जाओ।..."

कर्ण चुप हो गया। उसके मन का अवसाद उसके चेहरे पर प्रकट हो गया था।

"कोई बात नहीं मित्र !" दुर्योधन ने उसके कंधे पर हाथ रखा, "जो हो गया, उसकी चिंता मत करो। कोई आवश्यक तो नहीं कि सारा भोजन एक ही रसोइया पकाए। जो कुछ गुरु परशुराम से प्राप्त हो गया, हो गया—शेष कहीं और से प्राप्त कर लेना।" दुर्योधन ने उसकी भुजा पकड़कर उसे अपने पास बैठा लिया, "अब तुम मेरी बात ध्यान से सुनो। तुम जो कुछ सीखकर आए हो, अभी हमारे लिए वही पर्याप्त है। कोई महायुद्ध तो हो नहीं रहा, जिसमें तुम्हें ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर शत्रु का नाश करना है।" उसने रुककर कर्ण की ओर

देखा, "और दूसरी बात यह है कि तुम आए बहुत समय से हो। मुझे तो तुम्हारा रहस्य खुल जाना और गुरु द्वारा तुम्हें इस प्रकार तिरस्कृत कर लौटा देना बहुत शुभ प्रतीत हो रहा है...।"

कर्ण ने आश्चर्य से उसे देखा, "क्या कह रहे हो?"

"देखो मित्र! हमने तुम्हें बताया कि हस्तिनापुर में रंगशाला बन रही है। उसमें सारे राजकुमार अपनी विद्या का प्रदर्शन करेंगे। युधिष्ठिर को तुम जानते ही हो—उसे कुछ नहीं आता। भीम की गदा, मैं अपनी गदा से उस दिन चपटी कर दूंगा। बहुत संभव है कि भीम रंगशाला से जीवित ही न निकले। नकुल-सहदेव भी बस यूं ही हैं। केवल वह अर्जुन है, जिसकी धनुर्विद्या को निरस्त करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं था। अब तुम आ गए हो। रंगशाला में दिखाई जाने वाली धनुर्विद्या तो तुम सीख ही आए हो। तुम बस अर्जुन का यश निष्कलंक मत रहने देना। तुम इतना-भर तो कर ही देना कि अर्जुन निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ वीर घोषित न हो सके।...ठीक है?"

"ठीक है," कर्ण ने सहमति में सिर हिलाया।

"यही तो मैं कह रहा था," दुर्योधन बोला, "तुम यदि वहां ब्रह्मास्त्र सीखते रह जाते और अर्जुन हस्तिनापुर का सर्वश्रेष्ठ योद्धा घोषित हो जाता, तो हम तुम्हारे ब्रह्मास्त्र का क्या करते? ब्रह्मास्त्र जैसे अस्त्र तो शोभा की वस्तु हैं। योद्धा उन्हें धारण किए रहता है और उनके प्रयोग का अवसर ही नहीं आता। जब कभी योद्धा उनके प्रयोग का संकल्प करता है, तो उसका अपना मन ही द्वंद्वग्रस्त हो जाता है, उसके अपने ही पक्ष के लोग, हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगते हैं कि वह महाविनाश के इस अस्त्र का प्रयोग न करे। तो अर्जुन ब्रह्मास्त्र का बोझ ढोता रहे। उसका प्रयोग तो वह कर नहीं सकता। तुम उससे द्वंद्व-युद्ध भी करोगे, तो भी वह तुम पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग नहीं कर सकता। समझे न?"

"तुम निश्चित रहो मित्र!" कर्ण बोला, "अर्जुन को वह गौरव कभी प्राप्त नहीं होगा, जो तुम्हारे लिए अशांति का कारण बने।"

कर्ण चला गया तो अश्वत्थामा दुर्योधन की ओर मुड़ा, "मुझे तुम्हारा यह मित्र कर्ण कभी भी प्रिय नहीं रहा...।"

"क्यों?"

"उसकी बातों में सदा दूसरों के लिए उपेक्षा होती है। मुझे यह पिताजी का भी विरोधी प्रतीत होता है।" अश्वत्थामा बोला, "और गुरु परशुराम के साथ जो व्यवहार इसने किया है, वह किसी भी नैतिक मूल्य के अनुकूल है क्या?"

"गुरु-पुत्र!" दुर्योधन बोला, "नैतिकता अपने स्थान पर होती है और

आकांक्षा अपने स्थान पर। तुम इसे इस प्रकार समझो कि यदि मैं धर्म-अधर्म, विधि-विधान तथा दूसरों की इच्छा-अनिच्छा के चक्र में पड़ा तो हस्तिनापुर का राज्य मुझे कभी नहीं मिल सकता—किंतु यह राज्य मुझे प्राप्त करना ही है। नियमों का पालन तो वे करते हैं, जो असमर्थ होते हैं। जो हाथ बढ़ाकर वस्तु प्राप्त कर सकता है, वह नियम नहीं बनाता। तुम तो इतना ही सोचो," दुर्योधन ने उसका कंधा थपथपाया, "कर्ण का बल, सामर्थ्य और अधिकार जितना बढ़ेगा, पांडवों के शत्रु उतने ही प्रबल होंगे। वह कभी पांडवों का मित्र नहीं हो सकता। हमें पांडवों के विरुद्ध एक शस्त्र प्राप्त हो रहा है, तो हम उससे स्वयं को वंचित क्यों करें। मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ कि अब, जब कर्ण आ गया है तो रंगशाला में पांडवों का गौरव-गान संभव नहीं हो पाएगा।"

13

द्रोण का रथ, रंगशाला की निर्माणस्थली की ओर जा रहा था और आचार्य भविष्य के स्वप्नों में खोए हुए थे। उन्हें लग रहा था कि यह हस्तिनापुर के राजकुमारों के कला-कौशल के प्रदर्शन की स्थली नहीं—यहाँ उनके अपने जीवन के स्वप्नों की अट्टालिका का प्रत्यक्ष निर्माण हो रहा था।

हस्तिनापुर आने से पूर्व उनको सदा यही लगा था कि वे स्वप्न ही देखते रहे हैं, उन्हें साकार कभी नहीं कर पाए। जाने ऐसा क्या था कि उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ जितनी ऊँची थीं, उनके साधन उतने ही सीमित थे। उन्हें लगता था कि विधाता ने उनके भाग्य में केवल आकांक्षाएँ ही लिखी हैं, उनकी पूर्ति नहीं। जिनके मन में आकांक्षाएँ नहीं थीं—वे अपने स्थान पर संतुष्ट थे। उन्हें अभाव की पीड़ा तो नहीं सालती थी। अपने विषय में सोच-सोचकर, आचार्य ने यही पाया था कि उनकी क्षमताओं और गुणों का कभी आदर नहीं हुआ। जो सम्मान उन्हें मिलना चाहिए था, वह उन्हें कभी नहीं मिला। विधाता की भी विचित्र लीला थी, जिन्हें गुण और क्षमताएँ दीं, उन्हें सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं दी; और जिन्हें सम्मान और प्रतिष्ठा दी, उनको कोई गुण नहीं दिया। कई बार वे सोच-सोचकर इतने चलित-चित्र हो जाते थे कि उन्हें यह जीवन, जीने योग्य नहीं लगता था···

उन्होंने सारथि को रथ रोकने का संकेत किया।

यहाँ से रंगशाला एक पूर्ण विहंगम दृश्य प्रस्तुत कर रही थी। यह आचार्य के आज तक के देखे गए स्वप्नों का मूर्त रूप था। जिस गति से इस रंगशाला का निर्माण होता जा रहा था, मानो उतनी ही गति से उनके स्वप्न अपनी पूर्णता की

और बंद रहे थे। अपने जीवन में पहले कभी उन्होंने सोचा भी नहीं था, कि मनुष्य के मन द्वारा देखे गए स्वप्न, की गई आकांक्षाएं, या हृदय में जन्मी याचनाएं, अपने सूक्ष्म संसार से निकलकर ऐसा ठोस और मूर्त रूप ग्रहण कर सकती हैं। आज अब क्या हुआ था कि उनका मानसिक संसार और यह भौतिक संसार मिलकर एक हो गए थे। उधर उनके मन में एक निराकार और निर्गुण इच्छा जन्म लेती थी और इधर ईंट और गारे में उसका आकार स्पष्ट होने लगता था। कितनी सुविधा से उनकी इच्छाएँ पूरी हो रही थीं।...

उन्होंने सारथि को चलने का संकेत किया।

उनका रथ अब ढाल पर से नीचे उतर रहा था।...और सहसा उनका मन भी जैसे उल्लास के शिखर से अवसाद की ढाल पर चल पड़ा।...और कौन-सा ऐसा ऋषि, गुरु अथवा आचार्य था, जिसे इस प्रकार अपनी आजीविका के लिए किसी राजकुल में शरण लेनी पड़ी हो। आर्यों का आदर्श यही रहा है कि गुरु अपने मनोनुकूल स्थान पर अपना आश्रम स्थापित करके रहता है। शिष्य उसके पास आते हैं। किरीटधारी राजा, उसके चरणों में सिर झुकाते हैं। उसकी इच्छाओं को जानकर, उनकी पूर्ति कर स्वयं को धन्य मानते हैं।... उनके समान कौन-सा ऋषि अपनी तपस्या-भूमि को छोड़कर राजाओं की ड्योढ़ी पर आया, जैसे वे गुरु न हों, उन राजकुमारों के पिता द्वारा नियुक्त एक साधारण कर्मचारी हों। गुरु और राजकर्मचारी में बहुत अंतर है...शायद इसीलिए आज तक किसी ने उन्हें ऋषि द्रोण कहकर नहीं पुकारा, वे आचार्य द्रोण ही कहलाए। उनमें ऋषि का चरित्र, ज्ञान, साधना ' कुछ नहीं है—वे तो मात्र अपने विषय में पारंगत विद्वान् हैं। मात्र अपना विषय जानते हैं, उसके परे उनके ज्ञान का, उनकी साधना का कोई अस्तित्व नहीं ?...

उनका मन जैसे खिन्न होकर उनसे पूछ रहा था कि क्या यह आवश्यक था कि मनुष्य सफलता पाने के लिए, अपना स्तर नीचे गिराए ? साधारण व्यक्ति के समान, साधारण लोगों के साथ लेन-देन का व्यापार करे ? क्या लौकिक सफलता के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी अंतरात्मा का व्यापार करे ? क्या यह संभव नहीं है कि व्यक्ति अपना कार्य करता रहे, उसमें उन्नति करे, मौलिकता तथा श्रेष्ठता लाए; और कोई अन्य व्यक्ति उसकी ग्रीवा में माला पहनाने के लिए पुष्प चुनता रहे ? क्या यह आवश्यक है कि अपनी ग्रीवा में माला पहनने के लिए हम स्वयं ही पुष्प उपलब्ध कराएं ? चाहे अपनी वाटिका में उगाएं अथवा हाट से क्रय करके लाएं ? द्रोण ने तो कभी नहीं चाहा था कि राजसभाओं में उनकी जयजयकार हो, वे स्वर्ण के सिंहासनों पर बैठें और उनके आगे-पीछे सशस्त्र प्रहरी मस्तक झुकाकर उनका अभिवादन करें। किंतु पता नहीं विधाता का विधान ऐसा है, या समाज का निर्माण कि वह साधक को उसकी साधना से विचलित करके

ही पुरस्कृत करता है।···और जैसे द्रोणाचार्य का मन अपने ही विचार पर अटक गया—साधक को साधना से विचलित करके ही समाज पुरस्कृत करता है··· साधना···विचलन···और पुरस्कार···

द्रोण की कल्पना में एक बिंब उभरा···एक मानव मूर्ति पद्मासन लगाए, ध्यान कर रही है।·· पहले तो उसका अपना मन ही नहीं सधता। वह चंचल बालक के समान इधर-उधर भागता है। साधक उसे अनुशासित करता है। फिर उसका तन उसे विचलित करने का प्रयत्न करता है। कहीं पीड़ा है, कहीं कष्ट; कहीं रोग है, कहीं असुविधा···। जब साधक उसकी भी उपेक्षा कर जाता है, तो कोई देवमूर्ति अवतरित होती है—'तुझे क्या चाहिए साधक ? मुझसे कुछ माँग ले और अपनी साधना छोड़ दे। कुछ माँग ले और साधना छोड़ दे।···'

यह संसार साधना से इतना भयभीत क्यों है ? क्यों वह साधक को अपने मार्ग पर नहीं जाने देता ?···द्रोण को अपनी साधना-स्थली में एक गाय मिल गई होती, तो द्रोण क्यों आते इस हस्तिनापुर में ?···जाने क्यों विधाता ने नहीं चाहा कि वे गुरु बनकर अपने आश्रम में रहें, उन्हें आचार्य बनाकर राजसभा में ला पटका। अपने आश्रम में एक गाय नहीं दी और यहाँ पूरी गोशाला दे दी, राजसी भवन दे दिया। वस्त्र और आभूषण दे दिए।···किंतु ऋषि को राजकर्मचारी बना दिया। वह राजकर्मचारी अब अपने प्रभुओं को दिखाना चाहता है कि वे देखें कि उनके निष्ठावान सेवक ने उनका कार्य कितनी निष्ठा से किया है। वे उससे प्रसन्न हों, उसका साधुवाद करें, सार्वजनिक रूप से उसकी प्रशंसा करें, उसे पुरस्कृत करें, उसको धन-धान्य दें···क्या यशस्वी आचार्य बनाने के लिए एक ऋषि का यह अधःपतन अनिवार्य है ?···

और सहसा द्रोण के भीतर से किसी ने चीत्कार किया, "नहीं ! ऐसा नहीं है। सामने निर्माणाधीन यह रंगशाला उनके पतन की प्रतीक नहीं है। यह उनके स्वप्नों की पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग है। यह प्रथम सोपान है, उनके उत्थान का, ऊपर उठने का ! इस रंगशाला में जब उनके द्वारा प्रशिक्षित योद्धा अपनी क्षमताओं का प्रदर्शन करेंगे, तो आर्यावर्त्त में ही नहीं, संपूर्ण जंबूद्वीप में उनकी जयजयकार होगी। उनकी कीर्तिपताका हिमालय के ऐसे शिखर पर लहराएगी, जहाँ से सारा संसार उसे देखेगा। सारे जंबूद्वीप के राजवंश आकर उनके चरणों में भेंट जाएँगे कि वे उनकी राजधानी में पधारकर उनको कृतार्थ करें। उनके राजकुमारों को प्रशिक्षित करें। उनकी सेनाओं के नेता बनें···तब कौन-सा अभाव रह जाएगा द्रोण को ? ऐसी कौन-सी वस्तु होगी, जो उनकी इच्छा होने पर, लाकर उनके चरणों में प्रस्तुत नहीं कर दी जाएगी ?···

किंतु यह अर्जुन की भूख, प्राप्ति की तृष्णा···यह उनका उत्थान है या पतन ? व्यक्ति का विकास संचय से होता है या संचय-मुक्ति से ?···वे तो अपने विकास

के मार्ग पर आगे बढ़े थे। मानव की सीमाओं का अतिक्रमण कर वे पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहे थे।...मानव की मृग-तृष्णाओं के जाल में उलझकर सर्वग्रासिनी मुमुक्षा, कभी तृप्त न होने वाली पिपासा की अंधी दौड़ में उलझकर अंततः थक-हारकर हाँफते हुए, चिर तृषित सूखी जिह्वा को बाहर निकाले हुए पराजित हो, मृत्यु की गोद में गिर पड़ने को तो उन्होंने अपना लक्ष्य नहीं बनाया था।...तो फिर इस रंगशाला और उसमें अपना कौशल दिखाने वाले राजकुमारों की सफलता से उन्हें क्या मिलने जा रहा है? ..

उन्होंने अपनी साधना की पूर्णता में ज्ञान नहीं पाया; उन्होंने तो अभी मात्र एक विद्या पाई थी—धनुर्विद्या; या फिर युद्ध-विद्या...और उसका भी उन्होंने व्यापार कर डाला! उस विद्या के विक्रय से मिला है, उन्हें यह आचार्य-पद...

द्रोण का रथ आकर रंगशाला के द्वार पर रुक गया।

वे रथ से उतरकर आगे बढ़े ही थे कि अश्वत्थामा ने आकर उन्हें प्रणाम किया।

"पुत्र, तुम!" द्रोण कुछ चकित हुए, "तुम यहाँ क्या कर रहे हो?"

"रंगशाला का निर्माण देखने चला आया था पिताजी!" अश्वत्थामा बोला, "अब तो इसका निर्माण लगभग पूरा होने जा रहा है।"

द्रोण हँसे, "इसके निर्माण में तुम्हारी भी रुचि है?"

"हाँ पिताजी!"

"कारण?"

अनिर्णय में अश्वत्थामा थोड़ी देर मौन रहा; फिर जैसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर बोला, "मुझे लगता है कि मेरा अपना भविष्य भी इसी रंगशाला के साथ जुड़ा हुआ है।..."

"तुम 'हमारा' न कहकर, 'मेरा' भविष्य कह रहे हो वत्स!"

"हाँ, पिताजी!"

"पर केवल तुम्हारा ही क्यों?"

अश्वत्थामा चुपचाप कुछ सोचता रहा और फिर बहुत सावधानी से बोला, "कदाचित् मैंने उपयुक्त शब्दों का चयन नहीं किया। मुझे कहना चाहिए था कि हम सबका भविष्य इसी रंगशाला से जुड़ा हुआ है; किंतु मैं केवल अपने ही भविष्य के लिए चिंतित हूँ।"

"तुम्हारी बात स्पष्ट नहीं है पुत्र!" द्रोण बोले, "मेरी दृष्टि में यह रंगशाला मात्र यह प्रमाणित करेगी कि पिछले कुछ वर्षों में मैंने अपने शिष्यों पर कितना श्रम किया है। उसमें अनिश्चय कोई नहीं है। प्रमाण मेरे पास है, मैं केवल उसे प्रकट अथवा प्रदर्शित कर रहा हूँ। इसमें ऐसा कुछ नहीं होने जा रहा, जिस पर भविष्य में होने वाली हमारी सफलता अथवा असफलता निर्भर करे।"

अश्वत्थामा ने आज पहली बार पिता को इस दृष्टि से देखा था, जिसमें पिता

ही पुरस्कृत करता है।...और जैसे द्रोणाचार्य का मन अपने ही विचार पर अटक गया—साधक को साधना से विचलित करके ही समाज पुरस्कृत करता है... साधना...विचलन...और पुरस्कार...

द्रोण की कल्पना में एक बिंब उभरा...एक मानव मूर्ति पद्मासन लगाए, ध्यान कर रही है।... पहले तो उसका अपना मन ही नहीं सधता। वह चंचल बालक के समान इधर-उधर भागता है। साधक उसे अनुशासित करता है। फिर उसका तन उसे विचलित करने का प्रयत्न करता है। कहीं पीड़ा है, कहीं कष्ट; कहीं रोग है, कहीं असुविधा...। जब साधक उसकी भी उपेक्षा कर जाता है, तो कोई देवमूर्ति अवतरित होती है—'तुझे क्या चाहिए साधक ? मुझसे कुछ माँग ले और अपनी साधना छोड़ दे। कुछ माँग ले और साधना छोड़ दे।...'

यह संसार साधना से इतना भयभीत क्यों है ? क्यों वह साधक को अपने मार्ग पर नहीं जाने देता ?...द्रोण को अपनी साधना-स्थली में एक गाय मिल गई होती, तो द्रोण क्यों आते इस हस्तिनापुर में ?...जाने क्यों विधाता ने नहीं चाहा कि वे गुरु बनकर अपने आश्रम में रहें, उन्हें आचार्य बनाकर राजसभा में ला पटका। अपने आश्रम में एक गाय नहीं दी और यहाँ पूरी गोशाला दे दी, राजसी भवन दे दिया। वस्त्र और आभूषण दे दिए।...किंतु ऋषि को राजकर्मचारी बना दिया। वह राजकर्मचारी अब अपने प्रभुओं को दिखाना चाहता है कि वे देखें कि उनके निष्ठावान सेवक ने उनका कार्य कितनी निष्ठा से किया है। वे उससे प्रसन्न हों, उसका साधुवाद करें, सार्वजनिक रूप से उसकी प्रशंसा करें, उसे पुरस्कृत करें, उसको धन-धान्य दें...क्या यशस्वी आचार्य बनाने के लिए एक ऋषि का यह अधःपतन अनिवार्य है ?...

और सहसा द्रोण के भीतर से किसी ने चीत्कार किया, "नहीं ! ऐसा नहीं है। सामने निर्माणाधीन यह रंगशाला उनके पतन की प्रतीक नहीं है। यह उनके स्वप्नों की पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग है। यह प्रथम सोपान है, उनके उत्थान का, ऊपर उठने का ! इस रंगशाला में जब उनके द्वारा प्रशिक्षित योद्धा अपनी क्षमताओं का प्रदर्शन करेंगे, तो आर्यावर्त्त में ही नहीं, संपूर्ण जंबूद्वीप में उनकी जयजयकार होगी। उनकी कीर्तिपताका हिमालय के ऐसे शिखर पर लहराएगी, जहाँ से सारा संसार उसे देखेगा। सारे जंबूद्वीप के राजवंश आकर उनके चरणों में भेंट जाएँगे कि वे उनकी राजधानी में पधारकर उनको कृतार्थ करें। उनके राजकुमारों को प्रशिक्षित करें। उनकी सेनाओं के नेता बनें...तब कौन-सा अभाव रह जाएगा द्रोण को ? ऐसी कौन-सी वस्तु होगी, जो उनकी इच्छा होने पर, लाकर उनके चरणों में प्रस्तुत नहीं कर दी जाएगी ?...

किंतु यह अर्जुन की भूख, प्राप्ति की तृष्णा...यह उनका उत्थान है या पतन ? व्यक्ति का विकास संचय से होता है या संचय-मुक्ति से ?...वे तो अपने विकास

के मार्ग पर आगे बढ़े थे। मानव की सीमाओं का अतिक्रमण कर वे पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहे थे।···मानव की मृग-तृष्णाओं के जाल में उलझकर सर्व-ग्रासिनी मुमुक्षा, कभी तृप्त न होने वाली पिपासा की अंधी दौड़ में उलझकर अंततः थक-हारकर हाँफते हुए, चिर तृषित सूखी जिह्वा को बाहर निकाले हुए पराजित हो, मृत्यु की गोद में गिर पड़ने को तो उन्होंने अपना लक्ष्य नहीं बनाया था।···तो फिर इस रंगशाला और उसमें अपना कौशल दिखाने वाले राजकुमारों की सफलता से उन्हें क्या मिलने जा रहा है ?··

उन्होंने अपनी साधना की पूर्णता में ज्ञान नहीं पाया; उन्होंने तो अभी मात्र एक विद्या पाई थी—धनुर्विद्या; या फिर युद्ध-विद्या···और उसका भी उन्होंने व्यापार कर डाला ! उस विद्या के विक्रय से मिला है, उन्हें यह आचार्य-पद···

द्रोण का रथ आकर रंगशाला के द्वार पर रुक गया।

वे रथ से उतरकर आगे बढ़े ही थे कि अश्वत्थामा ने आकर उन्हें प्रणाम किया।

"पुत्र, तुम !" द्रोण कुछ चकित हुए, "तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"रंगशाला का निर्माण देखने चला आया था पिताजी !" अश्वत्थामा बोला, "अब तो इसका निर्माण लगभग पूरा होने जा रहा है।"

द्रोण हँसे, "इसके निर्माण में तुम्हारी भी रुचि है ?"

"हाँ पिताजी !"

"कारण ?"

अनिर्णय में अश्वत्थामा थोड़ी देर मौन रहा; फिर जैसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर बोला, "मुझे लगता है कि मेरा अपना भविष्य भी इसी रंगशाला के साथ जुड़ा हुआ है।···"

"तुम 'हमारा' न कहकर, 'मेरा' भविष्य कह रहे हो वत्स !"

"हाँ, पिताजी !"

"पर केवल तुम्हारा ही क्यों ?"

अश्वत्थामा चुपचाप कुछ सोचता रहा और फिर बहुत सावधानी से बोला, "कदाचित् मैंने उपयुक्त शब्दों का चयन नहीं किया। मुझे कहना चाहिए था कि हम सबका भविष्य इसी रंगशाला से जुड़ा हुआ है; किंतु मैं केवल अपने ही भविष्य के लिए चिंतित हूँ।"

"तुम्हारी बात स्पष्ट नहीं है पुत्र !" द्रोण बोले, "मेरी दृष्टि में यह रंगशाला मात्र यह प्रमाणित करेगी कि पिछले कुछ वर्षों में मैंने अपने शिष्यों पर कितना श्रम किया है। उसमें अनिश्चय कोई नहीं है। प्रमाण मेरे पास है, मैं केवल उसे प्रकट अथवा प्रदर्शित कर रहा हूँ। इसमें ऐसा कुछ नहीं होने जा रहा, जिस पर भविष्य में होने वाली हमारी सफलता अथवा असफलता निर्भर करे।"

अश्वत्थामा ने आज पहली बार पिता को इस दृष्टि से देखा था, जिसमें पिता

के प्रति चाहे अवमानना न हो, किंतु उनकी प्रज्ञा की अवज्ञा अवश्य थी, "पिताजी ! क्या आप नहीं देख रहे कि इस रंगशाला में ही निर्णय होगा कि हस्तिनापुर का भावी सम्राट् कौन है ?"

द्रोण ने कौतुक से अपने पुत्र को इस दृष्टि से देखा, जैसे कोई वयोवृद्ध व्यक्ति निपट बालक को देखता है, जिसमें व्यक्त रूप से बालक को यह विश्वास दिला दिया जाता है कि उससे अधिक बुद्धिमान कोई नहीं है, जबकि मन-ही-मन वह जानता है कि बालक अपनी मूर्खता में ही स्वयं को बुद्धिमान समझ रहा है, "अच्छा ! मैंने तो इस रंगशाला को कभी इस दृष्टि से देखा ही नहीं ! तुम्हें यह किसने कहा पुत्र !"

"दुर्योधन ऐसा ही मानता है !"

द्रोण गंभीर हो गए : यह अश्वत्थामा के बालपन की कल्पना नहीं थी, यह दुर्योधन का कोई षड्यंत्र था।...उन्होंने अपनी भुजा फैलाकर अश्वत्थामा को उसमें समेट लिया, "आओ मेरे साथ। हम दोनों मिलकर तनिक निरीक्षण कर लें कि रंगशाला का कितना निर्माण हो चुका है।" और रंगशाला में प्रवेश कर, उन्होंने कहा, "अब यह बताओ कि दुर्योधन ऐसा क्यों मानता है कि इस रंगशाला में ही इसका निर्णय होगा कि हस्तिनापुर का भावी सम्राट् कौन होगा ? यहाँ कोई प्रतिस्पर्धा तो होगी नहीं कि प्रथम आने वाले को हस्तिनापुर का राज्य पारितोषिक स्वरूप दिया जाएगा। न ही हस्तिनापुर किसी राजकुमारी का नाम है, जिसका यहाँ स्वयंवर हो रहा है, और जो उस महोत्सव में अपने प्रिय की ग्रीवा में जयमाला डाल देगी।"

अश्वत्थामा को पिता के स्वर में अपने प्रति उपहास का आभास हुआ, "आप इसे सत्य नहीं मानते ?"

"सत्य मान लेने के लिए कारण जानना चाहता हूँ।"

"दुर्योधन कहता है कि चाहे यहाँ प्रतिस्पर्धा न हो और चाहे यह रण-क्षेत्र न हो, किंतु यह निर्णय तो यहाँ हो ही जाएगा कि हममें से सर्वश्रेष्ठ योद्धा कौन है; और साथ-साथ यह भी प्रमाणित होगा कि धृतराष्ट्र के पुत्र अधिक बलशाली हैं अथवा पांडव कहलाने वाले, ये कुंती तथा माद्री के पुत्र !"

"तो ?" द्रोण उससे और भी स्पष्ट कहलवाना चाह रहे थे, "यदि यह प्रमाणित हो गया कि अर्जुन सर्वश्रेष्ठ योद्धा है, तो क्या अर्जुन को युवराज घोषित कर दिया जाएगा ?..."

"नहीं !" अश्वत्थामा बोला, "केवल सर्वश्रेष्ठ योद्धा घोषित होने से कुछ नहीं होगा। सर्वश्रेष्ठ योद्धा तो एक व्यक्ति ही होगा; किंतु यहाँ दो दल हैं : एक धृतराष्ट्र के पुत्र और दूसरे पांडु के पुत्र ! यदि पांडव अधिक बलशाली प्रमाणित हुए, तो युधिष्ठिर को युवराज बनना ही है; किंतु यदि यह प्रमाणित हो गया कि

धृतराष्ट्र के पुत्रों की ओर अधिक बल है, तो महाराज धृतराष्ट्र अपने ज्येष्ठ पु
दुर्योधन को युवराज घोषित कर देंगे।"

"बड़ा तो युधिष्ठिर है।" द्रोण बोले।

"हुआ करे।"

"राज्य युधिष्ठिर के पिता का है।"

"तो क्या !" अश्वत्थामा बोला, "दुर्योधन कहता है, राज्य उसका है,
उस पर अधिकार जमा सके !"

"बल द्वारा अधिकृत राज्य स्थायी नहीं होता।" द्रोणाचार्य बोले, "रा
नीति के मूल में भी नीति की आवश्यकता है।"

"दुर्योधन यह नहीं मानता।" अश्वत्थामा बोला, "वह मानता है कि रा
नीति बल के आधार पर चलती है। शासन का मूल रहस्य ही शक्ति है।"

"और यह सब उसने किससे सीखा है ?"

"अपने मामा शकुनि और कूटनीति के आचार्य कणिक से !"

द्रोण थोड़ी देर तक मौन चिंतन करते रहे। अंततः बोले, "चलो मान लि
कि उस दिन यह निर्णय भी हो जाएगा कि हस्तिनापुर का भावी सम्राट् क
होगा, किंतु उससे हमारे भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?"

अश्वत्थामा ने भी तत्काल उत्तर नहीं दिया, जैसे वह जानता तो हो कि
क्या कहना है; किंतु यह निर्णय नहीं कर पा रहा हो कि किन शब्दों में कहना

"तुमने बताया नहीं पुत्र ! कि हमारे भविष्य पर उसका क्या प्रभ
पड़ेगा ?" द्रोण ने पुनः पूछा, "मेरे लिए दोनों ही समान हैं। युधिष्ठिर सम्र
हो या दुर्योधन दोनों ही मेरे शिष्य हैं।"

"मैंने आपके नहीं, अपने भविष्य की बात कही थी।" अश्वत्थामा तत्क
बोला।

"तुम्हारा भविष्य मुझसे पृथक् है क्या ?"

इस बार भी अश्वत्थामा को अपने द्वंद्व में से निकलने में कुछ निमिष ल
"है तो नहीं; किंतु हो सकता है।"

"कैसे ?"

"आपका सर्वप्रिय शिष्य है अर्जुन; और मेरा मित्र है दुर्योधन ! यदि ह
दोनों अपने-अपने पक्षों पर अड़े रहे, तो हमारा भविष्य एक-दूसरे से पृथक् भी ह
सकता है और भिन्न भी।"

इस बार अश्वत्थामा की बात को द्रोण, बालक की वाचालता मान, उसक
उपेक्षा नहीं कर सके। उसमें तरुणाई का आवेग था—विचार हो न हो, ह
अवश्य था; और विचार कार्यान्वित हो या न हो, हठ तो कार्यान्वित होता ह
है।

"हमारे लिए इन दोनों में से किसी एक का पक्ष ग्रहण करना आवश्यक क्यों है पुत्र ? क्या हम तटस्थ नहीं रह सकते ?"

अश्वत्थामा को कहने में कुछ संकोच अवश्य था, यह तथ्य उसके कपोलों की लालिमा से स्पष्ट था; किंतु फिर भी प्रयत्नपूर्वक वह कह ही गया, जैसे अपने पिता के सम्मुख बोलने के संकोच को हठपूर्वक तोड़, अपने वयस्क हो जाने का प्रमाण दे रहा हो, "राजनीति में या तो पक्ष होता है या विपक्ष। तटस्थता, राजनीति में होती ही नहीं। जो हमारे पक्ष में नहीं है, वह विपक्षी ही है।"

"यह भी क्या दुर्योधन कहता है ?"

"नहीं ! यह मंत्री कणिक कहते हैं।"

द्रोण की गंभीरता कुछ अधिक गहरी हो गई, "लगता है, जितना ज्ञान तुमने मुझसे ग्रहण किया है, उससे कहीं अधिक तुमने कणिक और दुर्योधन से ग्रहण किया है।"

"आप युद्ध-विद्या के आचार्य हैं पिताजी ! व्यावहारिक राजनीति के नहीं !"

"जिस राजनीति की तुम चर्चा कर रहे हो, वह मनुष्य की हीन वृत्ति पर टिकी हुई है, अतः पशुबल को एकमात्र सत्य मानती है। उससे मानव का कल्याण नहीं हो सकता।" द्रोण के स्वर में पहली बार कुछ आवेश झलका, "और यदि बल से ही निर्णय होना है, तो सुन लो अश्वत्थामा ! मैं आज ही निर्णय कर देता हूँ कि सर्वश्रेष्ठ योद्धा अर्जुन ही प्रमाणित होगा और शक्ति की दृष्टि से भी पांडव ही भारी पड़ेंगे।..."

अश्वत्थामा ने पिता की ओर इस प्रकार देखा, जैसे कोई समझदार वयस्क, अबोध बालक की ओर देखता है, "क्या आपको ज्ञात है कि कर्ण हस्तिनापुर में लौट आया है ?"

इस सर्वथा असंबद्ध प्रश्न को सुनकर द्रोण चौंके, "तो ?"

"वह गुरु परशुराम से धनुर्विद्या सीखकर आया है; और वह रंगशाला में अर्जुन को चुनौती देगा !"

"गुरु परशुराम !" द्रोण चौंके, "किंतु गुरु परशुराम तो मात्र ब्राह्मण कुमारों को धनुर्विद्या सिखाते हैं।..."

"उसने स्वयं को ब्राह्मण-पुत्र बताकर ही यह शिक्षा ग्रहण की है।" अश्वत्थामा का मस्तक संकोच से नत हुआ; किंतु अगले ही क्षण जैसे उसने सायास अपना मस्तक ऊँचा उठा लिया, "किंतु उससे क्या ! धनुर्विद्या तो वह सीख ही आया है।..."

"मैं उसे रंगशाला में राजकुमारों के समकक्ष अपनी कला का प्रदर्शन करने की अनुमति नहीं दूँगा।" द्रोण बोले, "यह हस्तिनापुर के राजकुमारों की विद्या-प्रदर्शन की रंगशाला है, कोई सार्वजनिक प्रदर्शनशाला नहीं, जहाँ कोई भी आकर

किसी को ललकार सके।···

अश्वत्थामा हतप्रभ रह गया : यह तो उसने सोचा ही नहीं था। यदि पिता उसे अनुमति ही नहीं देंगे, तो वह अर्जुन को चुनौती कैसे देगा ? और यदि वह अर्जुन को चुनौती ही नहीं दे पाया तो निश्चित रूप से अर्जुन ही सर्वश्रेष्ठ योद्धा प्रमाणित होगा। · ऐसे में दुर्योधन की इच्छा···और यदि युधिष्ठिर हस्तिनापुर का युवराज बना···

"पिताजी !"

"हाँ, पुत्र !"

"आप मुझे इच्छापूर्ति का वरदान देंगे ?"

द्रोण ने पुत्र को पितृ-स्नेह की दृष्टि से देखा : कोई पिता अपने पुत्र को कैसे कह सकता था कि वह उसे इच्छापूर्ति का वरदान नहीं देगा···

"आपने मेरे सुख के लिए अपनी साधना-स्थली छोड़ी थी पिताजी ! माँ तथा मातुल दोनों ही कहते हैं कि आपको संसार में मुझसे अधिक प्रिय और कोई नहीं है, कुछ नहीं है···।"

"तुम्हारी माँ तथा मातुल ठीक कहते हैं पुत्र !"

"तो पिताजी ! मेरी यह इच्छा पूरी होने दीजिए। आपने कर्ण को शिक्षा नहीं दी; एकलव्य का अँगूठा गुरु-दक्षिणा में ले लिया। आपने अर्जुन को अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अब आप उसकी परीक्षा होने दीजिए। कर्ण आपके गुरु की पीठ से विद्या अर्जित करके आया है। उसे अर्जुन के साथ स्पर्धा करने दीजिए। उसकी भी परीक्षा हो जाएगी पिताजी ! और आपकी भी।···"

द्रोण के मन में भयंकर द्वंद्व चल रहा था।

"पिताजी ! यदि आपने कर्ण को रोक दिया तो मैं समझूँगा कि एक तो आपको गुरु के रूप में अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं है, और दूसरे, पिता के रूप में आपको मुझसे प्रेम नहीं है।···"

द्रोण को लगा कि पिता के रूप में उनके मन ने अपने घुटने टेक दिए हैं··· और गुरु के रूप में उनका अहंकार कुछ और भी स्फीत हो गया है। उनका मन भी यही यह इच्छा करने लगा है कि अर्जुन और कर्ण की स्पर्धा हो जाए। सारा संसार अपनी आँखों से देख ले कि गुरु के रूप में द्रोण क्या हैं। गुरु परशुराम से भी अधिक समर्थ !···और यह सूतपुत्र कर्ण भी देख ले कि प्रवंचना से पाई गई विद्या से कोई कितना वीर हो सकता है··

"पिताजी !" अश्वत्थामा पुनः बोला, "क्या आप मुझे इच्छापूर्ति का वरदान नहीं देंगे ?"

द्रोण ने जैसे अपनी आँखों में सारा वात्सल्य ढालकर पूछा, "और यदि इस

स्पर्धा में अर्जुन विजयी हुआ, तो पुत्र ?"

अश्वत्थामा क्षण-भर अवाक् खड़ा रह गया, जैसे इस संभावना पर तो उसने कभी विचार ही नहीं किया था।

"अब मुझे कहने दो पुत्र ! कि तुम्हें अपने पिता की क्षमताओं पर तनिक भी विश्वास नहीं है। तुम यह पहले ही स्वीकार कर चुके हो कि तुम्हारे पिता का शिष्य पराजित ही होगा···।"

"नहीं पिताजी !" अश्वत्थामा ने स्वयं को सँभाला, "मुझे अर्जुन प्रिय नहीं है। वह बहुत आत्मकेंद्रित लगता है; मुझे। फिर भी मैं आपको वचन देता हूँ कि यदि अर्जुन विजयी हुआ तो मैं दुर्योधन का पक्ष छोड़ पांडवों का मित्र बन जाऊँगा। आप कर्ण और अर्जुन की प्रतियोगिता होने दें।···"

द्रोण मन-ही-मन अपना ही ताना-बाना बुन रहे थे···यदि यह अनुमति दे देते हैं तो उनका पुत्र उनसे प्रसन्न होगा; और उनका शिष्य, गुरु परशुराम के शिष्य को पराजित कर, उनकी कीर्ति का ध्वज और भी ऊँचाई पर फहरा आएगा। · उनकी इसमें हानि ही कहाँ है।···एक स्पर्धा की अनुमति मात्र दे देने से उन्हें गुरु परशुराम पर विजय प्राप्त हो रही है···

'और यदि अर्जुन पराजित हुआ ?' उनके मन के किसी कोने में से स्वर उठा।

'असंभव !' द्रोण का संपूर्ण व्यक्तित्व चीत्कार कर उठा।

"पिताजी !"

"तुम्हारी इच्छा पूरी हो पुत्र !" द्रोण धीरे से बोले, "कर्ण तथा अर्जुन की स्पर्धा में मैं बाधा नहीं बनूँगा।"

अश्वत्थामा को लगा, यदि उसने स्वयं को बलात् नहीं रोका तो वह छोटे-से किसी शिशु के समान अपने पिता से लिपट जाएगा।···

14

भीष्म को लगा, उनके मन में जैसे क्षोभ और हताशा का उदय एक ही साथ हुआ है; और यह निर्णय करना, उनके लिए भी कठिन हो रहा है कि उन्हें दुख अधिक है या क्रोध।···

कहाँ वे यह सोच रहे थे कि एक लंबी प्रतीक्षा के पश्चात् आज वह दिन आया है कि एक सौ पाँच कुरु राजकुमार अपनी शिक्षा और प्रशिक्षण पूर्ण कर, अपने गुरु का आशीर्वाद पाएँगे। अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के नेतृत्व में, वे लोग

हस्तिनापुर के राज्य का दायित्व सँभालेंगे। उनके परामर्श के लिए धृतराष्ट्र और विदुर होंगे···और भीष्म अपने दायित्व को पूरा हुआ देख, अपनी मुक्ति की बात सोचेंगे···और यहाँ अपने गुरुओं और कुल-वृद्धों को प्रणाम करने के लिए भी वे एक सौ पाँच इकट्ठे नहीं आए, वे पाँच पृथक् और सौ पृथक् ही आए। अपनी माताओं को प्रणाम करने वे पृथक्-पृथक् जाते तो भीष्म उसका कारण समझ सकते थे; किंतु अपने गुरु द्रोण को भी, वे उनके शिष्यों के रूप में नहीं, पांडवों और धार्तराष्ट्रों के रूप मे ही प्रणाम करेंगे? अपने पितामह को प्रणाम करने के लिए भी वे पृथक्-पृथक् ही आएँगे?···यदि अपने गुरु और पितामह को प्रणाम करने के लिए, उनके आशीर्वाद और स्नेह की छाया मे वे एक साथ मिलकर खड़े नहीं हो सकते, तो हस्तिनापुर के शत्रुओं से लड़ने के लिए वाणों की बौछार मे वे गजों, अश्वों और रथों के अभियान के सम्मुख एक साथ कैसे खड़े होंगे?

भीष्म, जिनके कंधों पर कुरु-राज्य का भार रखना चाहते हैं, वे कंधे तो मिलकर एक साथ खड़े ही नहीं हो रहे; कहीं ऐसा न हो कि बाहर के आक्रमणकारियों की आवश्यकता ही न पड़े, ये स्वयं ही परस्पर एक-दूसरे के शत्रु होकर हस्तिनापुर की जड़ें हिला दें।···

भीष्म को लगा, अपने जीवन-भर के प्रयत्न को इस प्रकार निष्फल होते देख, उनका मन हताशा की अथाह गहराइयों में डूबा जा रहा है।···किंतु अगले ही क्षण उन्होंने अपने मन को सँभाला···इस प्रकार हताश होने से क्या होगा। जो कुछ उन्होंने चाहा, वह नहीं हुआ; तो अब जो है, उसमे से वे क्या चाहते हैं? सृष्टि उनकी इच्छा के अनुसार तो नहीं चलेगी।···सृष्टि की इच्छा के भीतर ही उनको अपनी इच्छा चुननी पड़ेगी।··

कुरु राजकुमार प्रणाम करके जा चुके थे; और रिक्त रंग-वेदी, चारों ओर दीर्घाओं में बैठे हुए लोगों के कोलाहल से घिरी हुई जैसे राजकुमारों के पुनरागमन की प्रतीक्षा कर रही थी।···भीष्म की दृष्टि चारों ओर घूमने लगी: हस्तिनापुर की नगर-प्राचीर के बाहर का यह समतल क्षेत्र था। भूमि के चुनाव से लेकर, उसकी योजना और निर्माण का सारा कार्य स्वयं द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा विदुर ने मिलकर किया था। सत्य ही, कुछ लोग जुटकर निर्माण करने पर आएँ तो कैसी-कैसी अच्छी वस्तुओं का निर्माण हो जाता है। और प्रतिभाशाली व्यक्ति को अपना गुण प्रदर्शित करने के लिए, उचित मंच न मिले तो उसकी प्रतिभा कुंठित भी रह सकती है। इन लोगों ने कैसी सुंदर रंगशाला का निर्माण किया है, ताकि प्रत्येक राजकुमार को अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन का पूर्ण अवसर मिल सके। उसकी रंग-वेदी इस प्रकार बनाई गई है कि सारे अस्त्र-शस्त्रों के परिचालन का प्रदर्शन हो सके। धनुर्धर का अस्त्र-संचालन भी देखा जा सके और उसके लक्ष्यवेध को भी। सामूहिक प्रदर्शन के लिए व्यापक क्षेत्र भी उपलब्ध हो सके और बहुत दर्शक

गदा-संचालन जैसे द्वंद्व-युद्धों के लिए स्पर्धा-मंच भी। द्वंद्व के लिए मंच कुछ ऊँचे बनाए गए थे। अश्वों और रथों के दौड़ने के लिए मार्गों की भी व्यवस्था थी…

…और भीष्म ने अपना सारा जीवन जिस रंगशाला के निर्माण में लगाया था, वह रंगशाला उन्हें अब रणशाला बनती दिखाई दे रही थी…

भीष्म की दृष्टि किसी उद्देश्यहीन यायावर के समान इधर-उधर भटक रही थी।…दर्शकों के लिए बनाए गए मुख्य मंडप में धृतराष्ट्र के साथ के आसनों पर द्रोण और कृपाचार्य बैठे थे। उनके साथ बाह्लीक और सोमदत्त को स्थान दिया गया था। धृतराष्ट्र की दूसरी ओर विदुर और वे स्वयं थे। आगे के आसनों पर शकुनि और कणिक थे।…

भीष्म का मन वितृष्णा से भर उठता था : जिसको दिखाने के लिए यह सारा समारोह किया गया था, वह धृतराष्ट्र तो पूर्णतः अंधा था। प्रणाम करने आए राजकुमारों के विषय में विदुर ने बताया तो उसने एक ही प्रश्न किया था, 'इनमें से सबसे अधिक सुदर्शन क्या दुर्योधन है ?'…वैसे वह एक दिन में सहस्र बार कह देगा कि उसे पांडव भी उतने ही प्रिय हैं, जितना कि स्वयं दुर्योधन ! विचित्र विडंबना है, हस्तिनापुर का यह सम्राट् ! यह बाहर का दृश्य नहीं देख सकता और लोग इसके भीतर का दृश्य नहीं देख सकते। यद्यपि अब उसकी मनोवृत्ति समझने में किसी को भी कोई कठिनाई नहीं होती—किंतु यह 'ज्ञान-चक्षु' कभी निष्कपट नहीं हो सकता। इसकी मनोवृत्ति स्वार्थ की ओर इतनी अधिक प्रवृत्त है कि अब वह निष्पक्षता का ढोंग भी नहीं कर पाता। फिर उसने शकुनि और कणिक को अपने इतने निकट स्थान दे रखा है कि किसी भी सद्विचार के लिए उसके कान बधिर हो चुके हैं। आँखों से अंधा है तो कुछ भी देख नहीं पाता – न अच्छा, न बुरा ! अच्छा होता, कानों से भी कुछ न सुन पाता—न अच्छा, न बुरा। किंतु कानों को उसने कुछ इतना प्रतिबद्ध कर रखा है कि शकुनि तथा कणिक की सारी बातें वह सुन लेता है, किंतु विदुर की कोई बात उसके मस्तिष्क तक नहीं पहुँचती। या तो वह कानों के बाहर ही रह जाती है, या फिर कर्ण-गह्वरों में खो जाती है; और मस्तिष्क को तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाती।

सहसा भीष्म की दृष्टि दूसरे मंडप में बैठी हुई गांधारी पर जाकर रुकी।… कुरुकुल की वधू के रूप में इस गांधारी का चयन स्वयं भीष्म ने ही किया था। उनका स्वार्थ ही तो था…धृतराष्ट्र के लिए वधू की आवश्यकता है, तो उसे वधू मिलेगी ही। गंधार को हस्तिनापुर का आदेश मानना ही पड़ेगा; क्योंकि हस्तिनापुर शक्तिशाली राज्य था। किंतु भीष्म क्या जानते थे कि प्रकृति ने कैसी भूल-भुलैयां बना रखी है, इस सृष्टि में। यदि हस्तिनापुर इतना शक्तिशाली न होता, इस गांधार कन्या को प्राप्त करने में समर्थ न होता, तो क्या इस समय

कुछ अधिक सुखी न होता ?…क्या देखने आई है गांधारी इस समय ? युधिष्ठिर के जन्म का समाचार सुनकर उसने अपने हाथों प्रहार कर अपना गर्भ नष्ट कर देने का प्रयत्न किया था। ईर्ष्या का जो विष उस समय इसके मन में था, वह क्या आज दुर्योधन के ही समान, युवावस्था को प्राप्त नहीं हो गया होगा ? क्या आज भी यह कुंती के पुत्रों की हीनता और असमर्थता के विषय में सुनने के लिए ही यहां बैठी है ?

…और कुंती ! जाने कैसे वह अपनी सारी अवहेलना और गांधारी के अहंकार को झेलते हुए भी उसके पास बैठी, रंगशाला में घटित होने वाली समस्त घटनाओं के विषय में बता रही है।…भीष्म ने कुंती के विषय में जब कभी सोचा है, उन्हें उसकी सहिष्णुता और सहनशीलता पर आश्चर्य ही हुआ है। जाने कितनी गंभीर है यह नारी ! कितना विष पी सकती है यह और फिर भी सर्वथा अविचलित रह सकती है। भीष्म आज तक यह ही समझ नहीं पाए कि वह इतनी उदार और क्षमाशील है, अथवा वास्तविक क्षत्राणी के समान सिर झुकाए हुए, सब कुछ सहन करती हुई, केवल अवसर की प्रतीक्षा में है …

तभी राजकुमारों के रथों ने रंगशाला में प्रवेश किया। उनके हाथों में धनुष-बाण थे। वे रथ-संचालन, लक्ष्य-वेध तथा रथारूढ़-युद्ध का प्रदर्शन कर रहे थे।…भीष्म यह सोच-सोचकर आनंदित हो रहे थे कि ये सारे राजकुमार जब इसी प्रकार एक साथ किसी अभियान पर निकलेंगे अथवा युद्ध-क्षेत्र में जाएंगे तो संसार की कोई सेना उनके सामने ठहर नहीं पाएगी।…

राजकुमारों के रथ धूल उड़ाते हुए लौट गए।

इस बार आचार्य द्रोण ने खड्ग-प्रदर्शन के लिए राजकुमारों को पुकारा। सहदेव और दुःशासन अपने-अपने अश्वों पर, खड्ग खींचे हुए आए। वे अपना अद्भुत खड्ग-कौशल दिखा रहे थे और भीष्म मन-ही-मन सोच रहे थे कि यहां सचमुच कोई षड्यंत्र चल रहा था, या यह मात्र उनके आशंकित मन का ऊहापोह ही था ?…यदि युद्ध कला का प्रदर्शन मात्र ही अभीष्ट था तो खड्ग-युद्ध के युग्म के रूप में नकुल और सहदेव क्यों नहीं आए ? सहदेव और दुःशासन क्यों आए ? क्या जानबूझकर कोई पांडवों और धार्तराष्ट्रों में शक्ति-परीक्षण करा रहा है ? क्या सचमुच यहां यह देखने या दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि धार्तराष्ट्रों और पांडवों में से किसका पक्ष प्रबल है ? ये दोनों मिलकर एक ही पक्ष क्यों नहीं हो जाते ? इन्हें दो पक्ष बनाने पर कौन तुला हुआ है ?…

भीष्म ने स्वयं देखा कि सहदेव और दुःशासन में से निश्चित रूप से सहदेव श्रेष्ठतर खड्ग चालक था; किंतु उसका सारा युद्ध-कौशल अपनी कला तथा स्फूर्ति दिखाने पर केंद्रित था। वह विरोधी के दमन का प्रयत्न नहीं कर रहा था। उसके लिए दुःशासन ऐसा प्रतिद्वंद्वी नहीं था, जिस पर विजय प्राप्त करने के

वरन् वह एक ऐसा साधन था, जिसके माध्यम से वह अपनी कला के विभिन्न आयाम उद्घाटित कर पा रहा था। दुःशासन अपने बचाव का पूर्ण प्रयत्न कर रहा था, किंतु या तो वह सहदेव पर कोई घातक प्रहार कर नहीं पा रहा था, या करना नहीं चाहता था···

तभी द्रोणाचार्य ने खड्ग-युद्ध बंद करने का आह्वान किया।

भीष्म ने संतोष की सांस ली।···ये उनके अपने मन की ही आशंकाएँ थीं। संभव है कि संयोग से ही सहदेव और दुःशासन का प्रतिद्वंद्वी युग्म बना हो··· उसके पीछे कोई योजना नहीं थी, न ही कोई षड्यंत्र था।···

इस बार आचार्य ने गदा-युद्ध का आह्वान किया। गदा-युद्ध के प्रतिद्वंद्वी निश्चित रूप से भीम और दुर्योधन ही हो सकते थे। वे ही रंगवेदी में आए। उन्होंने अपने प्रदर्शन के लिए एक खुला और समतल क्षेत्र चुना था, जो दर्शकों के मुख्य मंडपों के ठीक सामने पड़ता था।

भीष्म ने देखा : उनकी मुद्राओं पर प्रदर्शन के समय में होने वाली सहज प्रफुल्लता नहीं थी। वे तो युद्ध-मन का तनाव और चिंताएँ लेकर आए थे। पहले थोड़ी देर तक एक-दूसरे को घेरने का प्रयत्न करते रहे और उसके पश्चात पहला प्रबल प्रहार दुर्योधन ने किया; किंतु यह कला-प्रदर्शन का प्रयत्न नहीं था, यह तो आक्रमण था। यदि भीम समय से हट न जाता और गदा का वार उस पर पड़ जाता, तो निश्चित रूप से उसके जैसे बलिष्ठ नवयुवक की भी अनेक अस्थियाँ टूट जातीं; और कदाचित् वह उठकर, पुनः इस प्रदर्शन में भाग लेने के योग्य नहीं रह जाता। भीम प्रहार से बच तो गया; किंतु अब वह पहले से भी अधिक असहज हो गया था। उसकी मुद्रा क्रोध में तन गई थी और उसकी आँखें कुछ रक्तिम हो आई थीं। निश्चय ही उसका प्रहार भी कम भारी नहीं था।···

भीष्म को लगा, यदि ये लोग द्रोण की अनुमति से वास्तविक युद्ध में प्रयुक्त होने वाली भारी गदाएँ लेकर आए हैं, तो द्रोण ने उन्हें ऐसी अनुमति देकर भयंकर भूल की है। क्या द्रोण नहीं जानते कि भीम, पांडवों में सबसे उग्र है और दुर्योधन के रोष का लक्ष्य भी प्रायः वही रहता है। यदि उन्हें गदा-युद्ध के प्रदर्शन के प्रतियोगियों के रूप में क्षेत्र में उतारना ही था, तो उन्हें वास्तविक गदाएँ नहीं दी जानी चाहिए थीं।

अब तक उनके प्रहार प्रबल और भयंकर हो गए थे। भीम में निश्चित रूप से दुर्योधन से कहीं अधिक बल था, किंतु स्फूर्ति में दुर्योधन उससे बढ़कर था। यही कारण था कि वह अपनी स्फूर्ति के बल पर एक-आध प्रहार कर लेता था; किंतु उसके पश्चात उसे भीम के कई शक्तिशाली प्रहार झेलने पड़ते थे, जिन्हें बचाने के लिए वह सारे क्षेत्र में इधर-उधर भागता फिरता था। वह कदाचित भीम को थकाने का प्रयत्न कर रहा था; किंतु भीम थककर शिथिल होने के

स्थान पर और भी उग्र होता जा रहा था…

सहसा द्रोण ने खड़े होकर गदा-युद्ध बंद करने का आदेश दिया। उनके निर्देश पर अश्वत्थामा भागता हुआ गया और दोनों प्रतिद्वंद्वियों के मध्य खड़ा हो गया, "बंद करो। यह रंगभूमि है, रणभूमि नहीं, जहां तुम एक-दूसरे का वध करने पर तुले हो। तुम्हें यहां अपने गुरुजनों के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन करने, अपने प्रशिक्षण को प्रमाणित करने के लिए उपस्थित किया गया है, न कि भाइयों का वध करने के लिए।"

भीष्म को शांति मिली। उन्हें एक प्रकार से इस बात का भी संतोष हुआ कि उनका निरीक्षण ठीक ही था। वे ही नहीं, अन्य लोग भी इस प्रदर्शन के पीछे के द्वेष को देख रहे थे।…क्या सचमुच भीम और दुर्योधन का विरोध इस सीमा तक पहुंच चुका है कि अवसर मिलने पर वे एक-दूसरे की हत्या कर देंगे ? शैशव में उनका झगड़ पड़ना और परस्पर हाथापाई पर उतर आना एक बात थी, किंतु इस समय जब वे वयस्क हैं, प्रशिक्षित योद्धा हैं, विपक्षी की हत्या करने के लिए लड़ने की शिक्षा ले चुके हैं—अब उनका इस प्रकार उग्र होकर एक-दूसरे पर आक्रमण करना तो स्पष्ट रूप से एक-दूसरे का वध करने का प्रयत्न था

किंतु भीष्म इस बात से चकित अवश्य थे, पहला प्रहार दुर्योधन की ओर से होने पर भी, अश्वत्थामा ने भीम से ही अधिक विरोध प्रकट किया था। यह अश्वत्थामा का स्पष्ट पक्षपात ही था।

रंगशाला में जैसे एक सन्नाटा-सा छा गया था। दर्शक कुछ चकित भी थे और कुछ भयभीत भी।…उनका भयभीत होना उचित ही था। ऐसे ही प्रदर्शनों में कई बार प्रतिद्वंद्वियों के समर्थक भी क्षेत्र में उतर आते हैं और वहां घमासान हो जाता है।…और भीष्म को लगा; भयभीत तो वे भी थे—वे सोच रहे थे, क्या यह कुरुकुल में गृह-युद्ध का श्रीगणेश था ?

आचार्य द्रोण ने अपने स्थान पर खड़े होकर, हाथ उठा, कोलाहल शांत करने का संकेत किया।

"अब मैं कुरु राजकुमारों में से सबसे अधिक चमत्कारी, कुंती पुत्र अर्जुन का आह्वान कर रहा हूं।" वे बोले, "वैसे तो अर्जुन अनेक शस्त्रास्त्रों में प्रवीण है, किंतु उसका सबसे प्रिय शस्त्र धनुष ही है। धनुर्धर के रूप में उसका किसी से द्वंद्व नहीं होगा, वह केवल अपने शस्त्र-ज्ञान तथा शस्त्र-चालन की अपनी प्रवीणता का प्रदर्शन करेगा।…"

भीष्म का मन शांत हुआ। अब द्वंद्व था ही नहीं, इसलिए संघर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं था। दर्शकगण अर्जुन का लाघव देखकर अपना मनोरंजन भी कर सकते थे और ज्ञानवर्धन भी। एक ऐसे योद्धा की उपस्थिति के कारण वे स्वयं को सुरक्षित भी अनुभव कर सकते थे।

अर्जुन अपने धनुष तया बाणों के साथ रंगशाला के केंद्र में खड़ा हो गया। लगता था कि वह इस रंगशाला के ही केंद्र में नहीं, वह इस उत्सव के ही केंद्र में खड़ा था। उसने अत्यंत विनीत भाव से अपने गुरु को प्रणाम किया, अपनी माता को प्रणाम किया और फिर कुल-वृद्धों की ओर झुककर उसने अपने हाथ जोड़ दिए।

अर्जुन निश्चय ही अद्भुत धनुर्धर था—भीष्म सोच रहे थे—उन्होंने आज तक तो यही सोचा था कि उनके पश्चात कुरु-कुल में जैसे अब कोई जगत् प्रसिद्ध धनुर्धारी होगा ही नहीं; किंतु अर्जुन ने उनकी अपेक्षा से भी अधिक दक्षता पाई थी। उसने परजन्यास्त्र, वारुणास्त्र, वायव्यास्त्र तथा आग्नेयास्त्र का प्रदर्शन किया था। उसने भूमि पर खड़े होकर, भागते हुए अश्व की पीठ पर खड़े होकर, रथ में सारथि के साथ और बिना सारथि के स्वयं ही वल्गा को मुख में लेकर रथ-संचालन के साथ-साथ, युद्ध-कौशल का प्रदर्शन किया था···और भीष्म सोच रहे थे कि अर्जुन के रहते, अब हस्तिनापुर पूर्णतः सुरक्षित था। उसे किसी शत्रु से भय नहीं था··

किंतु धृतराष्ट्र तथा गांधारी इतने हताश क्यों बैठे थे? उन्हें निश्चय ही अर्जुन की दक्षता रुची नहीं थी। क्यों रुचेगी? संकीर्ण बुद्धि वाले स्वार्थी व्यक्ति के साथ यही होता है। न वह गुण की प्रशंसा कर सकता है, और न वह गुणी को अपना सकता है। यदि धृतराष्ट्र अपनी दुर्बुद्धि त्यागकर पांडवों को भी अपने पुत्रों के समान ही स्नेहपूर्वक अपना ले तो वह इनकी भुजाओं से सुरक्षित, आजीवन राज्य का सुख पाएगा। ये लोग उसके अपने पुत्रों से अधिक सेवा करेंगे उसकी। ···पर शायद विधाता ने उसके भाग्य में यह सुख ही नहीं लिखा। इनसे प्रेम करेगा तो ईर्ष्या की अग्नि में दग्ध कैसे होगा सारा जीवन! यह दुख न पाना होता तो मूढ़ इन चर्म-चक्षुओं के साथ-साथ मनःचक्षुओं से भी वंचित क्यों होता···

कुंती कैसी प्रसन्न दीख रही थी। उसके लिए प्रसन्न होने का ही अवसर था। हस्तिनापुर की चरम उपलब्धि के रूप में उसके पांचों पुत्र इस समय अपने पूर्ण विकास को प्राप्त थे।·· और फिर प्रसन्नता पर तो केवल उदार व्यक्ति का ही अधिकार है। इसने कभी माद्री के पुत्रों को अपने पुत्रों से तनिक भी पृथक् नहीं किया। गांधारी क्या कभी इस प्रकार युयुत्सु को अपना पुत्र मान लेगी? मान सकेगी?···

और भीष्म के विचार द्रोणाचार्य की ओर मुड़ गए। सचमुच द्रोणाचार्य अद्भुत गुरु हैं। उन्हें भी उनका पूर्ण श्रेय मिलना चाहिए। गुरु परशुराम ही महान् गुरुओं की परंपरा में अकेले नहीं हैं। महेन्द्रगिरि पर परशुराम हैं, उज्जयिनी में सांदीपनि हैं, तो हस्तिनापुर में द्रोणाचार्य हैं···

अर्जुन अपनी विद्या का प्रदर्शन कर, धनुष को अपने कंधे पर विश्राम दे,

हाथ जोड़, झुककर गुरुजनों का अभिवादन कर रहा था···गुरुजनों के हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में उठे हुए थे और जन-सामान्य के कंठों का जयजयकार सारे परिवेश को उसी प्रकार गुंजायमान कर रहा था, जैसे अभी थोड़ी देर पहले तक अर्जुन के बाण कर रहे थे।···

तभी धनुष और तूणीरों से सज्जित कर्ण आकर उद्धत भाव से अर्जुन के निकट खड़ा हो गया।

भीष्म को आश्चर्य हुआ ···आचार्य द्रोण ने अभी कोई घोषणा नहीं की थी। उन्होंने किसी का आह्वान नहीं किया था। फिर यह युवक कैसे आ गया? और यह है कौन? यह कुरु राजकुमारों में से तो है नहीं। अर्जुन से वह थोड़ा-सा लंबा था। वय में छह-सात वर्ष बड़ा अवश्य होगा। उसका शरीर अर्जुन के समान, तरुणाई का इकहरा शरीर नहीं था। कुछ-कुछ भरा हुआ पुष्ट शरीर था। चेहरे पर अहंकार के भाव स्पष्ट थे।

उसने धृतराष्ट्र की ओर झुककर हाथ जोड़े और कहा, "मैं हस्तिनापुर के सम्राट् को नमस्कार करता हूँ।" और फिर मुड़कर अत्यंत उपेक्षापूर्वक कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य को भी प्रणाम कर उच्च स्वर में बोला, "उपस्थित जन ध्यान से मेरी बात सुनें।"

कौतूहल के कारण सारी रंगशाला में शांति व्याप्त हो गई।

कर्ण बोला, "आपने राजकुमार अर्जुन की धनुर्विद्या देखी है और उसकी प्रशंसा भी की है। मुझे प्रसन्नता है कि आप लोग वीरता और कला के प्रशंसक हैं। किंतु प्रशंसा में हमें उदार होना चाहिए। यदि धनुर्विद्या के ज्ञान के कारण राजकुमार अर्जुन प्रशंसा का पात्र है, तो उसी के समान अन्य धनुर्धारी भी आपकी प्रशंसा के अधिकारी और स्नेह के भाजन होने चाहिए···।"

"और कौन है? और कौन है?···" जन-कोलाहल चारों ओर गूँज रहा था।

"मैं हूँ! मैं!" कर्ण उच्च स्वर में बोला, "आज आपके सामने जो कुछ भी अर्जुन ने किया है, मैं वह सारा चमत्कार दिखा सकता हूँ। और यदि आप अनुमति दें, तो उससे श्रेष्ठतर विद्या का भी प्रदर्शन कर सकता हूँ।"

"दिखाओ! हमें दिखाओ!" दर्शकों के बीच से जैसे सागर की लहरों की-सी गूँज उठ रही थी।

और उन सबसे ऊँचा स्वर गूँजा दुर्योधन का, "अपनी दक्षता प्रदर्शित करो मित्र कर्ण! प्रदर्शित करो।"

भीष्म का माथा ठनका : यह क्या हो रहा है? यह तो कुरु राजकुमारों के प्रशिक्षण के समापन पर आयोजित एक उत्सव था, जिसमें उनकी विद्या का कुछ प्रदर्शन हो सके। यह स्पर्धा के लिए कोई खुला मंच तो है नहीं, जहाँ कोई भी राह-चलता व्यक्ति आकर अपनी क्षमता प्रदर्शित करे। यदि यह कर्ण—हाँ! दुर्योधन

ने इसे कर्ण कहकर ही संबोधित किया है—अपनी दक्षता राजपरिवार के सामने प्रदर्शित करना ही चाहता है, तो उसके लिए, उसकी प्रार्थना पर उसे अवसर दिया जा सकता है।···

कुंती की भृकुटी पहली बार खिंची : यह कौन युवक है, जो इस प्रकार इस समारोह में राजकुमारों के बीच उद्दंडता दिखा रहा है। उसने केवल महाराज के सम्मुख सम्मानपूर्वक मस्तक झुकाया था। कृपाचार्य और द्रोणाचार्य को भी कैसे उपेक्षापूर्ण ढंग से प्रणाम किया था।···और यह आया है, अर्जुन को चुनौती देने !···क्षत्रियों में किसी को चुनौती देना, कोई असाधारण बात नहीं है; किंतु यह तो हस्तिनापुर के राजपरिवार का एक परिवारिक आयोजन है— इसमें इस प्रकार इसके घुस आने का क्या अर्थ ?···और यह दुर्योधन उसे प्रोत्साहित कर रहा है— वह चाहता है कि अर्जुन के प्रतिद्वंद्वी उत्पन्न हों, उसके मार्ग में चुनौतियाँ ही नहीं, विघ्न-बाधाएँ भी आएँ। अर्जुन का महत्त्व कम हो। वह अपमानित या पराजित हो जाए, तो कदाचित दुर्योधन को प्रसन्नता ही होगी। उसने अपने व्यवहार से सदा ही स्पष्ट किया है कि वह कुंती-पुत्रों के मित्रों का शत्रु और शत्रुओं का मित्र है।···इस कर्ण के विषय में वह पहले भी भीम से सुनती आई है। दुर्योधन का प्रोत्साहन पाकर वह सदा ही उसके पुत्रों को प्रताड़ित करने का प्रयत्न करता रहा है। और जैसे दुर्योधन को भीम से वैर है, वैसे ही इसे अर्जुन से अकारण द्वेष है··

सहसा कृपाचार्य उठ खड़े हुए, "कर्ण ! यह न कोई ऐसा सार्वजनिक स्थान है, न कोई ऐसा सार्वजनिक मंच जिस पर लोग अपनी इच्छानुसार आचरण करें। इस रंगशाला में स्वयं महाराज विद्यमान हैं और आयोजन के नियंता आचार्य द्रोण हैं। उनकी अनुमति के अभाव में तुम्हारा प्रदर्शन अशोभनीय और अविनीत माना जाएगा और संभवतः हम उसका वर्जन कर दें।···"

कर्ण ने कृपाचार्य की बात को 'नियम' के रूप में नहीं, अपने विरोध के रूप में स्वीकार किया। उसकी आँखों में उद्दंडता थी। उसकी प्रत्येक भंगिमा जैसे सारे उपस्थित समुदाय का उपहास कर रही थी। वह द्रोण की ओर मुड़कर बोला, "आचार्य, यदि अपने प्रशिक्षण तथा अपने शिष्य की क्षमता में तनिक भी आस्था रखते हों, तो मुझे अपना शस्त्र-कौशल प्रदर्शित करने की अनुमति दें।"

सारी रंगशाला की दृष्टि द्रोणाचार्य की ओर उठ गई : स्पष्टतः कर्ण तनिक भी विनीत नहीं था। वह शील, शिष्टाचार और मर्यादा की सारी सीमाओं का उल्लंघन कर रहा था। और उसकी चुनौती अर्जुन के लिए ही नहीं, स्वयं आचार्य द्रोण के लिए भी थी।

अर्जुन के मन में आशंका जागी : कहीं ऐसा न हो कि गुरु रुष्ट होकर कर्ण को अपना कौशल-प्रदर्शित करने की अनुमति न दें।···और इसके पश्चात कर्ण और दुर्योधन को सदा के लिए डींग मारने का एक बहाना मिल जाए, कि अर्जुन और उसके गुरु दोनों ही कर्ण की वीरता और कौशल से भयभीत थे। · जब से वे लोग हस्तिनापुर आए थे, तब से ही कर्ण, दुर्योधन से प्रोत्साहन पाकर, उन पांचों भाइयों के सदा आड़े आता था। उसे जैसे अवसर की प्रतीक्षा ही रहती थी कि किस प्रकार वह पांडवों को नीचा दिखा सके। गुरु द्रोण ने जब से उसे उनके वर्ग से निकाला था, तब से वह गुरुकुल अथवा युद्धशाला में ही नहीं, हस्तिनापुर में भी कहीं दिखाई नहीं दिया था। अर्जुन ने कभी जानने की इच्छा भी नहीं की थी कि वह कहाँ विलीन हो गया। वह तो यह मानकर संतुष्ट हो गया था कि अच्छा है कि एक दुष्ट ग्रह टल गया, अब उसकी अनुपस्थिति से वह एकाग्र मन से अपना अभ्यास कर पाएगा।···और आज जब अर्जुन अपने कौशल के लिए प्रशंसा और साधुवाद पा रहा था, इस समय धरती फोड़कर, कर्ण का निकल आना, अर्जुन के लिए कोई आश्चर्य नहीं था। आश्चर्य तो उसे तब होता, जब यह समारोह निर्विघ्न समाप्त हो जाता।···अब जब कर्ण आ ही गया था, तो गुरु एक बार अनुमति दे दें···अर्जुन प्रमाणित कर ही दे कि कर्ण की वास्तविकता क्या है। यदि संभव हो तो वह एक बार इसके साथ द्वंद्व-युद्ध ही कर ले।···

भीम अपने स्थान पर क्रोध से नासिका फुलाए बैठा था। इस समय उसके मन में इतना अमर्ष था कि उसकी इच्छा हो रही थी कि किसी से दो-दो हाथ हो ही जाएँ, ताकि उसका मन कुछ शांत हो।···वह तो पिछली बातें जैसे भूल ही गया था। आज के उत्सव को तो वह एक समारोह के रूप में ही देख रहा था। जिन्हें अपनी योग्यता प्रमाणित करनी हो, वे करते रहें, उसने तो इस दिशा में कुछ सोचा ही नहीं था। उसे क्या प्रमाणित करना था। वह तो जिस व्यायामशाला में उतर जाता था, वहीं उसका जयजयकार होने लगता था; गदा लेकर उठ खड़ा होता, तो प्रतिद्वंद्वी हाथ जोड़कर सामने से हट जाते थे। आज जब गुरु ने गदा-युद्ध के प्रदर्शन की अनुमति दी थी, तो उसने सोचा था कि उसका थोड़ा-सा व्यायाम हो जाएगा और लोगों का कुछ मनोरंजन। वह कहाँ जानता था कि दुर्योधन इस तैयारी में है कि पहले ही वार में भीम की दो-चार अस्थियाँ भग कर, उसे धूल चटा दे।···यदि कहीं सचमुच ऐसा हो जाता, तो बहुत संभव था कि दुर्योधन उसके सिर पर अपनी गदा दे मारता और कह देता कि वह तो आवेग में ही उसकी गदा चल गई···

वह प्रहार तो भीम अपने अभ्यासवश ही बचा गया था और तब सहसा भीम को स्मरण आ गया था कि उसके सम्मुख दुर्योधन खड़ा है दुर्योधन जो गदा से

उसे पराजित ही करने का नहीं, उसका वध करने का प्रयत्न करता रहा है। इसने भीम को विष दिया था, और बाँधकर गंगा में बहा दिया था। इसने आज फिर क्रीड़ा के व्याज से, सार्वजनिक रूप से उसके वध का प्रयत्न किया था…और भीम चाहे कितनी भी बार भूल जाए, कितनी भी बार उसे क्षमा कर दे, दुर्योधन निरंतर अपना प्रयत्न जारी रखेगा, जब तक वह उसकी हत्या कर ही नहीं लेगा… तो क्यों न आज भीम अपने इस हत्यारे को सदा के लिए समाप्त ही कर दे।… और तब भीम ने अपनी गदा घुमाई थी…गुरु द्रोण कदाचित समझ गए थे और उन्होंने प्रतियोगिता रुकवा दी थी…

भीम प्रहार करने लगता है, तो सब उसका हाथ थाम लेते हैं। दुर्योधन को कोई कुछ नहीं कहता…पता नहीं हस्तिनापुर में यह कैसा न्याय है कि जब तक घटनाएँ दुर्योधन के मनोनुकूल घटती जाएँ, तब तक कोई आड़े नहीं आता; और जैसे ही कोई हाथ दुर्योधन के विरुद्ध उठता है, वैसे ही अनेक नियम, विधान, परंपराएँ, मर्यादाएँ तथा अनुशासन अपना मुँह खोलकर खड़े हो जाते हैं…

अब तक तो लक्ष्य, भीम ही था; किंतु अब अर्जुन का प्रतिद्वंद्वी भी खड़ा हो गया है।…भीम की आँखें, गुरु द्रोण पर टिक गईं…निश्चय ही वे कर्ण को अनुमति नहीं देंगे…

द्रोण देख रहे थे कि सारी रंगशाला की आँखें उन पर टँगी हैं :…उनकी सहज प्रतिक्रिया थी कि वे ऐसे किसी व्यक्ति को प्रदर्शन की अनुमति नहीं देंगे। समस्त राजपरिवार तथा हस्तिनापुर के जन-सामान्य को यहाँ, द्रोण द्वारा प्रशिक्षित राजकुमारों के कौशल-प्रदर्शन के लिए बुलाया गया है। द्रोण जो कुछ प्रदर्शित करना चाहते थे, कर चुके। अब, जबकि समारोह अपनी पूर्णता को पहुँच चुका है– दर्शकों को अपने-अपने स्थान को लौट जाने की अनुमति होनी चाहिए, न कि एक उच्छृंखल और उद्दंड व्यक्ति को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि इतने सारे लोगों को बिना किसी योजना के, यहाँ रोक रखा जाए…

किंतु उनके सम्मुख गुरु परशुराम का शिष्य खड़ा था, जो उनके पट्ट शिष्य पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहता था।…उन्हें लगा कि उनके सम्मुख कर्ण नहीं, स्वयं परशुराम खड़े हैं, और कह रहे हैं, 'द्रोण ! यदि मेरी श्रेणी के गुरुओं का-सा महत्त्व प्राप्त करना चाहते हो, तो भयभीत क्यों हो। व्यक्ति रूप में श्रेष्ठता सिद्ध करनी हो, तो मुझसे स्पर्धा करो; और गुरुओं की प्रतिष्ठा चाहिए, तो अपने शिष्य को मेरे शिष्य से स्पर्धा करने दो…।'

द्रोण की दृष्टि दुर्योधन पर जा रुकी : वह अत्यधिक आंदोलित दिखाई दे रहा था…'किसी वीर को अपनी वीरता प्रदर्शित करने का अवसर न देना, अन्याय है। हस्तिनापुर में ऐसा अन्याय नहीं चलेगा। हस्तिनापुर वीरों के प्रति श्रद्धा रखता है…' द्रोण के मन में दुर्योधन को देखकर केवल एक ही बात आई—

हस्तिनापुर के इस राजकुमार के मन में न तो गुरुओं के प्रति कोई सम्मान है, और न ही इसे किसी मर्यादा का ध्यान है। इसके लिए इसकी इच्छा ही सर्वोपरि है···उसका पालन होना ही चाहिए।···अहंकारी राजकुमार!···दूसरी ओर कितनी शांति से बैठा है, गुरुओं का वह श्रेष्ठ राजकुमार—युधिष्ठिर!··· हस्तिनापुर का भावी युवराज!···उसने तो एक बार भी सारे समारोह पर अपनी इच्छा आरोपित करने का प्रयत्न नहीं किया। कुंती का, भवंडर-सा वह पुत्र, भीम···जो क्रुद्ध हो जाए, तो अभी यह रंगशाला ध्वस्त होती दिखाई दे···वह भी शांति से बैठा है। उस पर कैसे प्रहार किए थे दुर्योधन ने, किंतु अश्वत्थामा के एक आह्वान पर, उसने अपना हाथ रोक लिया, अन्यथा बहुत संभव था कि दुर्योधन धराशायी होता, उसके पक्ष के अनेक लोग भीम पर आक्रमण करते, भीम अपनी रक्षा के लिए लड़ता, उसके भाई उसकी सहायता के लिए आते; और यह रंगशाला, रणभूमि बन जाती। अब तक यहाँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नर-नारियों के समूह न होते, पुष्पों तथा नाना वर्णों के पर्दों से अलंकृत मंडप न होते···रक्त तथा मांस-मज्जा का वीभत्स दृश्य होता यहाँ! मृतकों के संबंधियों का चीत्कार होता, आहतों की पीड़ा की अनुरणन ध्वनियाँ होतीं···धूल और कीचड़···जब द्वेष और शत्रुता के कारण, हिंसा भड़कती है, तो भीष्म और स्वयं द्रोण जैसे योद्धा भी उसे रोक नहीं सकते, केवल उसका नेतृत्व कर सकते हैं··

और तब द्रोण की दृष्टि, अपने पुत्र अश्वत्थामा पर जाकर टिक गई। उसकी आंखों की याचना को पढ़कर, द्रोण को अपना वचन याद हो आया। उन्होंने उच्च स्वर में कहा, "अनुमति है।"

दुर्योधन और उसके मित्रों ने उच्च स्वर में हर्षध्वनि की, जैसे उनकी कोई महान् विजय हुई हो। द्रोण ने देखा, धृतराष्ट्र के चेहरे पर पूर्ण संतोष के भाव थे।···किंतु भीष्म जैसे किसी अनपेक्षित, आकस्मिक घटना से विचलित हो उठे थे।··द्रोण जानते थे, वे यदि इस समय भीष्म के निकट होते, तो भीष्म यही पूछते, 'यह तुमने क्या किया द्रोण?'

कृपाचार्य भी चकित थे। उन्हें इस विषय में रचमात्र भी संशय नहीं था कि आचार्य, कर्ण को कदापि अनुमति नहीं देंगे···किंतु यह क्या? आचार्य स्वयं ही अपने शिष्य के लिए चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। हस्तिनापुर की रंगशाला में हस्तिनापुर के राजकुमारों के प्रतिस्पर्धी और प्रतिद्वंद्वी उत्पन्न किए जा रहे हैं।··· ये आचार्य द्रोण तो उस आचार्य द्रोण से सर्वथा भिन्न थे, जिन्होंने गुरु-दक्षिणा के पाखंड के नाम पर अर्जुन के भविष्य के संभावित प्रतिद्वंद्वी एकलव्य का अंगूठा माँग लिया था।···आचार्य के मन को वे आज तक पूर्णरूपेण समझ नहीं पाए थे, और आज तो वे यह समझने में सर्वथा असमर्थ थे, कि आचार्य के मन में क्या है।

अर्जुन का मन प्रफुल्लित था : गुरु ने उसकी अभिलाषा पूरी कर दी थी। यदि कहीं गुरु ने कर्ण की याचना अस्वीकार कर दी होती तो अर्जुन के यश को कलंक लग गया होता···नगर में प्रत्येक व्यक्ति यही कहता सुनाई पड़ता कि आचार्य ने कर्ण को अनुमति नहीं दी, अन्यथा वह अर्जुन से श्रेष्ठ धनुर्धर सिद्ध होता···अब कर्ण अपनी पूर्ण दक्षता दिखा ले, फिर अर्जुन देखेगा कि किसका हस्तलाघव किस कोटि का है···

कुंती को कर्ण का इस प्रकार अनाहूत घुस आना पूर्णतः अपशकुन-सा लग रहा था। स्वयं कर्ण अपनी संपूर्ण भव्यता के होते हुए भी साक्षात् दुष्ट ग्रह-सा प्रतीत हो रहा था, जो आज उसके पुत्रों के चरम उल्लास तथा पूर्ण सफलता के दिन प्रकट हो गया था।···कोई और अवसर होता तो इस सुदर्शन युवक को देखकर उसे आह्लाद होता। वह उसकी माता को सौभाग्यशालिनी मानती, जिसने ऐसा दिव्य तथा गुणवान पुत्र पाया था। किंतु यह तो अपने सौंदर्य से मंत्र-मुग्ध कर लेने वाला विषधर था, जो अपने सौंदर्य से, दर्शकों को आह्लादित करने नहीं, अपने विष से उनके प्राण हरने आया था।···और जाने क्यों आचार्य ने भी उसे अनुमति दे दी थी। आज तक तो उसने सुना था कि अर्जुन ही गुरु द्रोण का सर्वप्रिय शिष्य था।···प्रमाणकोटि में भीम को विष दिए जाने के पश्चात वह कितनी आशंकित हुई थी, और जब उसने यह अनुभव किया कि हस्तिनापुर में उसकी स्थिति ऐसी भी नहीं है कि वह अपने पुत्रों के विरुद्ध होने वाले ऐसे अत्याचारों की सूचना तक पितृव्य भीष्म अथवा राजा धृतराष्ट्र तक पहुँचा सके, तो कितनी भयभीत हो गई थी वह। तब उसे पहली बार समझ में आया था कि पितृव्य भीष्म उसके पुत्रों के अभिभावक और संरक्षक चाहे हों, किंतु वे उनके 'रक्षक' नहीं हो सकते। वे इतने तटस्थ और अनासक्त थे कि उनके लिए सारे कौरव राजकुमार, उनके पौत्र मात्र थे—वे उनमें कोई भेद नहीं करते थे, करना नहीं चाहते थे। उनके लिए विनीत, आज्ञाकारी तथा सुशील युधिष्ठिर भी उनका उतना ही पौत्र था, जितना कि उद्दंड, उच्छृंखल तथा दुष्ट दुर्योधन ! उनके लिए महत्त्वपूर्ण यह नहीं था कि कौन कैसा है; उनके लिए तो इतना ही पर्याप्त था कि वे उनके पौत्र थे। तो फिर उनसे कैसे अपेक्षा की जा सकती थी कि वे दुर्योधन अथवा उसके भाइयों के विरुद्ध, कुंती के पुत्रों का पक्ष ग्रहण करेंगे अथवा पांडवों के विरुद्ध किए गए अपराधों के लिए दुर्योधन को दंडित करेंगे···ऐसे में आचार्य द्रोण का हस्तिनापुर आना बहुत शुभ लगा था कुंती को। वे शस्त्रास्त्रों के निष्णात आचार्य थे। उनका कहा, पितृव्य भीष्म तथा महाराज धृतराष्ट्र भी मानते थे। और सबसे बड़ी बात थी कि उनकी दृष्टि कर्म तथा व्यवहार के औचित्य और अनौचित्य पर थी। वे यह देख रहे थे कि उनका कौन-सा शिष्य धर्म पर चल रहा था और कौन-सा अधर्म पर ! कौन शालीन था, कौन उद्दंड। कौन पीड़ित था, कौन पीड़क।···आचार्य द्रोण के हाथों

में अपने पुत्र सौंपकर, कुंती उनकी सुरक्षा, शिक्षा और विकास की ओर से संतुष्ट हो गई थी। स्वयं अपने-आपको और अपने बच्चों को सुरक्षित समझने लगी थी···और आज स्वयं आचार्य द्रोण ने···

कर्ण एक-के-पश्चात्-एक बाण छोड़ रहा था। उसने भी उन्हीं शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया था, जिनका उपयोग अर्जुन अभी थोड़ी देर पहले कर चुका था; और द्रोण स्वयं देख रहे थे कि इसमें कोई संदेह नहीं था कि उसकी क्षमता/कहीं भी अर्जुन से न्यून नहीं थी।···दर्शक-दीर्घा में बैठी हुई हस्तिनापुर की प्रजा, जो अभी थोड़ी देर पहले तक अर्जुन के शस्त्र-कौशल को देखकर प्रफुल्लित और आह्लादित हो रही थी, इस समय कर्ण की जयजयकार कर रही थी।···पता नहीं यह उसकी गुणज्ञता थी, अथवा निर्ममता···किसी से मोह नहीं था उसको। एक दिन जिसकी विजय का डंका बजाती है, अगले दिन उसी को पिटते देखकर, तालियाँ बजाने लगती है।···किंतु अर्जुन अभी पिट नहीं रहा था।·· कर्ण स्वयं को उससे श्रेष्ठ धनुर्धर सिद्ध नहीं कर पाया था···पर द्रोण को इतना सावधान तो हो ही जाना चाहिए था कि अर्जुन का प्रतिद्वंद्वी जन्म ले रहा है···कर्ण की इन क्षमताओं के रहते हुए अर्जुन निर्द्वंद्व और निर्विवाद रूप से संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर नहीं हो सकता···

दुर्योधन, उसके भाई और उसके मित्र, अनवरत रूप से हर्ष-ध्वनियाँ कर रहे थे। वे कर्ण को प्रोत्साहित ही नहीं कर रहे थे, उसकी सफलता पर प्रसन्नता भी प्रकट कर रहे थे। उस प्रसन्नता में स्पष्ट ही यह प्रतिध्वनि भी सम्मिलित थी कि वे अर्जुन की श्रेष्ठता के खंडित होने का उत्सव मना रहे थे। यह कहना कठिन था कि वे कर्ण की सफलता पर अधिक प्रसन्न थे अथवा अर्जुन की महत्ता के कम होने पर···धृतराष्ट्र की आँखों की अपारदर्शिता के बावजूद उसके चेहरे पर जैसे हर्ष का प्रपात ही साक्षात् प्रकट हो गया था।

"कितने गर्व का विषय है कि हस्तिनापुर की प्रजा में भी इतने दक्ष धनुर्धर हैं।" उसने कहा।

विदुर की इच्छा हुई कि कहे कि अर्जुन के कौशल को देखकर तो आपके मन में नहीं आया कि कितनी प्रसन्नता की बात है कि कुरु राजकुमारों में इतनी दक्षता है।···पितृव्य भीष्म के पश्चात् अपने ही वंश में इतना दक्ष धनुर्धर देखकर, तो उनका हृदय गर्व से स्फीत नहीं हुआ था। प्रजा में धनुर्धारी को देखकर उन्हें अधिक गर्व हुआ था।···किंतु विदुर ने कुछ कहा नहीं।

"प्रजा के गुणों का विकास करना और उसे प्रोत्साहित करना राजा का धर्म है।" धृतराष्ट्र जैसे आनन्दमग्न होकर कह रहा था, "यह तो दुर्योधन ने अच्छा ही

किया कि कर्ण को अपना कौशल प्रदर्शित करने का अवसर दिया, नहीं तो इतना गुणी व्यक्ति अज्ञात ही रह जाता, और राज्य को उसका कोई लाभ ही नहीं होता।...इससे तो हस्तिनापुर और भी शक्तिशाली होगा। हमें चाहिए कि हम इसे सेना में कोई महत्त्वपूर्ण पद दें...।"

भीष्म की इच्छा हुई कि वे धृतराष्ट्र को डांटकर कहें कि वह अपनी अनर्गल बकवाद बंद करे।...उसे लग रहा है कि कर्ण के आ जाने से हस्तिनापुर और अधिक शक्तिशाली होगा...क्या वह यह नहीं देख रहा कि कर्ण के रंगशाला में प्रकट होते ही स्वयं हस्तिनापुर का राजपरिवार ही दरक रहा है? उसमें पड़ रही दरारें उसे दिखाई नहीं पड़ रहीं? मूर्ख के समान बैठा, तालियां बजा रहा है। ...पर नहीं! यह कदाचित् उसकी मूर्खता नहीं, उसकी तुच्छता है।...एक ओर वह पांडवों का बल कम करने का षड्यंत्र रच रहा है और दूसरी ओर अपने लिए लोकप्रिय और प्रजावत्सल राजा की प्रशस्ति अर्जित करने का प्रयत्न कर रहा है। धूर्त कहीं का...

किंतु अगले ही क्षण भीष्म के मन में क्रोध के स्थान पर भय व्याप्त हो गया: कहां ले जाएगा, हस्तिनापुर और कुरु राज्य को, यह अंधा राजा? क्यों बैठा दिया इस सिंहासन पर भीष्म ने इस चक्षु-अंध तथा बुद्धि-अंध राजा को, जिसको अपने निकृष्ट स्वार्थ, सर्वनाशी मोह तथा हीन वृत्तियों के सुख के बाहर के संसार का ज्ञान ही नहीं है।...इससे तो कहीं अच्छा होता कि विदुर को सिंहासन सौंप दिया होता। वह विचित्रवीर्य का क्षेत्रज पुत्र नहीं है, तो क्या हुआ! वह दासी-पुत्र है, तो क्या हुआ।...वह इतना मूर्ख और स्वार्थी तो नहीं है; वह इस भोगी धृतराष्ट्र के समान हीन वृत्तियों का दास तो नहीं है...किसने यह परंपरा बना दी है कि राजपुत्र को ही राजा होना चाहिए? जब राजपुत्रों का व्यवहार चांडालों के समान हो और उनकी प्रकृति रक्तपिपासु पिशाचों के समान हो जाय, तो उनको सत्ता के केन्द्र में स्थापित करने से क्या होगा—राज्य का, और क्या होगा प्रजा का? योग्यता के आधार पर चयन होना चाहिए राजा का, या मात्र वंशानुक्रम के आधार पर! योग्य पिता का योग्य पुत्र ढूंढ़ना तो बहुत ही कठिन है, कदाचित् असंभव ही हो...

अगले ही क्षण उनको लगा कि उनके अपने ही भीतर कोई हँसा है...भीष्म अंतर्मुखी हुए तो उन्होंने कुछ-कुछ पहचाना...क्या यह माता गंगा की ही धुंधली-सी मूर्ति नहीं थी?...हां? शायद माता गंगा ही थीं, या उनकी छाया...आज भीष्म उन्हें बहुत स्पष्ट रूप में नहीं देख पा रहे थे...माता की छाया हँस रही थी—"क्यों देवव्रत! कितना समझाया था तुम्हें! यह सारा प्रकृति का प्रपंच है। छल है यह! माया जाल। कोई सुख अपने-आपमें सुख नहीं होता। प्रकृति के प्रपंच में फँसी मनुष्य की बुद्धि अपने मोहवश, उसे सुख मान लेती है। अपने

क्षय को अपना विकास मानता है मनुष्य ! ···तुमने स्वयं तो नारी-सुख भी त्याग दिया और राज-सुख भी ! किंतु क्या शांतनु के इन उत्तराधिकारियों ने भी वह सके तुम कि नारी-सुख, सुख नहीं, सुख का प्रपंच है; अधिकार-सुख, वस्तुतः बुद्धि का भ्रम है। कह पाए क्या इनसे ? ···जो स्वयं नारी को प्राप्त नहीं कर सके, उनके लिए तुम नारियों का प्रबंध करते रहे; और हस्तिनापुर के राज्य की सुरक्षा में कहीं कोई आशंका हुई तो तुम तड़प उठे···स्वयं त्याग किया, किंतु अपने उत्ताधिकारियों को तो त्याग की शिक्षा नहीं दी तुमने ! तुम चाहते हो कि राज्य, उसका धन, उसका सुख, उसका अधिकार—तुम त्याग भी दो, तो भी तुम्हारे ही वंश के लोगों के पास सुरक्षित रहे वह ! यह त्याग उनको क्यों नहीं सिखाया ? ···'

माता गंगा की छाया हँसी और हँसी की अनुरणन ध्वनि के साथ ही उनकी छवि भी जैसे विलीन हो गई···

भीष्म का मन माता की छवि से जैसे डर-सा गया।

कर्ण ने अपना धनुष भूमि पर टिकाया और एक सिंह-दृष्टि सारी रंगशाला पर डाली। उसके चेहरे पर विजयिनी मुस्कान थी। उसने भुजा उठाई और बोला, "मैंने धनुर्विद्या के वे सारे चमत्कार दिखा दिए हैं, जो अर्जुन ने दिखाए थे। प्रदर्शन के लिए तो मेरे पास और भी बहुत कुछ है; किंतु मात्र प्रदर्शन से क्या होगा। प्रदर्शन मात्र श्रेष्ठ धनुर्धर होने के लिए पर्याप्त नहीं है; क्योंकि प्रदर्शन में हम वही करते हैं, जिसका अभ्यास हमें होता है। वास्तविक ज्ञान, कौशल और वीरता का तो पता युद्ध में ही लगता है। इसलिए मैं आचार्य द्रोण के सर्वाधिक प्रिय शिष्य, उनके द्वारा प्रशिक्षित श्रेष्ठतम धनुर्धर कुंतिपुत्र अर्जुन का द्वंद्व-युद्ध के लिए आह्वान करता हूँ···।"

लगा कि जैसे सारी रंगशाला उठकर अपने पैरों पर खड़ी हो गई है। जब से समारोह आरंभ हुआ था, तब से एकाधिक बार यह चर्चा हो चुकी थी कि यह रंगशाला थी, रणशाला नहीं।···और यह कर्ण बीच रंगशाला में खड़ा, अर्जुन को द्वंद्व-युद्ध के लिए पुकार रहा था।

दुर्योधन को वह दिन याद आ गया, जिस दिन आचार्य द्रोण ने कर्ण को राजकुमारों के वर्ग से बाहर निकाल दिया था। उस दिन भी कर्ण ने, अर्जुन से द्वंद्व-युद्ध करने की इच्छा प्रकट की थी···और यह भी कहा था कि ऐसे अवसर पर वह उसे जीवित नहीं छोड़ेगा···

दुर्योधन का मन जैसे बल्लियों उछलने लगा। कर्ण ने यह बहुत उपयुक्त अवसर चुना था इस आह्वान के लिए। सारे नगर के सामने, इस खुली चुनौती की उपेक्षा नहीं कर सकता था अर्जुन ! और यदि वह द्वंद्व-युद्ध के लिए क्षेत्र में

जाएगा, तो निश्चित रूप से कर्ण उसे कभी भी जीवित नहीं छोड़ेगा। पराक्रम से उसका वध कर सकेगा, तो पराक्रम से करेगा, नहीं तो छल से उसकी हत्या कर देगा। दुर्योधन कर्ण को बहुत भली प्रकार पहचानता है: कर्ण अपना लक्ष्य प्राप्त करके ही रहता है—साधन का विचार नहीं करता वह ! गुरु परशुराम से विद्या प्राप्त करनी थी, तो कर ही ली—चाहे उसके लिए मिथ्यावादी बना, छद्म वेश धारण किया··· निश्चय ही कर्ण आज अर्जुन को नहीं छोड़ेगा···किंतु यदि अर्जुन ने यह चुनौती स्वीकार ही नहीं की तो ?···

उसने दृष्टि उठाकर देखा : अर्जुन अपना तूणीर बांधे, धनुष उठाए, आकर कर्ण के सम्मुख खड़ा हो गया था। उसने हाथ जोड़कर आचार्य द्रोण को प्रणाम किया, "गुरुदेव ! द्वंद्व-युद्ध की अनुमति दीजिए।"

कुंती को लगा, एक ओर उसका मन प्रसन्न था कि उसका पुत्र कायर नहीं है। उसने चिंतन में एक क्षण भी नहीं खोया। सच्चे क्षत्रिय के समान धनुष उठा कर, सामने खड़ा हो गया है, चुनौती देने वाले के। और दूसरी ओर कुंती का मुख सूख रहा था और टांगें हल्की-हल्की कांप रही थीं : अर्जुन अभी छोटा था। वह गुरु द्रोण की युद्धशाला का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अवश्य था; किंतु उसे अभी युद्ध का क्या ज्ञान था ?···इस दुष्ट कर्ण ने अपना शस्त्र-कौशल दिखा तो लिया, अब यह उसके पुत्र के प्राणों के पीछे क्यों पड़ा है ?···भीम को ललकारता, तो कोई बात नहीं थी। भीम को तो लड़ने-भिड़ने का अभ्यास था ही। वह अपनी गदा के एक ही प्रहार से इस वाचाल की जिह्वा को पूर्णतः शांत कर देता।···किंतु यह तो आह्वान ही धनुष-युद्ध का था···

भीष्म की इच्छा हुई कि अपना धनुष लेकर इस कर्ण को, उसके धनुष के साथ ही खंड-खंड कर दें। इसकी विद्या ने इसके अहंकार को जैसे आकाश पर चढ़ा दिया था···भीष्म को चित्रांगद का स्मरण हो आया। ऐसा ही था, वह भी। धनुष उठाकर जिस-तिस को चुनौती देता, युद्ध का आह्वान करता। क्या परिणाम हुआ उसका ! वही इस मूर्ख का होगा।···युद्ध एक दायित्व है। न वह अहंकार के प्रदर्शन का साधन है, न अत्याचार के समर्थन का; और न ही वह कोई क्रीड़ा है।···क्या सोचकर वह कुरुवंश के राजकुमार को चुनौती दे रहा है।···वह नहीं जानता कि भीष्म के सम्मुख, कुरुवंश पर इस प्रकार का आक्षेप···किंतु तभी भीष्म ने अपने मन को शांत किया। उन्हें आवेश में नहीं आना चाहिए। उसने चुनौती दी है और अर्जुन ने उसे स्वीकार किया है; किंतु उन्हें द्वंद्व-युद्ध की अनुमति नहीं मिलेगी।···पर फिर भी इस सारथिपुत्र को अनुशासित करना होगा, वह राजवंश के सम्मुख चुनौती बनकर हस्तिनापुर में नहीं रह सकता···

"वीरों को अपनी वीरता प्रमाणित करने का अवसर तो मिलना ही चाहिए। क्यों विदुर !" धृतराष्ट्र ने कहा। इस समय उसके मुख पर ऐसा आनन्द छाया

हुआ था, जैसे कि वह अमृत के आनंद-सरोवर में गोते लगा रहा हो। "या तो अर्जुन अपनी पराजय स्वीकार कर ले, या फिर अपनी वीरता प्रमाणित करे।"

"ठीक कहते हैं महाराज!" विदुर का स्वर पर्याप्त वक्र था, "अभी दुर्योधन को ऐसी ही चुनौती भीम देगा, तो महाराज के ये विचार स्थिर रह पाएँगे?"

लगा, धृतराष्ट्र के चेहरे की प्रभा कुछ कम हो गई है। बोला, "क्यों? भीम ऐसी चुनौती क्यों देगा—? कहीं भाइयों में भी ऐसे द्वंद्व-युद्ध होने चाहिए, जिनका परिणाम मृत्यु हो?"

"नहीं महाराज! भाई के हाथों भाई को मरवाना तो हमारी नीति नहीं है; तो शत्रु के हाथों अपने पुत्र को मरवाना भी हमारी नीति नहीं हो सकती।" विदुर ने उत्तर दिया, "आचार्य ने यह रंगशाला इसलिए तो नहीं बनवाई थी कि यहाँ सारथिपुत्र आकर राजकुमारों का वध कर जाए।"

"हाँ!" धृतराष्ट्र ने स्वयं को बहुत नियंत्रित कर कहा, "किंतु फिर वीरता प्रोत्साहित कैसे होगी?…"

भीष्म के कान उधर ही लगे थे कि धृतराष्ट्र को विदुर क्या उत्तर देता है; किंतु उसके पूर्व ही दुर्योधन का उच्च स्वर सुनाई दिया, "आचार्य, अनुमति क्यों नहीं दे रहे?"

भीष्म की फिर इच्छा हुई कि वे दुर्योधन को डाँटकर बैठा दें। किंतु राजा के रूप में यहाँ धृतराष्ट्र विद्यमान था, तथा समारोह के नियंता आचार्य द्रोण थे। ऐसे में बीच में उनका बोलना, बहुत शोभनीय नहीं था।…किंतु उनकी चिंता पहले से भी बढ़ गई थी। धृतराष्ट्र और दुर्योधन मिलकर पांडवों को पराभूत करना चाहते हैं—उन्हें पराजित करें, अपमानित करें या उनका वध करवा दें। स्वयं न कर सकें तो किसी अन्य से करवा दें।…यह विष-वृक्ष कहाँ से उग आया है, इस वंश में·

सहसा ही भीष्म को बड़ी तीव्रता से अपने संपूर्ण जीवन की निरर्थकता का अहसास हुआ। इन बच्चों को ही नहीं, इनके पिताओं को भी अपने हाथों पाला था भीष्म ने। क्या इसीलिए कि एक भाई, दूसरे भाई के विरुद्ध एक बाहरी व्यक्ति का—जो प्रच्छन्न शत्रु है—साथ दे?…क्या यही पालन-पोषण किया है इनका?…या क्या व्यक्ति का अपना प्रयत्न कुछ भी नहीं कर सकता—और वह जो सारा समय, अपनी ओर से कुछ-न-कुछ बनाता ही रहता है—वह सब भ्रम है उसका? निश्चित रूप से इस दुर्योधन को यह तो नहीं बनाना चाहा था उन्होंने··

"आचार्य, अनुमति क्यों नहीं देते?" दुर्योधन ने पुनः पुकारकर कहा।

दुर्योधन के उद्दंड स्वर का अनुगमन करता-सा अर्जुन का विनीत स्वर भी आया, "गुरुदेव! मेरी प्रार्थना है कि हमें द्वंद्व-युद्ध की अनुमति दी जाए; ताकि

मैं अपने गुरु की महिमा प्रतिष्ठित कर, इस अनाहूत, अनिमंत्रित, मर्यादाहीन योद्धा को युद्ध की मर्यादा सिखा सकूं।···"

आचार्य द्रोण खड़े हो गए। उन्होंने दृष्टि भरकर, अपने शिष्य अर्जुन को देखा : उसके चेहरे पर भय तो क्या चिंता अथवा आशंका की भी कोई रेखा नहीं थी। फिर उनकी दृष्टि अश्वत्थामा से जा टकराई। अश्वत्थामा जैसे उन्हें उनका वचन स्मरण करा रहा था। आचार्य को अपने पुत्र की आँखों में अर्जुन-विरोधी भाव अच्छा नहीं लगा। न ही उन्हें अपने पुत्र को यह दुर्योधन-मैत्री भाई; किंतु वे जानते थे कि अब अश्वत्थामा उनकी इच्छा से अपने जीवन के निर्णय नहीं करेगा। वह वयस्क हो गया था, उसकी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति विकसित हो चुकी थी।··· उन्हें अपने पुत्र के विकास की प्रसन्नता थी; किंतु किस दिशा में विकसित हो पाया था वह? उसे युधिष्ठिर अथवा अर्जुन क्यों अपना मित्र नहीं लगा? उसे दुर्योधन ही क्यों प्रिय हुआ? क्या केवल इसलिए कि वह राजा का पुत्र है? या कहीं उसे लगा है कि प्रिय शिष्य बनकर अर्जुन ने उसके पिता को उससे छीन लिया है?···

और फिर उनकी दृष्टि घूमती हुई जाकर कर्ण की आँखों पर ठहर गई : उन आँखों में चुनौती थी—कर्ण की नहीं, परशुराम की···

और द्रोण ने अपने पुत्र को दिया गया इच्छापूर्ति का वरदान पूर्ण कर दिया। "अनुमति है!"

द्रोण के वाक्य के साथ ही जैसे सारी रंगभूमि में कोलाहल का एक ज्वार उमड़ पड़ा।

भीष्म को लगा, वे अब और रुक नहीं पाएँगे। चित्रांगद का तो उनकी अनुपस्थिति में गंधर्वराज वध कर गया था, किंतु इस सारथिपुत्र को वे अपनी आँखों के सामने अर्जुन का वध करने नहीं देंगे। द्रोण पर अब उन्हें विश्वास नहीं रह गया था। जाने द्रोण के मन में क्या था। क्यों उसने इस द्वंद्व-युद्ध की अनुमति दे दी थी? वह बहुत सुविधा से इसे रोक सकता था···

और तभी कृपाचार्य की तीखी वाणी रंगशाला में गूंज उठी, "ठहरो।"

भीष्म ने आश्चर्य से कृप को देखा : जब से हस्तिनापुर में द्रोण का आगमन हुआ था, तब से कृप को उन्होंने इस प्रकार अधिकार से बोलते नहीं सुना था; और आज इस समारोह में द्रोणाचार्य द्वारा अनुमति दे दिए जाने के पश्चात् कृपाचार्य का हस्तक्षेप···

कृपाचार्य अपने स्थान से उठकर प्रतिद्वंद्वियों के बीच आ गए थे, "सुनो कर्ण! यहाँ कोई युद्ध नहीं हो रहा। अर्जुन ने तुम्हारा कोई अपमान नहीं किया है, जिसकी क्षतिपूर्ति के रूप में तुम यह द्वंद्व-युद्ध माँग रहे हो। न यह कोई स्वयंवर है, और न ही यहाँ धरती के सर्वश्रेष्ठ वीर का चयन हो रहा है। ऐसे में यदि तुम द्वंद्व-युद्ध की इच्छा प्रकट कर रहे हो, तो उसका कोई विशेष कारण होना चाहिए।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, कारण कोई नहीं है, सिवाय इसके कि तुम शायद अर्जुन को पराजित कर, अपने अहंकार की तुष्टि करना चाहते हो। तुमने सोचा होगा कि कम परिश्रम से तत्काल ख्याति अर्जित करने का यह सरलतम मार्ग है—युग के सर्वश्रेष्ठ योद्धा से भिड़ जाओ। विजयी हुए तो बात ही क्या, और यदि पराजित हुए तो क्या क्षति है। अर्जुन जैसे योद्धा से पराजित होना तो कोई अपमान की बात नहीं है। ऐसी स्थिति में भी, अर्जुन से द्वंद्व-युद्ध का अवसर पाना ही एक बड़ी बात होगी। अर्जुन ने तुम्हारी चुनौती स्वीकार की, यह कम महत्त्व की बात नहीं है...।"

"नहीं आचार्य !" कर्ण उद्दंड भाव से बोला, "आप सब लोग भयभीत हैं कि अर्जुन मुझसे पराजित हो जाएगा; और उसकी सारी कीर्ति धूल में मिल जाएगी। वह भी भीत मूषक के समान छिपा बैठा है...।"

"सावधान कर्ण !" अर्जुन की आँखों में क्रोध का रंग गाढ़ा हो गया।

"ठहरो पुत्र !" कृपाचार्य बोले, "तुम शील-शिष्टाचार से परिचित हो; अतः जब तक मैं वार्तालाप कर रहा हूँ, तुम अपने मन को शांत रखो।"

अर्जुन ने संकोच से सिर झुका लिया, जैसे गुरु की अवहेलना से लज्जित हो।

"और कर्ण ! सुनो ! तुम अर्जुन के साथ-साथ हमें भी उत्तेजित करने का प्रयत्न कर रहे हो। और उत्तेजना में व्यक्ति की न बुद्धि काम करती है, न उस पर तर्क का प्रभाव होता है। पहले तुम यह स्पष्ट कर लो कि तुम बुद्धि से युक्त, तर्कशील मनुष्यों के समाज में, वैसे ही मनुष्य का-सा आचरण करना चाहते हो, अथवा मानवों की सभा में घुस आए किसी महिष के समान इधर-उधर सींग मारना चाहते हो !"

लगा, कर्ण का आवेग कुछ कम हुआ है। वह भी थोड़ा हतप्रभ हुआ है, "आचार्य ! मैं भी स्वयं को बुद्धियुक्त, तर्कशील प्राणी ही समझता हूँ।"

"तो तुम उसी के अनुरूप व्यवहार करो।" कृपाचार्य बोले, "द्वंद्व-युद्ध माँगने का कोई कारण है ?"

"क्या यह कारण पर्याप्त नहीं है कि मैं उसे चुनौती दे रहा हूँ और वह क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध के लिए आगे नहीं बढ़ रहा ?"

अर्जुन के चेहरे पर फिर एक बार आवेश झलका; किंतु वह कृपाचार्य की ओर देखकर, चुप ही रहा।

"तुम्हारे लिए यह कारण पर्याप्त है। युद्ध-दान क्षत्रिय का कर्तव्य है—यह भी सत्य है। किंतु यह बताओ कर्ण !" कृपाचार्य शांत भाव से बोले, "कि दान से पूर्व दाता को पात्र का विचार करना चाहिए या नहीं—सुपात्र और कुपात्र का भी विचार होना चाहिए या नहीं ? क्या तुम नहीं जानते कि दान न देना, कुपात्र को दान देने से श्रेष्ठतर है ?" उन्होंने रुककर कर्ण की ओर देखा; किंतु कर्ण कुछ नहीं

बोला। वे पुनः बोले, "दाता को पात्र-विचार का अधिकार है। पात्र-विचार-निरपेक्ष दान, दाता के नाश का कारण बनता है। इसलिए क्षत्रिय के रूप में युद्ध-दान से पहले अर्जुन को याचक की पात्रता देखनी ही चाहिए। वह भरतवंश के सम्राट पांडु का पुत्र है। आचार्य श्रेष्ठ द्रोण का परमप्रिय और योग्यतम शिष्य है। द्वंद्व-युद्ध में तुम्हें पराजित कर, उसे कोई यश नहीं मिलेगा। वह उसके लिए साधारण कार्य होगा, जिसे न कोई महत्त्व देगा, न रेखांकित करेगा; किंतु यदि वह तुमसे पराजित हुआ तो उसके यश-चंद्र को सदा के लिए ग्रहण लग जाएगा। बुद्धिमान क्षत्रिय केवल उसी की द्वंद्व-युद्ध की चुनौती स्वीकार करते हैं, जिसकी पात्रता सिद्ध हो। उससे पराजित होकर यदि अपयश मिलता हो, तो विजयी होने पर यश भी मिले। उसके लिए आवश्यक है कि योद्धा सम-धरातल का हो। अर्जुन कुरु-वंश का राजकुमार है, भरत का वंशज, सम्राट् पांडु का पुत्र! उससे युद्ध-दान माँगने का अधिकार किसी राजा अथवा राजकुमार को ही हो सकता है।··· क्या तुम अपने वंश का कोई परिचय दे सकते हो?···"

विदुर के चेहरे पर संतोष झलका; और भीष्म का मन हुआ कि वे उठकर जाएँ और प्रशंसा के भाव से कृप का कंधा थपथपा आएँ—उन्होंने कृप के व्यक्तित्व के इस रूप को कभी नहीं जाना था। सारथिपुत्र के हाथों भरत-वंश को अपमानित होने से बचाने के लिए, उन्हें कृपाचार्य का आभारी होना चाहिए।···उन्हें लगा कि पिता शांतनु ने कृप का पालन-पोषण कर, इस वंश के एक हितैषी का ही विकास किया था, किंतु द्रोणाचार्य···जाने क्यों द्रोणाचार्य ने इस अहंकारी और उद्दंड सारथि-पुत्र को द्वंद्व-युद्ध की अनुमति दे दी···उस पर बाद में विचार करेंगे···उनका मन अर्जुन के लिए कुछ आशंकित अवश्य था; किंतु भरत-वंश के इस विजयोत्सव का एक सारथिपुत्र द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किया जाना, उनके लिए अधिक पीड़ा का कारण होता · वे आश्वस्त हुए, अब कदाचित् वह स्थिति नहीं आएगी।···

कर्ण ने कृपाचार्य के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया; किंतु प्रश्न की निहित ध्वनि उसके मन में अत्यंत तीक्ष्णता से चुभ गई थी, और उसे लग रहा था कि वह निरंतर चुभती ही जा रही है ··क्या उत्तर देता वह? ऐसा ही प्रश्न तो गुरु परशुराम ने किया था। तब भी उसके पास कोई उत्तर नहीं था। वहाँ उसने मिथ्या-भाषण किया था; किंतु यहाँ उसका भी कोई लाभ नहीं था।···यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति पहचानता है उसे। इससे तो अच्छा था, वह भी अन्य सामान्य लोगों के समान किसी वीथी में दर्शक-भाव से बैठा रहता। उसे ख्याति न मिलती, उसकी वीरता प्रतिष्ठित न होती—किंतु वह इस प्रकार अपमानित तो न होता ·· उसे लगा, उसका आक्रोश जैसे कोई अभिव्यक्ति न पाकर, उसका अपना ही कंठ जकड़ बैठा है···यदि वह फट न पड़ा तो कदाचित् उसका अपना मस्तक ही टूक-

टूक हो जाएगा। लोग बार-बार उससे उसकी जाति और वंश के विषय में क्यों पूछते हैं ? उसकी वीरता और शस्त्र-कौशल के विषय में कोई प्रश्न नहीं पूछता ?...

अपनी निरीहता और असहायता मे उसकी दृष्टि बरबस दुर्योधन को खोजती हुई, उस ओर चली गई, जहाँ सारे कुरु राजकुमार बैठे थे...

दुर्योधन की दृष्टि उससे मिली और कर्ण ने देखा कि दुर्योधन की दृष्टि में न पराजय थी, न असहायता, न निरीहता...

दुर्योधन उठकर खड़ा ही नही हो गया था, वह अपने मंडप से बाहर निकल कर केंद्रीय वेदी में आ गया था।

"आचार्य !" उसने सबोधित तो केवल कृपाचार्य को ही किया था, किंतु उसका स्वर इतना ऊँचा था कि सारी रंगशाला में सुनाई दे जाए, "किसी वीर की प्रतिभा का इस प्रकार निरादर करना उचित नहीं है। गंगोत्री के आवेगरहित प्रवाह को देखकर आप गगा का निरादर नही कर सकते। कर्ण का वंश उसके आनन पर चमकता, उसका तेज है। उसकी जाति उसके भुजदंड हैं। उसका परिचय तो उसके बाण ही देंगे।"

"दुर्योधन ! बुद्धिमान हो तुम !" कृपाचार्य जैसे अपना व्यूह सँभालने के लिए पूर्णतः सन्नद्ध थे, "अपनी शिक्षा तथा प्रशिक्षण पूर्ण कर चुके हो। अभी तक किसी युद्ध मे नही गए तुम; किंतु अब शीघ्र ही तुम्हारे कंधों पर युद्धों का उत्तरदायित्व भी डाला ही जाएगा। तो राजकुमार ! एक बात का ध्यान रखना, जब अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए, रथारूढ होकर तुम युद्ध-क्षेत्र में जाओगे तो केवल किसी रथी से ही द्वैरथ-युद्ध करना; शत्रु-पक्ष के सेनापति से ही द्वंद्व-युद्ध करना। यह न हो कि पदाति सैनिक से द्वंद्व-युद्ध करने लगो और परिणामस्वरूप जीतकर कोई यश न पाओ और पराजित होकर... ।"

दुर्योधन के मुख का स्वाद जैसे एकदम कसैला हो गया : कृपाचार्य के तर्क-बाण के सामने, सारे क्षत्रियों के अत्यंत विनाशकारी बाण भी जैसे निरस्त हो गए थे।...युद्ध का अपना विधान होता है और द्वंद्व-युद्ध का भी। दुर्योधन की इच्छा मात्र से न तो वे विधान बदल सकते हैं और न आर्यावर्त्त के आर्यों की मर्यादाएँ।...संघर्ष करना हो, तो शत्रु के बराबर तो उठना ही पड़ेगा। जो मर्यादाएँ कृपाचार्य ने बाँधी है, उन्हें तो पूरा करना ही होगा...अर्जुन को अपमानित करने का ऐसा सुअवसर, दुर्योधन अपने हाथ से कैसे जाने दे सकता है...उसे इस असभव को सभव करना पड़ेगा नहीं तो अभी कुछ ही क्षणों में कर्ण सबके उपहास का पात्र बना, अपना मुँह लटकाए, जाकर इस विशाल जन-समुदाय में कहीं खो जाएगा; और फिर जाने कहीं दिखाई देगा या नही। ...पहले भी गुरु द्रोण ने उसे राजकुमारो के वर्ग से निकाल दिया था तो वह एक लंबे अंतराल के लिए कहीं खो गया था। आज के इस सार्वजनिक अपमान के पश्चात् तो कदाचित

वह लौटकर कभी हस्तिनापुर ही न आए···और दुर्योधन को लगा कि कर्ण के खो जाने का अर्थ कहीं उसके अपने राज्याधिकार का खो जाना ही न हो···अर्जुन की धनुर्विद्या ही नहीं—पांडवों के सम्मिलित वल के सामने कौन खड़ा होगा, दुर्योधन के पक्ष से ?···और युद्ध तो होना ही है। अव तक यह पर्याप्त स्पष्ट हो चुका था कि विना युद्ध के दुर्योधन को यह राज्य मिलने वाला नहीं है···और यह राज्य वह छोड़ेगा नहीं !··पिता ने जाने क्या सोचकर उसका नाम 'सुयोधन' रखा था; किंतु वह जानता था कि युद्ध ही उसकी नियति है। विना युद्ध के, विना वल-प्रयोग किए, विना अपना अधिकार जमाए—उसे कुछ नहीं मिलेगा। इसलिए युद्ध तो उसे करना ही पड़ेगा।···और यदि उसे किसी वड़े, भयंकर युद्ध से वचना है, तो उसे यह छोटा-सा युद्ध आज, यहीं पर, लड़ ही लेना चाहिए।···आज यदि अर्जुन यहाँ मारा जाता है, तो दुर्योधन, भविष्य के एक वड़े युद्ध से वच जाएगा; अन्यथा एक अर्जुन के स्थान पर सहस्रों व्यक्ति मरेंगे।···एक समय था, जव उसने भीम की हत्या करने का प्रयत्न किया था। तव उसने समझा था कि कदाचित् भीम ही उसके मार्ग की सवसे वड़ी वाधा है; किंतु आज वह देख रहा है, वह उसकी भूल थी। युद्ध में जितना विनाशकारी, एक धनुर्धारी हो सकता है, गदाधारी कदापि नहीं हो सकता।···अर्जुन को आज मरना ही होगा, चाहे असंभव को संभव करना पड़े, चाहे उसे मर्यादित से अमर्यादित होना पड़े···

दुर्योधन का मन वड़ी तीव्र गति से भाग रहा था, जैसे वह किसी विशाल राजप्रासाद में वंद हो गया हो, जिसके सहस्रों द्वार हों, और वह वड़े वेग से, अपने शरीर की पूरी शक्ति लगाकर प्रत्येक द्वार खटखटा रहा हो, कि कोई एक द्वार खुल जाए, ताकि वह वाहर निकल सके। कहीं ऐसा न हो कि वह द्वार खोजता ही रहे और उसका दम घुट जाए···

"आचार्य !" दुर्योधन फिर वोला।

कृपाचार्य ने उसकी ओर देखा।

"आचार्य ! यदि कर्ण को अर्जुन के साथ द्वंद्व-युद्ध का अवसर केवल इसलिए नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह राजा नहीं है, तो मैं···" उसका स्वर और ऊँचा उठ गया, ताकि सारा जन-समुदाय सुन सके, "तो मैं कर्ण को अंगदेश का राजा स्वीकार करता हूँ।"

दुर्योधन के मित्रों ने तत्काल उद्घोष दिया, "जय महाराज अंगेश ! जय महाराज कर्ण !"

भीष्म का मुख जैसे आश्चर्य से खुल गया : यह क्या हो रहा है ? कृपाचार्य इस कर्ण से, अर्जुन की यह भिड़ंत वचाना चाहते हैं और दुर्योधन चाहता है कि किसी भी मूल्य पर, किन्हीं भी परिस्थितियों में यह युद्ध अवश्य हो। वह इस सारथिपुत्र को राजा वना रहा है, केवल इसलिए कि कर्ण, अर्जुन से युद्ध कर सके,

उसे क्षति पहुँचा सके, संभव हो तो उसका वध कर सके'''यह तो खुले तौर पर सार्वजनिक रूप से अर्जुन की हत्या का प्रबंध और प्रयत्न कर रहा है। कुरु-कुल के सर्वनाश का बीज-वपन कर रहा है। यह सचमुच दुर्योधन है, दुर्योधन !

"दुर्योधन !" भीष्म बोले, "तुम राजा हो, न युवराज ! तुम्हें यह अधिकार किसने दिया कि तुम किसी को, किसी भी देश-प्रदेश का राजा स्वीकार कर लो।" और उन्होंने धृतराष्ट्र को देखा, "राजन् ! तुम इसे मना क्यों नहीं करते ?"

धृतराष्ट्र कुछ समय तक सिर झुकाए, वैसे ही मौन बैठा रहा और फिर जैसे वह अपना अत्यधिक सुचिंतित मत दे रहा हो, बहुत धीरे से बोला, "सुयोधन राजा नहीं है, युवराज भी नहीं है; किंतु वह मेरा पुत्र है पितृव्य ! और यदि कोई पुत्र अपने पिता की किसी वस्तु को अपनी समझ उसका दान करता है, तो इसमें पिता द्वारा उसे अस्वीकार करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है।"

भीष्म के शब्द जैसे उनके मुख में ही जम गए। ये पिता-पुत्र दोनों मिलकर, अर्जुन का वध करवाने की योजना ही नहीं बना रहे, उसका सक्रिय प्रयत्न भी कर रहे हैं। शुल्क लेकर किसी की हत्या करने वाले दस्यु को न बुलाकर, ये लोग द्वंद्व-युद्ध जैसी क्षत्रियोचित चुनौती प्रस्तुत कर रहे हैं, ताकि अर्जुन उस जाल में फँसना अस्वीकार भी न कर सके; और कोई यह भी न कह सके कि इन्होंने अर्जुन की हत्या करवाई है।'''उनकी दृष्टि अर्जुन पर टिक गई : क्या अर्जुन भयभीत था ? '''नहीं ! अर्जुन के चेहरे पर तनिक भी भय अथवा त्रास नहीं था — वह तो कदाचित् आक्रामक मुद्रा में खड़ा था; किंतु यह दुर्योधन ' अपने ही वंश का काल !'''कुल-नाशक !'''

"बात केवल राजपुत्र की इच्छापूर्ति मात्र की ही नहीं है राजन् !" भीष्म बोले, "मैं नहीं चाहता कि कुरुकुल में आतरिक और पारस्परिक कलह बढ़े; किंतु तुम देख रहे हो कि तुम्हारा यह दुर्योधन कलह चाहता ही नहीं, वह उसका विकास कर रहा है। वह अपने भाइयों के विरुद्ध, बाहरी शत्रुओं की सहायता कर रहा है। वह शत्रुता को उत्प्रेरित कर रहा है। अर्जुन के विरुद्ध इस सारथिपुत्र का महत्त्व बढ़ाकर, राजकुल का महत्त्व ही कम नहीं कर रहा, उसका अपमान भी कर रहा है। तुम्हारा यह दुर्योधन जानता ही नहीं कि उसे कब युद्ध करना है, और किसके विरुद्ध करना है।"'''

धृतराष्ट्र ने संबोधन के लिए भी अपना चेहरा भीष्म की ओर नहीं किया। अपनी अंधी आँखों से रंगशाला के मध्य बनी वेदी की ओर देखता रहा, जैसे सारे घटनाचक्र को अपनी आँखों से देख रहा हो, "आप शांत मन से सोचें पितृव्य ! दुर्योधन कोई उपद्रव नहीं कर रहा। वह तो मात्र वीरता का सम्मान कर रहा है।"

भीष्म को लगा, जैसे उनकी खीझ अब उनका नियंत्रण नहीं मान रही है,

"इतना ही वह वीरता का पक्षधर है, तो उसने अर्जुन की वीरता का सम्मान क्यों नहीं किया ?"

धृतराष्ट्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह जैसे भीष्म से अपनी रक्षा करने के लिए, दूसरी ओर देखता रहा।

विदुर समझ गया—अब इन दोनों में इसके आगे वार्तालाप नहीं होगा। पितृव्य, अब धृतराष्ट्र पर इससे अधिक दबाव नहीं डालेंगे। वह जैसे धृतराष्ट्र को भांपने का प्रयत्न करता रहा और फिर धीरे से बोला, "महाराज का कहना उचित ही है कि पिता की संपत्ति पर पुत्र के अधिकार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु महाराज ने क्या यह भी सोचा है कि अंगदेश हमारे साम्राज्य का अंग है भी या नहीं। वह विवादास्पद क्षेत्र है महाराज! मगध-नरेश जरासंध उसे अपने साम्राज्य का अंग मानता है। उसने महाराज पांडु द्वारा मान्य प्रशासक को कब से नगर-निष्कासित कर, मालिनी नगरी में अपना प्रशासक बैठा रखा है।"

"ठीक है! किंतु हमने न कभी मालिनी नगरी में बैठे, जरासंध के प्रतिनिधि प्रशासक को मान्यता दी है, और न अंग पर उसका आधिपत्य स्वीकार किया है।" धृतराष्ट्र बोला।

"किंतु उससे न वह प्रदेश हमारा हो जाता है और न ही उसे किसी को दान करने का हमारा अधिकार ही बनता है।" विदुर ने उत्तर दिया।

धृतराष्ट्र के चेहरे पर कड़वाहट का भाव फैल गया, "तुम इतने बुद्धिमान होकर इतनी-सी बात क्यों नहीं समझते विदुर! कि यदि अंगदेश हमारा है तो दुर्योधन उसे कर्ण को दे ही सकता है; और यदि वह हमारा नहीं है, तो जो हमारा है ही नहीं, उसे किसी को दे देने में हमारी क्षति ही क्या है? जब वह अपना कुछ दे ही नहीं रहा, तो तुम्हें आपत्ति किस बात की है?"

विदुर को लगा, धृतराष्ट्र के मन में दुबका बैठा पिशाच इस समय प्रकट रूप से उसके चेहरे पर आ बैठा है।

"अब तो कर्ण अर्जुन के साथ द्वंद्व-युद्ध का अधिकारी है आचार्य?" दुर्योधन ने पूछा।

कृपाचार्य हँसे, "कर्ण को अंगदेश का राजा तुमने स्वीकार किया है दुर्योधन! तुमने, जो स्वयं राजा नहीं है—जिसका न राज्याभिषेक हुआ है, न युवराज्याभिषेक! तुम्हारी इस प्रकार की स्वीकृति कोई अर्थ रखती है क्या? या तुम सामान्य प्रजा के रूप में कर्ण को अपना राजा स्वीकार कर रहे हो—क्योंकि प्रजा को अपना राजा मनोनीत करने का अधिकार है!"

दुर्योधन ने इस प्रकार दांत पीसे, जैसे वह या तो आचार्य को कोई बहुत ही

अपमानजनक बात कह देगा या शायद आघात ही कर बैठे; किंतु ऐसे अवसरों पर अनेक बार वह अद्भुत धैर्य का परिचय देता था। लगा,'वह अपना सारा क्षोभ तथा कृपाचार्य के प्रति मन में जागा अपना सारा विरोध, क्षण-भर में ही पी गया। बोला, "मैं आज आपकी सारी प्रतिज्ञाएं पूरी करूंगा आचार्य ! मेरा राज्याभिषेक हुआ हो, या न हुआ हो—किंतु कर्ण का राज्याभिषेक तो मैं अभी करवा दूंगा।"

दुर्योधन पैर पटकता हुआ, वहां से चला गया।

रंगशाला में जैसे सन्नाटा छा गया। धृतराष्ट्र ने प्रकारांतर से कर्ण को अंग-देश के राजा की मान्यता दे दी थी। भीष्म और विदुर अब कुछ नहीं कह रहे थे। वे जैसे अपने भीतर-ही-भीतर कुछ मंथन कर रहे थे। द्रोणाचार्य भी द्वंद्व-युद्ध की अनुमति देकर, इस प्रकार आत्मलीन हो गए थे, जैसे वे वहां उपस्थित ही नहीं थे। उन्होंने कृपाचार्य की युक्तियां सुनकर भी, कुछ नहीं कहा था; जैसे निश्चय कर लिया हो कि जिसे जो भी करना है, करता रहे। उनसे तो द्वंद्व-युद्ध की अनुमति मात्र मांगी गई थी। वह उनका अधिकार-क्षेत्र था। अनुमति उन्होंने दे दी थी। अब यह देखना उनका कार्य नहीं था कि द्वंद्व-युद्ध राजकुमारों के ही मध्य हो। समता और समानता के इन प्रश्नों के संदर्भ में उन्हें कुछ नहीं कहना था। ये राजवंश और उनकी समानता···इस विषय में वे पहले से ही अपने वक्ष में क्षत लिये घूम रहे थे। द्रुपद ने बहुत कुछ समझा दिया था उन्हें, समानता के विषय में।···हां ! अर्जुन की सुरक्षा की चिंता उन्हें अवश्य थी !···किंतु अर्जुन हल्का नहीं पड़ेगा इस कर्ण के सम्मुख ! गुरु परशुराम की संपूर्ण विद्या द्रोण ने भी पाई थी और उन्होंने वह अर्जुन को दी भी है।···कर्ण चुराकर कितनी भी विद्या लाया हो, किंतु परशुराम का सर्वस्व नहीं लाया होगा···

···केवल कृपाचार्य अब भी वेदी के निकट कर्ण तथा अर्जुन के मध्य खड़े थे, कि कहीं उनके हटते ही कर्ण और अर्जुन का युद्ध आरम्भ न हो जाए। · वे खड़े, शायद दुर्योधन की ही प्रतीक्षा कर रहे थे कि राज्याभिषेक वाली अपनी बात को वह किस रूप में पूरा करता है···

अश्वत्थामा के मन में पश्चात्ताप था।···उसने अपने पिता को ही सब कुछ मान, अपने मातुल के महत्त्व को इतना कम क्यों आंका ? उसने पहले ही क्यों नहीं सोचा···जिस प्रकार उसने अपने पिता से इच्छापूर्ति का वरदान लिया था, उसी प्रकार मातुल से भी वचन क्यों नहीं ले लिया ?···उसने यह क्यों नहीं सोचा कि वह और उसके पिता तो अब हस्तिनापुर में आए हैं—उसके मातुल का तो पालन-पोषण ही हस्तिनापुर में हुआ है। वे कुरुवंश के हित-अनहित के विषय में अधिक सघनता से सोचते होंगे। वे इस वंश की अवनति नहीं चाहेंगे। वे क्यों चाहेंगे कि हस्तिनापुर की रंगशाला में अर्जुन पराजित अथवा पराभूत हो ?··· उसे लग रहा था कि जिस मातुल पर वह अपने पिता से भी अधिक निर्भर रहने

या ?"
तराष्ट्र
दूसरी
विदुर
व, अद
ो का प्र
ह कि
ता। कि
ा है भी
पने सा
व मे
"
भगास
धृत
क

सामान्य
को अपना राज।
दुर्योधन ने इस प्रव।

रहे।···" और वह अर्जुन की ओर घूमा, "मैं तुम्हारे स्थान पर होता तो कदाचित् कृपाचार्य की उपेक्षा कर भी इस कर्ण का सारा मद उतार देता।···"

"उत्तेजित मत हो भीम !" युधिष्ठिर बोला, "जहां इतने सारे गुरुजन वर्तमान हों, वहां तुम्हें इतनी चिंता करने की क्या आवश्यकता है। द्वंद्व-युद्ध की याचना कर कर्ण ने अपनी वीरता और महत्त्व ही तो प्रदर्शित करना चाहा है, कोई अपराध तो नहीं किया। तुमने देखा नहीं कि कहीं क्रीड़ा हो रही हो और एक बालक, किसी कारण से उसमें भाग न ले पाए, उपेक्षित-सा एक ओर खड़ा हो, तो बेचारा अपना महत्त्व जताने के लिए अथवा हीनता-बोध से मुक्ति पाने के लिए ही उस क्रीड़ा को किसी-न-किसी प्रकार बिगाड़ने का प्रयत्न करता है, चाहे खेल बिगाड़ने में वह स्वयं दूसरों के हाथों पिट ही क्यों न जाए।"

"तो फिर ये लोग खेल बिगाड़ने में इसे पिट ही क्यों नहीं जाने देते ?" भीम बोला, "यह यदि अर्जुन को धनुष-युद्ध के लिए ललकार रहा है, तो मैं इसका गदा-युद्ध के लिए आह्वान करता हूँ। इस सूतपुत्र को भी ज्ञात हो जाए कि द्वंद्व-युद्ध क्या होता है !"

"नहीं !" युधिष्ठिर बोला, "तुम देख नहीं रहे कि हमारे सारे गुरुजन इस द्वंद्व-युद्ध को रोकना चाहते हैं।"

"पर क्यों ? क्या वे लोग भयभीत हैं ? वे समझते हैं कि अर्जुन पराजित हो जाएगा ?"

"मैं कह नहीं सकता !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु इतना तो स्पष्ट है ही कि यह कुरु-कुल के लिए अशोभनीय होगा।"

"क्या अशोभनीय है इसमें ?" भीम उद्दंड भाव से बोला, "यह सारथिपुत्र अहंकारवश आया और पिट गया। इसमें अशोभनीय क्या है ?"

"मध्यम ! तुम्हारा ध्यान इस ओर नहीं गया कि सारथिपुत्र को तो कब से रंगशाला से निकाल दिया गया होता, यह तो दुर्योधन है, जो उसे टिकाए हुए है। कर्ण है ही क्या ? वह तो दुर्योधन का पांसा मात्र है। विरोध तो दुर्योधन और अर्जुन का है। यह गृहकलह नहीं हुई क्या ? इसी को बचाने का प्रयत्न किया जा रहा है।"

"तो गुरु द्रोण ने इस द्वंद्व की अनुमति क्यों दे दी ?"

"मूल कारण तो वे ही जानें !" सहदेव ने उत्तर दिया, "किंतु जो मैं समझ पाया हूँ, वह यह है कि यदि वे अनुमति न देते, तो कदाचित् यह समझा जाता कि वे भयभीत हैं कि उनका सर्वश्रेष्ठ शिष्य किसी अन्य गुरु के शिष्य से पराजित हो जाएगा। इस द्वंद्व के लिए अनुमति न देना उनकी अपनी प्रतिष्ठा के लिए घातक होता।"

"उन्हें कुरु-वंश की गृह-कलह को टालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए

था ?"

"कदाचित् उनके लिए अपनी प्रतिष्ठा, कुरु-कुल की शांति से अधिक महत्त्वपूर्ण है।" युधिष्ठिर ने कहा।

"इस सारे उपद्रव में यह सारथिपुत्र तो राजा बन गया न।" भीम ने अपनी गदा तौली।

सहदेव हँसा, "आप भी मध्यम !..."

"इसमें हँसने की क्या बात है ?" भीम ने उसे टोका।

"अरे आप दुर्योधन की चातुरी देखें। यह स्वयं लड़ने का साहस नहीं करता, दूसरों को लड़ने के लिए भड़काता रहता है। इस समय भी यह कर्ण को राजा नहीं बना रहा, उसे अर्जुन से भिड़ने के लिए उकसा मात्र रहा है। इस द्वंद्व में किसी की भी जय-पराजय से दुर्योधन को कोई हानि नहीं होगी। या तो वह हमें कुछ दुर्बल कर देगा, या हमारा एक नया शत्रु बनाकर उसे अपने लाभ के लिए पाल लेगा। आपने यह नहीं देखा कि उसने गुरु-पुत्र अश्वत्थामा को भी अपना मित्र बना रखा है, ताकि जब-तब वह हमारी राह काटता रहे।...कर्ण को भी वह मात्र बलि-पशु के रूप में तैयार कर रहा है।..."

"अरे प्रत्येक राजा, युद्ध करता है।" भीम बोला, "कर्ण भी राजा बनकर युद्ध ही तो करेगा। इसमें बलि-पशु बनने की क्या बात है ?" भीम पहले से भी अधिक उत्तेजित हो गया, "और युद्ध इत्यादि तो बाद की बात है। यह राज्य मूलतः हमारा है, सम्राट् पांडु के पुत्रों का। राजा धृतराष्ट्र तो मात्र उसकी देख-रेख के लिए राज-प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किए गए थे, जब तक कि हम उसे संभालने के योग्य नहीं हो जाते। राजा होने पर भी धृतराष्ट्र इसके स्वामी नहीं हैं। वे इच्छा होने पर भी इस राज्य को, अथवा इसके किसी खंड को, किसी को इस प्रकार दे नहीं सकते। यदि धृतराष्ट्र और दुर्योधन इस प्रकार राज्य बांटने लगे, तो हमारे ज्येष्ठ के हाथ में आते-आते, कुरु-राज्य कदाचित् हस्तिनापुर तक ही सीमित रह जाएगा..."

"मध्यम ! मध्यम !!" सहदेव हँसा, "यदि ऐसे सिंहासन पर बैठाकर अभिषेक जल छिड़क देने से ही कोई राजा हो जाता, तो हस्तिनापुर की प्रत्येक वीथि में अनेक राजा निवास कर रहे होते—राजा के लिए आवश्यक है, धरती और प्रजा पर अधिकार। क्या अंगदेश की धरती तथा प्रजा पर इस अभिषेक से कर्ण का अधिकार हो जाएगा ? या उस धरती तथा प्रजा पर दुर्योधन का अधिकार है, जो वह कर्ण को सौंप देगा ? पूरा ढपोरशंख है यह दुर्योधन और मूर्ख है यह कर्ण।..."

"यह ठीक है, किंतु राज्य किसी को दे देने का अधिकार..." भीम अब भी शांत नहीं हुआ था, "मैं यह कह रहा हूँ कि आज के इस नाटक से इस सारथिपुत्र

को कुछ मिले या न मिले; किंतु यदि महाराज धृतराष्ट्र को यह अधिकार दिया गया कि वह अपने राज्य का कोई अंग किसी को दे सकते हैं, तो वे पूरा का पूरा कुरु साम्राज्य दुर्योधन को दे डालेंगे।···"

"वे हमारे ज्येष्ठ की उपेक्षा कर, दुर्योधन को कैसे युवराज बना देंगे?" अर्जुन सहज विश्वास के साथ बोला, "कुरुवंश के कुछ नियम हैं, परंपराएँ हैं, कुल वृद्धों की मान्यताएँ हैं···।"

"युवराज बनाने की बात नहीं कह रहा हूँ बौडम!" भीम झल्लाकर बोला, "राज्य तो ऐसे भी दिया जा सकता है, जैसे कर्ण को दिया गया। उसे कोई युवराज बनाया गया था?"

"मध्यम ठीक कह रहा है।" सहदेव बोला, "कई बार कार्य अनियमित होते हैं और कई बार नियम ही ऐसे बदल लिये जाते हैं कि कोई उसे अनियमित न कह सके।"

"इसीलिए तो कह रहा हूँ कि हमें बलपूर्वक अपना अधिकार···"

"भीम!" युधिष्ठिर ने उसे टोक दिया, "सबसे बड़ा अधिकार, नैतिक अधिकार है। वह हमारे पास है। तुम न तो स्वयं उत्तेजित होओ, और न ही अपने छोटे भाइयों को चिंतित करो। जब हस्तिनापुर के सारे कुल-वृद्ध दुर्योधन से पराजित हो जाएँगे, तब हम अपने बल की बात सोचेंगे···।"

मंत्रोच्चार समाप्त हो गया।

"अंगराज कर्ण के पिता को बुलाइए।" पुरोहित ने कहा, "महाराज अपने पिता के चरण छूकर सबसे पहले उनसे आशीर्वाद लेंगे।"

अनुचर कर्ण के पिता को लिवा लाने के लिए भागे।

अभिषेक जल से भीगे मस्तक पर किरीट धारण किए हुए, कर्ण ने कृतज्ञ भाव से दुर्योधन को हाथ जोड़े, "मैं तुम्हारा आभारी हूँ राजकुमार! जन्म-जन्मांतर तक का कृतज्ञ। तुमने न केवल मुझे आज के अपमान से बचा लिया है, वरन् एक सम्मानपूर्ण जीवन भी दिया है।" उसका स्वर गद्‌गद हो आया था, कंठ अवरुद्ध-सा हो रहा था; और आँखें भीग आई थीं, "मैं तुम्हारी इस कृपा से कैसे उऋण होऊँगा।···"

"इसके बदले में तुम मुझे एक वस्तु दे दो कर्ण।" दुर्योधन बोला, "सारा ऋण चुकता हो जाएगा।"

"मेरे पास ऐसा है ही क्या, जो तुम्हें दे सकूँ।" कर्ण बोला, "बोलो! मेरा अपना कुछ भी अदेय नहीं है, तुम्हारे लिए।"

"अपनी मैत्री! अभिन्न मैत्री! आजीवन मैत्री!" दुर्योधन ने अपनी भुजाएँ

दीं।

कर्ण को लगा, जैसे सारी सृष्टि की संपूर्ण संपदा एक मोहक शिशु के समान
नी भुजाएँ फैलाकर आग्रहपूर्वक उसके आलिंगन में आने के लिए मचल रही
। उसने आगे बढ़कर, दुर्योधन को अपनी भुजाओं में बाँध लिया, "मैं तुम्हारा
त्र हुआ। आजीवन! अनुगृहीत मित्र! आभारी! मुझे अपना क्रीतदास
समझो। जो सेवा हो सकेगी, प्राण देकर भी करूँगा।..."

तभी भृत्यगण, अपार जन-समूह में से मार्ग बनाते हुए अधिरथ को लेकर आ गए।
अधिरथ बौराया-सा, कर्ण के सम्मुख खड़ा था। उसने कदाचित् अपने पुत्र को इस
रूप में देखने की कभी कल्पना भी नहीं की थी।...राजसी वेश! सिर पर
किरीट! अभिषेक के जल से भीगा माथा। चारों ओर अंगराज का जय-
जयकार...

कर्ण के रंगशाला में प्रवेश करते ही कुंती चिंतित हो गई थी। अपने पुत्रों के प्रशिक्षण
पूर्ण हो जाने और उनके समर्थ होने की प्रसन्नता, उसी समय धूमिल हो गई थी,
जिस समय कर्ण ने द्वंद्व-युद्ध का आह्वान किया था और द्रोणाचार्य ने उसकी अनु-
मति दे दी थी। फिर दुर्योधन लगातार कर्ण का समर्थन करता रहा और धृतराष्ट्र
प्रकारांतर से दुर्योधन से अपनी सहमति जताता रहा। उसके निकट बैठी, आँखों पर
पट्टी बाँधे सारे दृश्य जगत की उपेक्षा-सी करती गांधारी, अपने श्रवणों के माध्यम
से जैसे एक-एक घटना को पी रही थी। दुर्योधन के कृत्यों को जानकर कैसे मंद-मंद
मुस्करा रही थी; और कुंती की बाध्यता थी कि वह यह सब देखते-बूझते हुए
भी उससे दूर नहीं जा सकती थी...सम्राट् पांडु का पुत्र उपेक्षित हो रहा था
और उसी सम्राट् के राज्य पर बलात् आधिपत्य स्थापित किए हुए, ये पिता-पुत्र
इस साधारण युवक को अर्जुन के विरुद्ध उकसा ही नहीं रहे थे, अर्जुन के साथ उसके
भिड़ंत का प्रबंध कर रहे थे। इतने लोग उपस्थित थे यहाँ—भीष्म, वृद्ध बाह्लीक
सोमदत्त, विदुर, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कुरु-वृद्ध, मंत्री, सेनापति...फिर भी
सब कुछ दुर्योधन की इच्छानुसार ही हो रहा है। कोई भी तो उसे रोकने वा
नहीं है। उसके अधिकारों को चुनौती देने वाला नहीं है।...ऐसे में कुंती
आशा कैसे कर सकती थी कि अब युधिष्ठिर को अपने पिता का राज्य
की तैयारी में, युवराज बना दिया जाएगा।...जिसे वह अपने पुत्रों के
त्थान का समारोह मानकर आई थी, वह तो उसे उन लोगों को घेरकर
हत्या करने का षड्यंत्र दिखाई पड़ रहा था...

कर्ण ने न केवल अधिरथ के चरण छुए, उसने भक्तिवश अपने पिता के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया।

और चारणों ने जयघोष किया, "महाराज अंगेश के पिता सारथि अधिरथ की जय।"

और उसी क्षण भीम ने खुले कंठ से उच्च स्वर में पुकारकर कहा, "सारथि! अपने पुत्र के हाथ में प्रतोद दो; राजदंड इस हाथ में शोभा नहीं पाएगा।"

कुंती चौंकी···यह नाम तो उसने बहुत पहले सुना था···अपनी पहली संतान को, पिता कुंतिभोज को सौंपते हुए···उसे ठीक स्मरण है···यही नाम था वह··· हस्तिनापुर का सारथि अधिरथ···अपने स्वयंवर के समय पांडु के कंठ में जय-माला डालते हुए भी तो हस्तिनापुर के साथ उसके मन में दूसरा नाम यही गूंजा था—सारथि अधिरथ!···तो यह सारथि अधिरथ था और यह इसका पुत्र था···

कुंती की वर्षों की साध जैसे पूरी हुई।···इतने लंबे अंतराल के पश्चात वह अपने उस ज्येष्ठ पुत्र को देख रही थी···वह नवजात शिशु इतना बड़ा हो गया। वह पूर्ण युवक है। सुंदर, स्वस्थ और बलिष्ट! ऐसा ही होना चाहिए था उसे··

किंतु सहसा उसका विचार-प्रवाह थम गया। उसके विवेक ने जैसे उसके वात्सल्य के भागते अश्वों को कशा मारकर रोक दिया था, उनकी वल्गा पूरी तरह खींच ली थी···इस गति से भागते अश्वों को, जिस आकस्मिकता में बलपूर्वक रुकना पड़ा था, उससे उनके मुख में झाग आ गई थी; उनकी अगली दोनों टांगें, हवा में उठ आई थीं। वे अपने बंधनों में बंधे, रुकने का प्रयत्न करते हुए भी जैसे, पिछले वेग के कारण आगे खिसकते जा रहे थे···

कुंती ने दासी की ओर देखा, "कौन है यह व्यक्ति?"

दासी निकट आ गई। झुककर धीरे से सम्मानपूर्वक बोली, "यह महाराज के सारथियों में से एक है देवि! अधिरथ।"

"कर्ण इसी का पुत्र है?" कुंती का विवेक अपने सारे संदेह मिटा लेना चाहता था।

"हां देवि! यह ही कर्ण का पिता है।"

"कर्ण इसकी औरस संतान है क्या?"

"नहीं देवि! कर्ण का पालन-पोषण इनके घर पर हुआ है। इनके अपने पुत्र तो कर्ण से बहुत छोटे हैं।" दासी बोली।

'यह मेरा ही पुत्र है! मेरा!' कुंती की इच्छा हुई कि उठकर खड़ी हो जाए और उच्च स्वर में घोषणा कर कहे, 'कर्ण, सारथि अधिरथ का पुत्र नहीं है, वह मेरा पुत्र है मेरा। सम्राट् पांडु की महारानी कुंती का ज्येष्ठ पुत्र। वह युधिष्ठिर का बड़ा भाई है। वह सारथिपुत्र नहीं है।'···उसकी इच्छा हुई,

वह जाकर भीम से कहे, 'क्या कर रहा है भीम ! तू ? अपने बड़े भाई का ऐसा अपमान !'

किंतु कुंती के विवेक ने उसे पुनः रोक दिया : कुंती वह तेरा अतीत था। वर्तमान सदा अतीत से भिन्न होता है। अपने इस गोपनीय अतीत को अपने वर्तमान पर आरोपित मत कर।...यदि तू अपने इस अतीत को स्वीकार कर सकती थी, तो फिर उसे त्यागने की क्या आवश्यकता थी ?...उसे त्यागा था, ताकि पिता कुंतिभोज का यश धूमिल न हो, शूरसेन का कुल कलंकित न हो।... तब उसे त्याग दिया, वर्षों तक उससे दूर रही। अपने अपयश के भय से उसकी खोज नहीं की, उसके विषय में एक शब्द तक अपनी जिह्वा पर नहीं लाई... हस्तिनापुर में आकर भी किसी से एक बार जिज्ञासा तक नहीं की...तब जिस भय से उसे त्याग दिया था, आज उसका वह कलुष धुल गया है क्या ?...आज वह उसे अंगीकार कर लेगी तो कुंतिभोज का यश धूमिल नहीं होगा क्या ?शूरसेन का कुल कलंकित नहीं होगा ?...और फिर उसका अपना क्या होगा ? यदि आज वह कर्ण को अपने पुत्र के रूप में अंगीकार करती है, तो उसकी विश्वसनीयता समाप्त नहीं हो जाएगी ? उसका अपना चरित्र लांछित नहीं होगा ? और तब उसके इन पांच पांडु-पुत्रों के विषय में अनेक प्रश्न नहीं पूछे जाएँगे ! उनके जन्म और वंश के संबंध में संदेहों, प्रश्नों, आरोपों और लांछनों ही नहीं, आपत्तियों का उत्तर कौन देगा ?...वह अपने एक पुत्र को सूत-पुत्र के कलंक से मुक्ति दिलाने के प्रयत्न में कहीं अपने इन पाँचों पुत्रों को अनेक असह्य और असाध्य कलंकों से आच्छादित न कर दे...

कुंती के मन में भीषण बवंडर उठ रहा था...आज वर्षों के पश्चात् उसे अपना खोया हुआ पुत्र मिला था; और वह पाषाण के समान यहाँ बैठी रहे; एक बार उसे अपनी भुजाओं में भरकर अपने वक्ष से भी न लगाए ?...समाज के समान उसे अंगीकार न करे; किंतु उसके कान में चुपके से यह तो कह दे कि कुंती उसकी माँ है, पांडव उसके भाई हैं। वह क्यों अर्जुन से शत्रुतापूर्ण व्यवहार कर रहा है—वह उसका छोटा भाई है।...क्यों वह उनके जन्मजात शत्रु का मित्र बन रहा है।...उसे राज्य चाहिए तो वह अपनी माँ के पास आ जाए। पांडव उसे अपना बड़ा भाई मानकर सारा कुरु-साम्राज्य उसके चरणों पर धर देंगे।...

किंतु कुंती का विवेक सजग प्रहरी के समान खड़ा था। यह तो मूर्ख ममता थी, जो उसके मन में बिलख रही थी। ममता को आश्वस्त कराने के लिए वह विवेक की हत्या नहीं कर सकती थी। किंतु यदि उसने कर्ण को नहीं बताया तो वह अर्जुन से द्वंद्व युद्ध करेगा...उसके अपने ही पुत्र एक-दूसरे के विरुद्ध, शस्त्र लेकर लड़ेंगे...संभव है कि दोनों में से एक का वध हो जाए...

बता दे कुंती !...चुप रह कुंती !कुंती बताती क्यों नहीं ?...कुंती सँभाल !

अपने-आपको सँभाल ! नहीं तो कोई-न-कोई क्रूरता कर ही बैठेगी···

कुंती को लगा, जैसे सारा ब्रह्मांड घूम रहा है।···

वैद्यों की देख-रेख में दासियाँ कुंती को उसके रथ की ओर ले जा रही थीं; और दुर्योधन कृपाचार्य से पूछ रहा था, "अब तो कर्ण, अर्जुन से द्वंद्व युद्ध करने के योग्य हो गया न आचार्य ?"

कृपाचार्य हँसे, "क्यों अब क्या अंतर आ गया है कर्ण में ?"

"क्यों !" दुर्योधन कुछ उत्तेजित होकर बोला, "अब वह राजा है—महाराज अंगेश। उसका राज्याभिषेक हुआ है।"

कृपाचार्य मुस्कराए बिना नहीं रह सके, "कल यदि जरासंध, राजगृह में अपने किसी कर्मचारी का, हस्तिनापुर के सम्राट् के रूप में राज्याभिषेक कर देगा, तो क्या उसका वह कर्मचारी हस्तिनापुर का सम्राट् हो जाएगा ?" कृपाचार्य गंभीर हो गए, "वत्स दुर्योधन ! अंगराज का राज्याभिषेक चंपा अथवा मालिनी नगरी के राजप्रासाद में रखे, राजसिंहासन पर बैठकर होगा।···आज जो कुछ हुआ है, वह कर्ण को तुम्हारा वचन मात्र है कि समय आने पर तुम उसका यह अधिकार स्वीकार कर लोगे। यह तो निर्धारित हुआ ही नहीं कि सैन्याभियान तुम करोगे या स्वयं कर्ण करेगा।···और भी एक बात है राजकुमार !" कृपाचार्य ने कुछ रुककर दुर्योधन को देखा, "दस्यु वृत्ति से प्राप्त राज्याधिकार से शायद ही किसी को राज-समाज में सम्मान मिला हो। जाकर पूछो अपने पितामह से, विदुर से, अपने आचार्य से—उनमें से कोई भी कर्ण को राजा की मान्यता देता है ? कोई मानता है उसे, महाराज अंगेश ?···अच्छा हो कि कर्ण स्वयं को अधिकार से पहले, सम्मान के योग्य सिद्ध करे। उसे तो ऋषि परशुराम ने अपने शिष्य के रूप में भी स्वीकार नहीं किया !"

दुर्योधन को लगा, राजसमाज से पहले तो कर्ण को कृपाचार्य से ही मान्यता प्राप्त करनी होगी।···और उसके क्रोध के लिए यह पर्याप्त था। ··यह हमारा राजकर्मचारी···वेतन-भोगी कृपाचार्य···जिसका पालन-पोषण भी हस्तिनापुर के राजवंश ने ही किया।···आज वह इस प्रकार बातें कर रहा है, जैसे वह सच-मुच ही हस्तिनापुर का स्वामी हो।···उसे लगा, कहीं उसका आक्रोश फट ही न पड़े। उसका यहाँ से हट जाना ही उचित था।···

"आओ मित्र !" वह कर्ण का हाथ पकड़े हुए रंगशाला से बाहर निकल गया।

15

अपने कक्ष में लेटी कुंती वैद्यों के निर्देशानुसार विश्राम कर रही थी; किंतु उसका मन तनिक भी शांत नहीं था।...पांडवों के साथ गांधारी के पुत्रों के वैर-विरोध ने उसे कभी इतना विचलित नहीं किया था; किंतु स्वयं उसका अपना पुत्र कर्ण, उनका वैरी हो जाए, और वह उसे बता भी न पाए, समझा भी न पाए, यह कैसी विवशता थी उसकी !...उसका मन जैसे सागर की अशांत लहरों के समान उमड़-उमड़कर, हाथ पसारे उसे अपनी गोद में खींच लेने के लिए बढ़ता था, किंतु मर्यादा के कगार उसे बार-बार पीछे धकेल देते थे। यदि उसने कर्ण को अंगीकार किया तो वह अपने पिता और अपने पुत्रों—दोनों को ही कलंकित करेगी।... वह अपने ही पुत्रों के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बन जाएगी।...नहीं ! उसे यह नहीं करना है। वह अपने लिए नहीं, उनके लिए जिएगी और अपने इस ममता-मय हृदय को विवेक के अंकुश में रखेगी।...किंतु कर्ण के लिए उसका हृदय बिलखता है · उस दिन रंगशाला में कैसा पीड़ित और अपमानित अनुभव किया होगा उसने !...कृपाचार्य ने उससे उसका वंश पूछा था।...भीम ने ही उसे सूत-पुत्र कहकर पुकारा था।...वह उसका पक्ष लेकर अपने ही पुत्रों से कुछ नहीं कह सकती थी।...उन्हें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए कि उसके मन में कर्ण के लिए कोई कोमल भाव है।...कैसा विधान रचा है, तुमने विधाता ...कितना बिलखता था उसका मन, अपने इस शिशु-पुत्र के लिए। किंतु अब उसने देख लिया है कि वह शिशु नहीं है। वयस्क हो गया है वह। दुर्योधन ने उसे राजा का मान दिया है। उसके पास उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए राधा और अधिरथ हैं। सारथि हैं तो क्या ! माता-पिता का दायित्व तो जाति और वंश नहीं देखता।...संभव है, उसका विवाह भी हो गया हो।...यदि कहीं कुंती ने उसे अंगीकार कर लिया और वह पांडवों में आ मिला, तो उसका अंग-देश का राज्य भी छिन जाएगा और उसका भी भविष्य पांडवों के ही समान अनिश्चित हो जाएगा।...वह उसे अपनी ओर से दे कम पाएगी—वंचित ही अधिक करेगी ! पहले भी तो उसने यही किया था उसके साथ...

"कैसी हो मां ?" युधिष्ठिर ने कक्ष में प्रवेश करते हुए पूछा, "देखो ! विदुर काका भी आए हैं।"

कुंती उठकर बैठ गई। उसने देखा, युधिष्ठिर के साथ विदुर ही नहीं—भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव भी थे। वे लोग संयोग से ही एक साथ नहीं आए थे; लगता था कि इससे पूर्व भी कहीं एक साथ बैठकर वे लोग विचार-विमर्श करते रहे होंगे।...कुंती को लगा कि क्षण-भर के लिए उसके मन में अवसाद घिर आया है। ये लोग इकट्ठे बैठे होंगे तो धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा शकुनि की

दुष्टताओं पर विचार करते हुए, इन्होंने साथ-साथ कर्ण को भी कोसा होगा।···इन्हें क्या मालूम कि कर्ण इनका ही भाई है। ये नहीं जानते कि यह इनका शत्रु नहीं, वह तो सामाजिक विडंबना का आखेट, एक अबोध बालक है, जो घर से निकालकर गली में धकेल दिया गया है; और अपने परिवार के किसी व्यक्ति को अपने निकट न पाकर, अपने अकेलेपन और अपनी असहायता में वह गली में फिरने वाले कुत्तों से मित्रता कर बैठा है। बेचारा नहीं जानता कि वे कुत्ते हैं, उनमें न मानवता है, न न्याय, न धर्म और न उदार दृष्टि ! ये केवल अपनी भूख और अपना भय ही पहचानते हैं—उससे अधिक की बुद्धि ही उनके पास नहीं है। वे लोभ अथवा अपनी आशंकाओं से उत्पन्न त्रास के आवेश में किसी को भी काट लेते हैं; और अब तो अपने मार्ग पर चलते पथिकों को काटना उनका दैनिक अभ्यास ही हो गया है।···कर्ण नहीं जानता कि उनमें यह रोग, उसे भी लग जाएगा। यह भी उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, मानवता-अमानवता—कुछ नहीं पहचानेगा। वह भी मार्ग चलते लोगों को काटने का अभ्यास बना लेगा···और क्रमशः अपने उन्माद में विक्षिप्त होते-होते, वह पूर्णतः अलर्क हो जाएगा··· परिणामतः सुधिजन उसे घेरकर मार डालेंगे···

तो क्या करे कुंती ? मृत्यु के पथ पर बढ़ते अपने उस पुत्र की बाँह पकड़कर, उसे गली से अपने घर में ले आए ?···उसे घर में ले आने से ही घर उजड़ गया तो ?···वह अपना घर बचाए या गली में खड़े उस पुत्र को ?···घर में पलते, अपने इन बेटों को समझाए कि वह इनका भाई है और यह केवल अपनापन खोज रहा है, या गली में खड़े उस पुत्र को समझाए कि उसके सब आत्मीयजन वर्तमान हैं; किंतु विधाता ने उसे कुछ ऐसी घड़ी और उन परिस्थितियों में जन्म दिया है कि उसे अपना घर होते हुए भी, वह मिल नहीं पाएगा···इसलिए वह अपने इन भाइयों से वैर न करे···

"कैसी हैं भाभी आप ?" विदुर ने पास आकर पूछा।

कुंती ने युधिष्ठिर को संकेत किया, 'काका को आसन दो।' और मुस्कराकर बोली, "ठीक हूँ। मेरी तो समझ में ही नहीं आया कि मुझे हुआ क्या था। एक चक्कर आया था और थोड़ी देर के लिए कुछ अवश-सी हो गई थी; किंतु तुम लोग मेरी ऐसी शुश्रूषा कर रहे हो, जैसे मैं वर्षों की रोगिणी हूँ।"

"भाभी ! जिसके रोग का ज्ञान होता है, उसके विषय में इतनी चिंता नहीं होती, क्योंकि उसका कारण ज्ञात होता है; किंतु किसी स्वस्थ व्यक्ति में अकारण ही रोगी के-से लक्षण दिखाई पड़ें, तो अधिक चिंता होती है, कि कहीं कोई असाध्य रोग न हो। यह तो अज्ञान का भय है भाभी।"

"वैद्य मेरा नाड़ी-परीक्षण कर तो चुके।" कुंती के अधरों पर एक लीलामयी मुस्कान उभरी, "उन्होंने मेरे रोग का निदान नहीं किया ?"

15

अपने कक्ष में लेटी कुंती वैद्यों के निर्देशानुसार विश्राम कर रही थी; किंतु उसका मन तनिक भी शांत नहीं था।...पांडवों के साथ गांधारी के पुत्रों के वैर-विरोध ने उसे कभी इतना विचलित नहीं किया था; किंतु स्वयं उसका अपना पुत्र कर्ण, उनका वैरी हो जाए, और वह उसे बता भी न पाए, समझा भी न पाए, यह कैसी विवशता थी उसकी !...उसका मन जैसे सागर की अशांत लहरों के समान उमड़-उमड़कर, हाथ पसारे उसे अपनी गोद में खींच लेने के लिए बढ़ता था, किंतु मर्यादा के कगार उसे बार-बार पीछे धकेल देते थे। यदि उसने कर्ण को अंगीकार किया तो वह अपने पिता और अपने पुत्रों—दोनों को ही कलंकित करेगी।... वह अपने ही पुत्रों के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बन जाएगी।...नहीं ! उसे यह नहीं करना है। वह अपने लिए नहीं, उनके लिए जिएगी और अपने इस ममता-मय हृदय को विवेक के अंकुश में रखेगी।...किंतु कर्ण के लिए उसका हृदय बिलखता है · उस दिन रंगशाला में कैसा पीड़ित और अपमानित अनुभव किया होगा उसने !...कृपाचार्य ने उससे उसका वंश पूछा था।...भीम ने ही उसे सूत-पुत्र कहकर पुकारा था।...वह उसका पक्ष लेकर अपने ही पुत्रों से कुछ नहीं कह सकती थी।...उन्हें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए कि उसके मन में कर्ण के लिए कोई कोमल भाव है।...कैसा विधान रचा है, तुमने विधाता ...कितना बिलखता था उसका मन, अपने इस शिशु-पुत्र के लिए। किंतु अब उसने देख लिया है कि वह शिशु नहीं है। वयस्क हो गया है वह। दुर्योधन ने उसे राजा का मान दिया है। उसके पास उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए राधा और अधिरथ हैं। सारथि हैं तो क्या ! माता-पिता का दायित्व तो जाति और वंश नहीं देखता।...संभव है, उसका विवाह भी हो गया हो।...यदि कहीं कुंती ने उसे अंगीकार कर लिया और वह पांडवों में आ मिला, तो उसका अंग-देश का राज्य भी छिन जाएगा और उसका भी भविष्य पांडवों के ही समान अनिश्चित हो जाएगा।...वह उसे अपनी ओर से दे कम पाएगी—वंचित ही अधिक करेगी ! पहले भी तो उसने यही किया था उसके साथ...

"कैसी हो माँ ?" युधिष्ठिर ने कक्ष में प्रवेश करते हुए पूछा, "देखो ! विदुर काका भी आए हैं।"

कुंती उठकर बैठ गई। उसने देखा, युधिष्ठिर के साथ विदुर ही नहीं—भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव भी थे। वे लोग संयोग से ही एक साथ नहीं आए थे; लगता था कि इससे पूर्व भी कहीं एक साथ बैठकर वे लोग विचार-विमर्श करते रहे होंगे।...कुंती को लगा कि क्षण-भर के लिए उसके मन में अवसाद घिर आया है। ये लोग इकट्ठे बैठे होंगे तो धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा शकुनि की

दुष्टताओं पर विचार करते हुए, इन्होंने साथ-साथ कर्ण को भी कोसा होगा।··· इन्हें क्या मालूम कि कर्ण इनका ही भाई है। ये नहीं जानते कि वह इनका शत्रु नहीं, वह तो सामाजिक विडंबना का आखेट, एक अबोध बालक है, जो घर से निकालकर गली में धकेल दिया गया है; और अपने परिवार के किसी व्यक्ति को अपने निकट न पाकर, अपने अकेलेपन और अपनी असहायता में वह गली में फिरने वाले कुत्तों से मित्रता कर बैठा है। बेचारा नहीं जानता कि वे कुत्ते हैं, उनमें न मानवता है, न न्याय, न धर्म और न उदार दृष्टि ! वे केवल अपनी भूख और अपना भय ही पहचानते हैं—उससे अधिक की बुद्धि ही उनके पास नहीं है। वे लोभ अथवा अपनी आशंकाओं से उत्पन्न त्रास के आवेश में किसी को भी काट लेते हैं; और अब तो अपने मार्ग पर चलते पथिकों को काटना उनका दैनिक अभ्यास ही हो गया है।···कर्ण नहीं जानता कि उनमें वह रोग, उसे भी लग जाएगा। वह भी उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, मानवता-अमानवता—कुछ नहीं पहचानेगा। वह भी मार्ग चलते लोगों को काटने का अभ्यास बना लेगा···और क्रमशः अपने उन्माद में विक्षिप्त होते-होते, वह पूर्णतः अतर्क हो जाएगा··· परिणामतः सुधिजन उसे घेरकर मार डालेंगे···

तो क्या करे कुंती ? मृत्यु के पथ पर बढ़ते अपने उस पुत्र की बाँह पकड़कर, उसे गली से अपने घर में ले आए ?···उसे घर में ले आने से ही घर उजड़ गया तो ?···वह अपना घर बचाए या गली में खड़े उस पुत्र को ?···घर में पलते, अपने इन बेटों को समझाए कि वह इनका भाई है और वह केवल अपनापन खोज रहा है, या गली में खड़े उस पुत्र को समझाए कि उसके सब आत्मीयजन वर्तमान हैं; किंतु विधाता ने उसे कुछ ऐसी घड़ी और उन परिस्थितियों में जन्म दिया है कि उसे अपना घर होते हुए भी, वह मिल नहीं पाएगा···इसलिए वह अपने इन भाइयों से वैर न करे···

"कैसी हैं भाभी आप ?" विदुर ने पास आकर पूछा।

कुंती ने युधिष्ठिर को संकेत किया, 'काका को आसन दो।' और मुस्कराकर बोली, "ठीक हूँ। मेरी तो समझ में ही नहीं आया कि मुझे हुआ क्या था। एक चक्कर आया था और थोड़ी देर के लिए कुछ अवश-सी हो गई थी; किंतु तुम लोग मेरी ऐसी शुश्रूषा कर रहे हो, जैसे मैं वर्षों की रोगिणी हूँ।"

"भाभी ! जिसके रोग का ज्ञान होता है, उसके विषय में इतनी चिंता नहीं होती, क्योंकि उसका कारण ज्ञात होता है; किंतु किसी स्वस्थ व्यक्ति में अकारण ही रोगी के-से लक्षण दिखाई पड़ें, तो अधिक चिंता होती है, कि कहीं कोई असाध्य रोग न हो। यह तो अज्ञात का भय है भाभी।"

"वैद्य मेरा नाड़ी-परीक्षण कर तो चुके।" कुंती के अधरों पर एक लीलामयी मुस्कान उभरी, "उन्होंने मेरे रोग का निदान नहीं किया ?"

विदुर अवाक् उसे देखता रहा : कैसी नारी है यह ! कितनी सहनशीलता है इसमें ? कितना आत्मदमन कर सकती है यह ? कितना अभेद्य है इसका मन ?...

"क्यों ? ऐसे क्या देख रहे हो ?" कुंती पुनः मुस्कराई, "क्या राजवैद्य ने कोई असाध्य रोग बता दिया है मुझे ?"

"नहीं !" विदुर बोला, "असाध्य नहीं, अज्ञात रोग बताया है।"

कुंती गंभीर हो गई, "क्या बताया है राजवैद्य ने ?"

"उसे शारीरिक रोग के कोई लक्षण नहीं मिले हैं।" विदुर ने बताया, "किंतु शारीरिक रोग का कोई प्रत्यक्ष कारण न होने पर भी यदि शरीर रोगी लगे तो उसका अर्थ है कि मन पर कोई असह्य बोझ है।"

कुंती पुनः मुस्कराई, "मन पर जितना और जैसा बोझ है, वह तो तुम जानते ही हो विदुर !"

"जितना मैं जानता हूँ—उसके लिए कुछ नहीं कहता।" विदुर बोला, "और यह भी जानता हूँ कि रंगशाला में कर्ण और दुर्योधन ने मिलकर, अर्जुन के लिए जो विकट स्थिति उत्पन्न कर दी थी, उसके कारण भी आपका मन बहुत विचलित हुआ होगा। किंतु यदि इनके अतिरिक्त कोई और बात हो तो ?..." विदुर के चेहरे पर जैसे उसके मन की संपूर्ण आत्मीयता और स्नेह उमड़ आया, "आप जानती हैं भाभी ! कि मुझसे आपको कुछ भी गोपनीय रखने की आवश्यकता नहीं है।..."

"बहुत अच्छी प्रकार जानती हूँ विदुर ! तुम मेरे उतने ही आत्मीय और प्रिय हो, जितने मेरे ये पुत्र ! तुम्हें मालूम है, मैं पितृव्य भीष्म से भी अधिक तुम पर निर्भर रहती हूँ।" कुंती बोली, "तुम मेरा विश्वास करो, मैं मिथ्यावादिनी नहीं हूँ। मैं असत्य भाषण नहीं करती। सिवाय आत्मरक्षा और नीति-रक्षा के अवसरों के—दुराव भी मेरी प्रवृत्ति नहीं है।"

"आप मुझसे कुछ नहीं छिपा रहीं ?"

"विदुर ! स्त्री अपने पुत्र के सम्मुख अवगुंठन धारण नहीं करेगी; किंतु वह स्वयं को अनावृत्त तो नहीं कर सकती।"

क्षण-भर के लिए विदुर की आंखों में एक आभा झलकी और वह सहज हो गया, "ठीक है भाभी ! आप अपने मन को सँभालें; हम हस्तिनापुर की स्थितियों को सँभालेंगे। विधाता की कृपा रही, तो सब कुछ मंगलमय होगा।"

सहसा कुंती का ध्यान अपने पुत्रों की ओर गया : वे पांचों के पांचों ठगे-से खड़े थे, जैसे कुछ समझ ही न पा रहे हों। कुंती मुस्कराई, "तुम लोग इस प्रकार चौंकाए-से क्यों खड़े हो। मां थोड़ी-सी अस्वस्थ हो गई, तो सृष्टि का चक्र तो नहीं रुक गया। अब बालक नहीं हो तुम लोग ! बड़े हो गए हो। कल तुम्हारी पत्नियाँ

आएँगी, तो हँसेंगी तुम पर !···वैसे भी किसी पत्नी को अपने पति का अपनी माता से इस प्रकार इतना प्रेम करना अच्छा नहीं लगता।

पुत्रों ने हँसकर झेंप मिटाई और किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था कर, माँ के निकट बैठ गए।

"आपके पास आने से पहले भाभी ! हम लोग हस्तिनापुर की स्थिति पर विचार कर रहे थे।" विदुर ने बात आरंभ की, "हमें लगता है कि महाराज धृतराष्ट्र के समान असमर्थ अंधपुरुष के सम्मुख भी पितृव्य भीष्म दुर्बल पड़ते जा रहे हैं। उनका नियंत्रण शिथिल ही नहीं हुआ है, प्रायः समाप्त ही हो गया है। मन्त्रि-परिषद् का दबाव भी राजा पर तब तक ही रहता है, जब तक राजा न्याय-प्रिय होता है। मैं अपनी बात राजसभा में कब तक मनवा सकूँगा—इसका स्वयं मुझे कोई अनुमान नहीं है।···"

"इन सारी समस्याओं का समाधान एक ही है विदुर ! कि राजसभा युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक करे।" कुंती बोली, "तुम उसके लिए पितृव्य भीष्म तथा महाराज धृतराष्ट्र पर दबाव डालो। एक बार युधिष्ठिर युवराज-पद पर आसीन हो जाए तो, तुम्हारी सारी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी।··"

"यह हम सब जानते हैं भाभी !" विदुर बोला, "हम ही नहीं दुर्योधन और शकुनि भी जानते हैं। इसीलिए वे युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक को रोकने अथवा यथासंभव स्थगित करने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न कर रहे हैं।···"

"क्यों ? अब क्या है ?" कुंती के स्वर में आवेश था, "अब युधिष्ठिर वयस्क हो चुका है। शिक्षा प्राप्त कर चुका है। अब वह अपने पिता का राज्य सँभालने में पूर्णतः समर्थ तथा सक्षम है।···अब उसे टालने का कोई तर्क ही नहीं है।··"

"स्वार्थ अपना तर्क स्वयं ढूँढ लेता है भाभी !" विदुर मुस्कराया, "जहाँ वास्तविक अधिकारी की हत्या कर, उसके अधिकार का अपहरण करने में भी तनिक संकोच न हो, वहाँ क्या स्वार्थ-सिद्धि के लिए कुतर्क नहीं जुटाए जा सकते ?" विदुर ने कुंती और उसके पुत्रों को थोड़ी देर जैसे शून्य दृष्टि से देखा, "मुझे तो लगता है कि महाराज धृतराष्ट्र ने रंगशाला-उत्सव की अनुमति भी किसी विशेष प्रयोजन से ही दी थी।···"

"उसमें क्या प्रयोजन हो सकता है ?" कुंती ने उसकी बात बीच ही में काट दी, "स्वयं आचार्य द्रोण अपने शिष्यों के माध्यम से अपनी उपलब्धि का प्रदर्शन करना चाहते थे।··"

"वे अवश्य चाहते रहे होंगे कि उनकी उपलब्धि को सराहा जाए। संभव है कि वे अपनी उपलब्धि को विपुलाकार बनाकर प्रस्तुत करना चाहते हों; किंतु महाराज धृतराष्ट्र की रुचि आचार्य की उपलब्धियों की महत्ता की प्रतिष्ठा में नहीं हो सकती। वे कभी नहीं चाहेंगे कि हस्तिनापुर में द्रोण एक स्वतन्त्र शक्ति के

किंतु राज्य पांडु को दिया गया···।"

"यह भी तुम्हारे मित्र का ही तर्क है ?" द्रोण की दृष्टि में तीक्ष्णता थी, "यह तुम्हारा चिंतन नहीं हो सकता।"

"तर्क तो यह दुर्योधन का ही है; किंतु सत्य होने के कारण हम सबको मान्य है।" अश्वत्थामा बोला, "इसलिए इस पीढ़ी में भी केवल ज्येष्ठ होने के कारण, युधिष्ठिर युवराज नहीं हो सकता।"

"सम्राट् पांडु के पुत्रों में से यदि ज्येष्ठ युवराज नहीं होगा, तो मध्यम या कनिष्ठ होगा। दुर्योधन बीच में कहाँ से आ गया। वह असत्य के लिए युद्ध कर रहा है। दुर्योधन है वह !"

किंतु अश्वत्थामा का आग्रह तनिक भी कम नहीं हुआ, "यदि राजा का पुत्र ही युवराज होगा, तो इस समय राजा धृतराष्ट्र हैं।···युधिष्ठिर कहाँ से युवराज हो जाएगा ?"

द्रोण हँसे, "धृतराष्ट्र राजा नहीं, राज-प्रतिनिधि है; किंतु लगता है कि वह आधिपत्य जमाने का उपक्रम कर रहा है।"

"पिताजी !" अश्वत्थामा के स्वर में प्रतिवाद था, "यह राजनीति है।"

"तो पुत्र ?"

"आप दुर्योधन को युधिष्ठिर से अधिक योग्य घोषित करें।"

"इसके लिए आग्रह मत करो अश्वत्थामा।" द्रोण का स्वर मात्र शांत ही नहीं था, उसमें अवसाद भी था, "उसे कहो, वह स्वयं को योग्य प्रमाणित करे।"

"क्या वह रंगशाला में सबसे योग्य नेता प्रमाणित नहीं हुआ ?"

"नहीं !" द्रोण के स्वर में रोष था, "न योग्यतम योद्धा, न योग्यतम नेता। उसने तो स्वयं को सबसे बड़ा उपद्रवी और षड्यंत्रकारी प्रमाणित किया है।"

"क्या आपको नहीं लगता कि स्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं थीं ?"

"स्थितियाँ अनुकूल न हों; तो व्यक्ति को धैर्य धारण करना चाहिए। उपद्रव नहीं करना चाहिए," द्रोण बोले, "तुमने मुझसे इच्छापूर्ति का वरदान माँगा था और तुम्हारी इच्छा थी कि मैं कर्ण और अर्जुन की स्पर्धा में बाधा न बनूं ! मैंने कर्ण को अनुमति दे दी।···और उसने द्वंद्व-युद्ध माँग लिया। द्वंद्व-युद्ध का वरदान तो नहीं दिया था तुम्हें मैंने। किस संकट में डाल दिया, तुम लोगों ने मुझे। यदि मैं द्वंद्व-युद्ध की अनुमति न देता तो यह माना जाता कि मैं कर्ण के बल से भयभीत हूँ, इसलिए अपने शिष्य को उससे युद्ध करने की अनुमति नहीं दे रहा हूँ। वह अर्जुन की नहीं, मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता। अनुमति दे दी, तो यह माना गया कि मैंने कुरु-वंश के सम्मान की रक्षा नहीं की; तथा मैं उनकी सुरक्षा के लिए विशेष चिंतित नहीं हूँ। वह तो कृपाचार्य ने युद्ध नहीं होने दिया। मेरे लिए कृप वरदान सिद्ध हुआ, अन्यथा मुझे पूरा विश्वास है कि वहाँ द्वंद्व-युद्ध के स्थान

पर युद्ध ही होता। अर्जुन पराजित होता, तो कुरु राजकुमारों के वध के लिए मैं दोषी ठहराया जाता; और कर्ण दुर्बल पड़ता तो तुम्हारा यह दुर्योधन उसकी रक्षा के लिए अवश्य ही हस्तक्षेप करता। ऐसे में अन्य लोग भी सम्मिलित होते और मुझे भी धनुष उठाना पड़ता।" द्रोण ने पुत्र की ओर देखा, तो अश्वत्थामा [illegible] नहीं पाया कि उनकी आँखों में क्रोध का भाव था या व्यथा का!

"मैं उसकी भूल के लिए लज्जित हूँ पिताजी!" अश्वत्थामा के स्वर में लज्जा नहीं, अ[illegible]ह ही आग्रह था, "किंतु अब आप मेरी बात मानकर [illegible] में दुर्योधन को योग्यतम राजकुमार घोषित करें।"

"अश्वत्थामा! मैं तुमसे बहुत प्रेम करता हूँ वत्स!" द्रोण ने [illegible] नियंत्रित किया. "किंतु अब तुम वयस्क हुए। बाल-हठ छोड़ो [illegible]

16

सारे कुरु राजकुमार शस्त्र-सज्जित होकर, द्रुपद पर आक्रमण करने के लिए चले तो स्वयं द्रोणाचार्य उनके उत्साह को देखकर कुछ चकित थे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि राजकुमारों के इस उत्साह का कारण क्या था? मात्र गुरु-दक्षिणा या कुछ और? आश्चर्य तो उन्हें इस बात का भी था कि राजकुमारों के साथ शकुनि तथा कर्ण भी थे—जो किसी भी रूप में उनके शिष्य नहीं थे। आचार्य ने उनसे दक्षिणा नहीं माँगी थी, न ही उनका आचार्य के प्रति कोई दायित्व ही था।··· संभवतः वे दोनों दुर्योधन की सहायता के लिए जा रहे थे। यह भी संभव है कि स्वयं धृतराष्ट्र ने उन्हें दुर्योधन की रक्षा के लिए भेजा हो। शकुनि के प्रति द्रोण की कभी कोई अच्छी धारणा नहीं रही—न व्यक्ति के रूप में और न योद्धा के रूप में। उनकी धारणा थी कि यह व्यक्ति जन्मजात वृश्चिक था, जिससे शत्रु भाव रखेगा, उसे तो दंशित करेगा ही; जिसका मित्र होगा, वह भी इसके विष से बच नहीं पाएगा। न उसकी मैत्री अच्छी थी, न शत्रुता। उससे तो असंपर्क ही सबसे अधिक कल्याणकारी था।···उन्हें लगता था कि दुर्योधन की समझ इतनी कच्ची और दूषित थी कि वह कभी भी अपने मित्र तथा शत्रु की परख नहीं कर पाया था। या कदाचित् वह यही नहीं जानता था कि कौन उसका मित्र है तथा कौन शत्रु! जब मनुष्य यही नहीं जानता कि उसका हित क्या है और अहित क्या—तो वह अपने मित्र और शत्रु की परख क्या करेगा।···

वे अपने विषय में जानते थे कि वे हस्तिनापुर क्यों आए हैं। उन्हें क्या करना है! किंतु उन्होंने यह कभी नहीं चाहा था कि अश्वत्थामा, दुर्योधन का ऐसा मित्र बन जाए! वे समझ रहे थे कि अश्वत्थामा जिसे दुर्योधन की मैत्री समझ रहा था, वह वस्तुतः उसकी दासता थी; और अपनी दासता के उस सम्मोहन में वह स्वयं तो बँधता ही था, अपने साथ-साथ अपने बंधुओं को भी बाँधता जा रहा था···

कोई समय था कि जब द्रोण को अपने प्रशिक्षण पर बहुत विश्वास था; किंतु अब, जब वे सारे राज-समाज द्वारा एक अत्यंत उत्कृष्ट कोटि के सफल आचार्य और प्रशिक्षक माने जाते थे, वे स्वयं अपने विषय में जानते थे कि वे अपने पुत्र को भी उस मार्ग पर नहीं चला पाए, जिस पर वे उसे चलाना चाहते थे। अश्वत्थामा वही बना, जो उसे बनना था—वे न उसकी दुर्बलताओं को सबलताओं में परिवर्तित कर पाए और न ही उसकी प्रवृत्तियों को सुधार पाए।···आज ये सारे राजकुमार उनकी माँगी हुई गुरु-दक्षिणा उन्हें देने के लिए इतने उतावले हो रहे हैं, क्योंकि उन्हें बताया गया है कि आज वे जो कुछ भी हैं—आचार्य द्रोण के ही कारण हैं। आचार्य द्रोण ने ही उन्हें यह बनाया है।···किंतु यदि आचार्य द्रोण

स्वयं अपने-आपमें यह प्रश्न करें कि यदि वे ही सबको बनाने वाले थे, तो क्या यदि वे चाहते तो दुर्योधन को भी अर्जुन बना सकते थे ? तो उनका अपना मन ही उनका विरोध करेगा - नहीं ! न अर्जुन को दुर्योधन बनाया जा सकता है, न दुर्योधन को अर्जुन ! दुर्योधन को दुर्योधन ही बनना था और अर्जुन को अर्जुन ही। तो फिर गुरु का योगदान क्या है ? क्या वे व्यर्थ ही यह सारा श्रेय ले रहे हैं ? क्या उनका सारा यश मिथ्या है ? क्या उन्होंने इन राजकुमारों को वीर योद्धाओं के साँचे में ढालने के लिए श्रम नहीं किया ? क्या इन पर अपना समय नहीं लगाया ? क्या उन्हें वह सारा ज्ञान नहीं दिया—जो केवल उनके ही पास था; जो राजकुमारों को और कहीं से भी उपलब्ध नहीं हो सकता था ?···

उन्होंने अपनी प्रतिरक्षा में ये प्रश्न अपने-आपसे ही किए थे, जैसे वे स्वयं अपने-आपको ही विश्वास दिलाना चाह रहे थे कि उनका यह यश मिथ्या नहीं था।···किंतु इन प्रश्नों ने उनके एक बहुत पुराने शत्रु-प्रश्न को मुक्त कर, दिन के उजाले में ला खड़ा कर दिया था, जिसे उन्होंने बड़े प्रयत्न और श्रम से बाँधकर, मन की किसी अँधेरी कोठरी में डाल रखा था ··यदि वे इतने ही सक्षम थे, यदि उन्हें शस्त्रों का इतना ही ज्ञान था, यदि वे इतने ही महान् योद्धा थे, जितने बड़े योद्धा उन्हें संसार मानता था···तो जिस क्षण उन्होंने स्वयं को द्रुपद के द्वारा अपमानित पाया, उन्होंने उसी क्षण खड्ग क्यों नहीं सँभाला ? धनुष क्यों नहीं साधा ?·· क्यों वे चुपचाप अपमानित-से सिर झुकाए हुए, वहाँ से चले आए थे ? अपने इस प्रतिशोध के लिए क्यों उन्होंने वर्षों प्रतीक्षा की थी ?···यदि वे मानते हैं कि वे संसार-भर में युद्ध-विद्या के अद्वितीय आचार्य हैं, तो क्यों एक साधारण से राजा को वे उसी क्षण ललकार नहीं पाए ?···

आज वे अपने शिष्यों की सेना लेकर आए हैं, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि वे द्रुपद के सामने स्वयं को अक्षम मानते थे ?···

उन्हें लगा कि उनके अपने अहंकार ने अपने भीतर छिपे इस प्रखर प्रश्नकर्ता के सम्मुख हथियार डाल दिए थे, 'तुम ही बताओ कि मैंने ऐसा क्यों किया ?'

प्रश्नकर्ता विद्रूप से हँसा, 'मैं तो तुम्हें पहले ही बता देता, किंतु तुम अपने अहंकार के गढ़ में छिपकर बैठ गए थे; अपना साक्षात्कार करना ही नहीं चाहते थे। अब तुमने पूछा है, तो तुम्हें बता देता हूँ।'

'बताओ !'

'ऊपर से चाहे तुम जो भी बनो, किंतु भीतर से बहुत कायर हो तुम।'

'कायर ?'

'हाँ ! साहस नहीं हुआ तुम्हारा, द्रुपद से लड़ने का ! तुम्हें शस्त्रों का ज्ञान है, उनका व्यवहार नहीं आता तुम्हें। युद्धशालाएँ ही देखी हैं तुमने ! युद्ध नहीं देखे ! यह सूचना तो तुम्हें है कि कौन-सा शस्त्र चलाकर कैसा आघात किया जा

सकता है, किंतु न तो तुमने आघात करके देखा है, न आघात खाकर। तुमने युद्ध-क्षेत्र में रक्त बहते तो कभी देखा ही नहीं है।' वह हँसा, 'अब भी जाओगे द्रुपद से लड़ने, या इन युवकों को भेजकर पीछे ही खड़े रहोगे ?"

द्रोण ने जैसे पुनः अपना बचाव किया, 'मैं क्यों जाऊँगा ? मैंने तो गुरु-दक्षिणा मांगी है। यदि मुझे स्वयं ही युद्ध करना होता, तो मैं गुरु-दक्षिणा क्यों मांगता ?'

'तुममें साहस की बहुत कमी है द्रोण !' वह बोला, 'तुम शत्रु की सेना से डरते हो और प्रतिरोध से भी···।'

'प्रतिरोध से ?'

'हां ! प्रतिरोध से ! आचार्य हो न—चाहते हो, सारा संसार तुम्हारे शिष्यों के ही समान, तुम्हारे सम्मुख सिर झुकाए खड़ा रहे। सम्मान ही पाने का अभ्यास रहा है तुम्हें। सम्मान न मिले तो तुम्हारी प्रतिहिंसा जाग उठती है।···'

'यह सब रहने दो।' द्रोण ने उसे डांट दिया, 'तुम यह बताओ, मैं और किससे डरता हूं।'

'निर्धनता से डरते हो। असुविधा से डरते हो। आशंका से डरते हो।···'

'मैंने बहुत निर्धनता देखी है। तपस्या का जीवन रहा है मेरा।'

'रहा होगा ! तब तुम यह नहीं जानते थे कि सुविधाएँ क्या होती हैं ! अब सुविधाएँ छिन जाने का भय है तुम्हें···।'

"गुरुदेव !"

द्रोण अपने भीतर के हाहाकार से उबरकर बाहर आए। कैसा कोलाहल मच रहा था, उनके चारों ओर।···और इसकी उपेक्षा कर वे अपने भीतर के कोलाहल में ही भटक गए थे।

"क्या है ?" उन्होंने दुर्योधन की ओर देखा।

"गुरुदेव ! हम पंचाल की सीमाओं को रौंदते हुए, अब कांपिल्य के निकट आ गए हैं। आप यहीं ठहरें गुरुदेव !" दुर्योधन बोला, "हम द्रुपद को बांधकर यहीं लाकर आपके चरणों में डाल देंगे। तब आप देखेंगे कि आपके एक संकेत पर आपका यह शिष्य क्या-क्या कर सकता है।"

"जाओ !" द्रोण बोले।

"मैं आपकी रक्षा के लिए कुछ सैनिक छोड़ जाऊँ गुरुदेव ?"

"नहीं ! मैं अपनी रक्षा कर लूंगा। तुम लोग जाओ !"

द्रोण ने देखा, दुर्योधन ने उन्माद की-सी अवस्था में अपने साथियों को आगे बढ़ने का संकेत किया; और वे लोग, एक सेना के अनुशासन में नहीं, उपद्रवियों की एक अत्यंत हिंस्र भीड़ के समान, भयावह कोलाहल करते हुए, वेगपूर्वक आगे

बढ़ गए।...किंतु उन्होंने अत्यंत आश्चर्य से यह भी देखा कि पाँचों पांडव, अपने स्थान पर ही खड़े रह गए। वे लोग तनिक भी आगे नहीं बढ़े।

इससे पहले कि द्रोण उनसे कुछ पूछते, अर्जुन आगे बढ़ा और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया, "गुरुदेव! हमारी धृष्टता क्षमा करें।"

"क्या हुआ अर्जुन?"

"गुरुदेव! दुर्योधन न किसी का अनुशासन मानता है, न नेतृत्व! वह सेनापति होने योग्य नहीं है। हम उसके सेनापतित्व में युद्ध कर, पराजित हो, अपमानित नहीं होना चाहते; और न अपने बल तथा वीरता द्वारा विजय किए गए समर के श्रेय से, उसका गौरव बढ़ाना चाहते हैं।" उसने अत्यंत शालीनता से गुरु की ओर देखा, "गुरुदेव! वह ज्येष्ठ, युधिष्ठिर को अपना नेता नहीं मानना चाहता, तो हम उसे अपना नेता कैसे मान सकते हैं?"

"तुम गुरु-दक्षिणा के अभियान से असहयोग कर रहे हो अर्जुन?" बहुत प्रयत्न करने पर भी, द्रोण अपने स्वर में आया अपना रोष छिपा नहीं पाए। उन्हें लगा, क्षण-भर में ही भय की एक सिहरन जैसे उनके सारे व्यक्तित्व में व्याप्त हो गई है" पाँचों पांडव युद्ध में भाग नहीं लेंगे, तो कुरुओं की सेना दुर्बल हो जाएगी।...वे द्रुपद से पराजित भी हो सकते हैं।...और फिर यह कोई साधारण सैनिक अभियान नहीं है। उन्होंने गुरु-दक्षिणा माँगी है...और उनका सर्वाधिक प्रिय शिष्य, जिसने आज तक उनकी सारी आज्ञाएँ, सारी इच्छाएँ पूरी करने के संकल्प किए थे, इस समय उनसे उदासीन हो, एक ओर बैठ गया है...

"नहीं गुरुदेव!" अर्जुन ने सर्वथा आत्मविश्वास और अकंपित स्वर में कहा, "आपकी गुरु-दक्षिणा मैं ही आपको दूँगा।" उसने गुरु की ओर, आत्मीयता भरी मुस्कान से देखा, "अधिक संभावना इस बात की है आचार्य! कि दुर्योधन के योजना-विहीन दंभी नेतृत्व में हम अपना युद्ध-कौशल प्रकट ही नहीं कर पाएँगे; और आपसे विद्या पाकर भी, अपने प्रथम ही युद्ध में पराजित होकर आपको भी कलंकित करेंगे।..."

"तो?"

"मुझे पूर्ण विश्वास है गुरुदेव! कि दुर्योधन अपने भाइयों के साथ पराजित और अपमानित होकर, अभी थोड़ी देर में नगर के बाहर आ जाएगा; और तब हम पाँचों भाई..."

"यह विभाजन, असहयोग और विखंडन का समय नहीं है कौन्तेय!" आचार्य बोले, "तुम पाँच नहीं, एक सौ पाँच भाई हो.."

"ज्येष्ठ युधिष्ठिर का नेतृत्व माना जाता तो हम एक सौ पाँच ही रहते आचार्य! किंतु दुर्योधन के नेतृत्व में यह संभव नहीं है।" अर्जुन बोला, "गुरुदेव! हमारी ओर से न असहयोग है, न विभाजन, न विखंडन! यह तो मात्र

दुर्योधन की दुर्नीतियों का अनिवार्य परिणाम है। हमारे मन में तो अब भी उसके प्रति न वैर है, न द्वेष, न द्रोह···" अर्जुन ने रुककर आचार्य को देखा, "हमें तो शतशृंग के आचार्यों ने यह आदेश दिया था कि हम अपने मन में किसी के लिए भी वैर, द्वेष, ईर्ष्या तथा द्रोह जैसे भाव न रखें। ये मन का मल है। उनका लक्ष्य कोई दूसरा होता है, किंतु हम स्वयं उससे निरंतर पीड़ित होते रहते हैं। किसी दूसरे पर फेंकने के लिए, अपने घर में मल एकत्रित करते रहना, कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।"

द्रोण को लगा, कहीं अर्जुन उन्हें ही तो नहीं सुना रहा···उन्होंने तो एक लंबे समय तक अपने मन में द्रुपद के विरुद्ध प्रतिहिंसा का भाव पाला है··

"और यदि दुर्योधन ही द्रुपद को बंदी बना लाया, तो तुम पाँचों भाई, मुझे गुरु-दक्षिणा में क्या दोगे अर्जुन?" आचार्य ने अपनी प्रतिरक्षा में, विषय बदल दिया।

"यह असंभव है आचार्य।"

"उनके साथ कर्ण भी है, शकुनि भी···।"

"द्रुपद उन पर भारी पड़ेंगे।"

"तुम शायद जानते नहीं हो, इस समय नगर में न धृष्टद्युम्न है और न शिखंडी! अधिकांश सेना भी धृष्टद्युम्न के ही साथ गई हुई है। द्रुपद अकेला है। वह दुर्योधन का सामना नहीं कर पाएगा।"

"मैं आपके कथन का खंडन नहीं करता आचार्य!" अर्जुन बोला, "किंतु थोड़ी देर धैर्य धारण करें।···"

अर्जुन ने हाथ जोड़कर गुरु को प्रणाम किया और अपने भाइयों के निकट लौट गया।

द्रुपद राजसभा में जाने की तैयारी कर रहा था कि बहुत घबराए हुए चरों ने सामान्य शिष्टाचार की अवहेलना करते हुए, अत्यंत वेग से उपस्थित होकर सूचना दी की कुरुओं की सेना, न केवल पांचालों की सीमाओं को रौंदती हुई बढ़ती चली आई है, वरन् राजधानी में प्रवेश कर उत्पात मचा रही है। सीमा-प्रहरी उनको थोड़ी-सी देर रोकने में भी सक्षम नहीं थे। आक्रमण कुछ इतना आकस्मिक और वेगवान था कि नगर-द्वार पर भी उनको रोकना संभव नहीं हो पाया था। वे लोग नगर के मार्गों और वीथियों में उत्पात करते हुए राजमार्ग की ओर बढ़ रहे थे; और शीघ्र ही राजप्रासाद तक पहुँचने वाले थे।

द्रुपद क्षण-भर के लिए तो हतप्रभ-सा खड़ा रह गया; किंतु न तो निष्क्रिय खड़े रहने का समय था और न ही सोच-विचार करने का। उसके पास तो इतना

भी समय नहीं था कि यह भी सोच पाता कि आक्रमण किस उद्देश्य से किया गया है !

द्रुपद ने तत्काल युद्ध-रथ सज्जित करने का आदेश दिया। सेवकों को कवच तथा शस्त्र लाने की आज्ञा दी। चरों को अपने भाइयों को सूचना देने के लिए दौड़ाया। प्रासाद-रक्षक सैनिकों को प्रासाद-द्वार पर एकत्रित होने की आज्ञा दी। कोटपाल को आक्रांताओं के मार्ग में बाधाएँ खड़ी करने का संदेश भेजा और उद्घोषकों को नगर-भर में घोषणा करने का आदेश दिया कि राजधानी पर शत्रुओं ने आकस्मिक रूप से आक्रमण कर दिया है। राज्य की सेना और राजकुमार नगर में उपस्थित नहीं हैं। इसलिए समस्त नगरवासी अपने सामर्थ्य के अनुसार उपलब्ध शस्त्रों से शत्रु का विरोध कर, राजधानी की रक्षा में सहायक हों।

द्रुपद का रथ राजमार्ग की ओर चला तो उसका मन अनायास ही इस आक्रमण के विषय में सोचने लगा : कौरवों से पांचालों की परंपरागत प्रतिद्वंद्विता रही है, जो कभी अमैत्री, कभी असंपर्क और कभी-कभी शत्रुता में भी परिणत होती रही है। किंतु इस समय तो उनसे किसी भी विषय में कोई विशेष रार नहीं चल रही थी। तो इस आक्रमण का अर्थ ! यह सैनिक अभियान है या दस्यु-कर्म ! न कोई दूत आया, न रोष का कारण बताया गया, न युद्ध की घोषणा की गई···और इस प्रकार का सैनिक अभियान ! भीष्म तो इस प्रकार का कायर नहीं है, जो इस प्रकार आकस्मिक आक्रमण कर दे।···और वह भी कैसे समय ! जब न धृष्टद्युम्न नगर में है, न शिखंडी और अधिकांश सैनिक और सेनापति भी उनके साथ गए हुए हैं। यह तो घात लगाकर आक्रमण करना हुआ···

और सहसा द्रुपद का ध्यान आचार्य द्रोण की ओर चला गया···द्रोण बैठा है हस्तिनापुर में।···वह युद्ध-विद्या का आचार्य अवश्य है, किंतु न वह क्षत्रिय है और न वीर। वही इस प्रकार का कायरतापूर्ण कार्य कर सकता है।···जिस क्षण द्रुपद को यह सूचना मिली थी कि द्रोण ने हस्तिनापुर में आश्रय लिया है, द्रुपद को उसी क्षण सावधान हो जाना चाहिए था कि ऐसा ही कुछ होगा ' द्रुपद को लगा, उसका रक्त जैसे खौलने लगा है ' वह देखेगा कि कौन-कौन आया है द्रोण की सहायता को···भीष्म आया है क्या ?···आज कौरव देख लें कि पांचाल कैसे युद्ध करते हैं···

द्रुपद का वेग कौरवों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए काफी था। कौरव सेना का सामना होते ही पांचालराज को यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं

हुई कि उन्हें युद्ध का कोई अनुभव ही नहीं है। या तो उन्हें व्यूह का कोई ज्ञान नहीं है, अथवा उन्होंने उसकी आवश्यकता ही नहीं समझी है। वे तो अपने सैनिकों को भेड़ों के एक रेवड़ के समान भगाते हुए चले आ रहे थे। दूसरा पक्ष भी प्रहार कर सकता है, इसकी तो उन्होंने चिंता ही नहीं की थी।...अब द्रुपद को अपने सामने आया देख, वे अपने-अपने स्थान पर खड़े, विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चला रहे थे।

पांचालों के पहले ही आघात से कौरवों के पांव थम गए थे और द्रुपद तथा उसके भाइयों के बाण उन पर भारी पड़ने लगे थे।

चरों द्वारा सारे नगर में युद्ध का समाचार पहुँचा दिया गया था। पांचालों के घर-घर में शंख बजने की ध्वनि होने लगी थी और प्रत्येक शंख-घोष के साथ कुछ और पांचाल योद्धा, अपने राजा की सहायता के लिए पहुँच रहे थे।

दुर्योधन के बाण, द्रुपद की बाण-वर्षा के सामने, कुछ भी प्रभाव नहीं दिखा पा रहे थे। यदि वह बहुत सावधानी से देखता तो उसे वे सब द्रुपद के बाणों से टकराकर टूट-टूटकर गिरते दिखाई दे जाते। द्रुपद का रथ वेग से चल रहा था और लगता था कि स्वयं पांचालराज फिरकी के समान घूम रहा है। उसका मुख किसी एक दिशा में दिखाई नहीं पड़ रहा था, वह तो जैसे किसी अलात चक्र के समान घूम रहा था।...दुर्योधन की इच्छा हुई कि वह अपना धनुष फेंक दे और गदा लेकर रथ से उतर जाए...किंतु गदा लेकर तो कदाचित वह द्रुपद के निकट भी न पहुँच पाए। द्रुपद के बाणों का वेग इतना अधिक था कि उसका रथ ही आगे नहीं बढ़ पा रहा था, वह पदाति कैसे बढ़ पाता।

उसने दृष्टि घुमाकर कर्ण को खोजा : वह तो अर्जुन के समान श्रेष्ठ धनुर्धर था, उसकी सहायता से आगे बढ़ा जा सकता था। यदि कर्ण अपने बाणों की सहायता से उसे द्रुपद के रथ के निकट ही पहुँचा दे, तो वह आचार्य द्रोण को उनकी गुरु-दक्षिणा आज ही सौंप देगा।...किंतु कर्ण की कठिनाइयां वह अपने रथ से ही देख सकता था। यह द्रुपद जाने कैसा धनुर्धर था कि अपनी रक्षा के लिए, योद्धा द्वारा पहना गया कवच निरर्थक-सा होकर रह जाता था। द्रुपद के बाण जैसे कवच का मुंह चिढ़ाते हुए योद्धा के शरीर के जोड़ों में धंसते जाते थे। कर्ण पर्याप्त घायल हो गया लगता था। दुःशासन, विकर्ण तथा युयुत्सु भी घायल हो गए लगते थे और उनके रथ अपने स्थानों से आगे बढ़ने के स्थान पर पीछे हट गए लगते थे।

सहसा पांचाल सैनिकों की जैसे एक और वाहिनी आ पहुँची। उनके खड्गों का वेग कुछ इतना अधिक था कि कौरव सेना के पांव उखड़ गए। चारों ओर कौरव सैनिक पीछे की ओर भागते ही दिखाई दे रहे थे।...और तभी दुर्योधन के धनुष की प्रत्यंचा कट गई। उसने स्फूर्ति से दूसरा धनुष उठाया; किंतु जब तक

वह बाण-संधान करता, द्रुपद के बाण ने दूसरे धनुष की प्रत्यंचा भी काट दी।

किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा दुर्योधन देखता ही रह गया और तभी गोह के चमड़े के दस्ताने को चीरता हुआ बाण, दुर्योधन की हथेली में घुस गया।

"सारथि ! कर्ण के निकट चलो।" दुर्योधन के मुख से अनायास ही निकल गया।

उसका सारथि जब तक रथ मोड़ता, उसने देखा, क्षत-विक्षत कर्ण अपने रथ से कूदकर, पीछे की ओर भाग गया था।

और कोई उपाय न देख, सारथि ने रथ मोड़ा और वह भी पीछे की ओर भागा।...

अर्जुन ने देखा : दुर्योधन, उसके साथी और उसकी सेना पूर्णतः पराजित हो चुकी थी। कर्ण की दुर्गति देखकर उसे विस्मय हुआ। एक बार तो उसे लगा कि उसे कर्ण की इस पराजय से अत्यंत प्रसन्नता हुई है। उसकी इच्छा हुई कि वह अट्टहास करे और पुकारकर कर्ण से पूछे, 'अंगराज ! क्या इसी वीरता और युद्ध-कौशल के भरोसे उसे रंगशाला में द्वंद्व-युद्ध की चुनौती दे रहे थे ?'...किंतु दूसरे ही क्षण उसके विवेक ने उसके गर्व को धिक्कारा। उसे किसी भी वीर का अपमान करने का अधिकार नहीं है। युद्ध में तो किसी को भी यह स्थिति हो सकती है। फिर पांचालराज द्रुपद तो श्रेष्ठ वीर योद्धा हैं—उनके सामने तो अच्छे-अच्छे महारथियों की यही स्थिति हो सकती है।...

उसने अपना अहंकार तो संयमित कर लिया; किंतु उसका विस्मय अपने स्थान पर दृढ़ खड़ा रहा।...यदि कर्ण की इतनी ही क्षमता थी, यदि उसमें इतनी ही वीरता थी, यही उसका युद्ध-कौशल था, तो कृपाचार्य ने रंगभूमि में अर्जुन का उससे द्वंद्व-युद्ध हो ही क्यों नहीं जाने दिया ? क्यों विचलित हो गए वे ? क्या सचमुच उन्होंने यही माना था कि कर्ण को पराजित करके भी अर्जुन को कोई यश नहीं मिलेगा ? या वे अर्जुन के प्राणों के लिए भयभीत थे।... यह भी तो संभव है कि चाहे कर्ण उतना वीर न भी हो, किंतु द्वंद्व-युद्ध की स्थिति में दुर्योधन को कोई ऐसा अवसर मिल ही जाता, जिससे वह अर्जुन पर कोई घातक वार कर सकता...

"भीम !" सहसा युधिष्ठिर बोला, "हमारी पराजय हो रही है। हस्तिनापुर की सेना पिटे हुए कुकुर के समान, अपनी पिछली टाँगों में दुम दबाए लौट रही है।..."

"यह हमारी पराजय नहीं है ज्येष्ठ !" भीम से भी पहले अर्जुन बोला, "यह दुर्योधन की पराजय है !"

"दुर्योधन हमसे भिन्न है क्या ?" युधिष्ठिर के स्वर में रोष था।

"यदि वह आपको अपना नेता नहीं मानता, तो वह हमसे भिन्न ही है।" अर्जुन बोला।

"किंतु हस्तिनापुर का सम्मान ? कौरवों की कीर्ति ?? गुरुदेव की दक्षिणा ???"

"उन सबकी रक्षा की जाएगी।" अर्जुन आज बहुत धैर्यपूर्वक, अत्यंत प्रौढ़ ढंग से बोल रहा था, जैसे आज के सारे अभियान का नायक वही हो, "आप हमारे राजा के रूप में यहीं खड़े रहकर हमारी प्रतीक्षा करेंगे। युद्ध के लिए हम चारों भाई जाएँगे। राजा को युद्ध तभी करना चाहिए, जब उसके पास अपने पक्ष से लड़ने वाले योद्धा न हों···।" अर्जुन ने युधिष्ठिर के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, "चलो सारथि !"

युधिष्ठिर अवाक् खड़ा रह गया। उसके चारों भाई व्यूह-बद्ध रूप से नगर की ओर बढ़ गए थे। आगे-आगे पदाति भीम था, जो प्रायः दौड़ने की-सी गति से चल रहा था। उसने अपने कंधे पर भारी गदा उठा रखी थी। उसके वेग में आतुरता थी। पैरों की धमक से जैसे धरती हिल रही थी। उसके पीछे-पीछे अर्जुन का रथ था। अर्जुन के हाथ में धनुष था, कंधों पर तूणीर थे और रथ के पिछले भाग में अनेक शस्त्रास्त्र रखे हुए थे। नकुल और सहदेव अपने अश्वों पर अर्जुन के रथ के पिछले पहियों के रक्षक के रूप में जा रहे थे।···युधिष्ठिर के मन में उल्लास जागा : उसके भाई, क्रोध अथवा अहंकार के मद में अनुशासनहीन, उत्पाती हंताओं के रूप में नहीं, अनुशासित सेनानियों के रूप में योजना-बद्ध रूप से व्यूह बनाकर युद्ध करने जा रहे थे। वे अलग-अलग योद्धाओं के रूप में नहीं, एक समग्र सैनिक व्यूह के रूप में आगे बढ़ रहे थे। भीम, अर्जुन के रथ के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। शत्रु धनुर्धारियों से भीम की रक्षा अर्जुन करेगा। नकुल और सहदेव, अर्जुन के रथ के पहियों को सुरक्षित रखेंगे। भीम शस्त्रों से रक्षा करेगा, अर्जुन उसे अस्त्रों से बचाएगा; तथा नकुल-सहदेव उसके रथ की गति को भंग नहीं होने देंगे···।

आचार्य द्रोण मुस्कराए, "युधिष्ठिर ! मुझे लगता है कि तुम्हारे भाइयों ने, तुमसे छिपाकर, अपनी पृथक् योजना बना रखी थी।"

"मुझे भी ऐसा ही लग रहा है गुरुदेव !"

"किंतु क्यों युधिष्ठिर ! उन्होंने तुम्हें इस योजना से पृथक् क्यों रखा ? वे तुम पर विश्वास करते हैं, तुमसे प्रेम करते हैं, तुम्हें अपना राजा और नायक मानते हैं, फिर···।"

"आचार्य ! वे जानते हैं कि मैं कदाचित सुयोधन से पृथक् रहकर युद्ध करना स्वीकार न करता···।"

"तुम अब भी उसे सुयोधन ही कहते हो !" आचार्य हँसे।

"हाँ आचार्य ! मैं चाहता हूँ कि यह सुयोधन ही बना रहे।" युधिष्ठिर मुड़ा तो उनकी आँखों में पीड़ा का भाव था, "मुझे अपने भाइयों का यह विलगाव अच्छा नहीं लगता आचार्य ! मुझे विभाजन और विखंडन अच्छा नहीं लगता आचार्य ! हम सब मिलकर क्यों नहीं रह सकते ?"

आचार्य को लगा, युधिष्ठिर के मन की निर्मलता ने जैसे उनके हृदय को भी छू लिया है। *कैसा अनासक्त है यह; निर्लोभी और निरभिमानी। इसे विभाजित* मानवता अच्छी नहीं लगती, चाहे वह उसके अपने ही हित में हो। यह अपने स्वार्थ के लिए भी मानवता का अहित नहीं कर पाएगा।...इसके सारे भाई, जिसे दुर्योधन कहते हैं—इसके भाई ही क्यों, अब तो सारा हस्तिनापुर ही उसे दुर्योधन कहता है; यह उसे भी सुयोधन ही कहता है। यह एकता का कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार हो जाएगा कोई भी... अपना राज्याधिकार भी छोड़ देगा।... दुर्योधन को राजा भी मान लेगा यह ?...और द्रोणाचार्य के मन में प्रश्न उठा, 'युधिष्ठिर यदि अपना राज्याधिकार त्याग दे, तो क्या कौरवों में स्थायी एकता रह पाएगी ?'...और द्रोणाचार्य को लगा कि उनका अपना मन ही अस्वीकृति में सिर हिला रहा है, 'नहीं ! ऐसा नहीं हो पाएगा ! दुर्योधन पांडवों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करेगा। कभी नहीं करेगा। युधिष्ठिर को इतना भला भी नहीं होना चाहिए। यह उसके तथा उसके भाइयों के हित में नहीं है।'

द्रोण ने युधिष्ठिर की ओर देखा. वह अब तक कदाचित अपने प्रश्न के उत्तर के लिए अपेक्षा-भरी दृष्टि से उनकी ओर देख रहा था।

"पुत्र ! तुम सब मिलकर क्यों नहीं रह सकते, इसका उत्तर मैं क्या दूँ !" द्रोण बोले, "पर इस समय तो इतना ही कह सकता हूँ कि राजा के विवेकी और निष्ठावान कर्मचारी अनेक बार राजा के हित में, अनेक योजनाएँ और सूचनाएँ उससे गुप्त ही रखते हैं। यदि ऐसा न किया जाए, तो संभव है कि अपनी उदारता में राजा अपना तथा अपने साथियों का अहित कर बैठे।"

पांडवों के युद्ध-क्षेत्र में आते ही जैसे द्रुपद की सेना के सिर पर से द्रुपद के बाणों का कवच ही टूट गया। अर्जुन के बाणों का जाल ऐसा फैला कि द्रुपद के सारे बाण जैसे उसमें उलझकर रह गए। द्रुपद के बाणों का वेग कम होते ही, भीम के आक्रामक आघातों से उन्हें बचाना कठिन हो गया। अर्जुन का रथ क्या था, जैसे यम का पाश था। जिस ओर बढ़ जाता, उस ओर से द्रुपद अपने योद्धाओं को हटा ही नहीं लेते, तो उनके लिए निश्चित् मृत्यु सामने खड़ी थी।

अपने भाई को कठिनाई में देख, उसका छोटा भाई सत्यजित् आगे आया। उसने अपना रथ सामने लाकर ठीक अर्जुन के सम्मुख खड़ा कर दिया। उसमें

भीम के प्रहारों से होने वाली क्षति तो रुक गई; किंतु अर्जुन और द्रुपद के रथ में दूरी बढ़ गई।···अर्जुन के मन में आशंका जागी—ऐसे में द्रुपद, युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर कहीं भाग भी सकता था। वह और सेना एकत्रित करके भी ला सकता था···यदि द्रुपद युद्ध-क्षेत्र छोड़कर भाग गया, तो अर्जुन किसे पकड़कर गुरु-दक्षिणा चुकाएगा।···और यदि द्रुपद और सेना एकत्रित कर लाया तो युद्ध और भी लंबा खिंच जाएगा; किंतु पांडव तो लंबे युद्ध की योजना बनाकर नहीं आए थे।··

अर्जुन की दृष्टि से यह तथ्य भी छिपा नहीं था कि पांचालों की ओर से लड़ने वाले अनेक योद्धा, प्रशिक्षित सैनिक नहीं थे। वे सामान्य प्रजाजन थे, जो अपने साधारण अस्त्रों-शस्त्रों से अपने राजा की सहायता कर रहे थे। वे अपने युद्ध-ज्ञान से नहीं, अपने साहस से ही पांडवों के प्रहार का सामना कर रहे थे।··· सामान्यतः राजाओं की ओर से या तो वेतन-भोगी सैनिक युद्ध करते थे, अथवा उनके अपने कुटुंब के क्षत्रिय योद्धा। सामान्य प्रजा को अपने राजा की सहायता के लिए युद्ध करते, अर्जुन ने कभी नहीं देखा था···कांपिल्य में यदि आज द्रुपद की सामान्य प्रजा युद्ध के लिए, अपने घर से बाहर न निकल आई होती, तो कदाचित दुर्योधन और कर्ण भी इस युद्ध में विजयी हो जाते।···अर्जुन विस्मय-विमुग्ध था···द्रुपद में ऐसा कौन-सा गुण था कि उसकी प्रजा उससे इतना प्यार करती थी? अन्यथा नगरवासियों को क्या कि कांपिल्य पर कौरवों का राज्य है अथवा पांचालों का। कुरु-पंचाल-जनपद की प्रजा के लिए कौरव तथा पांचाल शासकों में कोई विशेष अंतर नहीं था···फिर भी···क्या द्रुपद बहुत न्यायी राजा है? क्या वह अपनी प्रजा से बहुत प्रेम करता है?···और तत्काल अर्जुन के मन में प्रश्न उठा, 'क्या युधिष्ठिर के राजा बनने पर पांडव भी, अपनी प्रजा को एक ऐसा धर्म-संगत, न्यायप्रिय तथा प्रजावत्सल, निष्पक्ष शासन दे सकेंगे, कि अपने राजा पर संकट आया देख, सारी प्रजा जैसे भी बन पड़े, जो भी शस्त्र उपलब्ध हो सकें, उनकी सहायता से अपने राजा की रक्षा के लिए निकल पड़े?'

अर्जुन को लगा, द्रुपद की सेना और प्रजा के प्रति उसके मन में जैसे शत्रु-भाव है ही नहीं। वह उनका विनाश करना नहीं चाहता। वह उनको क्षति पहुँचाना भी नहीं चाहता। यदि संभव हो तो वह उनकी सराहना करना चाहता है, उनकी रक्षा करना चाहता है, उनका हित करना चाहता है; किंतु इस समय विचित्र स्थिति थी। वह अपने कर्त्तव्य का बंदी था। गुरु की आज्ञा से, गुरु-दक्षिणा के रूप में द्रुपद को बंदी किए बिना, वह अपने शिष्य-धर्म का पालन नहीं कर सकता था; और द्रुपद को बंदी बनाने के मार्ग में खड़ी थी पांचाल सेना, पांचाल प्रजा···और द्रुपद का भाई सत्यजित्!···

सत्यजित् के बाणों के कारण भीम आगे नहीं बढ़ पा रहा था; इसीलिए अर्जुन

का रथ भी रुक गया था। सामान्य स्थिति में, अपने रथ के मार्ग में आई बाधा को हटाने के लिए, अर्जुन को अत्यधिक कठोर हो जाना चाहिए था, जैसा कि इस समय भीम हो चुका था। सत्यजित् के बाणों से बचकर, उसके घोड़ों तक पहुँचने का अवसर भीम की गदा को मिला होता, तो उनमें से किसी में भी अपने पैरों पर खड़े रहने का सामर्थ्य न रहा होता; किंतु सत्यजित् के बाण तो जैसे प्राचीर के समान उसका मार्ग रोके खड़े थे।···

अर्जुन समझ नहीं पाया कि उसने सत्यजित् के वक्ष पर अपना बाण क्यों नहीं छोड़ा। उसे लगा, उसकी इच्छा सत्यजित् का वध करने की नहीं है। सत्यजित् अपने राजा की रक्षा के लिए लड़ रहा है, अपने भाई की रक्षा के लिए लड़ रहा है, अपने राज्य की रक्षा के लिए लड़ रहा है।···अर्जुन की न पांचालों से शत्रुता है, न द्रुपद से, न सत्यजित् से···उसे तो बस अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी है।···

अर्जुन के बाणों से सत्यजित् के धनुष की प्रत्यंचा कट गई, रथ के छत्र का दंड कटकर गिर गया और घोड़े आहत हो गए।

सत्यजित् ने आश्चर्य से अर्जुन को देखा : यह सोया-सोया-सा अर्जुन सहसा ही कैसे इतना आक्रामक और उग्र हो उठा है ? अभी थोड़ी देर पहले तक तो यह लग रहा था कि वह अपने बाण के लिए कोई लक्ष्य ही निश्चित नहीं कर पा रहा है···और सहसा···

सत्यजित् ने दूसरा धनुष उठा लिया; किंतु अर्जुन ने उसे बाण-संधान का अवसर ही नहीं दिया। उसके पहले ही उसकी प्रत्यंचा कट गई और उसके सारथि को भी एक बाण आ लगा।···भीम को आक्रामक होने का अवसर मिल गया था। जो पांचाल सैनिक सत्यजित् का अवलंब पाकर उसके रथ के साथ-साथ आगे बढ़ आए थे, भीम को वे अपने बहुत निकट दिखने लगे थे और प्रहार करने के लिए, बहुत बड़ा प्रलोभन थे।···पीछे की ओर से आक्रमण की कोई संभावना नहीं थी; क्योंकि पांचाल सेना आत्मरक्षात्मक युद्ध ही लड़ पा रही थी। वे इस स्थिति में थे ही नहीं कि अर्जुन के रथ को घेरकर, उस पर प्रहार कर सकें। इसलिए अर्जुन के रथ के पहियों की रक्षा के लिए नकुल और सहदेव को कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ रहा था। अतः वे भी आक्रामक युद्ध कर रहे थे और सत्यजित् की स्थिति और भी असुरक्षित होती जा रही थी। यदि शीघ्र ही उसने अर्जुन को पीछे हटाकर अपनी सेना को अभय नहीं दिया, तो उसकी सेना भीम द्वारा रौंद दी जाएगी···

सेना के पिछले भाग में द्रुपद कदाचित अपने सैनिकों को एकत्रित कर व्यूहबद्ध कर रहा था। वह अपने रथ में और अधिक अस्त्र तथा शस्त्र भी रखवा रहा था। उसके द्वारा निरंतर आदेश दिए जाने के स्वर भी सुनाई पड़ रहे थे।···

सत्यजित् ने तीसरा धनुष उठाया ही था कि अर्जुन ने उसकी प्रत्यंचा भी काट दी। भीम ने अपनी गदा उठाई और एक क्षण का भी विलंब होता तो सत्यजित् के रथ के घोड़ों में से एक अवश्य ही मार दिया होता।...सत्यजित् का सारथि, भीम की गदा से अधिक गतिशील निकला। उसने रथ मोड़ा और उसे सुरक्षित निकालकर अपनी सेना में जा छिपा।

द्रुपद ने देखा, अब पांडवों को रोकने वाला कोई नहीं था। निश्चित रूप से उन्हें इस प्रकार निर्विरोध रूप से आगे बढ़ने नहीं दिया जा सकता था; अन्यथा वे सारे कांपिल्य को अपने पैरों तले रौंद सकते थे। द्रुपद के मन में, इन भाइयों के लिए प्रशंसा का भाव जागा : कहाँ वे दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, दुःशासन और विकर्ण अपनी समस्त सेना के साथ भीत मूषिक के समान भाग गए थे; और कहाँ ये चार भाई मात्र अपने बल, वीरता और रण-कौशल पर, पांचालों के काल बने हुए हैं।...किंतु यह सराहना का समय नहीं था, अन्यथा सारी पांचाल सेना ध्वस्त हो जाएगी...

द्रुपद ने अपना रथ लाकर अर्जुन के सम्मुख खड़ा कर दिया। द्रुपद को लगा कि उसने अर्जुन की चाहे कितनी भी सराहना क्यों न की हो, किंतु उसने, उसके बल को कम ही आंका था। अर्जुन के धनुर्संचालन में स्पष्ट रूप से द्रोण के प्रशिक्षण की छाप थी। द्रुपद ने स्वयं द्रोण के शस्त्र-गुरु ऋषि अग्निवेश से शस्त्र-विद्या प्राप्त की थी। उन दिनों धनुर्धर के रूप में वह किसी भी प्रकार द्रोण से तनिक भी अशक्त नहीं था; किंतु लगता था, द्रोण ने उसके पश्चात अपना बहुत विकास किया था। इस विकास का अनुभव द्रुपद ने धृष्टद्युम्न और शिखंडी के प्रशिक्षण में भी अनुभव किया था। किंतु शायद धृष्टद्युम्न और शिखंडी ने भी द्रोण से वह सब नहीं पाया था, जो अर्जुन ने प्राप्त किया था...बहुत संभव है कि द्रोण ने यह सब भार्गव परशुराम से पाया हो।...या फिर द्रोण का यह अपना अभ्यास भी हो सकता है।...द्रुपद को लगा, उसका शस्त्र-ज्ञान शायद उतना ही था, जितना वह गुरुकुल से लेकर निकला था। उसके पश्चात के युद्धों में उसने अपना अभ्यास बढ़ाया था, ज्ञान नहीं। अभ्यास में उसने कुछ विषयों में स्वयं को पारंगत कर लिया था, तो कुछ विधियों की उपेक्षा भी की थी; किंतु उसने अपने ज्ञान का विकास नहीं किया था। आज उसके गुरुभाई द्रोण का यह शिष्य, उसके सम्मुख खड़ा, अपने बाण-संधान से यह प्रकट कर रहा था कि द्रोण ने गुरुकुल छोड़ने के पश्चात के इन वर्षों में क्या-क्या उपलब्ध कर लिया था। वह अपने बाणों से अपने गुरु की उपलब्धियों की यशोगाथा अंकित कर रहा था।...और फिर पंचालराज द्रुपद का वह वय भी नहीं रहा।...अर्जुन का वय धृष्टद्युम्न के लगभग ही रहा होगा। उसकी स्फूर्ति, उसकी शक्ति, उसकी ऊर्जा...कितना अच्छा होता यदि धृष्टद्युम्न और शिखंडी आज यहाँ होते...

अर्जुन के बाणों ने द्रुपद के रथ का छत्र काट डाला था और अगले ही क्षण उसके धनुष की प्रत्यंचा भी नीचे लटक गई। उसने नया धनुष उठाया और अर्जुन पर जैसे बाणों का एक रौंदा बरस गया, किंतु अर्जुन की अप्रतिहत गति वह रोक नहीं पाया।···अर्जुन ने द्रुपद के रथ की वल्गाएँ भी काट दीं···

द्रुपद को लगा, पराजय उसके बहुत निकट थी। यदि वह खड्ग अथवा गदा लेकर द्वंद्व-युद्ध के लिए रथ से कूद नहीं पड़ा, तो अगले कुछ ही क्षणों में अर्जुन के बाणों से उसका रथ छिन्न-भिन्न हो जाएगा; और बहुत संभव है कि भीम की गदा भी उसकी अस्थियों की शक्ति नापने लगे···

उसने धनुष छोड़कर गदा उठाने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि तड़ित गति से अर्जुन उसके रथ पर कूद आया। उसके हाथ में खड्ग था, जिसकी नोक द्रुपद के वक्ष पर चुभ रही थी।

"महाराज द्रुपद ! मेरा आपसे कोई वैर नहीं है।" अर्जुन बोला, "कौरव और पांचाल परस्पर संबंधी भी हैं। मैं आपका कोई अहित नहीं करना चाहता; किंतु मैं गुरु-दक्षिणा के दायित्व से बँधा, आपको बंदी बनाने को बाध्य हूँ। कृपया अपनी सेना को आदेश दें कि वह पीछे हट जाए, अन्यथा व्यर्थ का यम-समारोह होगा।···" और इससे पहले कि द्रुपद कोई उत्तर देता; अर्जुन ने पुकारकर भीम से कहा, "मध्यम ! युद्ध बंद करो। हम व्यर्थ के रक्तपात के लिए नहीं आए हैं। आचार्य की आज्ञा का पालन हो चुका। हमने महाराज द्रुपद को बंदी बना लिया है। व्यर्थ ही उनकी सेना का संहार मत करो।···"

भीम का हाथ रुक गया।

द्रुपद के सामने स्थिति स्पष्ट थी। वह पराजित ही नहीं, बंदी भी हो चुका था। वह अब भी युद्ध करने का प्रयत्न करता तो निश्चय ही उसके सैनिक असहाय तथा निरर्थक मृत्यु को प्राप्त होते और स्वयं उसके अपने प्राण भी अर्जुन और भीम के हाथों में थे।···द्रुपद का क्षत्रिय मन कहीं विद्रोह कर रहा था कि उसे पराजित नहीं होना चाहिए, वीरगति को प्राप्त होना चाहिए···किंतु कदाचित वीरगति उसके भाग्य में नहीं थी।···जो अर्जुन अपने भाई को व्यर्थ सैन्य-संहार करने से रोक रहा था, वह निःशस्त्र द्रुपद की हत्या कभी नहीं करेगा। द्रुपद को अर्जुन की इच्छा के विरुद्ध वीरगति प्राप्त नहीं हो सकती थी। वह उसे बाँधकर घसीटता हुआ, अपने गुरु के पास ले जाएगा।···गुरु-दक्षिणा···द्रुपद के भाग्य में क्षत्रियों की-सी वीरगति नहीं, बंदी होने का अपमान ही है···

वह अपना रथ छोड़कर अर्जुन के रथ में आ गया। सैनिक पीछे लौट गए; किंतु मंत्रीगण, अपने बंदी राजा के पीछे हाथ बाँधे हुए, पदाति चलते आए। वे अपने राजा को इस प्रकार बंदी रूप में एकाकी और असहाय नहीं छोड़ सकते थे···

करे···अर्जुन ने ठीक ही किया था कि युधिष्ठिर को युद्ध से दूर ही रखा था, नहीं तो युद्ध जीतने में कहीं भी कठिनाई बढ़ सकती थी।···युधिष्ठिर के मन में फिर आनृशंसता का भाव जाग उठता, तो युद्ध कैसे हो सकता था? ···भीम को कभी-कभी अपने इस बड़े भाई पर दया आने लगती थी···क्षत्रियों जैसा स्वभाव नहीं था युधिष्ठिर का! उसे हिंसा का प्रत्येक कृत्य नृशंसता लगता था; किंतु क्षत्रिय होकर वह हिंसा से कैसे बच सकता था? क्षत्रिय को दुष्ट-दलन तो करना ही पड़ेगा। और बिना हिंसा के दुष्ट-दलन कैसे होगा? ···युधिष्ठिर को किसी भी प्रकार की हिंसा अच्छी ही नहीं लगती; अर्जुन युद्ध में अत्यंत क्रूर होते हुए भी अनावश्यक हिंसा का समर्थन नहीं करता। जाने क्षण-भर में ही कैसे वह अपने धनुष की प्रत्यंचा ढीली कर लेता है; और मन में से हिंसा और क्रोध को निकाल-कर, उसे अत्यंत निर्मल कर लेता है।···भीम अपने इन दोनों भाइयों से सर्वथा भिन्न है। न तो वह अपने क्रोध को इतनी जल्दी संतुलित और नियंत्रित कर पाता है; और न ही उसे हिंसा में किसी प्रकार का कोई दोष दिखाई देता है। वह तो वायु-पुत्र है · प्रभंजन जब चलता है तो कभी क्षण-भर रुककर सोचता है कि उसके मार्ग में आकर कितने वृक्ष उखड़े, कितनी शाखाएँ टूटीं और कितने पत्ते नष्ट हुए।···

आज भीम ने अर्जुन का भी एक नया ही रूप देखा था। आज के युद्ध की सारी योजना उसी की थी। उसी ने दुर्योधन का साथ न देने का निश्चय किया था, उसी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने से रोका था, उसी ने उसे राजा के रूप में खड़े रहकर, अपनी सेना को युद्ध के लिए भेजने का परामर्श दिया था।···अर्जुन उन दोनों से छोटा था; *किंतु जैसे आज वह उन दोनों से ही बड़ा हो गया था।*··· किस प्रकार उसने सारे निर्णय अपने हाथ में ले लिये थे; और आश्चर्य की बात तो यह थी कि दोनों बड़े भाइयों ने उसकी सारी बातें मान ली थीं।···भीम को स्वयं अपने ऊपर आश्चर्य हुआ···युधिष्ठिर की बात तो वह इसलिए मान लेता है, क्योंकि बड़े भाई की बात माननी चाहिए; किंतु युधिष्ठिर का धैर्य और अक्रोध, कभी-कभी उसे चिढ़ा देता है। उसे युधिष्ठिर का व्यवहार, अस्वाभाविक ही नहीं, विवेकशून्य भी लगने लगता है। प्रतिक्रिया जागती है, उसके मन में। किंतु अर्जुन का निषेध वह सहज ही स्नेह-सिक्त रूप में स्वीकार कर लेता है। उसे लगने लगता है कि युधिष्ठिर की अपेक्षा अर्जुन उसे सहज ही नियंत्रित कर लेता है।···कोई सम्मोहिनी शक्ति है क्या अर्जुन में? या वह कुछ अधिक व्यावहारिक है?

भीम को लगा, जैसे अकस्मात् ही अर्जुन वयस्क हो गया है।

17

भीष्म को एक-एक कर सारी सूचनाएं मिल गई थीं और उनका मन बार-बार कहता था कि जो कुछ भी हुआ था, वह शुभ नहीं था।···किंतु यह सब कुछ तो स्वयं भीष्म को सोचना चाहिए था। द्रोण को हस्तिनापुर के राजकुमारों का आचार्य नियुक्त करते हुए उन्हें सोचना चाहिए था कि उसका परिणाम क्या हो सकता है। गुरु-दक्षिणा में एकलव्य का अंगूठा मांग लेने की घटना हो चुकने पर भीष्म को द्रोण के विषय में पुनः सोचना चाहिए था।···भीष्म ने क्यों मान लिया कि द्रोण हस्तिनापुर के राजकुमारों को संसार के श्रेष्ठतम वीरों के रूप में देखना चाहते हैं? आचार्य को तो मात्र आचार्य ही होना चाहिए—वह तो विद्या की स्रोतस्विनी है, ज्ञान का भंडार है। उसमें अपने शिष्यों के प्रति पक्षपात तो नहीं होना चाहिए।···किंतु द्रोण में पक्षपात है। भीष्म ने एक नहीं, अनेक बार देखा है कि द्रोण की दृष्टि ज्ञान का दान करने से पहले यह अवश्य देखती है कि उससे उन्हें क्या लाभ होगा?···

भीष्म को यह भी सोचना चाहिए था कि द्रोण को राजकुमारों के आचार्य का पद देने से हस्तिनापुर शक्तिशाली होगा अथवा दुर्बल? उस समय तो उन्होंने यही सोचा था कि द्रोण जैसा शक्तिशाली आचार्य, पांचालों को छोड़कर कौरवों की राजधानी में आ गया है तो उससे पांचाल दुर्बल हुए हैं और कौरवों की शक्ति बढ़ी है; किंतु क्या कर डाला द्रोण ने···गुरु-दक्षिणा के रूप में, अर्जुन ने द्रुपद को बंदी बनाकर, लाकर द्रोणाचार्य के चरणों में डाल दिया। द्रोण की प्रतिहिंसा इतने से ही शांत नहीं हुई।···यदि द्रुपद ने उनका अपमान किया था, तो क्या द्रोण ने द्रुपद को पर्याप्त अपमानित नहीं कर लिया? किंतु द्रोण ने, द्रुपद का आधा राज्य उससे ले लिया। आधा पंचाल। अहिछत्र और उसके साथ लगता सारा जनपद। तब छोड़ा द्रुपद को!···द्रोण को उनकी गुरु-दक्षिणा मिल गई और राजकुमारों ने गुरु-दक्षिणा चुका दी; किंतु हस्तिनापुर को उसका क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा? द्रुपद का आहत और अपमानित क्षत्रियत्व क्या यह भूल जाएगा कि द्रोण ने उसके साथ क्या किया?···और किसके बल पर किया? द्रोण को आश्रय देने वाले कौरवों को द्रुपद कभी क्षमा कर देगा क्या?···द्रोण को द्रुपद से प्रतिशोध लेना ही था, तो क्यों अपने बल पर नहीं लिया? क्यों हस्तिनापुर को ढाल बनाया? क्या पांचाल कभी यह स्वीकार कर पाएंगे कि अहिछत्र का राज्य उनका नहीं है? क्या वे अहिछत्र को वापस लेने का प्रयत्न नहीं करेंगे? कोई क्षत्रिय राजा अपने छिने हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करेगा? राजाओं में युद्ध तो होते ही रहते हैं; किंतु पराजित राजा को या तो आर्थिक दंड दिया जाता है, या फिर उस राजा को विस्थापित कर उसके स्थान पर उसके पुत्र अथवा

भाई को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जाता है। संपूर्ण जंबूद्वीप में क्षत्रिय राजा को पराजित कर उसके राज्य को हस्तगत करने का कार्य, या तो जरासंघ ही कर सकता है, या फिर आचार्य द्रोण ! और आचार्य द्रोण को अहिछत्र का राज्य, पांचालों से छीन कर दिया है, हस्तिनापुर ने। अब आचार्य के राज्य की रक्षा का दायित्व भी हस्तिनापुर का ही होगा।...किस चतुराई से द्रोण ने अपने लिए राज्य प्राप्त कर लिया और उसकी रक्षा का दायित्व डाल दिया, हस्तिनापुर के कंधे पर ! पांचालों से यह शत्रुता पालकर, हस्तिनापुर शक्तिशाली होगा अथवा एक दीर्घ-व्यापी गंभीर युद्ध में पांचालों से बार-बार उलझकर, निरंतर क्षीण होता जाएगा ?...

भीष्म सोचते हैं तो एक प्रश्न बार-बार उनके मन में कौंधता है—आचार्य द्रोण ने स्वयं द्रुपद से युद्ध क्यों नहीं किया ? उन्होंने अश्वत्थामा को क्यों नहीं भेजा, पांचालों से लड़ने के लिए ?...द्रोण से पूछना व्यर्थ होगा। उनका स्पष्ट उत्तर होगा—यह प्रश्न नहीं है कि कौन युद्ध करे और कौन न करे। प्रश्न तो गुरु-दक्षिणा का था। गुरु-दक्षिणा तो शिष्य ही चुकाएगा, पुत्र नहीं !...किंतु यह तो उनका उत्तर होगा।...भीष्म पहचानते हैं, द्रोण के मन के भय को ! न उन्होंने स्वयं को युद्ध के जोखम में डाला, न अपने पुत्र के प्राणों पर संकट आने दिया। मरने-कटने के लिए हस्तिनापुर के राजकुमारों को भेज दिया। यदि कहीं हस्तिनापुर के राजकुमार पराजित होते, अपमानित होते, बंदी होते, हताहत होते, तो भी द्रोण को कोई दोष नहीं दे सकता था; उल्टे हस्तिनापुर ही कलंकित होता कि वह अपने राजकुमारों के आचार्य को दक्षिणा तक नहीं दे सका।...बहुत चतुर हैं द्रोण !

कैसा राजनीतिक संतुलन साधा है आचार्य ने...हस्तिनापुर और काम्पिल्य, परस्पर युद्ध करते रहें और द्रोण, उन दोनों के मध्य एक अत्यंत शक्तिशाली सैनिक घटक के रूप में अपनी भूमिका का लाभ उठाते रहें।...इतना ही क्यों, क्या द्रोण ने धार्तराष्ट्रों और पांडवों के मध्य एक स्थायी दरार नहीं डाल दी है। क्या ये कौरव राजकुमार, अपने ही भाइयों के विरुद्ध, इस शक्ति-संतुलन में सदा के लिए आचार्य के आश्रित नहीं हो जाएँगे ?...

भीष्म को लगा, हस्तिनापुर की अपनी ही कठिनाइयाँ कम नहीं थीं; अब अपने आँगन में द्रोण-रूपी विष-वृक्ष का वर्धन कर, उसने कुछ और कठिनाइयों को बलात् अपने ऊपर ओढ़ लिया है। अब यदि भीष्म, आचार्य से मुक्ति पाना भी चाहेंगे, तो स्वयं कौरव राजकुमार उनसे सहमत नहीं होंगे। पांडव तो कदाचित श्रद्धावश अपने गुरु के ऋणी रहेंगे। वे द्रोण के गुरु-रूप के सिवाय, शायद ही किसी और रूप को देखें। किंतु दुर्योधन और धृतराष्ट्र की दृष्टि में द्रोण अपना सैनिक महत्त्व स्थापित कर चुके हैं। जिसका शिष्य पांचाल द्रुपद को पराजित

कर सकता है—वह स्वयं, युद्ध-क्षेत्र में कितना महत्त्वपूर्ण होगा—इसे कोई भी समझ सकता है।···फिर सब जानते हैं कि द्रोण ने अर्जुन से अधिक, अश्वत्थामा को सिखाया है।·· पांडवों के विरुद्ध सैन्य-बल तैयार करने के लिए दुर्योधन एक-एक योद्धा का संचय कर रहा है। रंगशाला में कर्ण को, अर्जुन से भिड़ाने और उसे अपने पक्ष में लाने के लिए कौन-सी निर्लज्जता उसने नहीं की। अश्वत्थामा को अपना मित्र बनाए रखने के लिए, कौन-सा नाटक उसने नहीं किया। तो क्या आचार्य द्रोण को अपने हाथ से वह सहज ही निकल जाने देगा?···वह सारथि-पुत्र कर्ण को अपने पक्ष में मिलाने के लिए एक राज्य देने की घोषणा कर सकता है, तो ब्राह्मण द्रोण को अपना समर्थक बनाए रखने के लिए, अहिच्छत्र की रक्षा और पांचालों से स्थायी शत्रुता की घोषणा नहीं कर सकता?·· वह यही करेगा—भीष्म उसे भली प्रकार जानते हैं।

सहसा उस अंधकार में भीष्म को आशा की एक किरण दिखाई दी: यदि वे चाहते हैं कि हस्तिनापुर, सत्ता की राजनीति का अखाड़ा न बने; यदि उनकी इच्छा है कि हस्तिनापुर की नीति, तथा भविष्य को अपनी स्वार्थी महत्त्वाकांक्षा से द्रोण कलंकित न करें, तो राजसत्ता तत्काल धृतराष्ट्र के हाथ से लेकर, युधिष्ठिर के हाथ में दे देनी चाहिए। यदि राजसिंहासन पर युधिष्ठिर आसीन होगा, तो हस्तिनापुर में न हिंसा को प्रोत्साहन मिलेगा, न प्रतिहिंसा को। वह न किसी को अपना शत्रु मान, उसे नष्ट करना चाहेगा, न अपना पक्ष सबल करने के लिए अनीति का आश्रय लेगा। न वह किसी को भयभीत करेगा, और न किसी को प्रलोभन देगा।···

और भीष्म को लगा, जैसे वे एक दीर्घ निद्रा में जागे हैं। उन्हें यह निर्णय बहुत पहले कर लेना चाहिए था। सम्राट् पांडु का ज्येष्ठ पुत्र धर्मतः हस्तिनापुर के सिंहासन का अधिकारी है। वह वयस्क है। अपनी शिक्षा पूरी कर चुका है। अपने भाइयों की सहायता से राज-संचालन में समर्थ है। प्रजा, धरती तथा सेना पर अपना आधिपत्य जमाने में उसे तनिक भी कठिनाई नहीं होगी।···और सहसा भीष्म के मन में एक नया विचार अंकुरित हुआ···अच्छा ही किया द्रोण ने कि पांचालों से युद्ध के माध्यम से अर्जुन और भीम की क्षमताओं को प्रतिष्ठित कर दिया। उन्होंने भी कदाचित भली प्रकार विचार करके ही दुर्योधन के नायकत्व में युद्ध नहीं किया। उन्होंने युधिष्ठिर को अपना नेता तथा राजा घोषित कर उसकी शक्ति की स्थापना की।···युधिष्ठिर ज्येष्ठ है, और युधिष्ठिर ही सबसे अधिक योग्य है, वह समर्थ है···उसका अधिकार है कि उसका युवराज्याभिषेक किया जाए।···उसके युवराज्याभिषेक में विलंब का अर्थ है, दुर्योधन उसकी चांडाल-चौकड़ी की दुर्नीतियों की लताओं को, हस्तिनापुर के वट-वृक्ष पर और अधिक फैलने का अवसर देना। हस्तिनापुर और भरतवंशियों के हित में यही है कि

दुर्योधन के षड्यंत्रों को शांत किया जाए और धृतराष्ट्र की इस संशयग्रस्त अंधी सत्ता-कामना को सत्ता के केंद्र से दूर कर, युधिष्ठिर की निर्मम, निष्कलुष और स्थायी सत्ता स्थापित की जाए···

भीष्म उठ खड़े हुए, "द्वारपाल ! जाओ, सारथि से कहो, रथ ले आए। मैं इसी समय धृतराष्ट्र से मिलना चाहता हूँ।"

"पितृव्य क्या कहते हैं ?" कुंती ने विदुर की ओर देखा, "क्या उन्होंने भी न्याय का पक्ष छोड़ दिया है ?" उसके स्वर का आवेश कुछ मुखर हुआ, "क्या उन्हें अनुभव नहीं हो रहा कि मेरे पुत्रों के साथ न्याय नहीं हो रहा ? उनके मन में तो किसी के लिए पक्षपात नहीं होना चाहिए।···"

विदुर ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी मूक दृष्टि एक बार पाँचों पांडवों पर घूम गई। वे पाँचों अपनी माँ को घेरे बैठे थे और चुप थे। विदुर को लगता था, भीतर से वे सब ही अब स्वयं को वयस्क समझते थे और पारिवारिक तथा राजनीतिक विषयों में अपना निजी मत भी रखते थे, फिर भी कुंती और विदुर के वार्तालाप में उनका हस्तक्षेप कम-से-कम ही होता था। वे प्रायः मूक श्रोता ही थे; किंतु चर्चा से निर्लिप्त नहीं थे।

"भाभी !" विदुर ने धीरे से कहा, "पितृव्य सब कुछ देख और समझ रहे हैं। ···उन्होंने राजसभा में युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक का प्रश्न उठाया था। मैंने सुना है कि उन्होंने निजी रूप में भी राजा धृतराष्ट्र से इसकी चर्चा की है।"

"तो राजा क्या कहते हैं ?"

विदुर हँसा, "राजा, राजनीति का चतुर खिलाड़ी है। पितृव्य की बात सुनकर, वह बहुत गंभीरता से कहता है, 'हाँ ! अब युवराज का अभिषेक हो ही जाना चाहिए।' वह एक बार भी नहीं कहता कि युवराज कौन होगा अथवा युधिष्ठिर को युवराज होना चाहिए। मेरे मन में एक बात आती है कि धृतराष्ट्र अपनी इच्छा से युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक कभी नहीं करेगा। वह इस कार्य को तब तक टालता रहेगा, जब तक कि कोई ऐसा अवसर अथवा व्याज उसके हाथ न लग जाए, जिसमें वह दुर्योधन को युवराज घोषित कर सके।"

"अब ऐसा संभव नहीं है।" भीम ने धीरे से कहा।

"तुम्हें ऐसा क्यों लगता है ?" कुंती ने पूछा।

"मुझे आज से नहीं, बहुत समय से ऐसा लग रहा है।" विदुर ने उत्तर दिया, "दुर्योधन ज्येष्ठ नहीं है; और अब वह स्वयं को सबसे अधिक योग्य भी सिद्ध नहीं कर सका है। युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के लिए दबाव पड़ने लगा है, तो उसका प्रतिकार करने के लिए पहले तो उन्होंने अपने घर में ही शस्त्र ढूँढ़ना

आरंभ किया।"

"शस्त्र मिला क्या ?"

"हाँ !"

"कौन ?"

"कुरु-वृद्ध वाह्लीक !" विदुर ने उत्तर दिया, "किंतु लगता है कि वाह्लीक, सोमदत्त और उनके पुत्र भूरिश्रवा ने महाराज का विरोध तो नहीं किया है; किंतु पितृव्य भीष्म के विरुद्ध व्यूह रचने में उनकी सहायता भी नहीं की है।"

"तो ?"

"तो अब बाहर से किसी ऐसे विरोधी को लाने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो अपने-आपमें समर्थ और शक्तिशाली भी हो तथा पितृव्य भीष्म से शत्रुता का निर्वाह करने के लिए व्यग्र भी हो।…"

कुंती के साथ ही उसके पाँचों पुत्रों ने भी प्रश्न-भरी दृष्टि से विदुर की ओर देखा।

"अभी उन्हें कोई मिला नहीं है; विचार-विमर्श ही चल रहा है।" विदुर ने तनिक मुस्कराकर, वातावरण के तनाव को कम करने का प्रयत्न किया, "किंतु वे किसी-न-किसी को तैयार करने पर तुले ही हुए हैं। वे घर की समस्याओं का निर्णय सार्वजनिक मार्ग पर, पथिकों की सहायता से करना चाहते हैं। "

"पर ऐसे पथिक कौन हो सकते हैं ?" सहदेव अब और मौन नहीं रह सका।

"हमारे चारों ओर राजनीतिक उथल-पुथल का युग है पुत्र ! सिद्धांत के स्थान पर स्वार्थ से आपसी संबंध निर्धारित हो रहे हैं।" विदुर बोला, "विचित्र असहायता का परिवेश है, प्रत्येक राजा अपना पक्ष अथवा अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए, अपने सहायक खोज रहा है। जो अत्यंत शक्तिशाली हैं—वे भी…।"

"दुर्योधन किसे खोज रहा है विदुर ?" कुंती ने व्यग्रता से पूछा।

"मैं समझता हूँ कि सामान्य स्थितियों में तो उसने पंचालराज द्रुपद की सहायता की ही इच्छा की होती। उसमें उसे शायद सफलता भी मिलती। पंचालराज के मन में सम्राट् पांडु तथा उनके पुत्र अर्जुन का विरोध जगाने में उसे कठिनाई भी न होती। पितृव्य भीष्म के प्रति भी पंचालराज के मन में मैत्री का भाव नहीं है।…किंतु संयोग ही है कि पंचालराज और आचार्य द्रोण—दोनों एक साथ किसी के मित्र नहीं हो सकते …और दुर्योधन, अपने मित्र अश्वत्थामा के पिता आचार्य द्रोण के निश्चित समर्थन को छोड़कर, पंचालराज के अनिश्चित समर्थन के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहता…।"

सहसा कुंती को लगा कि इस अत्यंत गंभीर चर्चा के मध्य भी जैसे विदुर मुस्करा रहा है।

"तुम मुस्करा रहे हो···क्या यह विषय इतना ही अगंभीर है?"

"नहीं भाभी!" विदुर बोला, "मुझे, इन दुर्योधन की मन:स्थिति की कल्पना कर कुछ विस्मय हो रहा था।"

कुंती कुछ नहीं बोली।

"उसकी विचित्र स्थिति है," विदुर ही बोला, "दुर्योधन के कानों में पंचालराज की पुत्री के सौन्दर्य की भी चर्चा पड़ चुकी है। वह उसके लिए भी लालायित है, और पांचालों के राजनैतिक समर्थन के लिए भी; किंतु न वह द्रोण को छोड़ सकता है, और न ही वह जरासंध का विरोध मोल ले सकता है···।"

"जरासंध?" इस सारी चर्चा में यह नाम युधिष्ठिर को कुछ अटपटा लगा, "जरासंध का पंचालराज से क्या संबंध?"

"यही तो मैं कह रहा था पुत्र! कि आजकल की स्थिति बड़ी विचित्र है।" विदुर पुनः मुस्कराया, "किसी का किसी से कोई संबंध नहीं है; और फिर भी सबका सबसे संबंध है।" उसने रुककर युधिष्ठिर की ओर देखा, "जरासंध ने अपने चारों ओर राजाओं का एक शक्तिशाली मंडल बनाया था। उनमें से सर्वाधिक शक्तिशाली—कंस—का, वासुदेव कृष्ण के हाथों वध हो गया है; इसलिए जरासंध और भी उग्र हो गया है। वह प्रायः सारे राजाओं को मित्रता का निमंत्रण दे रहा है। किंतु उसकी मित्रता का अर्थ है, उसकी अधीनता। और जरासंध का अधीनस्थ कौन ऐसा राजा होगा, जो यादवों का मित्र हो सके। पंचालराज यज्ञसेन द्रुपद ने यादवों की शत्रुता अस्वीकार की है, इसलिए स्वतः ही जरासंध की शत्रुता उनके भाग में आई है।···और पुत्र! जरासंध की शत्रुता का अर्थ है—भीष्मक, दमघोष, शाल्व, दंतवक्त्र···इन सबकी भी शत्रुता।··· इसलिए दुर्योधन यदि पंचालराज की मित्रता चाहता है; और यदि वह उसे मिल जाए तो उसे जरासंध, भीष्मक, दमघोष, शाल्व, दंतवक्त्र, इत्यादि की शत्रुता भी मिलेगी। इसलिए···"

"इसलिए?" कुंती के प्राण जैसे उनके कंठ में अटके थे।

"इसलिए कदाचित् वह जरासंध की मित्रता का प्रयत्न कर रहा है।"

"यादवों के शत्रु की मित्रता!" कुंती के स्वर में इस बार रोष के स्थान पर चीत्कार था, "कृष्ण के शत्रु की मित्रता···? अपने स्वार्थ के लिए—अपने ही पितामह के विरुद्ध?"

"हाँ भाभी! मेरी सूचनाएँ इसी ओर इंगित करती हैं।"

"क्या पितृव्य भीष्म को यह सब ज्ञात है?"

"शायद नहीं! कम-से-कम, उन्होंने यह सब जानने के लक्षण कभी नहीं दिखाए।"

"तो तुम उन्हें यह सब बताते क्यों नहीं?"

विदुर थोड़ी देर तक चुप बैठा रहा, जैसे वह या तो ऐसा करने का कारण खोज रहा हो, या सोच रहा हो कि वह कुंती के इस प्रश्न का उत्तर दे या नहीं ?...

"कारण तो अनेक हैं भाभी ! किंतु सबसे बड़ा कारण यह है कि मैं अपनी गुप्त सूचनाओं के विषय में पितृव्य पर विश्वास नहीं करता।" विदुर बोला, "मेरी धारणा है कि गुप्त सूचनाएँ उनके पास पहुँचकर अपनी गोपनीयता की रक्षा नहीं कर पातीं !..."

"काका ! आपको यह नहीं लगता कि आप पितामह पर बहुत बड़ा आरोप लगा रहे हैं ?" युधिष्ठिर का स्वर अत्यंत विनीत, किंतु पर्याप्त दृढ़ था।

"यह आरोप नहीं है, यह उनके व्यक्तित्व का मेरा मूल्यांकन है।" विदुर स्नेह से मुस्कराया, "और इसीलिए तुम्हें भी यही परामर्श दे रहा हूँ कि जो कुछ गोपनीय समझते हो, उसे अपने पितामह तक मत पहुँचने दो। तुम्हें स्मरण है कि हमने दुर्योधन द्वारा भीम को विष दिए जाने की घटना की चर्चा उनसे नहीं की थी ?"

"जी ! वह सूचना हमने उन्हें नहीं दी थी; किंतु मैं आज भी सोचता हूँ कि क्या वह उचित हुआ ?" युधिष्ठिर बोला, "उनके व्यक्तित्व का आपके द्वारा किया गया यह मूल्यांकन क्या निष्पक्ष सत्य है ? कहीं आप ही तो कोई भूल नहीं कर रहे ?"

विदुर पूर्ण आत्मविश्वास के साथ मुस्कराया, जैसे वह युधिष्ठिर की शंका को अपनी मुस्कान से ही निरस्त कर देना चाहता हो; फिर बोला, "पुत्र ! मेरे इस मूल्यांकन का कारण है, तुम्हारे पितामह के व्यक्तित्व की विचित्र सिद्धांत-वादिता।"

युधिष्ठिर ने ही नहीं, सबने ही विदुर को इस प्रकार देखा, जैसे वे कुछ भी समझ न पाए हों।

"यह तो तुम भी जानते हो कि वे अत्यंत सिद्धांतवादी व्यक्ति हैं; और यह भी जानते हो कि उनका पालन-पोषण हमसे पर्याप्त भिन्न वातावरण में हुआ है।" विदुर ने कहा, "जो सिद्धांत अथवा संस्कार उनको उस समय दिए गए, उन पर उनकी आस्था रूढ़िवादिता की सीमा तक है। वे मानते हैं कि वे सिद्धांत ही धर्म की अंतिम व्याख्या हैं। इसलिए वे उनके विरुद्ध न कुछ सुनने को प्रस्तुत हैं, न उनमें कोई परिवर्तन करने को।"

"आप कोई उदाहरण देंगे ?" सहदेव ने विदुर का विरोध नहीं किया था, किंतु उसका वाक्य मानो विदुर की सारी मान्यताओं के सम्मुख चुनौती बनकर खड़ा हो गया था।

"उदाहरण के लिए..." विदुर ने धीरे से कहा, "वे मानते हैं कि किसी भी

स्थिति में कौटुंबिक शांति बनी रहनी चाहिए, एकता बनी रहनी चाहिए, जैसे उन्होंने बनाए रखी, चाहे उसके लिए एक व्यक्ति अधिकारों से वंचित ही क्यों न हो जाए, जैसे वे हुए। एक भाई को दूसरे भाई के लिए त्याग करना चाहिए, जैसे उन्होंने किया। इसलिए वे यह भी नहीं मानेंगे कि एक भाई, दूसरे भाई का कोई अनिष्ट कर सकता है। वे यह नहीं देखेंगे कि युधिष्ठिर का भीम के लिए त्याग उचित है, क्योंकि भीम भी युधिष्ठिर के लिए कोई भी त्याग कर सकता है; किंतु युधिष्ठिर का दुर्योधन के लिए त्याग उचित नहीं है, क्योंकि दुर्योधन उस त्याग को सर्वथा मूर्खता मानता है। तुम्हारे पितामह यह मानते हैं कि व्यक्ति को अपने वचन की रक्षा प्रत्येक स्थिति में करनी चाहिए, जैसे उन्होंने की। वे यह नहीं देख रहे हैं कि उन्हें उनके वचन के बंधनों में बाँध कर कितना अन्याय किया गया। उनका व्यवहार महर्षि वेदव्यास तथा धृतराष्ट्र के लिए एक जैसा ही होगा। वे दोनों को दिए गए वचन का एकसमान ही पालन करेंगे···" विदुर ने रुककर अपनी दृष्टि सब पर डाली, "सबसे बड़ी कठिनाई यह है पुत्र ! कि वे अपने समाज द्वारा बनाए गए, इन नियमों को धर्म मानते हैं, इसलिए वे उन पर पुनर्विचार नहीं कर सकते।···" विदुर जैसे अपने ही कथन में संशोधन करने के लिए रुका, "मैं उनकी निंदा नहीं कर रहा। मैं उन्हें अपने-आप में बहुत आदर्श, सिद्धांतवादी, त्यागी तथा धार्मिक व्यक्ति मानता हूँ; किंतु धर्म की मौलिक अवधारणा उनके पास नहीं है। उनके धर्म का रथ चलता है, तो वे न तो यह देखते हैं कि उनके चक्र के नीचे आकर, कौन-कौन कट गया; और न ही उन कटने वालों की मृत्यु तथा पीड़ा के लिए वे स्वयं को दोषी मानते हैं···।"

"तो हम क्या करें काका ?" युधिष्ठिर ने जैसे अपनी असहाय स्थिति प्रकट कर दी।

"करना क्या है पुत्र ! यही मानकर चलो कि उनके मन में न कलुष है, न दुर्भावना। वह व्यक्ति बहुत ही सात्विक और निर्मल प्राणी होते हुए भी, अपने समय के चिंतन और सिद्धांतों का बंदी है। वह परिवर्तित नहीं हो सकता। वह अपने समय की रूढ़ियों के बंधन को काट नहीं सकता। हम उसकी सिद्धांतवादिता के लिए उसका सम्मान करेंगे, किंतु उसकी नीति को स्वीकार करना हमारे लिए संभव नहीं है। त्याग एक उच्च आदर्श है; किंतु दुर्योधन जैसे व्यक्ति के लिए त्याग करना समाज के लिए हितकर नहीं है। हम भाई से प्रेम करेंगे, किंतु दुर्योधन जैसे भाई से सावधान भी रहेंगे। हम हस्तिनापुर की रक्षा करेंगे, किंतु धृतराष्ट्र और हस्तिनापुर को पृथक्-पृथक् ही रखेंगे···।"

विदुर मौन हो गया। शेष लोगों में से भी कोई कुछ नहीं बोला। विदुर के पास कहने को और कुछ नहीं था; और शेष लोग उसकी कही हुई बातों के प्रकाश में जैसे आत्म-मंथन कर रहे थे···

मौन का बोझ जब असह्य हो गया, तो कुंती ही बोली, "विदुर! मैं आज तक मानती थी कि हस्तिनापुर में मेरा और मेरे पुत्रों का कोई नहीं है, तो पितृव्य तो हैं, तुम तो हो; किंतु आज तुम्हारी बातों से लगता है कि पितृव्य भी हमारे नहीं हैं। मैं तो अपने पुत्रों को अपने आँचल में छिपाए, सिर झुकाए, इसलिए चुपचाप बैठी थी कि दुर्दिन की यह लहर हमारे सिर के ऊपर से निकल जाएगी, तो हम समर्थ होकर अपना सिर उठा सकेंगे और अपना अधिकार माँग सकेंगे··· किंतु मैं देख रही हूँ कि समय के इस अंतराल के पश्चात् हम समर्थ और शक्तिशाली होने के स्थान पर और भी असमर्थ और असहाय हो गए हैं।···"

"नहीं माँ! हम असहाय और असमर्थ कैसे हैं!" भीम जैसे अपने आवेग को रोक नहीं पाया, "अपने पुत्रों को तो देखो! हम चार गए थे तो पांचाल सेना को ध्वस्त कर आए थे; पाँचों एक साथ होंगे, तो क्या नहीं कर लेंगे।"

"मध्यम ठीक कहता है माँ!" सहदेव बोला, "दुर्योधन के सौ भाई हैं, फिर भी उसे कर्ण, गुरु द्रोण तथा अश्वत्थामा के बाहुबल को क्रय करने की आवश्यकता रहती है; और अब वह जरासंध की सहायता पाना चाहता है। हमें देखो! हम तो मात्र पांच हैं; किंतु हमें किसी कर्ण अथवा अश्वत्थामा की आवश्यकता नहीं है···।"

कुंती का मन हुआ कि वह सहदेव को रोक दे, 'नहीं, कर्ण के विषय में ऐसा मत कहो···।'

"आपके पुत्र ठीक कहते हैं भाभी!" विदुर बोला, "पहली बात तो यह है कि इन पांच तरुणों के सामर्थ्य के कारण, हम असमर्थ नहीं रह गए हैं; दूसरे, ऐसा नहीं है कि पहले पितृव्य का संरक्षण आपको प्राप्त था, और अब प्राप्त नहीं है। उनका संरक्षण तो जैसा तब था, वैसा ही अब भी है, किंतु उसकी शक्तिमत्ता का अब हमें ज्ञान है। तीसरे यह···और यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि यदि दुर्योधन अपने मित्र ढूंढ़ रहा है, तो युधिष्ठिर भी अपने मित्र ढूंढ़ सकता है।"

"आप चाहते हैं काका! कि मैं भी दुर्योधन की ही नीति स्वीकार कर लूं?" युधिष्ठिर के स्वर में वेदना थी।

"नहीं पुत्र! यह मैं कभी नहीं चाहूंगा।" विदुर ने उत्तर दिया, "यदि तुम भी दुर्योधन की नीति अपना लोगे, तो नीति, न्याय, धर्म और मानवता खोजने के लिए हस्तिनापुर किसके पास जाएगा।" विदुर जैसे अपनी बात का प्रभाव देखने के लिए रुका, "मैं तो मात्र यह कह रहा था कि यदि अधर्म संगठित हो रहा है, तो धर्म को भी संगठित होना चाहिए।···सामान्यत: होता यही है कि अन्याय और स्वार्थ तो संगठित होकर, न्याय तथा सर्वहित पर प्रहार करते हैं; किंतु न्याय और सर्वहित न तो संगठित होते हैं, न प्रहार करते हैं, न प्रहार करने वालों को बल देते हैं···।" विदुर पुन: रुककर बोला, "मुझे लगता है कि हम यह

भूल जाते हैं कि जरासंध एक शक्ति है, तो कृष्ण भी तो एक शक्ति है ''।'

"मेरा कृष्ण !" कुंती बोली, "किंतु वह तो मात्र एक बालक है।"

विदुर हँसा, "बालक अब तरुण हो चुके हैं भाभी ! उन्हीं के कर्मक्षेत्र में उतरने का समय है अब ! जरासंध के जामाता और सहयोगी का वध करने वाला, कृष्ण ही तो है।···और फिर अब वसुदेव कारागार में नहीं हैं। वे दुर्बल भी नहीं हैं। मथुरा पर इस समय कृष्ण के नेतृत्व में यादवों का अधिकार है। उग्रसेन, वसुदेव, अक्रूर, कृष्ण, बलराम—सब एक हैं। यदि गंधार से आकर अपनी बहन की सहायता के लिए शकुनि आजीवन हस्तिनापुर में बैठा रह सकता है, तो क्या कुंती का भाई मथुरा से एक बार हस्तिनापुर नहीं आ सकता ?"

"मैंने आपसे पहले भी कहा है काका ! कि मैं दुर्योधन बनना नहीं चाहता !" युधिष्ठिर ने अपना विरोध जताया, "न मैं चाहता हूँ कि मेरी माँ गांधारी और मेरे मातुल शकुनि बनें। अपने कौटुंबिक मतभेद में बाहरी लोगों को लाना···।"

"मैं भी यह नहीं चाहता पुत्र !" विदुर बोला, "किंतु यह अवश्य चाहता हूँ कि यदि कृष्ण ने कंस का वध कर अन्याय का विध्वंस आरंभ किया है तो यह प्रक्रिया यहीं न रुके, आगे भी चले। इस समय जरासंध की सहायता से भीष्मक, दामघोष, शाल्व तथा अन्य राजाओं की राजसभाओं में कृष्ण के विरुद्ध यदि षड्यंत्र रचे जा रहे हैं, तो तुम कम से कम, हस्तिनापुर में तो कृष्ण के विरुद्ध व्यूह मत रचा जाने दो। कृष्ण से सहायता नहीं चाहते, तो कृष्ण की सहायता करो तो···।"

"नहीं ! किसने कहा कि हम कृष्ण अथवा मथुरा के यादवों की सहायता नहीं चाहते ?" भीम तड़पकर बोला, "मैं ज्येष्ठ से एकदम सहमत नहीं हूँ ! ये केवल दुर्योधन को अपना भाई समझते होंगे, मैं तो कृष्ण को भी अपना उतना ही भाई समझता हूँ···।"

"भाई तो वह तुम्हारा है ही," विदुर ने कहा, "किंतु मैं केवल भाई के नाते कृष्ण से सहायता लेने अथवा कृष्ण की सहायता करने की बात नहीं कर रहा हूँ। तुम कृष्ण के फुफेरे भाई हो, तो शिशुपाल भी वही है; किंतु कृष्ण, अन्याय के समर्थक शिशुपाल का न सहायक होगा, न उससे सहायता लेगा। तुम धर्म का आचरण करने के लिए, कृष्ण की सहायता लो; और उसकी सहायता करो।··· मैं समझता हूँ कि पांचाल भी अपनी नीति के कारण कृष्ण के ही पक्ष में जाएँगे।"

"तुम ठीक कहते हो विदुर !" सहसा कुंती बोली, "किंतु मैं सोचती हूँ···।" और वह चुप हो गई।

"क्या सोचती हैं भाभी ?"

"हम तो यहाँ बैठे उनके विषय में इतनी चर्चा कर रहे हैं; किंतु क्या उन्हें भी हमारा कुछ ध्यान है ? क्या वे हमारी सहायता करने की स्थिति में हैं ? क्या

मौन का बोझ जब असह्य हो गया, तो कुंती ही बोली, "विदुर ! मैं आज
क मानती थी कि हस्तिनापुर में मेरा और मेरे पुत्रों का कोई नहीं है, तो पितृव्य
हैं, तुम तो हो; किंतु आज तुम्हारी बातों से लगता है कि पितृव्य भी हमारे
हीं हैं। मैं तो अपने पुत्रों को अपने आँचल में छिपाए, सिर झुकाए, इसलिए
चुपचाप बैठी थी कि दुर्दिन की यह लहर हमारे सिर के ऊपर से निकल जाएगी,
हम समर्थ होकर अपना सिर उठा सकेंगे और अपना अधिकार माँग सकेंगे…
तु मैं देख रही हूँ कि समय के इस अंतराल के पश्चात् हम समर्थ और शक्ति-
ली होने के स्थान पर और भी असमर्थ और असहाय हो गए हैं।…"

"नहीं माँ ! हम असहाय और असमर्थ कैसे हैं !" भीम जैसे अपने आवेग
रोक नहीं पाया, "अपने पुत्रों को तो देखो ! हम चार गए थे तो पांचाल सेना
ध्वस्त कर आए थे; पाँचों एक साथ होंगे, तो क्या नहीं कर लेंगे।"

"मध्यम ठीक कहता है माँ !" सहदेव बोला, "दुर्योधन के सौ भाई हैं, फिर
उसे कर्ण, गुरु द्रोण तथा अश्वत्थामा के बाहुबल को क्रय करने की आवश्य-
ता रहती है; और अब वह जरासंध की सहायता पाना चाहता है। हमें देखो !
तो मात्र पाँच हैं; किंतु हमें किसी कर्ण अथवा अश्वत्थामा की आवश्यकता
हीं है…।"

कुंती का मन हुआ कि वह सहदेव को रोक दे, 'नहीं, कर्ण के विषय में ऐसा
त कहो…।'

"आपके पुत्र ठीक कहते हैं भाभी !" विदुर बोला, "पहली बात तो यह है
 इन पाँच तरुणों के सामर्थ्य के कारण, हम असमर्थ नहीं रह गए हैं; दूसरे,
सा नहीं है कि पहले पितृव्य का संरक्षण आपको प्राप्त था, और अब प्राप्त नहीं
। उनका संरक्षण तो जैसा तब था, वैसा ही अब भी है, किंतु उसकी शक्तिमत्ता
ा अब हमें ज्ञान है। तीसरे यह…और यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि यदि
र्योधन अपने मित्र ढूंढ़ रहा है, तो युधिष्ठिर भी अपने मित्र ढूंढ़ सकता है।"

"आप चाहते हैं काका ! कि मैं भी दुर्योधन की ही नीति स्वीकार कर लूँ ?"
ुधिष्ठिर के स्वर में वेदना थी।

"नहीं पुत्र ! यह मैं कभी नहीं चाहूँगा।" विदुर ने उत्तर दिया, "यदि
ुम भी दुर्योधन की नीति अपना लोगे, तो नीति, न्याय, धर्म और मानवता
ोजने के लिए हस्तिनापुर किसके पास जाएगा।" विदुर जैसे अपनी बात का
भाव देखने के लिए रुका, "मैं तो मात्र यह कह रहा था कि यदि अधर्म संगठित
ो रहा है, तो धर्म को भी संगठित होना चाहिए।…सामान्यत: होता यही है कि
न्याय और स्वार्थ तो संगठित होकर, न्याय तथा सर्वहित पर प्रहार करते हैं;
िंतु न्याय और सर्वहित न तो संगठित होते हैं, न प्रहार करते हैं, न प्रहार करने
ालों को बल देते हैं…।" विदुर पुन: रुककर बोला, "मुझे लगता है कि हम यह

भूल जाते हैं कि जरासंध एक शक्ति है, तो कृष्ण भी तो एक शक्ति है...।"

"मेरा कृष्ण !" कुंती बोली, "किंतु वह तो मात्र एक बालक है।"

विदुर हँसा, "बालक अब तरुण हो चुके हैं भाभी! उन्हीं के कर्मक्षेत्र में उतरने का समय है अब! जरासंध के जामाता और सहयोगी का वध करने वाला, कृष्ण ही तो है।...और फिर अब वसुदेव कारागार में नहीं हैं। वे दुर्बल भी नहीं हैं। मथुरा पर इस समय कृष्ण के नेतृत्व में यादवों का अधिकार है। उग्रसेन, वसुदेव, अक्रूर, कृष्ण, बलराम—सब एक हैं। यदि गंधार से आकर अपनी बहन की सहायता के लिए शकुनि आजीवन हस्तिनापुर में बैठा रह सकता है, तो क्या कुंती का भाई मथुरा से एक बार हस्तिनापुर नहीं आ सकता ?"

"मैंने आपसे पहले भी कहा है काका! कि मैं दुर्योधन बनना नहीं चाहता!" युधिष्ठिर ने अपना विरोध जताया, "न मैं चाहता हूँ कि मेरी माँ गांधारी और मेरे मातुल शकुनि बनें। अपने कौटुंबिक मतभेद में बाहरी लोगों को लाना...।"

"मैं भी यह नहीं चाहता पुत्र।" विदुर बोला, "किंतु यह अवश्य चाहता हूँ कि यदि कृष्ण ने कंस का वध कर अन्याय का विध्वंस आरंभ किया है तो यह प्रक्रिया यहीं न रुके, आगे भी चले। इस समय जरासंध की सहायता से भीष्मक, दामघोष, शाल्व तथा अन्य राजाओं की राजसभाओं में कृष्ण के विरुद्ध यदि षड्यंत्र रचे जा रहे हैं, तो तुम कम से कम, हस्तिनापुर में तो कृष्ण के विरुद्ध व्यूह मत रचा जाने दो। कृष्ण से सहायता नहीं चाहते, तो कृष्ण की सहायता करो तो...।"

"नहीं ! किसने कहा कि हम कृष्ण अथवा मथुरा के यादवों की सहायता नहीं चाहते ?" भीम तड़पकर बोला, "मैं ज्येष्ठ से एकदम सहमत नहीं हूँ ! ये केवल दुर्योधन को अपना भाई समझते होंगे, मैं तो कृष्ण को भी अपना उतना ही भाई समझता हूँ...।"

"भाई तो वह तुम्हारा है ही," विदुर ने कहा, "किंतु मैं केवल भाई के नाते कृष्ण से सहायता लेने अथवा कृष्ण की सहायता करने की बात नहीं कर रहा हूँ। तुम कृष्ण के फुफेरे भाई हो, तो शिशुपाल भी वही है; किंतु कृष्ण, अन्याय के समर्थक शिशुपाल का न सहायक होगा, न उससे सहायता लेगा। तुम धर्म का आचरण करने के लिए, कृष्ण की सहायता लो; और उसकी सहायता करो।... मैं समझता हूँ कि पांचाल भी अपनी नीति के कारण कृष्ण के ही पक्ष में जाएँगे।"

"तुम ठीक कहते हो विदुर!" सहसा कुंती बोली, "किंतु मैं सोचती हूँ...।" और वह चुप हो गई।

"क्या सोचती हैं भाभी ?"

"हम तो यहाँ बैठे उनके विषय में इतनी चर्चा कर रहे हैं; किंतु क्या उन्हें भी हमारा कुछ ध्यान है ? क्या वे हमारी सहायता करने की स्थिति में हैं ? क्या

वे हमारी सहायता करना चाहते हैं ? क्या उन्हें हमारी सहायता की आवश्यकता है ? क्या वे हमारी सहायता लेना चाहते हैं ?"

"यह सब तो उनसे संपर्क होने पर ही ज्ञात होगा भाभी।" विदुर बोला, "मथुरा यहाँ से है ही कितनी दूर। हममें से किसी को मथुरा जाना चाहिए।..."

"मैं जाऊँ ?" अर्जुन ने पूछा।

"मैं भी जा सकता हूँ।" भीम बोला।

"जाने को तो कोई भी जा सकता है।" विदुर ने चिंतनलीन स्वर में कहा, "किंतु तुममें से किसी का भी हस्तिनापुर से जाना, अलक्षित नहीं रहेगा। तुम्हारे शत्रु घात लगाए बैठे हैं। तुममें से कोई भी उन्हें अकेला मिल गया तो...नहीं ! तुममें से कोई नहीं जाएगा।...मैं ही किसी संदेशवाहक अथवा अपने कार्य से मथुरा जाने वाले किसी व्यापारी के माध्यम से संदेश भेजूंगा।" विदुर उठ खड़ा हुआ, "अच्छा ! अब चलता हूँ !"

सब उठ खड़े हुए और बिना कुछ कहे हुए, विदुर के साथ-साथ बाहर तक आए।

विदुर का रथ खड़ा था; किंतु सारथि नहीं था। विदुर स्वयं ही सारथ्य करता था।.. 'विदुर ऐसा क्यों करता है ?' कुंती ने कई बार सोचा था, 'पता नहीं, धृतराष्ट्र इसे यह सुविधा नहीं देता, अथवा अपना आवागमन गोपनीय रखने के लिए यह ऐसा करता है...'

विदुर ने रथारूढ़ होकर वल्गा थाम ली और अपनी आँखों के संकेत से ही कहा, 'अच्छा ! चलता हूँ।'

कुंती अपने पुत्रों के साथ खड़ी विदुर के रथ से उड़ती धूल को देखती रही।...जीवन का पथ भी कैसा धूलि-धूसरित हो गया था। कुछ भी तो ठीक से सुझाई नहीं दे रहा था।...

विदुर का रथ आँखों से ओझल हो गया तो कुंती भीतर जाने के लिए मुड़ी; किंतु मुड़ते-मुड़ते भी उसके पग थम गए।...यह क्या...विदुर के रथ से उड़ी हुई धूलि, जो अब क्षीण होकर जैसे भूमि पर बैठ गई थी, पुनः सघन होकर उड़ने लगी थी और पथ पुनः वैसा ही धूमिल हो गया था।...क्या विदुर ने अपना रथ वापस लौटाया था...?

कुंती को रुकते देख, युधिष्ठिर भी रुका, उसके साथ ही अन्य भाई भी रुक गए। माँ की आँखों का अनुसरण कर, उन्होंने देखा, जिस मार्ग से अभी विदुर का रथ गया था, उसी मार्ग से एक रथ उनकी ओर आ रहा था; किंतु निश्चित रूप से यह विदुर का रथ नहीं था...

रथ निकट आया। वह राजकीय रथ लग रहा था, किंतु उस पर हस्तिनापुर का नहीं, मथुरा के यादवों का ध्वज फहरा रहा था।...

कुंती ने अपनी आँखें मलीं, कहीं यह उसका भ्रम तो नहीं है ?···नहीं ! यह उसका भ्रम नहीं था। उस पर सचमुच ही मथुरा के यादवों का ध्वज था···

18

निकट आकर रथ रुक गया। रथ पर से एक व्यक्ति उतरा। कुंती ने उसे देखा : अधेड़ वय का कोई संभ्रांत पुरुष था। वस्त्राभूषण साधारण नहीं थे। देखकर समझ पाना कठिन था कि वह राजपुरुष था, अथवा साधारण धनी व्यापारी। किंतु रथ पर यादवों का राजकीय ध्वज था। निश्चय ही वह राजपुरुष होगा। किंतु कौन है वह ?

वह आकर कुंती के सामने खड़ा हो गया, "तुम पृथा ही हो न ?"

कुंती के साथ-साथ पाँचों पांडवों ने आश्चर्य से उसे देखा : *कौन है वह, जो इस प्रकार पूछ रहा है, जैसे वह पद, सामर्थ्य में इनसे बहुत श्रेष्ठ हो, या फिर कोई अत्यंत आत्मीय व्यक्ति हो ?* ···

कुंती ने स्वयं ही स्वीकृति में सिर हिलाया, "आप ?"

वह सहज रूप से मुस्कराया, "नहीं पहचाना न ? मैं जानता था। मैं हूँ अक्रूर !"

कुंती की मुद्रा सहसा ही परिवर्तित हो गई : वह जैसे स्मृति-दर्पण पर से समय की धूलि को झाड़ रही थी। और क्रमशः उसकी आँखों के सम्मुख उस अधेड़ श्मश्रुमान चेहरे के भीतर से एक परिचित तरुण चेहरा झाँकने लगा। कुंती जैसे टूटकर, अक्रूर के कंठ से जा लगी, "हाय ! मैं पहचान क्यों नहीं पाई !"

और फिर कुंती स्वयं नहीं समझ सकी कि उसके मन की क्या स्थिति हुई कि उसकी आँखों में अश्रु आ गए तथा उसका कंठ भर्रा गया। वह बिना एक भी शब्द बोले, चुपचाप अक्रूर के कंठ से लगकर अश्रु बहाती रही और उसे लगा कि *उसने इससे बड़ा सुख, अपने सारे जीवन में कभी नहीं जाना !*

अक्रूर का मुस्कराता हुआ कौतुकी चेहरा भी जैसे गंभीर हो गया और उसकी भी आँखें भर आईं। वह किंकर्तव्यविमूढ़-सा, कुंती को कंठ से लगाए, अपनी अश्रुपूरित धुँधली आँखों से, अवाक् खड़े पांडवों को देखता रहा।···अंततः उसने स्वयं को सँभाला। अश्रु पोंछे। कुंती के कंधों को स्नेहोन्मत्त कोमल हाथों से थपथपाया; और जैसे फुसफुसाकर बोला, "तू तो अब भी वैसी ही बावली पृथा है। साम्राज्ञी और राजमाता की गरिमा और गंभीरता तो तुममें आई ही नहीं !"

कुंती के मन में जैसे कोई चपल बालिका किलक उठी, जो कहना चाहती थी, 'हां ! मैं तो हूं ही बावली ! तुम तो बड़े सयाने हो न !' किंतु उसके धैर्य ने जैसे उस किलक को दबा लिया। उसने स्वयं को स्मरण कराया : 'बावली ही तो हो रही थी वह ! इतने वर्षों के अंतराल के पश्चात उसका भाई उसके घर आया था और वह उसके स्वागत में एक शब्द भी न कहकर, रोए जा रही थी।'...

कुंती को लगा : वह इस समय जैसे एक ही साथ दो-दो धरातलों पर जी रही थी। उसके मन में वर्षों पुरानी किलकती हुई चपल बालिका जाग उठी थी, और वह अपने उसी पुराने ढंग से व्यवहार करना चाहती थी। वह कहना चाहती थी, 'अक्रूर भैया ! यह किसकी श्मश्रु अपने चेहरे पर चिपका आए हो ? उतारो इसको।' और वह उस दाढ़ी को पकड़कर, उस चेहरे से खींच ही लेना चाहती थी, जैसे वह सचमुच ही, गोंद से चिपकी हुई हो।...या शायद वह उसके कंठ में अपनी बाँहें डाल, झूल जाना चाहती थी, भूमि पर अपने पैर पटक-पटककर हठ करना चाहती थी कि वह ऐसे ही कंठ में लटके-लटके, उसे गोल-गोल घुमाए।...और दूसरी ओर वह एक प्रौढ़ महिला के समान मर्यादित व्यवहार करना चाहती थी। उसके विवाह के पश्चात, आज पहली बार, उसके मायके से कोई उसके घर आया था।...वह भी उसका एक ऐसा भाई, जिसके साथ अपना सारा शैशव उसने चपल क्रीड़ाओं में बिताया था; जो सदा उसे स्मरण कराता रहता था कि वह उससे अवस्था में बड़ा था, इसलिए कुंती को चाहिए कि उसे 'भैया' कहे और उसका सम्मान करे।...और कुंती सदा ही उसके बड़े होने की गरिमा, मर्यादा और अधिकार का तिरस्कार करती रही थी।...आज वह सचमुच ही बड़ा और गंभीर होकर, उसके सम्मुख आया था—इतनी बड़ी श्वेत श्मश्रु लेकर, ताकि आज तो कुंती उसे बड़ा मान ही ले।

कुंती ने स्वयं को सायास पृथक् किया और अपने अश्रु पोंछ, प्रयत्नपूर्वक स्वयं को संयत कर, अपने पुत्रों से बोली, "इन्हें प्रणाम करो पुत्र ! ये श्वफल्क-पुत्र अक्रूर हैं—तुम्हारे मातुल !"

पांडवों ने अक्रूर को प्रणाम किया और युधिष्ठिर ने आगे बढ़, हाथ जोड़कर कहा, "भीतर पधारें मातुल ! हमें क्षमा करें। आपको पहचान न पाने के कारण, इतनी देर तक आपको बाहर ही खड़े रखा। पधारें।"

अक्रूर ने भीतर जाते हुए, पीछे मुड़कर अपने सारथि से कहा, "अश्वों को खोल दो सारथि ! तुम भी विश्राम करो।"

कुंती को लगा, वह अब तक अपने-आपको संयत नहीं कर पाई है; किंतु अब उसे इसकी चिंता नहीं थी। जिस शालीनता और सम्मान से युधिष्ठिर, अपने मातुल को घर के भीतर ले आया था और पांचों भाइयों ने यथा आवश्यकता, सब कुछ सँभाल लिया था, उससे कुंती को यह तो लग ही नहीं रहा था कि अब वह

परिवार की प्रमुख है, और सब कुछ उसके लिए ही होगा।...उसके पुत्र अब सचमुच बड़े हो गए थे; और जिस युधिष्ठिर से यह अपेक्षा की जा रही थी कि वह सारे कुरु-साम्राज्य को सँभालेगा, वह क्या अपने इस एक छोटे-से घर को नहीं सँभाल पाएगा...

कुंती आज स्वयं ही अपने-आपको समझ नहीं पा रही थी। जाने आज उसके मन की कौन-सी पीड़ा जाग उठी थी और अश्रुओं का कौन-सा स्रोत खुल गया था। उसकी इच्छा हो रही थी कि यदि वह अक्रूर के कंठ से लगकर वहाँ रो सकती, तो उसके सामने बैठकर, जी भरकर रोए।...उसे स्वयं ही अपने ऊपर आश्चर्य हो रहा था कि उसे क्या हो गया था। इतनी विह्वल तो वह तब भी नहीं हुई थी, जब पांडु ने विवाह के तत्काल पश्चात उसकी उपेक्षा करनी आरंभ कर दी थी। इतनी विह्वल तो वह तब भी नहीं हुई थी, जब उसके पति का देहांत हो गया था और वह अपने इन छोटे-छोटे पुत्रों को हृदय से लगाए, हताश और दुख के असह्य बोझ से दबी प्रश्नवाचक दृष्टि से आकाश की ओर देख रही थी—विधाता! मेरा और मेरे इन पुत्रों का क्या होगा?

आज तक न उसे रोने का अवकाश ही मिला था और न सुविधा ही। सबको रोने की सुविधा भी कहाँ होती है।...इतने वर्षों के पश्चात आज उसे अपने भाई का कंधा दिखाई पड़ा था, जिस पर माथा टिकाकर वह रो सकती थी। इतने वर्षों के पश्चात उसे कोई, अपना इतना आत्मीय मिला था, जिसके सम्मुख वह निःशंक भाव से अपने दुख कह सकती थी। यह व्यक्ति उन लोगों के मध्य से आया था, जो उसके अपने थे, जो सामर्थ्यवान थे; और जो उसकी सहायता कर सकते थे...

"कैसे हो भैया?" अंततः उसने पूछा।

"विधाता का धन्यवाद! तुम कुछ बोलीं तो! मैं समझ नहीं पा रहा था कि तुम मूक हो या अवाक्!" अक्रूर मुसकराया, "तुम कैसी हो पृथा?"

कुंती का मन फिर भर आया। आज उसके घर, उसे 'पृथा' कहने वाला कोई आया था। वह तो जैसे भूल ही गई थी कि वह कभी पृथा भी हुआ करती थी। उसका संयम जैसे चुक गया था या शायद भावनाओं के आवेश ने उसके विवेक का अंकुश मानने से इंकार कर दिया, "मैं तो उस हरिणी के समान हूँ भैया! जो नृशंस भेड़ियों के मध्य घिर गई हो। मेरे ये पितृहीन बालक आज तक अपना स्वत्व न पा सके। शत्रुओं के बीच घिरी ऐसी शोकाकुल हूँ; किंतु किसी से कह भी नहीं सकती कि ये लोग मेरे बंधु-परिजन नहीं, हत्यारे हैं।" कुंती का स्वर करुण होता गया, "तुम सब लोग अपने संकटों में घिरे थे। पिता कुंतिभोज स्वयं को सर्वथा असहाय पा रहे थे। मैं किसके सम्मुख रोती? कहाँ जाती मैं सहायता के लिए?..."

अक्रूर अपने स्थान से उठकर कुंती के निकट आ गया, "चिंता मत करो बहन ! विपत्ति-काल समाप्त हुआ। कंस का वध हुआ। यादव अब स्वतंत्र और समर्थ हैं। बहुत सहा है यादवों ने; और उनसे अधिक सहन किया है, वसुदेव तथा देवकी ने ! किंतु अब हमारे सम्मुख उज्ज्वल भविष्य है। कृष्ण और बलराम के नेतृत्व में हम जरासंध को भी पराजित कर चुके हैं।..."

"पर मैंने तो सुना है कि जरासंध यादवों के विरुद्ध, उनके शत्रुओं को संगठित करता फिर रहा है।" कुंती कुछ स्वस्थ स्वर में बोली।

"हां ! किंतु हम भी अब असमर्थ नहीं हैं। कृष्ण कहता है कि हम अपने मन में प्रतिहिंसा न रखें, किंतु धर्म और न्याय के शत्रुओं के विरुद्ध हम भी संगठित हों। असहायों की रक्षा करें...।"

"क्या भैया वसुदेव मुझे भी स्मरण करते हैं ?" सहसा कुंती ने पूछा।

इस बार अक्रूर का स्वर जैसे उल्लास से ऊंचा हो आया, "वसुदेव तो स्मरण करते ही हैं, मुझे तो वासुदेव कृष्ण ने कहा था .."

"क्या ?" कुंती ने पूछा।

"कृष्ण ने कहा, 'काका ! आप पांडवों का कुशल-मंगल जानने के लिए हस्तिनापुर जाइए। मैंने सुना है कि वहां वे सुखी नहीं हैं। सुखी होंगे भी कैसे। धृतराष्ट्र एक तो अंधे हैं और दूसरे उनमें मनोबल की बहुत कमी है। उनका पुत्र दुर्योधन दुष्ट है और धृतराष्ट्र अपने पुत्र के अधीन हैं। आप बुआ और उनके पुत्रों की स्थिति देख आइए। फिर हम ऐसा कुछ करें, जिससे हमारे सुहृदों को सुख मिले।' "

"यह सब कहा कृष्ण ने ?" कुंती चकित थी, "कहां से मालूम हो गया, कृष्ण को यह सब ?"

"यह कहना तो कठिन है बहन !" अक्रूर ने कहा, "मैं तो इतना ही जानता हूं कि मुझे सदा यही लगा है कि कृष्ण सब कुछ जानता है। उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता।"

कुंती का मन अपने उस भतीजे के लिए स्नेह से आप्लावित हो उठा : कैसा है वह कृष्ण, जिसके विषय में अक्रूर भैया ऐसा कह रहे हैं।...

"मातुल !" सहसा युधिष्ठिर बोला, "मेरी अशिष्टता क्षमा करें, बड़ों के वार्तालाप में हस्तक्षेप कर रहा हूं।"

"नहीं ! ऐसी कोई बात नहीं ! तुम कहो पुत्र !" अक्रूर ने अपनी दृष्टि युधिष्ठिर पर डाली, "अब तुम बालक नहीं हो। वयस्क हो। तुम्हें हस्तिनापुर का राज्य संभालना है। तुम्हें हम अपने वार्तालाप के अयोग्य कैसे मान सकते हैं।" अक्रूर के अधरों पर एक मधुर मुस्कान आई, "और कृष्ण तो तुमसे भी छोटा है। हम उससे परामर्श लेते हैं। उसके नेतृत्व को स्वीकार करते हैं। उसके आदेशों का

पालन करते हैं।···"

"आप तो कृष्ण से अभिभूत लगते हैं मातुल !" भीम को भी वार्तालाप की प्रेरणा मिली, "क्या सचमुच कृष्ण इतना अद्भुत है ?"

"मैं क्या कहूँ पुत्र ! उसे तो जिसने भी देखा, अद्भुत ही पाया है।" अक्रूर ने कहा, "तुम क्या कह रहे थे युधिष्ठिर ?"

"मातुल ! मैं सोचता हूँ कि यादव तो स्वयं ही इतनी कठिनाइयों में फँसे हुए हैं, वे क्या हमारी कोई सहायता कर पाएँगे ?" युधिष्ठिर चिंतनशील स्वर में बोला, "मथुरा के भीतर भी कंस के समर्थक होंगे, वे कृष्ण और उसके समर्थकों को शांति से नहीं बैठने देंगे। फिर जरासंध है—वह चाहे यादवों से पराजित हो चुका है, किंतु वह अपनी हार नहीं मानेगा। वह यादवों के विरुद्ध अपने मित्र राजाओं की सेनाएँ एकत्रित कर रहा है। मैंने सुना है कि वह कालयवन से भी संपर्क कर रहा है। बहुत संभव है कि अनेक लोग अपने निजी कारणों से स्वयं जरासंध के सहायक हो जाएँ। दुर्योधन भी उनमें से एक हो सकता है। इतने शत्रुओं के होते हुए क्या कृष्ण के पास इतना समय होगा कि वह हमारी ओर ध्यान दे और हमारी सहायता कर अपने शत्रुओं में और वृद्धि करे। हमारी सहायता करने पर पांचाल तथा गांधार भी यादवों के शत्रु हो जाएँगे···शायद सिंधु-सौवीर भी···।"

युधिष्ठिर रुक गया। उसने दृष्टि उठाकर अक्रूर को देखा : क्या प्रतिक्रिया है अक्रूर की ?···

किंतु अक्रूर ने तत्काल न कोई उत्तर दिया, न प्रतिक्रिया व्यक्त की। वह आत्मलीन-सा, भाव-शून्य दृष्टि से युधिष्ठिर को देखता रहा।

थोड़ी देर के पश्चात् अक्रूर ने स्वयं ही कहा, "मैं प्रसन्न हूँ पुत्र ! कि तुमने यह सब सोचा। मुझे लगता है कि तुमने मात्र एक प्रश्न नहीं पूछा है। तुम्हारी बातों में अनेक प्रश्न एक-दूसरे से उलझे हुए हैं। जैसे-जैसे हम उन्हें सुलझाएँगे, हमारे हाथ नये से नये प्रश्न लगेंगे और उनमें से प्रत्येक का उत्तर देते हुए, मुझे कृष्ण के विषय में बहुत कुछ बताना पड़ेगा। और मुझे लगता है कि मैं कृष्ण के विषय में तुम्हें जितना अधिक बताऊँगा, तुम उसे उतना ही अद्भुत पाओगे।"

अक्रूर की बात का किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु उसने देखा कि पाँचों भाई सुनने की उत्सुकता से उसके कुछ और निकट खिसक आए हैं।

"जहाँ तक कृष्ण का प्रश्न है, वह उन सबकी सहायता कर सकता है, जिनको उसकी सहायता की आवश्यकता है।···"

"कृष्ण के संकल्प के विषय में मुझे कोई शंका नहीं है मातुल !" युधिष्ठिर बोला, "मैं तो समय और साधनों की बात कर रहा था।"

"मैं भी उसी अर्थ में कह रहा हूँ पुत्र ! कि कृष्ण अक्षय है। उसके पास उन

सबके लिए समय है, जिनको उसके समय की आवश्यकता है। और जहाँ तक साधनों की बात है, उन्हें एकत्रित, संचित अथवा उत्पन्न कर लेने में कृष्ण को कभी कोई कठिनाई नहीं होती। "

"ऐसा कैसे संभव है ?" अर्जुन समझ नहीं पाया कि यह उसकी जिज्ञासा मात्र थी अथवा आपत्ति !

"कैसे संभव है, यह मैं नहीं जानता, किंतु ऐसा ही है।" अक्रूर ने बहुत सहज भाव से कहा, "कृष्ण मानता है कि संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। हमें केवल उसके अनुकूल, उसी अनुपात में कर्म करना होता है। और उस कर्म का फल अवश्य मिलता है।"

"कर्म का फल मिलता है ?" भीम ने अत्यंत आश्चर्य से कहा, "हमें तो कभी नहीं मिला। मुझे तो सदा ही लगता है कि कर्म हम करते हैं और फल कोई और ही खा जाता है।"

"तुम कृष्ण से मिलो तो अवश्य पूछना कि तुम्हारे कर्मों का फल कौन खा जाता है।" अक्रूर सहज ही मुस्करा पड़ा, "संभव है कि मैं तुम्हारी सारी शंकाओं का समाधान न कर पाऊँ; किंतु कृष्ण की बातों से इतना मैं अवश्य समझ गया हूँ कि प्रकृति में अनियमितता नहीं है। प्रकृति के अपने नियम हैं। वह उन्हीं नियमों पर चलती है। उसकी ओर से हमारी क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। कृष्ण कहता है कि यदि हमें लगता है कि हमारे कर्म का फल हमें नहीं मिल रहा, तो इसका कहीं यह अर्थ नहीं है कि प्रकृति अन्याय कर रही है। इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि या तो हम प्रकृति के नियमों से अनभिज्ञ हैं अथवा हमारी विश्लेषण दृष्टि में कहीं कोई भ्रम है।"

"ऐसा कहता है कृष्ण ?" कुंती चकित थी, "अनास्था के इस युग में ऐसी आस्था ?"

"हाँ पृथा ! इसलिए कृष्ण कहता है कि हमारी अकर्म में प्रीति नहीं होनी चाहिए।" अक्रूर बोला, "यदि जरासंध हमारे शत्रुओं को संगठित कर रहा है, तो हम जरासंध के शत्रुओं को संगठित कर सकते हैं। जो मार्ग उसके लिए खुला है, वह मार्ग हमारे लिए भी खुला है।..."

"तो फिर जरासंध और कृष्ण में अंतर ही क्या हुआ ?" युधिष्ठिर बोला, "मैंने तो कभी नहीं सोचा कि दुर्योधन के सारे मार्ग मेरे लिए भी खुले हैं।"

अक्रूर ने अचकचाकर युधिष्ठिर की ओर देखा; किंतु उसकी दृष्टि में कोई विपरीत भाव नहीं था। उसमें कुछ विस्मय और कुछ प्रसन्नता थी, "मुझे प्रसन्नता है पुत्र ! कि तुम किसी का नायकत्व आँखें मूँदकर स्वीकार नहीं कर रहे। मात्र परिजन होने के कारण, किसी को अपना सुहृद अथवा न्यायी नहीं मान रहे।..."

युधिष्ठिर ने ग्लानि से, सबसे आँखें चुराकर, अपना मस्तक झुका लिया,

जैसे उससे कोई बड़ी भूल हो गई हो।

"क्या हुआ तात?" कुंती ने चौंककर पूछा, "ऐसे निढाल क्यों हो गए हुए?"

"कुछ नहीं माँ! मुझे लगा कि या तो मेरे चिंतन में ही कोई भ्रम है या मेरे शब्दों का चयन ठीक नहीं है। मैं वह सब नहीं कह रहा था, जो अर्थ मातुल तक संप्रेषित हुआ। कृष्ण हमारा परिजन तो है ही, सुहृद भी है—नहीं तो वह मातुल को हमारे पास क्यों भेजता! उसके नेतृत्व को स्वीकार करने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। श्रेष्ठतर व्यक्ति का नायकत्व स्वीकार करना ही चाहिए। ···मां! मैं तो केवल जानना चाह रहा था···।"

"निश्चित रहो पुत्र! मैंने तुम्हें गलत नहीं समझा! तुम्हारे शब्दों का अन्य अर्थ करके भी मैंने तुम्हें प्रशंसा योग्य पाया।" अक्रूर ने युधिष्ठिर का कंधा थपथपाया, "मैं स्वयं तुम्हें जरासंध और कृष्ण का अंतर समझाना चाह रहा था। इस विवाद में कृष्ण के गुण-ही-गुण प्रकट होते हैं; और हम यादवों को कृष्ण के गुणों का गान करने का रोग है। अभी नये-नये परिचित हुए हैं न उससे। इसीलिए उसकी युक्तियाँ, कर्म तथा विचार अद्भुत लगते हैं हमें।" अक्रूर ने रुककर उनकी ओर देखा, "देखो! जरासंध की ही नीति पर चलने वाला उसका प्रतिनिधि था, उसका जामाता—कंस! कंस के शासन में यादवों का कोई मित्र नहीं था—सब शत्रु ही शत्रु थे। जो कंस के मित्र थे, वे भी यादवों के शत्रु ही थे—क्योंकि स्वयं कंस भी तो यादवों का शत्रु ही था। हम सब यह अनुभव करते थे कि हम बंदी हैं—दुष्ट नियमों के बंदी, राजा के आतंक के बंदी। न कोई खुल कर हँस सकता था, न रो सकता था। न प्यार प्रकट कर सकता था, न घृणा। जहाँ उग्रसेन बंदी हो गए, वसुदेव बंदी हो गए, वहाँ और कौन स्वतंत्र रह सकता था।··· "

"क्यों? आप तो स्वतंत्र थे।" भीम उच्छृंखल स्वर में हँसा, "प्रासाद में रहते थे, राजसभा में आते-जाते थे। राजपुरुष की महत्ता प्राप्त थी आपको।··· मैं तो आपके भाग्य से ईर्ष्या कर रहा हूँ मातुल! तब आप कंस के प्रतिनिधि थे और अब कृष्ण के। राज्य-परिवर्तन के पश्चात अपने पद पर बने रहने वाले बहुत भाग्यशाली होते हैं।"

"भीम!" कुंती ने कहा।

"तुमने देर से टोका माँ!" भीम हँसा, "मैं तो अपनी बात कह भी चुका।"

"अच्छा किया पुत्र! तुमने अपनी बात कह डाली।" अक्रूर हँसा, "इससे मुझे यह भी मालूम हो जाएगा, कि लोग मेरे विषय में क्या सोचते हैं।···और ···।" अक्रूर ने रुकते-रुकते कहा, "हमने यह भी कृष्ण से ही सीखा है कि अपने विरुद्ध कही गई बात को पूरे ध्यान से ही नहीं, पूरे सम्मान के साथ सुनो! हो

सबके लिए समय है, जिनको उसके समय की आवश्यकता है। और जहाँ तक साधनों की बात है, उन्हें एकत्रित, संचित अथवा उत्पन्न कर लेने में कृष्ण को कभी कोई कठिनाई नहीं होती। "

"ऐसा कैसे संभव है ?" अर्जुन समझ नहीं पाया कि यह उसकी जिज्ञासा मात्र थी अथवा आपत्ति !

"कैसे संभव है, यह मैं नहीं जानता, किंतु ऐसा ही है।" अक्रूर ने बहुत सहज भाव से कहा, "कृष्ण मानता है कि संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। हमें केवल उसके अनुकूल, उसी अनुपात में कर्म करना होता है। और उस कर्म का फल अवश्य मिलता है।"

"कर्म का फल मिलता है ?" भीम ने अत्यंत आश्चर्य से कहा, "हमें तो कभी नहीं मिला। मुझे तो सदा ही लगता है कि कर्म हम करते हैं और फल कोई और ही खा जाता है।"

"तुम कृष्ण से मिलो तो अवश्य पूछना कि तुम्हारे कर्मों का फल कौन खा जाता है।" अक्रूर सहज ही मुस्करा पड़ा, "संभव है कि मैं तुम्हारी सारी शंकाओं का समाधान न कर पाऊँ; किंतु कृष्ण की बातों से इतना मैं अवश्य समझ गया हूँ कि प्रकृति में अनियमितता नहीं है। प्रकृति के अपने नियम हैं। वह उन्हीं नियमों पर चलती है। उसकी ओर से हमारी क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। कृष्ण कहता है कि यदि हमें लगता है कि हमारे कर्म का फल हमें नहीं मिल रहा, तो इसका कहीं यह अर्थ नहीं है कि प्रकृति अन्याय कर रही है। इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि या तो हम प्रकृति के नियमों से अनभिज्ञ हैं अथवा हमारी विश्लेषण दृष्टि में कहीं कोई भ्रम है।"

"ऐसा कहता है कृष्ण ?" कुंती चकित थी, "अनास्था के इस युग में ऐसी आस्था ?"

"हाँ पृथा ! इसलिए कृष्ण कहता है कि हमारी अकर्म में प्रीति नहीं होनी चाहिए।" अक्रूर बोला, "यदि जरासंध हमारे शत्रुओं को संगठित कर रहा है, तो हम जरासंध के शत्रुओं को संगठित कर सकते हैं। जो मार्ग उसके लिए खुला है, वह मार्ग हमारे लिए भी खुला है।..."

"तो फिर जरासंध और कृष्ण में अंतर ही क्या हुआ ?" युधिष्ठिर बोला, "मैंने तो कभी नहीं सोचा कि दुर्योधन के सारे मार्ग मेरे लिए भी खुले हैं।"

अक्रूर ने अचकचाकर युधिष्ठिर की ओर देखा; किंतु उसकी दृष्टि में कोई विपरीत भाव नहीं था। उसमें कुछ विस्मय और कुछ प्रसन्नता थी, "मुझे प्रसन्नता है पुत्र ! कि तुम किसी का नायकत्व आँखें मूँदकर स्वीकार नहीं कर रहे। मात्र परिजन होने के कारण, किसी को अपना सुहृद अथवा न्यायी नहीं मान रहे।..."

युधिष्ठिर ने ग्लानि से, सबसे आँखें चुराकर, अपना मस्तक झुका लिया,

जैसे उसने कोई बड़ी भूल हो गई हो।

"क्या हुआ वत्स ?" कुंती ने चौंककर पूछा, "ऐसे निढाल क्यों हो गए हुए ?"

"कुछ नहीं माँ ! मुझे लगा कि या तो मेरे चिंतन में ही कोई भ्रम है या मेरे शब्दों का चयन ठीक नहीं है। मैं वह सब नहीं कह रहा था, जो अर्थ मातुल तक संप्रेषित हुआ। कृष्ण हमारा परिजन तो है ही, सुहृद भी है—नहीं तो वह मातुल को हमारे पास क्यों भेजता ! उसके नेतृत्व को स्वीकार करने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। श्रेष्ठतर व्यक्ति का नायकत्व स्वीकार करना ही चाहिए। ...माँ ! मैं तो केवल जानना चाह रहा था...।"

"निश्चित रहो पुत्र ! मैंने तुम्हें गलत नहीं समझा ! तुम्हारे शब्दों का अन्य अर्थ करके भी मैंने तुम्हें प्रशंसा योग्य पाया।" अक्रूर ने युधिष्ठिर का कंधा थपथपाया, "मैं स्वयं तुम्हें जरासंध और कृष्ण का अंतर समझाना चाह रहा था। इस विवाद में कृष्ण के गुण-ही-गुण प्रकट होते हैं; और हम यादवों को कृष्ण के गुणों का गान करने का रोग है। अभी नये-नये परिचित हुए हैं न उससे। इसीलिए उसकी युक्तियाँ, कर्म तथा विचार अद्भुत लगते हैं हमें।" अक्रूर ने रुककर उनकी ओर देखा, "देखो ! जरासंध की ही नीति पर चलने वाला उसका प्रतिनिधि था, उसका जामाता—कंस ! कंस के शासन में यादवों का कोई मित्र नहीं था—सब शत्रु ही शत्रु थे। जो कंस के मित्र थे, वे भी यादवों के शत्रु ही थे—क्योंकि स्वयं कंस भी तो यादवों का शत्रु ही था। हम तब यह अनुभव करते थे कि हम बंदी हैं—दुष्ट नियमों के बंदी, राजा के आतंक के बंदी। न कोई खुल कर हँस सकता था, न रो सकता था। न प्यार प्रकट कर सकता था, न घृणा। जहाँ उग्रसेन बंदी हो गए, वसुदेव बंदी हो गए, वहाँ और कौन स्वतंत्र रह सकता था।..."

"क्यों ? आप तो स्वतंत्र थे।" भीम उच्छृंखल स्वर में हँसा, "प्रासाद में रहते थे, राजसभा में आते-जाते थे। राजपुरुष की महत्ता प्राप्त थी आपको।... मैं तो आपके भाग्य से ईर्ष्या कर रहा हूँ मातुल ! तब आप कंस के प्रतिनिधि थे और अब कृष्ण के। राज्य-परिवर्तन के पश्चात अपने पद पर बने रहने वाले बहुत भाग्यशाली होते हैं।"

"भीम !" कुंती ने कहा।

"तुमने देर से टोका माँ !" भीम हँसा, "मैं तो अपनी बात कह भी चुका।"

"अच्छा किया पुत्र ! तुमने अपनी बात कह डाली।" अक्रूर हँसा, "इससे मुझे यह भी मालूम हो जाएगा, कि लोग मेरे विषय में क्या सोचते हैं।...और ...।" अक्रूर ने रुकते-रुकते कहा, "हमने यह भी कृष्ण से ही सीखा है कि अपने विरुद्ध कही गई बात को पूरे ध्यान से ही नहीं, पूरे सम्मान के साथ सुनो ! हो

सकता है कि उसने तुम्हें अपनी भूल समझने में सहायता मिले।···इसलिए पुत्र! यदि तो तुमने सचमुच मेरे भाग्य को सराहा है, तो कोई बात नहीं; किंतु यदि इसे मेरी धूर्त राजनीति मानकर मेरा उपहास किया है, तो अपने सम्मान की रक्षा के लिए कुछ कहना चाहूँगा।" उसने रुककर जैसे उन पाँचों भाइयों को अपनी आँखों से तौला, "तुम्हारे काका विदुर आज धृतराष्ट्र की सभा में महामंत्री हैं, सारे राजसी सुख-सम्मान उन्हें भी प्राप्त होंगे। कल जब युधिष्ठिर युवराज हो जाएगा, या राजा ही बन जाएगा, तो क्या तुम विदुर को अपदस्थ कर दोगे? या उनके महामंत्री बने रहने पर उन्हें धूर्त मानोगे?"

"मुझे क्षमा करें मातुल! काका विदुर आपके रक्षक बनकर आ गए।" भीम ने अट्टहास किया; किंतु सब समझ रहे थे कि इस बार वह अक्रूर पर नहीं, अपनी मूर्खता पर हँस रहा था।

"पृथा! तेरा यह पुत्र तो पूरा भोलेनाथ है।" अक्रूर ने कहा, "मैं जब कंस की सभा में था, तो तनिक भी प्रसन्न नहीं था। मुझे लगता था कि वसुदेव कंस के कारागार में बंदी था और मैं कंस की राजसभा में। वह कारागार से बाहर नहीं आ सकता था और मैं राजसभा से। एक प्रकार से वह मुझसे अधिक सुखी था। वह कंस की आज्ञाओं का पालन करने को बाध्य नहीं था। मुझे वह स्वतंत्रता नहीं थी। कल्पना करो पृथा!" अक्रूर ने विशेष रूप से कुंती को संबोधित किया, "कि मैं कंस के आदेश से कृष्ण और बलराम को मथुरा ले आने के लिए वृन्दावन गया था। मैं जानता था कि कंस के मन में क्या है। वह जान गया था कि कृष्ण और बलराम वसुदेव के पुत्र हैं। वह उनकी हत्या करने के लिए, उन्हें बुला रहा था।···और मैं कंस की आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य था। बंदी जो था। मुक्त होता तो तत्काल मना कर देता, या जाकर कृष्ण और बलराम को बता देता कि कंस तुम्हारी हत्या करना चाहता है। भागकर यहाँ से कहीं दूर चले जाओ।··· कृष्ण ने आकर न केवल वसुदेव और देवकी के बंधन काटे, हम सबको भी बंधन-मुक्त किया। हमारे शरीर पर से प्रतिबंध हटाए, हमारे मन पर पड़े आतंक और त्रास के पर्वत, चूर्ण कर दिए। हमने मुक्त ढंग से सोचना आरंभ किया, अपनी इच्छाओं को पहचाना। आदेश से बँधे, सिर झुकाकर जीने की अपेक्षा, स्वतंत्र रूप से जीने का अर्थ समझा। कंस अपने जीवित पिता को बंदी कर, स्वयं राजा बना, और कृष्ण, राजा को मारकर, विजेता होते हुए भी, न स्वयं राजा बना; और न उसने अपने पिता को राजा बनाया!···पुत्र युधिष्ठिर! तुम समझ रहे हो जरासंध के प्रतिनिधि और कृष्ण का अंतर?"

"समझ रहा हूँ मातुल!" युधिष्ठिर की मुद्रा ज्ञान के प्रकाश से उल्लसित हो आई थी।

"दूसरी बात सुनो," अक्रूर ने पुनः कहा, जरासंध के तथाकथित मित्रों—

दामघोष, भीष्मक, शाल्व, दंतवक्त्र···इनमें से किसी से पूछो कि उन्हें जरासंध की इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य करने की स्वतंत्रता है ? नहीं ! जरासंध किसी को व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार नहीं देता ! स्वतंत्र चिंतन का अवकाश नहीं है वहां। वे उसके मित्र नहीं, अधीनस्थ कर्मचारी हैं—वरन् दास है, दास ! अपनी इच्छा से तो वे अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह-संबंध तक नहीं कर सकते। उनके पारिवारिक संबंधों में भी जरासंध का आदेश ही सर्वमान्य है। वह उनका सम्राट् है, मित्र नहीं। जबकि कृष्ण के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बहुत महत्त्व है—किंतु वहीं तक, जहां तक वह सामाजिक हित की विरोधी नहीं हो जाती। ·· तुम देखो पुत्र ! कृष्ण जब स्वार्जित राज्य का राजा ही नहीं बना, तो वह अपने मित्र राजाओं का सम्राट् क्या बनेगा। राजा अथवा सम्राट् बनने की महत्त्वाकांक्षा नहीं है, उसके मन में। वह यदि कुछ चाहता है तो मात्र इतना ही मानवीय उत्पीड़न और अत्याचार समाप्त हो और प्रकृति के साथ मैत्री कर, मनुष्य सुख और चैन से जी सके। इसलिए उसने मित्र बनाया है, पंचालराज द्रुपद को, मत्स्यराज विराट को ··और अब वह मित्र बना रहा है तुम्हें, पांडवों को, हस्तिनापुर को। कांपिल्य में राज्य द्रुपद का होगा, विराटनगर में मत्स्यराज विराट का, हस्तिनापुर में कुरुराज युधिष्ठिर का। कृष्ण इनका सम्राट् नहीं होगा। कृष्ण कर्म-योगी है, अधिकार-भोगी नहीं।·· "

"मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूं मातुल !" युधिष्ठिर बोला, "किंतु व्यक्ति अपने स्वार्थ से ही प्रेरित होकर कर्म करता है। यदि कृष्ण को यह दिखाई देगा कि हमारे पक्ष में खड़े होने से, अनेक शक्तिशाली राजा यादवों के विरोधी हो जाएंगे, तो भी वह हमारा मित्र होना चाहेगा ? हमारी सहायता करेगा ? वह अपने कर्म का संभावित परिणाम नहीं देखेगा क्या ?"

अक्रूर ने कुछ कहा नहीं . युधिष्ठिर पूछ रहा है कि कृष्ण क्या पांडवों से मैत्री का परिणाम नहीं देखेगा ?·· और कृष्ण ने उसे हस्तिनापुर भेज दिया है—अपने परिजन और सुहृद पांडवों की अवस्था देखने के लिए। उसने यह भी कहा है कि यदि वे विपन्न हैं, तो हम कुछ ऐसा करेंगे, जिससे हमारे सुहृद प्रसन्न हो सकें।···तो इसका क्या अर्थ हुआ ?···कृष्ण को परिणाम दिख नहीं रहा रहा ? गलत परिणाम दिख रहा है ? ···अथवा वह संभावित परिणाम को देखना नहीं चाहता ?···

"देखो वत्स ! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो स्वयं कृष्ण ही दे सकता है, जो इस समय यहां नहीं है। तुम्हारे प्रश्न ने मेरे मन में भी कृष्ण की प्रतिक्रिया, उसकी विश्लेषण दृष्टि तथा उसके संभावित निश्चयों के विषय में अनेक प्रश्न उठा दिए हैं। फिर भी जो कुछ मैं समझ पाया हूं—वह तुम्हें बताना चाहता हूं। आवश्यक नहीं कि कृष्ण स्वयं भी यही व्याख्या करे। वस्तुतः कृष्ण की बातें, किसी एक

व्याख्या तक तो सीमित हैं नहीं ! अनेक लोग, उसकी बातों के अनेक अर्थ समझते हैं।···और वे अर्थ सत्य से बहुत दूर भी नहीं होते···।"

"आप क्या समझते हैं मातुल !"

"कृष्ण यह मानता है कि कर्म स्वार्थ से नहीं, धर्म से प्रेरित होना चाहिए; और जब कर्म, धर्म से प्रेरित होगा, तो हमें उसके फल की चिंता नहीं करनी चाहिए। कर्म निष्काम होना चाहिए, सकाम नहीं !"

"निष्काम कर्म का क्या अर्थ हुआ ?" सहदेव ने पूछा।

"क्या अर्थ हुआ, वह तो कृष्ण से पूछना; किंतु जो मैं समझ पाया हूँ, वह इतना ही है कि जब कृष्ण ने कंस की रंगशाला में यह पाया कि कंस ने उसके वध की व्यवस्था कर रखी है, तो उस समय उसका धर्मसंगत कर्म आत्म-रक्षा ही है। आत्मरक्षा के लिए आवश्यक है कि वह मृत्यु के सारे उपकरणों को नष्ट कर दे और उन उपकरणों के नियंत्रक का वध कर दे। इसलिए उन दोनों भाइयों ने कुवलयापीड़ हाथी तथा मुष्टिक और चाणूर मल्लों को मार डाला; अंततः इस मृत्यु-यंत्र के सर्जक कंस की भी उन्होंने हत्या कर दी।" अक्रूर ने उनकी ओर देखा, "तुमने देखा पुत्र ! कृष्ण के कर्म का फल शुभ ही हुआ। यदि उस समय कृष्ण यह सोचता कि कंस का विरोध करने से, वह रुष्ट हो जाएगा, उसे तथा उसके संबंधियों को कष्ट देगा—तो वह यह अद्भुत कर्म नहीं कर पाता।···मेरा तात्पर्य यह है कि धर्म-प्रेरित कर्म के मार्ग में त्रास तथा लोभ का विघ्न नहीं मानना चाहिए। अब जब कृष्ण ने यह निश्चय किया है कि हस्तिनापुर में वह अपने धर्म-परायण भाइयों तथा बुआ को दुखी नहीं रहने देगा, तो अपने लिए नये शत्रुओं के उत्पन्न होने की आशंका उसे डिगा नहीं पाएगी। मैं तो यह भी सोचता हूँ पुत्र !···" अक्रूर रुक गया।

"क्या सोचते हैं मातुल ?" सहदेव ने धीरे से पूछा, "आप रुक क्यों गए ?"

"सोचता हूँ पुत्र ! कि अधर्म पर चलने वाले लोग, कृष्ण के मित्र नहीं हो सकते और धर्माचरण करने वाला कोई उसका शत्रु क्यों होगा ?" अक्रूर हँसा, "कृष्ण कहता है कि जो सत्य है, वह नष्ट नहीं हो सकता; और जो असत्य है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए चिंता छोड़ो, कर्म करो !"

कुछ क्षणों के लिए वहाँ मौन छा गया; और फिर सहसा कुंती बोली, "चलो अब बस करो। बहुत बातें हो लीं। मातुल लंबी यात्रा से आए हैं। उन्हें कुछ विश्राम भी करने दोगे या नहीं !···हाँ, उनका कुछ सत्कार भी तो नहीं किया हमने ···"

विदुर ने अपने घर पर अक्रूर का सत्कारपूर्ण स्वागत किया, सादर बैठाया और

पूछा, "आप पांडवों के संबंधी के रूप में हस्तिनापुर आए हैं अथवा मथुरा के राजप्रतिनिधि के रूप में ?"

विदुर की मुद्रा कुछ ऐसी थी कि अक्रूर कुछ असमंजस में पड़ गया : विदुर उसका उपहास कर रहा था अथवा हस्तिनापुर का महामंत्री उसका राजनीतिक महत्त्व आंकने का प्रयत्न कर रहा था ?...और सहसा उसके मन में विदुर की मुद्रा किसी चपल पुरुष की इठलाती-सी मुद्रा में बदल गई।...विदुर शायद यह भूल नहीं सका था कि अक्रूर उसकी भाभी, कुंती का भाई है—उसके भाई पांडु का श्यालक !

प्रश्न किसी भी रूप में पूछा गया हो, किंतु अक्रूर उसका उत्तर पूर्ण राजनीतिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए देना चाहता था। बोला, "आया तो मथुरा के राजप्रतिनिधि के रूप में ही हूं; और निरुद्देश्य भ्रमण अथवा जनसंपर्क की दृष्टि से भी नहीं आया हूं। मन में स्पष्ट उद्देश्य है। आप यह भी समझ सकते हैं कि हस्तिनापुर की राजसभा में, यादवों की नीति के उद्घोष के लिए आया हूं।..."

विदुर मुस्कराया। यह मुस्कान उसकी प्रगल्भता अथवा संबोधित व्यक्ति के प्रति उसकी विनय की द्योतक नहीं थी। ऐसी मुस्कान तो वह तब ही अपने अधरों पर सायास ला बैठाता था, जब वह, यह नहीं चाहता था कि उसका प्रश्न संबोधित व्यक्ति को कठोर अथवा अशिष्ट लगे।

"और यह यादवों की कौन-सी नीति है, जिसका उद्घोष मथुरा में न कर, आप हस्तिनापुर की राजसभा में करना चाहते हैं ?" उसने कहा, "हस्तिनापुर सार्वभौम सत्तासंपन्न एक स्वतंत्र राज्य है। उसकी राजसभा में दूसरे राज्यों की नीति की घोषणाएं नहीं होतीं।"

"आप ठीक कह रहे हैं।" अक्रूर का स्वर न तो नम्र हुआ, न कोमल, "फिर भी हम घोषित करना चाहते हैं कि यादवों की साम्राज्य स्थापित करने की कोई आकांक्षा नहीं है, हम स्वतंत्र राजाओं को अपने मांडलिक राजा बनाकर, उन्हें अपमानित भी नहीं करना चाहते और न ही हम अपने पड़ोसियों के आतरिक विषयों में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करना चाहते हैं; फिर भी हम नहीं चाहेंगे कि हमारे पड़ोस के राज्यों में षड्यंत्र रचकर राजनीतिक सत्ता को अस्थिर किया जाए, या उनका विभाजन किया जाए। जहां अनीति अपने पैर जमा लेती है, वहां राजनीतिक षड्यंत्र रचे ही जाते हैं और बाहरी शक्तियां हस्तक्षेप करती ही हैं। इसलिए हम चाहेंगे कि स्वर्गीय सम्राट् पांडु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक कर, कुरुओं के राज्य की मानी नीति को स्थिरता दी जाए, ताकि हमारे शत्रु—जरासंध तथा उसके सहयोगी—हमारे पड़ोसी राज्यों में अपने पैर जमा कर हमारे लिए संकट का कारण न बनें।..."

"और ?"

"और इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि पांडव हमारे भागिनेय हैं, अतः उनके अधिकारों की रक्षा के लिए हम उन्हें राजनैतिक और सामरिक—दोनों ही प्रकार का समर्थन देंगे।..."

अक्रूर ने अपनी बात समाप्त कर विदुर की ओर देखा: उसके चेहरे पर सहज प्रफुल्लता थी।

"आप बहुत ही उपयुक्त अवसर पर आए हैं आर्य अक्रूर ! मैं आपको कैसे बताऊँ कि आपने हमारी कितनी बड़ी समस्या का समाधान कर दिया है।" विदुर बोले, "वस्तुतः हमारे राजा पर अधिकार-अनधिकार, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित—इन सारी चर्चाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सब कुछ सुनते रहते हैं। धर्म-संगत नीतियों का समर्थन करते रहते हैं, किंतु नीतियों तथा निश्चयों को कर्म-रूप में परिणत करने की आवश्यकता कभी नहीं समझते। वे निरंतर यथा-स्थिति बनाए रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि वे राज-सिंहासन पर बैठे रहें और युधिष्ठिर तथा दुर्योधन में युवराजत्व का संशय और विवाद बना रहे। वे युधिष्ठिर के युवराजत्व को अस्वीकार नहीं करते, किंतु उसे युवराज बना नहीं रहे। वे कहते हैं, कार्य होना चाहिए, किंतु न कार्य करने के लिए हाथ उठाते हैं और न किसी और को वह कार्य करने का आदेश देते हैं। वे जानते हैं कि कोई उनका हाथ पकड़कर, उनसे काम करा तो लेगा नहीं। वाचिक समर्थन करते रहने से क्या बिगड़ जाएगा।...इसलिए हम चाहते हैं कि यादव उन्हें यह बता दें कि यदि महाराज अपना हाथ उठाकर यह कार्य नहीं करेंगे, तो कोई और हाथ स्वयं उठकर यह कार्य कर जाएगा।"

"आपकी इच्छा यथाशीघ्र पूरी होगी।" अक्रूर ने कहा, "वस्तुतः कृष्ण ने मुझे भेजा ही इसी प्रयोजन से है।..."

"वासुदेव कृष्ण !" विदुर ने पुष्टि चाही।

"हाँ ! वासुदेव कृष्ण !" अक्रूर बोले, "हमारे नायक !"

"वे आपके राजा नहीं हैं ?"

"नहीं ! राजा तो महाराज उग्रसेन हैं।"

"तो कृष्ण आपके नेता कैसे हो गए ?"

"नेता कोई पद तो है नहीं, जिसके लिए राजकीय नियुक्ति की आवश्यकता हो। संकट-काल में, जो आगे बढ़कर जोखिमों के सम्मुख वक्ष तान दे, वह नेता हो जाता है। जिसके पीछे लोग चलें, जिसकी बात मानें, जिस पर विश्वास करें, जिससे प्रेम करें—वह नेता है। कृष्ण के आत्मबल ने उसे नेता बना दिया है। कृष्ण में नेतृत्व-क्षमता है। इसलिए वह सर्वमान्य नेता है। उसके पास पद नहीं, प्रतिभा है। प्रतिभा को पद का क्या करना। पद तो उन्हें चाहिए, जिन्हें विधाता

ने कोई क्षमता न दी हो।"

"ठीक कहते हैं आप ! कौरवों में तो कोई कृष्ण उत्पन्न हुआ नहीं। पितृव्य भीष्म भी स्वयं अपने बंधनों में बँधे, सिंहासन के सम्मुख सर्वथा अक्षम हो गए हैं।" विदुर बोला, "किंतु आपके कथन से एक शंका मेरे मन में जागती है।"

"क्या ?" अक्रूर ने विस्मय से विदुर की ओर देखा।

"यदि आपकी बात मान ली जाए कि पद तो उन्हें चाहिए, जिनके पास प्रतिभा न हो, तो ऐसे में युधिष्ठिर से भी पूछा जा सकता है कि उसे पद का क्या करना है। जैसे कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन दे दिया है और स्वयं अपना कर्तव्य अपनी प्रतिभा के बल पर करता जा रहा है। अपने कार्यों के लिए उसे पद की आवश्यकता नहीं है। ठीक वैसे ही युधिष्ठिर भी धृतराष्ट्र को सिंहासन पर बैठे रहने दे और स्वयं अपनी प्रतिभा के बल पर प्रजा का हित-साधन करता रहे। उसे युवराज्याभिषेक की क्या आवश्यकता है ?"

"हमारे महाराज उग्रसेन के ही समान यदि धृतराष्ट्र भी न्याय और धर्म की बात सुनता और समझता हो, सद्परामर्शों पर चलता हो, लोगों की इच्छाओं और भावनाओं को समझता और उनके हित में सारे आवश्यक कार्य करने को तत्पर रहता हो, तो निश्चय ही उसे सिंहासन पर बैठे रहने देना चाहिए। युधिष्ठिर और उसके भाई अपनी प्रतिभा के बल पर प्रजा के लिए कार्य करें, जो सत्ता में रहकर करने संभव नहीं हैं। राजा को बहुत सारे व्यर्थ के दैनंदिन कार्यों में अपना समय नष्ट करना पड़ता है। युधिष्ठिर उन सबसे बच जाएगा।··· किंतु यदि राजा कंस के समान हो, जो केवल अपनी दुष्ट बुद्धि और जरासंध के पाप-परामर्श पर ही चलता हो, तो न तो वह किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति को धर्म-संगत कार्य करने देगा और न ही किसी की प्रतिभा विकसित होने देगा। हमने कंस के राज्य में देखा था कि किस प्रकार राजनीति, प्रतिभा का दम घोंटने में सक्षम है। सत्ता गलत हाथों में हो, तो समाज सिवाय पाप और भ्रष्ट आचरण के, और किसी क्षेत्र में विकास कर ही नहीं सकता। तब ऐसी राजसत्ता को हटाना ही प्रजा का सर्वोपरि धर्म हो जाता है; अन्यथा वह सत्ता, अपने दुष्ट प्रभाव से जनहित के प्रत्येक मार्ग में शिला बनकर, अड़ जाएगी; तथा समाज में मानसिक तथा शारीरिक अपराधों को जन्म देगी, दुष्टता का विकास और प्रसार करेगी। चुन-चुनकर मूर्खों और दुष्टों को ऊँचे-ऊँचे पदों के साथ सुख-सुविधाएँ देकर समाज के शीर्ष पर आरोपित करेगी। ऐसे में तो पद माँगा जाए, न माँगा जाए-- किंतु जो अयोग्य, दुष्ट तथा भ्रष्ट हैं, उन्हें तो पदों से हटाया ही जाएगा। कृष्ण स्वयं पद नहीं लेता। उसे स्वयं अपने लिए सत्ता नहीं चाहिए; किंतु वह चाहता है कि संसार में प्रत्येक राजा सत्य तथा धर्म का आचरण करने वाला तथा प्रजा का पालन करने वाला हो। वह अपना वश चलते किसी प्रजा-

विरोधी राजा को सत्ता में नहीं रहने देगा। आप यह समझिए आर्य विदुर कि यह कृष्ण की इच्छा है कि हस्तिनापुर की सत्ता, युधिष्ठिर के हाथ में हो, धृतराष्ट्र के हाथ में नहीं, जो दुर्योधन की बुद्धि के अनुसार चलता है।"

विदुर ने असमंजस की दृष्टि से अक्रूर की ओर देखा और फिर जैसे किसी आंतरिक निर्णय के पश्चात संकल्पपूर्वक पूछा, "यदि युधिष्ठिर कृष्ण की बुआ का पुत्र न होता, तो भी क्या कृष्ण यही चाहता ?"

और फिर जैसे विदुर ने डरकर अक्रूर की ओर देखा : कहीं उसने अक्रूर की भावनाओं को आहत तो नहीं किया ?

किंतु अक्रूर तो मुस्करा रहा था। उसी मुस्कान के बीच उसने विदुर के प्रश्न का उत्तर दिया, "तो भी !" किंतु प्रश्न का उत्तर देकर ही अक्रूर रुका नहीं। वह बोलता ही गया, "कृष्ण के संबंध, मैत्री तथा प्रेम—रक्त-संबंध से निश्चित नहीं होते आर्य विदुर ! वैसे तो शिशुपाल भी उसकी बुआ का ही पुत्र है। कंस भी उसका मातुल था। कृष्ण के लिए ये रक्त-संबंध कोई अर्थ नहीं रखते। संबंध तो केवल धर्म का है, न्याय का है, बहुजन-हिताय का है। कृष्ण को प्रजा प्यारी है, सामान्य जन और सामान्य मानव प्रिय है। कृष्ण मानता है कि उनका हित, केवल सत्य से हो सकता है। इसलिए कृष्ण को वही प्रिय है, जो सत्य का आचरण करे।..."

"मैंने कृष्ण के विषय में बहुत कुछ सुना है आर्य अक्रूर ! और मुझे लगता है कि मैं उससे प्रेम करने लगा हूँ।" विदुर ने रुककर अक्रूर को देखा, "प्रेम शायद संपूर्ण शब्द नहीं है। मेरे मन में कृष्ण के प्रति भक्ति का भाव है।"

"मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ है आर्य विदुर !" अक्रूर ने कहा, "कृष्ण है ही ऐसा। आप तो उसके भक्त मात्र हुए हैं, लोग तो उसके प्रेम में उन्मत्त हो जाते हैं। जिसके मन में सत्य, धर्म, न्याय के लिए जितना अधिक प्यार है, वह स्वयं को कृष्ण के उतना ही निकट पाता है।"

"सौभाग्यशाली हैं वे लोग, जो कृष्ण के निकट हैं।" विदुर बोला।

"इसमें भौतिक दूरी अथवा सामीप्य का तो कुछ भी महत्त्व नहीं है।" अक्रूर ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "आपका मन कृष्ण के निकट हो, तो कृष्ण स्वयं ही आपके निकट आ जाता है।"

"ठीक कहते हैं आप !" विदुर के स्वर में किंचित अवसाद का मिश्रण था, "किंतु मैं रहता हूँ कुरुओं की सभा में। वे मुझे कुछ भी न कहें, अपने कार्य-व्यापार में ही लगे रहें, तो भी दम घुटता ही रहता है मेरा वहाँ ! आप जानते हों कि जो व्यक्ति आपके सम्मुख बैठा है, वह दुष्ट, अन्यायी, स्वार्थी ही नहीं, दुर्वृत्त भी है; और आप उसे यह कह भी न पाएँ। उल्टे उसके प्रति सम्मान दिखाएँ। उसका यश गाएँ। झूठ के उस परिवेश में जीना बहुत कठिन है आर्य अक्रूर। लंपटों,

हत्यारों और दुर्वृत्तों को महान बनाकर, प्रशंसा ही नहीं, पूजा पाते देख, कैसा लगता है मन को ?"

"आपके मन में कभी नहीं आया कि आप कुरुओं की सभा त्याग दें ?" अक्रूर ने पूछा।

"सहस्रों बार इच्छा हुई; किंतु हर बार यही सोचा कि उनकी सभा त्यागकर, मैं उनका सहायक ही बनूँगा। दुर्योधन की बड़ी-बड़ी इच्छाओं में से एक बड़ी इच्छा यह भी है कि किसी प्रकार विदुर को उसके पद से हटा दिया जाए। मैं यदि स्वयं ही सभा त्याग दूंगा, तो उसकी मनोकामना पूरी हो जाएगी। फिर राजसभा में पांडवों के हित की रक्षा कौन करेगा ?"

"कुछ ऐसी ही स्थिति मथुरा की सभा में रहकर मेरे मन की भी थी।" अक्रूर ने कहा "और मैं भी यही सोचता था कि मेरे हटते ही, उसकी सभा में एक दुष्ट और बढ़ जाएगा। मैं किसी का भला नहीं कर पाता, तो कम-से-कम किसी पर अत्याचार तो नहीं करता। वह, जो मेरे स्थान पर आएगा, वह राजा के अत्याचार से तो किसी की रक्षा करेगा नहीं, स्वयं भी उसके अत्याचार में सहयोग कर, उसमें वृद्धि करेगा।"

"युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक तक तो हस्तिनापुर में ठहरेंगे न ?" सहसा विदुर ने विषय बदल दिया।

"नहीं !" अक्रूर ने कहा, "युवराज्याभिषेक के अवसर पर तो कृष्ण और बलराम स्वयं आएँगे; किंतु युवराजत्व के संबंध में निश्चित सूचना प्राप्त करने तक अवश्य ठहरना चाहता हूँ।"

"धृतराष्ट्र से भेंट करना चाहेंगे ?"

"उनसे भेंट किए बिना कैसे लौट सकता हूँ; किंतु उसके लिए राजप्रासाद में नहीं जाऊँगा। वह भेंट तो राजसभा में ही हो तो अच्छा है। वह भेंट एक आत्मीय, परिजन अथवा संबंधी के रूप में न कर, कुरु सम्राट् से एक यादव-प्रतिनिधि के रूप में ही हो, तो अच्छा है।"

"यही उत्तम है।" विदुर सहमत था, "और पितृव्य भीष्म ?"

"उनके दर्शन करने, अवश्य उनके आवास पर जाऊँगा।"

"आओ अक्रूर ! इस वृद्ध कौरव के घर में तुम्हारा स्वागत है।"

भीष्म ने दोनों भुजाएँ फैलाकर अक्रूर का स्वागत किया, "मैंने यह घर उन घरों जैसा है ही नहीं, जिनमें अब तक तुम गए हो।"

भीष्म का आशय समझने में अक्रूर को थोड़ा समय लगा; किंतु समझकर वह उच्च स्वर में हँसा, "कोई दो घर एक जैसे नहीं होते पितृव्य ! मैंने बहुत सारे

घर देखे हैं। ऊपर से एक जैसे होते हुए भी, भीतर से उनका भेद बना ही रहता है। प्रत्येक घर में से उसके स्वामी का व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है।"

"अच्छा अक्रूर!" अक्रूर के बैठ जाने के पश्चात् भीष्म ने पूछा, "मैं जो इधर-उधर से बहुत सारी बातें सुन रहा हूँ, क्या वे ठीक हैं?"

"आप क्या सुन रहे हैं तात?"

"कुछ लोगों का विचार है कि तुम हस्तिनापुर में यादवों के शक्ति-प्रदर्शन के लिए आए हो?"

"वह किस प्रकार तात्?" अक्रूर ने अबोध भाव से पूछा।

"मैं क्या जानूँ।" भीष्म जोर से हँसे, "मुझे तो तुम्हारे पाँच-सात रथों में कोई शक्ति-प्रदर्शन दिखाई नहीं देता। किंतु मैंने कुछ ऐसा सुना है कि यादवों का ऐसा विचार है कि दुर्योधन का मामा, हस्तिनापुर की सत्ता को दुर्योधन के पक्ष में झुका रहा है, इसलिए युधिष्ठिर के पक्ष में सत्ता का संतुलन बनाने के लिए तुम आए हो। क्या यह सच है?"

अक्रूर ने उत्तर देने में दो क्षण लगाए, "और बातों में कितना सत्य है तात्! यह मैं नहीं जानता; किंतु इतना तो सत्य है ही कि मैं पृथा और उसके पुत्रों का समाचार लेने आया हूँ।"

भीष्म भी कुछ क्षणों तक अक्रूर को देखते रहे; और फिर धीरे से बोले, "तुम्हें अपनी बहन और उसके पुत्रों का समाचार जानने का, उनसे मिलने का, और उनके हित-साधन का पूरा अधिकार है। किसी भी परिजन को यह अधिकार होता ही है। किंतु मेरी प्रकृति कुछ ऐसी है पुत्र! कि जब कोई यह कहता है कि कुंती और उसके पुत्र प्रसन्न नहीं हैं, और उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट है; तो जाने क्यों मुझे लगता है कि वह मुझ पर दोषारोपण कर रहा है कि मैंने उनके साथ न्याय नहीं किया। और जब कोई अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है अथवा शक्ति-परीक्षण की बात करता है तो मेरा क्षात्र-धर्म मुझे उत्तेजित करता है; और मैं उसे बता देना चाहता हूँ कि कौरवों के सम्मुख बल-प्रयोग की बात मत करो। हस्तिनापुर दुर्बल नहीं है। हमारे योद्धा संसार में अद्वितीय हैं। हम किसी की धमकी में नहीं आएँगे।..."

शक्ति-प्रदर्शन की चर्चा को अक्रूर सायास टाल गया, "क्या आपको नहीं लगता पितृव्य! कि पृथा और उसके पुत्रों को उनका प्राप्य नहीं मिला? हस्तिनापुर उनको वे सुविधाएँ नहीं दे सका, जो दुर्योधन और उसके भाइयों को प्राप्त हैं।"

"मैं जानता हूँ कि कुंती और उसके पुत्रों के साथ न्याय नहीं हुआ है।" भीष्म तड़पकर बोले, "किंतु तुम मुझे बताओ, किस परिवार में सारे पुत्रों को एक-सा व्यवहार मिलता है। परिवार का संतुलन बनाए रखने के लिए अनेक लोगों को

कुछ त्याग भी करना पड़ता है। परिवार में कुछ बच्चे दूसरों की तुलना में अधिक हठी होते हैं। क्या तुमने कोई ऐसी माँ और उसके ऐसे पुत्रों को नहीं देखा, जिसने दोनों भाइयों को बराबर मिष्टान्न दिया हो, और एक ने अपना भाग खाकर दूसरे के भाग को पाने के लिए हठ किया हो। भूमि पर लेटकर, एड़ियाँ रगड़-रगड़कर अपने हठ से माँ को इतना क्षुब्ध कर दिया हो कि तंग आकर अंततः माँ ने स्वयं दूसरे भाई से कहा हो कि वह मिष्टान्न का अपना भाग भी पहले को दे दे। वह उसे फिर और मिष्टान्न ले देगी।"

"हाँ! ऐसा तो परिवारों में हो ही जाता है।" अक्रूर ने सहज भाव से स्वीकार कर लिया।

"तो तुम समझ लो कि इस परिवार में धृतराष्ट्र एक ऐसा ही हठी बच्चा है; और फिर वह एक असमर्थ बच्चा है—जन्मांध! वह दूसरे बच्चे का खिलौना लेकर बैठ गया है। उसने अपनी मुट्ठी कसकर बंद कर ली है। एक ओर तो वह उस बालक को उसका खिलौना नहीं लौटा रहा; और दूसरी ओर वह यह सोच-सोचकर व्याकुल है कि कहीं कोई उससे वह खिलौना छीन न ले। जितना उसको समझाया जाता है कि वह खिलौना उसका नहीं है, वह उसे लौटा दे—वह उतनी ही शक्ति से अपनी मुट्ठी भींच लेता है और क्रंदन करने लगता है।...और मैं उस बालक की माता के समान यह जानते हुए भी कि उसने दूसरे का खिलौना ले रखा है, उसे स्वयं ही, और रुलाने की स्थिति से बचने के लिए, उसके समझ जाने और चुप हो जाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।..."

"तो आप यह तो मानते ही हैं कि दूसरे बालक के साथ अन्याय हो रहा है!" अक्रूर ने कहा।

"मैंने अभी इसे न्याय और अन्याय का ऐसा प्रश्न नहीं बनाया है कि जिसके लिए यह भी स्वीकार कर लूँ कि बाहर से लोग आकर, मेरे बच्चों को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काएँ अथवा न्याय दिलवाने के नाम पर उन्हें एक-दूसरे से लड़वाएँ।" भीष्म हल्के आवेश के साथ बोले, "मुझे मालूम है कि यह राज्य युधिष्ठिर का है और अन्ततः उसे मिलना ही है। मैं वह खिलौना उसे दिलवाऊँगा ही, जिसका वह है; किंतु अक्रूर! मेरे लिए खिलौने के आधिपत्य तथा एक बालक की असुविधा इतनी बड़ी बात नहीं है, जिसके लिए परिवार में अंतःकलह अथवा बाहरी हस्तक्षेप हो।" उन्होंने रुककर अक्रूर की ओर देखा, "मैं जानता हूँ कि अपने पिता के प्रश्रय में दुर्योधन अनीति आचरण कर रहा है, किंतु मैं उसे अत्याचार नहीं मानता। युधिष्ठिर और उसके भाई सहिष्णु हैं। कुंती समझदार है। वे लोग इतनी-सी बात के लिए पारिवारिक कलह नहीं बढ़ाएँगे। उपयुक्त अवसर पर युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक करवाने का दायित्व मेरा है—यह मैंने धृतराष्ट्र को भी बता दिया है; और युधिष्ठिर के युवराज बन जाने पर कुंती

और उसके पुत्रों के लिए न प्रासादों का अभाव रहेगा, न रथों और सारथियों का।…"

"मैं आश्वस्त हुआ पितृव्य !" अक्रूर बोला, "इससे अधिक हमें अब और जानना भी क्या है, और आपके वचन से बड़ा प्रमाण हमारे लिए और क्या होगा।"

भीष्म भी कुछ शांत हुए, "मैं यह जानता हूँ कि एक हठी बच्चे के दबाव में, दूसरे शांत, संतुष्ट और आज्ञाकारी बच्चे को त्याग के लिए मना लेना कोई न्याय नहीं है; किंतु न तो मैं न्यायाधीश हूँ, न ही यह न्यायाधिकरण है; और न ही युधिष्ठिर और दुर्योधन मेरे सामने वादी-प्रतिवादी बनकर खड़े हैं। यह हमारा परिवार है और हमें अपने परिवार का सामूहिक हित देखना है। मैं यह कभी नहीं चाहूँगा कि परिवार के एक व्यक्ति को न्याय दिलाने के नाम पर सारे परिवार को ध्वस्त कर दिया जाए…।"

"मैं आपसे सहमत हूँ तात् !" अक्रूर ने उत्तर दिया, "हम भी नहीं चाहते हैं कि कौरवों में मतभेद अथवा अंतःकलह जन्मे। हमारा अपना हित इसी बात में है कि हस्तिनापुर में कौरवों का दृढ़ और शक्तिशाली राज्य हो। हमें उनसे सहायता और सहयोग की आशा है। उनके दुर्बल होते ही हम भी दुर्बल हो जाएँगे।…"

"तुम तो राजदूतों की-सी भाषा बोलने लगे अक्रूर।" भीष्म हँस पड़े, "अच्छा यह बताओ, कैसा है तुम्हारा यह कृष्ण ? मेरे मन में बार-बार यह बात आती है कि कंस का वध कर और जरासंध को पराजित कर कहीं उसके मन में साम्राज्य का स्वप्न तो नहीं जाग गया ? कहीं वह अन्य राजाओं को एक-एक कर पराजित कर, राजाधिराज बनने की योजना तो नहीं बना रहा ?"

"कृष्ण को राज्य नहीं चाहिए।" इस बार अक्रूर का स्वर उतना विनीत भी नहीं रह गया था, "यदि उसे राज्य की इच्छा होती, तो मथुरा के सिंहासन पर आसीन होने से उसे कौन रोक सकता था। सामान्य यादव तो आज भी उसे ही अपना राजा मानते हैं।…"

"संभव है कि कंस के वध से उत्पन्न असंतोष को शांत करने के लिए उसने उस समय तो उग्रसेन को राजा बना दिया हो, किंतु मन में सोच रखा हो कि अनुकूल समय आने पर सत्ता का अधिग्रहण कर लेगा। उग्रसेन से राज्य छीनने में कठिनाई ही क्या है ?"

"नहीं पितृव्य ! मैं आपसे एकदम सहमत नहीं हूँ। कृष्ण के मन में न राज्य की आसक्ति है, न अधिकार की। उसके पास तो प्रेम है। प्रेम के अधिकार से वह किसी को भी वश में कर लेता है।…" अक्रूर ने बलपूर्वक दुहराया, "कृष्ण को राज्य नहीं चाहिए।"

"राज्य किसे नहीं चाहिए।" भीष्म कुछ कटुता के साथ बोले, "यहाँ तो जिसे देखो—सबको राज्य चाहिए।"

"कृष्ण का लक्ष्य, 'राज्य' से बहुत ऊँचा है पितृव्य ! बहुत विराट और बहुत महान् !"

"क्या है वह लक्ष्य ?···

"धर्म-संस्थापना ! राज्यों को धर्म, न्याय तथा अनासक्ति के मार्ग पर चलना सिखाना !"

"धर्म को वह जानता भी है ?" भीष्म बोले, "कंस का वध धर्म-कार्य था। किंतु कृष्ण धर्म का तत्त्व जानता भी है ? क्या वय है उसका ?"

अक्रूर समझ नहीं पाया कि यह भीष्म की जिज्ञासा थी अथवा विरोध। भीष्म को भी धर्म-रक्षक माना जाता था और वय की दृष्टि से वे कृष्ण के पितामह से भी बड़े हो सकते थे। उन्होंने भी धर्म का अध्ययन, चिंतन और मनन किया ही था। क्या कृष्ण के विषय में धर्म-संस्थापना की बात कहना, उन्हें अच्छा नहीं लगा ?

"वय अधिक नहीं है तात् ! आपके अर्जुन का ही समवयस्क है।" अक्रूर ने उत्तर दिया, "किंतु हमें लगता है कि वह धर्म-तत्त्व को बहुत भली प्रकार पहचानता है। वय और ऊपरी भाव-भंगिमाओं से तो अनेक बार वह एक क्रीडा-शील तरुण ही लगता है तात् ! किंतु उसके मन में सबके लिए प्रेम है, अथाह प्रेम है उसके पास ! वह प्रत्येक जीव से प्रेम करता है। इसीलिए वह ठीक-ठीक समझता है कि धर्म क्या है।···"

"प्रत्येक जीव से प्रेम ?" भीष्म ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"हाँ तात् ! प्रत्येक जीव से प्रेम ! वह अपने शत्रुओं से भी प्रेम करता है।" अक्रूर ने उत्तर दिया, "वह उनका भी हित चाहता है। उनकी पीड़ा को भी अनुभव करता है।"

"मैं इसे समझ नहीं पाता !" भीष्म बोले, "वह योद्धा है या प्रेमी ? कोई अपने शत्रु तथा मित्र को समान प्रेम कैसे कर सकता है ? और यदि वह कंस से भी प्रेम करता था, तो उसने उसका वध क्यों किया ?"

"कृष्ण कहता है कि एक से प्रेम करने के लिए, दूसरे से प्रेम न किया जाए—यह एकदम आवश्यक नहीं है।" अक्रूर ने कहा, "और प्रेम करने वाली माता अपने पुत्र को दंडित भी करती है; और उसका उपचार भी करती है। यह उसके हित के लिए ही तो होता है। कृष्ण कहता है कि कंस का अहंकार, मानसिक रोग बन चुका था। वस्तुतः अहंकार अपने-आपमें एक रोग ही तो है। अहंकार से स्वार्थ के कीटाणु जन्म लेते हैं और स्वार्थ शुद्ध मूर्खता का नाम है। व्यक्ति समझता है कि वह अपना हित साध रहा है, इसलिए उसे दूसरों का हित नहीं देखना है। कृष्ण यह नहीं मानता। वह कहता है कि इस संपूर्ण सृष्टि में कोई किसी से विलग नहीं है।

संपूर्ण से पृथक् कोई खंड नहीं है; इसलिए किसी एक व्यक्ति अथवा समुदाय को अन्य से पृथक् कर देखना और उसका हित साधना, अदूरदर्शिता और अज्ञान है; और ऐसी अदूरदर्शिता सदा ही मानवता का अहित करती आई है। हमें धर्म-निर्णय करते हुए, संपूर्ण सृष्टि का ध्यान रखना चाहिए। एक समुदाय का हित करने के लिए अन्य समुदायों का अहित नहीं करना चाहिए। अनेक के अहित में से किसी एक का हित हो ही नहीं सकता। मनुष्य का हित साधने के लिए, मानवेतर सृष्टि का अहित नहीं करना चाहिए, क्योंकि संपूर्ण सृष्टि के हित में ही मनुष्य का हित है। गोधन के हित में गोपालों का हित है; तथा गोपालों के हित में कृषक का हित है…।"

"तुम्हारा यह कृष्ण तो मुझे योद्धा नहीं, ऋषि लगता है।" भीष्म बोले, "कोई योद्धा इस प्रकार का चिंतन नहीं कर सकता।"

"पता नहीं पितृव्य ! वह क्या है ! हम तो केवल इतना जानते हैं कि वह हमारा कृष्ण है ! अक्रूर ने उत्तर दिया।

"मेरी भी इच्छा हो रही है कि मैं तुम्हारे कृष्ण से कुछ धर्म-चर्चा करूँ।" भीष्म बोले, "उससे कहना कि युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के अवसर पर वह हस्तिनापुर अवश्य आए। यह मेरा निमंत्रण है।"

"अवश्य पितृव्य ! उसे तो हस्तिनापुर आना ही था—अपनी बुआ और उसके पुत्रों से मिलने ! और यह कैसे संभव है कि वह हस्तिनापुर आए और आप को प्रणाम करने न आए। बहुत विनीत है हमारा कृष्ण !" अक्रूर बोला, "और अब तो आपका निमंत्रण भी है। इन सबके अतिरिक्त भी एक और कारण है पितृव्य !"

भीष्म ने अक्रूर की ओर देखा।

"कृष्ण तो प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही भावों की प्रतिध्वनि है तात् ! आपने उसे पुकारा है, तो वह भी अवश्य ही आपको पुकारेगा…।"

"मैं समझा नहीं अक्रूर !" भीष्म ने चकित हो अक्रूर की ओर देखा।

"सब कुछ तो मेरी भी समझ में नहीं आता पितृव्य ! कृष्ण को समझना सरल नहीं है, किंतु उसका अनुभव करने में कोई कठिनाई नहीं है।" अक्रूर उठकर खड़ा हो गया, "अच्छा पितृव्य ! मुझे विदा दें !"

भीष्म भी अपने स्थान पर उठ खड़े हुए, "अक्रूर ! मैंने आवेश में तुमसे बहुत कुछ कहा है; किंतु वह कदाचित राजनीति का अंग था। यह न समझना कि मैं तुम्हें अपना आत्मीय नहीं मानता ! कुंती का भाई, हमारे कुटुंब का ही अंग है पुत्र ! मेरे व्यवहार को किसी अन्य भाव में ग्रहण न करना !"

"मैं समझता हूँ तात् ! आपका निर्मल मन हमसे छिपा नहीं है।"

अक्रूर ने भीष्म के चरण स्पर्श कर, प्रणाम किया और बाहर चला गया।

धृतराष्ट्र ने स्वयं अपने स्थान पर खड़े होकर राजसभा में अक्रूर का स्वागत किया, "पधारिए यादव-प्रतिनिधि !"

अक्रूर ने हाथ जोड़कर धृतराष्ट्र का अभिवादन कर, आसन ग्रहण किया।

"अक्रूर !" धृतराष्ट्र बोला, "मैंने सुना है कि तुम अपनी छोटी बहन कुंती और उसके पुत्रों का समाचार जानने के लिए आए हो। अब तक तो उसके विषय में सब कुछ जान चुके होगे। क्या तुम उनकी स्थिति से संतुष्ट हो ?"

अक्रूर ने नहीं सोचा था कि धृतराष्ट्र उससे इस प्रकार का सीधा प्रश्न करेगा; न ही इस प्रश्न का सीधा उत्तर देना अक्रूर की नीति में उचित ही था !···और सहसा उसे लगा कि धृतराष्ट्र का यह सीधा प्रश्न, न तो उसकी सरलता के कारण था, न अबोधता अथवा अनुभवहीनता के कारण ! यह तो एक बहुत ही अनुभवी और धूर्त राजनीतिज्ञ का प्रश्न था।···यदि अक्रूर इस समय उसी प्रकार सीधा उत्तर दे कि उसकी बहन और उसके पुत्रों के साथ अन्याय हो रहा है, तो इस राजसभा में अपनी कौटुंबिक कलह आरंभ हो जाएगी; और कौरवों का संपूर्ण समर्थन धृतराष्ट्र को प्राप्त होगा···

"मेरे भागिनेय अपनी शिक्षा पूर्ण कर चुके हैं राजन् ! मुझे पितृव्य भीष्म ने बताया है कि आप युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक करने की तैयारी में हैं। निकट भविष्य में ही यह युवराज्याभिषेक होगा।" अक्रूर अत्यंत मधुर ढंग से बोला, "ऐसे में मेरे असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है राजन् !···किंतु मैं यदि केवल अपने परिजनों से भेंट करने आया होता, उनके समाचार जानना चाहता, तो कौरव राजसभा में उपस्थित होने का मेरा कोई प्रयोजन नहीं था महाराज !···

"राजसभा में उपस्थित होने का कारण तो राजनीतिक ही होना चाहिए अक्रूर !"

"वह राजनीतिक ही है महाराज !"

"तो कहो अक्रूर ! मैं सुन रहा हूँ।"

"महाराज ! जैसा कि आप जानते हैं कि मथुरा में अत्याचारी कंस का वध कर यादवों ने पुनः महाराज उग्रसेन को सिंहासन पर बैठा दिया है। इससे मथुरा में स्वेच्छाचारी, अत्याचारी तथा नृशंस शासन के स्थान पर यादवों का अपना सर्वप्रिय तथा कल्याणकारी शासन स्थापित हुआ है। यादवों का आत्मविश्वास लौट आया है। वे लोग अब कंस की दलित, दमित तथा निरीह प्रजा न होकर, मथुरा के स्वतंत्र और समर्थ नागरिक हैं। उन्हें मालूम है कि अपने सुख, कल्याण, स्वतंत्रता तथा अधिकारों की रक्षा उन्हें स्वयं ही करनी है। इसलिए वे अपने समाज के निर्माण में लगे हैं और चाहते हैं कि फिर से उन्हें पहले के समान पीड़ित और शोषित स्थिति में न लौटना पड़े।"

"यह तो स्वाभाविक ही है अक्रूर !" धृतराष्ट्र बोला, "कोई भी प्रजा क्यों

सूचना दे देता हूँ। आपके इस महोत्सव में यादव लोग पूर्ण उत्साह से सम्मिलित होंगे !"

और तभी उसने देखा कि दुर्योधन उठकर खड़ा हो गया। वह सर्वथा विक्षिप्त-सा लग रहा था। अच्छा ही था कि धृतराष्ट्र उसे देख नहीं सकता था, *अन्यथा बहुत संभव था कि उसे कोई मानसिक उन्माद हो जाता।*

लगा कि दुर्योधन कुछ कहने का प्रयत्न कर रहा है; किंतु अगले ही क्षण जैसे उसने कुछ कहने का विचार त्याग दिया और पैर पटकता हुआ सभा से बाहर चला गया।

"क्या हुआ विदुर ?" धृतराष्ट्र ने पूछा।

"राजकुमार दुर्योधन अपने मित्र कर्ण के साथ सभा छोड़ गए हैं महाराज !"

"मूर्ख है।" धृतराष्ट्र ने जैसे स्नेहसिंचित स्वर में कहा, "कोई बात नहीं। मैं उसे मना लूंगा।"

"मैं विदा लेता हूँ महाराज !" अक्रूर ने हाथ जोड़ दिए।

धृतराष्ट्र भी उठ खड़ा हुआ।

गांधारी ने धृतराष्ट्र को मात्र स्पर्श ही नहीं किया, उसकी भुजा अपने हाथों में थामकर, कुछ इस प्रकार दबाई, जैसे उसे डाँट रही हो और फिर धीमे स्वर में बोली, *"आज आपको क्या हुआ ?"*

धृतराष्ट्र समझ रहा था कि गांधारी क्या कह रही है, फिर भी उसने अपने स्वभावानुसार पूछा, "क्यों ? क्या हुआ ?"

"आप नहीं जानते कि क्या हुआ !" गांधारी का स्वर कुछ तीखा पड़ा, "न केवल युधिष्ठिर का युवराजत्व घोषित किया, उसके अभिषेक की तिथि भी घोषित कर दी ?"

"हाँ ! बहुत दिनों से सोच रहा था कि यह कार्य भी करना है; आज अवसर मिला तो कर डाला।" धृतराष्ट्र अत्यंत भाव शून्य स्वर में बोला, जैसे कोई विशेष बात हुई ही न हो।

धृतराष्ट्र की इस शैली पर गांधारी खीज जाया करती थी, किंतु आज वह उबल भी पड़ी, "आप जानते भी हैं कि आपने क्या कर डाला है ?"

"क्या कर डाला है ?" धृतराष्ट्र शांत स्वर में बोला, "जिसका अधिकार था, उसे लौटा दिया है। मैं अपने भाई के स्थान पर हस्तिनापुर के शासन की देख-भाल कर रहा था। अब भाई का पुत्र इतना बड़ा हो गया है कि राज्य उसे लौटा दिया जाना चाहिए था। बहुत दिनों से वह प्रतीक्षा भी कर रहा था। उसकी अपेक्षा पूरी हुई। मेरा दायित्व पूरा हुआ। हस्तिनापुर में धर्म की स्थापना

हुई।..."

धृतराष्ट्र का एक-एक शब्द गांधारी को वज्र के आघात जैसा लग रहा था। अंतर केवल इतना ही था कि वज्र कभी उसके मस्तक पर बजता था और कभी उसके वक्ष पर ! और धृतराष्ट्र का यह प्रलाप था कि उसका अंत ही नहीं हो रहा था, वह चलता ही जा रहा था। गांधारी को लग रहा था कि उसका जीवन समाप्त हो जाएगा, किंतु धृतराष्ट्र का यह प्रलाप समाप्त नहीं होगा।...

"आर्यपुत्र !"

धृतराष्ट्र को लगा, यह स्वर गांधारी का नहीं था, यह तो जैसे कोई नागिन फुफकारी थी। वह चुप हो गया।

"आपने वर्षों से पोषित, अपनी, मेरी, दुर्योधन की...अपने सारे पुत्रों को साध समाप्त कर दी ! किसी और ने किया होता, तो शायद मैं धैर्य भी धारण कर लेती। इसे अपना भाग्य मान लेती; किंतु आपने स्वयं अपने हाथों अपने पुत्र के अधिकार को आग लगा दी। क्यों किया आपने ? क्यों ?...राजसभा में ऐसी घोषणा करने से पहले, किसी से चर्चा तो की होती, किसी से परामर्श किया होता। कोई संकेत तो किया होता कि आपके मन में क्या है। दुर्योधन, शकुनि, मैं ...कोई भी क्या कर सकता है—यदि आप स्वयं ही अपने पुत्रों का अनिष्ट करने पर तुले हों तो।..."

गांधारी मौन हो गई। धृतराष्ट्र भी कुछ नहीं बोला। वह अपनी सूनी-सूनी, दृष्टिहीन आंखों की पुतलियां घुमाता रहा।

जब उसके मौन से गांधारी का धैर्य चुक गया तो वह बोली, "दुर्योधन कह गया है कि जिस दिन युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक होगा, उस दिन वह आत्म-हत्या कर लेगा।"

"वध से तो आत्महत्या ही अच्छी है।"

धृतराष्ट्र का यह वाक्य गांधारी के मस्तिष्क में इस प्रकार घूम गया, जैसे गरजते हुए सागर की उछलती हुई लहरों पर से प्रभंजन, घर्षण करता निकल जाता है। क्रोध की आग, जैसे पवन के स्पर्श से शांत होकर विलीन हो गई।

"क्या कहना चाहते हैं आप ?" उसने पूछा।

"मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता," धृतराष्ट्र बोला, "मैंने तो केवल वही सुना है, जो समय मेरे कानों में कह रहा है। ज्ञान-चक्षु हूं न मैं, तो मैंने दूर तक देखा है।"

"क्या ?"

"हमारे चारों ओर कुछ अत्यंत प्रबल राजनीतिक शक्तियां उभर रही हैं। बहुत संभव है—भयंकर युद्ध हों। पांचाल, यादव, मागध · हस्तिनापुर को भी चाहिए कि वह शक्तिशाली बने। हस्तिनापुर का सम्राट् तो एक जन्मांध, दुर्बल

और रोगी वृद्ध है। यह युद्ध में जा नहीं सकता। अतः मैंने हस्तिनापुर के शक्ति-शाली युवराज के अभिषेक की घोषणा कर दी है।"

"युधिष्ठिर की तुलना में दुर्योधन कहीं शक्तिशाली है।" गांधारी ने प्रतिवाद किया।

"यह तो तुम कहती हो।" धृतराष्ट्र अत्यंत शांत स्वर में बोला, "मैं तो इतना ही जानता हूँ कि दुर्योधन अपने सारे मित्रों और सहयोगियों के साथ द्रुपद से पराजित होकर आया था; और युधिष्ठिर ने केवल अपने भाइयों की सहायता से द्रुपद को बाँधकर आचार्य द्रोण के चरणों में डाल दिया था।...तो कौन है अधिक शक्तिशाली ?"

"यदि यह सत्य भी है तो इससे पहले कि कोई हमसे हस्तिनापुर छीन ले, हम अपने हाथों अपना राज्य युधिष्ठिर को दे दें ?" गांधारी चीत्कारकर बोली।

"मैंने राज्य किसी को दिया नहीं है महारानी !" धृतराष्ट्र का स्वर और भी शांत हो गया, "मैंने तो युद्ध करने के लिए एक युवराज की नियुक्ति की है।... पांचालों और मागधों में संधि हो जाए तो द्रुपद और जरासंध की सम्मिलित सेनाएँ हस्तिनापुर पर आक्रमण करेंगी। उनसे युद्ध करने के लिए, युवराज युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित जाएगा..."

"उस युद्ध में केवल युधिष्ठिर और उसके भाई ही जाएँगे क्या ? क्या दुर्योधन युद्ध करने नहीं जाएगा ?" गांधारी ने पुनः आपत्ति की।

'क्या आवश्यकता है ? हस्तिनापुर से उसका संबंध ही क्या है कि वह युद्ध करे ! जब द्रुपद पर दुर्योधन ने आक्रमण किया था, तो पांडव अलग हटकर, एक ओर खड़े हो गए थे। जिस समय पांचालों और मागधों से पांडव लड़ने जाएँ, उस समय दुर्योधन को भी यही करना चाहिए। पांडव युद्ध करेंगे, तो उनकी सहायता के लिए यादव आएँगे, कृष्ण आएगा। मागधों, पांचालों, यादवों तथा पांडवों की सेनाएँ लड़ेंगी, मरेंगी। ये सब दुर्बल हो जाएँगे। तब दुर्योधन को निश्चय करना होगा, कि वह किससे मैत्री करे। निश्चय करने को अधिक नहीं है। वह सरलता से, विजयी पक्ष से मित्रता कर सकता है...।"

गांधारी मुग्ध मन से पति की वाणी को सुन रही थी "ठीक ही तो कह रहे थे आर्यपुत्र ! एक तो दुर्योधन, युद्ध से दूर रहेगा, दूसरे उनके शत्रु दुर्बल होंगे। वह युद्ध से तटस्थ रहेगा, तो युद्ध के पश्चात किसी से भी मित्रता कर सकता है...

"किंतु यदि पांचालों और मागधों में ऐसी संधि हो न हुई तो ?" गांधारी ने पूछा।

"तो जरासंध, हस्तिनापुर से संधि करेगा। युद्ध तब भी होगा। तब युधिष्ठिर और जरासंध एक ओर होंगे, तथा कृष्ण और द्रुपद दूसरी ओर ! स्थिति [illegible]

अंतर नहीं पड़ेगा। दुर्योधन इस युद्ध के पश्चात भी विजयी पक्ष से संधि कर सकता है।" धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया।

"और यदि युधिष्ठिर ने जरासंध से संधि ही न की ?" गांधारी ने पुनः शंका की।

"तो जरासंध स्वयं ही युधिष्ठिर पर आक्रमण करेगा। युधिष्ठिर की सहायता को कृष्ण आएगा⋯युद्ध तो फिर भी होगा ही; और उसमें कोई-न-कोई विजयी भी होगा। दुर्योधन उसी से संधि करे, जो विजयी हो।⋯"

किंतु गांधारी के न द्वंद्व समाप्त हुए थे, न शंकाएँ ही शांत हुई थीं, "और यदि युद्ध ही न हुआ तो ?"

"ऐसा भी कभी हुआ है ?" धृतराष्ट्र निश्चित स्वर में बोला, "इतने सारे वीर क्षत्रिय एकत्रित हो गए हैं। सबके हाथों में शस्त्र चमक रहे हैं। सबको अपनी वीरता पर अभिमान है। युद्ध तो होगा ही देवि !"

"और यदि युद्ध में युधिष्ठिर ही विजयी हुआ तो ?"

"शक्तियों का प्राबल्य तभी तक बना रहता है, जब तक युद्ध नहीं होते। युद्धों के पश्चात तो बड़ी से बड़ी शक्ति भी क्षीण हो जाती है। प्रबल वही रहता है, जो युद्ध में सम्मिलित नहीं होता।" धृतराष्ट्र ने कहा, "यादवों का रक्त तनिक ठंडा हो लेने दो। इस समय विजय के मद में वह बहुत उफान पर है। एक बार पांचालों को भी जरासंध अथवा कृष्ण से भिड़ लेने दो। तब भी युधिष्ठिर युवराज बना रहा तो फिर मैं अपनी भूल सुधारने के लिए तुमसे अवश्य विचार-विमर्श करूँगा।"

गांधारी को लगा, उसके पति सचमुच ज्ञान-चक्षु हैं। कितनी दूर तक देख गए हैं वे। दुर्योधन को वह समझा देगी, उसके पिता ने ठीक ही निर्णय किया है।

19

द्रुपद कुछ समझ नहीं पा रहा था : वह क्रुद्ध है, पीड़ित है, अथवा भयभीत है ! कभी तो उसे लगता था कि वह अत्यंत आक्रामक मनःस्थिति में है—इतनी आक्रामक कि वह संपूर्ण सृष्टि को जलाकर भस्म कर देना चाहता है; और कभी उसे लगता था, वह सर्वथा असमर्थ हो चुका था। इतना कि उसके अंग उसका साथ नहीं दे पा रहे थे। क्रोध से जलते हुए उसके अंग जैसे काँपने लगते थे, इतने कि इच्छा होने पर भी उन्हें नियंत्रित नहीं किया जा सकता था। इस स्थिति में कैसे करेगा वह युद्ध ? कैसे अपने शत्रुओं का नाश करेगा ?

द्रोण ! द्रोण आज उसका शत्रु हो गया है। बाल्यावस्था का मित्र !

सहपाठी ! गुरुपुत्र ! वही द्रोण आज उसका शत्रु हो गया है। क्या दोष था द्रुपद का ? मात्र सत्य-कथन ? सत्य बोलना द्रुपद का स्वभाव रहा है। द्रुपद ने द्रोण को कभी अपमानित करना नहीं चाहा था। कोई कारण ही नहीं था। उसका द्रोण से विरोध ही क्या था ? उसके मन में द्रोण के लिए न कोई बैर था, न द्वेष, न ईर्ष्या ! द्रोण को अपमानित कर उसे क्या सुख मिलता !···द्रुपद अपने मन के एक-एक कोने को खोजता है, बार-बार उलटता-पलटता है और जानना चाहता है कि क्या उसके मन में द्रोण के लिए कोई दुर्भाव था ? आज तक उसके मन ने एक बार भी कोई सांकेतिक स्वीकृति तक नहीं दी थी !···उसके मन में द्रोण के लिए कोई दुर्भाव नहीं था। वस्तुतः वह तो उसकी सहायता करना चाहता था। सहायता की दृष्टि से ही तो उसने कहा था कि द्रोण के आश्रम को गोपालों का आश्रय सदा प्राप्त रहेगा। और वह कह ही क्या सकता था ? एक गुरुकुल और राजसभा में मैत्री कैसे हो सकती है, उनमें तो आश्रित और आश्रयदाता का ही संबंध हो सकता है···सत्य का एक वाक्य सहन नहीं कर पाया था द्रोण ! इस सत्य से वह अपमानित हुआ ? सत्य से भी कभी कोई अपमानित हो सकता है ? इसका यही यह अर्थ नहीं है कि द्रुपद ने उसे अपमानित किया—द्रोण स्वयं ही अपनी स्थिति को अपमानजनक समझ रहा था। आचार्य के रूप में वह स्वयं को हीन मान रहा था। अन्यथा उसे राजा की मित्रता की क्या आवश्यकता थी। यदि द्रोण, आचार्य के स्थान पर ऋषि बना होता—अपने पिता ऋषि भरद्वाज के समान, अपने श्वसुर ऋषि शरद्वान के समान, तो कदाचित् उसके मन में यह हीनता बोध ही न होता···

और द्रोण ने अपना पाप नहीं देखा। उसने अपने मन के कलुष को नहीं देखा ! उसने उस सत्य-कथन के लिए द्रुपद को अपराधी मान, उसे दंडित करने का प्रयत्न किया। क्या था यह—द्रोण का अहंकार ? अहंकारी तो वह अपने शैशव से ही था। गुरु-पुत्र के रूप में वह स्वयं को राजपुत्र से श्रेष्ठ मानता रहा। सहपाठी के रूप में भी वह अपनी विद्या के आधार पर स्वयं को श्रेष्ठ मानता रहा। उसमें अहंकार—स्वयं को श्रेष्ठ मानने का भाव तथा हीन-भावना—दोनों ही एक साथ कैसे थीं ?···या फिर क्या हीन भावना ही अहंकार को जन्म देती है ?

किंतु अब कुछ भी सोचने का समय नहीं था। द्रोण ने द्रुपद का अपमान किया था, उसे वंचित किया था। यह अपमान ऐसा नहीं था जिसे क्षमा किया जा सके। द्रोण ने उसे वद्ध पशु के समान बाँधकर मँगवाया था। अपने शिष्यों, सैनिकों और राजकर्मचारियों के सम्मुख अपने मन का सारा कलुष उसने द्रुपद के ऊपर उँडेला था··· और··· और उसका आधा राज्य छीन लिया था···आर्यावर्त में बड़े-से-बड़े अपराध के लिए भी किसी राजा ने, दूसरे राजा का राज्य नहीं छीना, और यह द्रोण, ब्राह्मण द्रोण, तपस्वी द्रोण, आचार्य द्रोण···इस द्रोण ने

उसका राज्य छीन लिया···

कायर कहीं का। इतना ही अभिमान था, अपनी शस्त्र-विद्या का तो स्वयं लड़ने आता···किंतु नहीं ! एक छोटी-सी सत्योक्ति को वर्षों तक अपने मन में विष-वृक्ष के समान पालता रहा। पांचालों के परंपरागत विरोधी कुरुओं की शरण में गया। कुरु राजकुमारों को शिक्षा देता रहा; और उनके मन में विष भरता रहा। उन्हें भेज दिया युद्ध के लिए, और स्वयं हस्तिनापुर में बैठा रहा।··· कायर !···कायर !···कायर !···इतना ही अहंकार था तो द्रुपद को द्वंद्व-युद्ध के लिए आमंत्रित करता, द्वैरथ-युद्ध करता—श्रेष्ठ शस्त्र-विज्ञ होकर भी, धनुर्वेद का आचार्य होकर भी, साहस नहीं कर पाया···द्रुपद के शत्रुओं से जा मिला और उनके राजकुमारों को भेज दिया···

अब किस-किससे प्रतिशोध ले द्रुपद ? द्रोण से ? उसे आश्रय देने वाले भीष्म से ? उसका उपकरण बनकर आने वाले कुरु राजकुमारों से ?···

कैसे प्रतिशोध ले द्रुपद ? युवावस्था नहीं रह गई है उसकी। अंग शिथिल हो रहे हैं। वैसे भी अकेला है द्रुपद ! किस-किससे युद्ध करे वह—भीष्म से ? द्रोण से ? कृप से ? अर्जुन, भीम, दुर्योधन, कर्ण, अश्वत्थामा ?···किस-किससे ? द्रुपद के पक्ष से लड़ने वाला है कौन ? मात्र एक अकेला धृष्टद्युम्न ! शिखंडी क्या युद्ध करेगा—कन्याओं-सरीखा युवक ! घर छोड़कर जाने कहाँ भाग गया है।···द्रुपद उसे खोजने जाए, या युद्ध करे !···किंतु यदि द्रुपद अपने इस अपमान का प्रतिशोध नहीं लेगा, अपना राज्य वापस नहीं लौटाएगा, तो आर्यावर्त के राजाओं की दृष्टि में क्या सम्मान रह जाएगा उसका ? क्या सोचेगी उसकी प्रजा ? कायर और दुर्बल राजा की प्रजा कैसे सिर उठाकर सम्मानपूर्वक जिएगी ? सोमक-वंशी राजाओं के गर्व का क्या होगा ?···

सोच-सोचकर जैसे द्रुपद के सिर की शिराएँ फटने लगती थीं। न वह इसे भूल सकता था, न ही कुछ कर सकता था। कई बार मन में आया कि सेना सज्जित कर, हस्तिनापुर पर नहीं, तो कम-से-कम अहिछत्र पर ही आक्रमण कर दे···किंतु उसका विवेक तत्काल टोक देता था।···क्या लाभ ? वह जानता है कि उसकी सेना, कुरु साम्राज्य की सेना को पराजित नहीं कर पाएगी। वह अकेला, इतने सारे कुरु महारथियों से पार नहीं पा सकेगा।·· पराजित होकर वह लौटना नहीं चाहेगा।···यह तो निश्चित आत्महत्या है।···इस अपमान के पश्चात आत्महत्या तो उसकी असमर्थता को, उसकी कायरता में परिणत कर देगी। कलंक धुलेगा नहीं, और भी गंभीर हो जाएगा।···और यदि उसने वीरगति को अंगीकार किया तो पीछे धृष्टद्युम्न, द्रौपदी और उस शिखंडी का क्या होगा ?·· जो पिता के रहने पर इतने असुरक्षित हैं, वे पिता के न रहने पर क्या करेंगे ?

द्रुपद की असमर्थता, क्रोध बन-बनकर उसे जला रही थी, और जल-जलकर

वह और भी असमर्थ होता जा रहा था···जाने विधाता उसे किस अपराध का यह दंड दे रहा था—अब तो जैसे सारा जीवन उसे जलना ही जलना था···निष्फल··· निर्धन···एक क्षत्रिय का यह कैसा निरर्थक जीवन था···वैर, विरोध, आक्रोश, प्रतिहिंसा और घृणा को अपने मन-ही-मन दबाए रखकर किसी व्यक्ति के जीवन में कहीं भी कोई शांति का क्षण हो सकता है क्या ?

दासी ने आकर प्रणाम किया, "महाराज भोजन के लिए भीतर पधारेंगे, अथवा यहीं व्यवस्था करने का आदेश है ?"

द्रुपद ने बड़ी अनिच्छा से दासी की ओर देखा। उसके मन में आया कि पूछे कि भोजन से बढ़कर कोई समस्या नहीं है क्या उसके जीवन में ? क्यों वह भोजन के परे और कुछ सोच नहीं पाती ? मान-अपमान उसके लिए कुछ नहीं है ? स्वत्व और स्वाभिमान का कोई अस्तित्व नहीं है, उसके जीवन में ? क्यों वह बार-बार मात्र भोजन का स्मरण कराने के लिए आती है ?

किंतु यह सब कहा नहीं उसने। बहुत मंद स्वर में मात्र इतना कहा, "मुझे भूख नहीं है !"

दासी हाथ जोड़कर चली गई, किंतु उसने जाते ही उधर से कृष्णा को भेज दिया, "पिताजी ! आप अपने साथ इतना अत्याचार क्यों कर रहे हैं ?"

बिना कहे भी द्रुपद समझ गया कि उसकी पुत्री का संकेत किस ओर है। सायास वाणी को स्नेह-सिंचित करता हुआ बोला, "मुझे सचमुच भूख नहीं है कृष्णा ! कुछ भी खाने की इच्छा नहीं है।"

"आप इस प्रकार चिंता करते रहेंगे, तो भूख कहाँ से लगेगी !" द्रौपदी आकर अपने पिता के पास खड़ी हो गई। उसने स्नेह से पिता के कंधे पर हाथ रखा, "आपकी पीड़ा को देखकर सारा परिवार दुखी है। न माँ को भूख लग रही है, न भैया को। मैं ही कहाँ कुछ खा पा रही हूँ।" उसने रुककर पिता को देखा, "क्या इस यातना से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है पिताजी ?"

द्रुपद चुपचाप कुछ सोचता रहा। फिर बोला, "मैं ब्राह्मण होता तो थोड़ा प्रयत्न कर, उसके अपराध को क्षमा कर देता; और अपने अपमान को भूल जाता, किंतु पुत्रि !" उसने द्रौपदी की ओर देखा, "मैं क्षत्रिय हूँ। क्षत्रिय अग्नि-पुत्र है, जब तक बुझ ही न जाए, जलता ही रहता है; और जलना तो कष्टप्रद होता ही है।"

"तो पिताजी ! आप अकेले ही क्यों जलें। हम सब साथ ही क्यों न जलें। दावाग्नि के समान क्यों जलें, यज्ञाग्नि के समान क्यों न जलें। जलें तो एक उद्देश्य के लिए जलें। आत्मदहन हमारा लक्ष्य न हो, शत्रुदहन हमारा गंतव्य हो। आप यज्ञ की दीक्षा लीजिए पिताजी ! और हमें यज्ञ में अपने साथ लीजिए। हमें भी अग्निदीक्षित कीजिए। हमें यज्ञाग्नि से अपने लक्ष्य के लिए प्राप्त कीजिए। हम

अपने पिता के काम न आए तो हमारे जीवन की सार्थकता ही क्या है पिताजी ?"

द्रुपद ने जैसे पहली बार आँखें खोलकर अपनी पुत्री को देखा : ऐसी है उसकी कृष्णा ! यह उसकी पुत्री नहीं, उसकी संजीवनी है ! कैसा उत्साह भर आता है, उसके शब्दों से ! ठीक तो कहती है वह, कि जीना है, तो लक्ष्य लेकर जिएँ और उत्साहपूर्वक जिएँ !

"जो कुछ कह रही हो, उसका अर्थ समझती हो कृष्णा ?"

"समझती हूँ पिताजी !" वह बोली।

"एक बार यज्ञ-दीक्षित होने का अर्थ होगा, कि तुम्हारे जीवन का अपना कोई सुख-दुख, इच्छा-अनिच्छा··· कुछ नहीं रह जाएगा। सब कुछ यज्ञ को समर्पित होगा ! तुम नारी नहीं रहोगी, काष्ठ की समिधा हो जाओगी। अब तुम हवन-कुंड से बाहर रहोगी, काष्ठ का जीवन जीओगी, और जब हवन-कुंड को समर्पित की जाओगी, तो जलकर अपना अहोभाग्य मानोगी।"

"जानती हूँ पिताजी !"

"तुम ऐसा जीवन जीने के लिए तैयार हो ?"

"पिता के सुख के लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ।"

"मेरी बच्ची !" द्रुपद का कंठ जैसे फँसने लगा था, "मैंने कभी नहीं चाहा था कि मैं अपनी संतान को जीवन में प्रेम के स्थान पर घृणा की दीक्षा दूँ। कोई पिता क्यों चाहेगा कि उसकी संतान के जीवन का मेरुदंड प्रतिहिंसा हो।···किंतु क्या करूँ ! इस द्रोण ने मुझे कहीं का नहीं रखा।···मैं तो कुरुओं से अपना वैमनस्य भुलाने के लिए प्रयत्नशील था। मैं नहीं चाहता था कि शत्रुता का जो विष, उत्तराधिकार में मुझे मिला है, वही आगे मैं अपनी संतान को दूँ; किंतु द्रोण ने अपना उपकरण भी बनाया, तो उन्हीं कुरु राजकुमारों को !"

"द्रोण के लिए यही स्वाभाविक था पिताजी ! आपके प्रति शत्रुता का निर्वाह करने के लिए उन्हें आपके सबसे समर्थ विरोधी की ही शरण में जाना था। घृणा की समृद्धि के लिए उसे घृणा से ही जोड़ना था।"

"तो पुत्रि ! फिर हमें भी जीवन के अपने उदात्त मूल्यों को छोड़ना होगा। दया, माया, ममता, क्षमा, त्याग, औदार्य—हमारे लिए निरर्थक होंगे। अधिकार, वैभव, भोग, संघर्ष, प्रतिशोध—हमारे जीवन के लक्ष्य होंगे।"

"ठीक है पिताजी !"

"घृणा और प्रतिहिंसा को प्रयत्नपूर्वक मन में पोषित करेंगे।"

"हाँ पिताजी !"

"धृष्टद्युम्न हमसे सहमत होगा ?" सहसा द्रुपद ने पूछा।

"भैया भी आपके ही पुत्र हैं पिताजी !" द्रौपदी शांत भाव से मुस्कराई, "आपके सुख से बड़ा संतोष उनके लिए और क्या होगा !"

और उसके उपकरण के रूप में शस्त्र दे। उस पर शस्त्र-प्रहार कर, उनका रक्त बहाने की इच्छा और उसके मृत शरीर को अपने पैरों से ठुकराने की क्षमता दे।"

पुरोहित ने रुककर आहुति दी, "हे अग्नि ! पंचाल नरेश महाराज द्रुपद की प्रार्थना सुन ! उनकी इच्छा पूरी कर !"

द्रुपद ने आहुति दी और प्रार्थना की, "हे अग्नि ! मैं अपनी प्रकृत संतान तुम्हें सौंपता हूँ। इनके स्थान पर तू मुझे अग्नि-संतान दे; जो मेरे शत्रु द्रोण का वध करे और उसे आश्रय देने वाले कुरु-वंश का समूल नाश करे। मुझे युद्ध में जय दे ! जय दे ! जय दे !"

पुरोहित ने द्रौपदी को संबोधित किया, "राजकुमारी ! तुमने आज तक का अपना जीवन, अपना चिंतन, अपना राग-विराग—सब कुछ अग्नि को अर्पित कर दिया है। आज से तुम्हारा नया जीवन आरंभ होता है। आज से तुम अग्नि-दीक्षित हो। तुम्हारा जन्म माता के गर्भ से नहीं, यज्ञ-कुंड से हुआ है। तुम्हारी संरचना अग्नि से हुई है। तुम अग्नि-वर्मा हो। तुम्हारा जन्म द्रोण के वध और कुरु-कुल के विनाश के लिए हुआ है। तुम्हारी अपनी कोई इच्छा-अनिच्छा नहीं है। तुम्हारे मन में कोई प्राकृतिक वासना नहीं है। तुममें कोई मानवीय दुर्बलता नहीं है। तुम्हारे मन में किसी के लिए कोई राग-विराग नहीं है। तुम्हारा नया जन्म केवल एक लक्ष्य के लिए हुआ है और वह है द्रोण का वध और कुरु-वंश का विनाश। तुम वही करोगी। उठो ! अग्नि की ओर से मैं तुम्हें महाराज द्रुपद को सौंपता हूँ।"

द्रौपदी उठ खड़ी हुई। यज्ञ-वेदी की दूसरी ओर से द्रुपद ने अपनी भुजाएँ फैलाईं और अग्निपुत्री कृष्णा को स्वीकार किया।

पुरोहित ने राजकुमार धृष्टद्युम्न की ओर देखा, "राजकुमार ! तुमने भी आज तक का अपना जीवन, राग-विराग, क्षमताएँ, लक्ष्य-उद्देश्य—सब कुछ अग्नि को समर्पित किया ! तुम्हारा आज से नया जन्म हो रहा है। तुम्हारा जन्म अग्नि-कुंड में से हुआ है। तुम अपने कवच और अस्त्र-शस्त्रों सहित, अग्नि-कुंड में से प्रकट हुए हो। तुम्हारा रथ भी अग्नि-कुंड में से उत्पन्न हुआ है। तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र अलौकिक हैं। वे युद्ध में अमोघ हैं। तुम्हारा रथ न टूट सकता है, न जल सकता है। वह दिव्य रथ है। जब तक तुम इस रथ पर आरूढ़ होकर युद्ध करोगे, तुम्हें कोई पराजित नहीं कर सकता। तुम अजेय हो; और तुम्हारा जन्म द्रोण के वध के लिए हुआ है। जिस धृष्टद्युम्न के गुरु द्रोणाचार्य थे, वह धृष्टद्युम्न अब नहीं है। तुम अग्नि में से प्रकट हुए हो, और तुम्हारे जीवन का एक ही लक्ष्य है: तुम आचार्य द्रोण का वध करोगे; और उसे आश्रय देने वाले कुरु-वंश के विनाश में सहायक होगे !" वह द्रुपद की ओर मुड़ा, "महाराज ! अग्निप्रदत्त अपने इस पुत्र

को ग्रहण करें।"

द्रुपद ने भुजाएँ फैलाकर धृष्टद्युम्न को ग्रहण किया, "आओ, अग्निदत्त पुत्र! मेरे शत्रुओं का नाश करो!"

"तुम उदास हो राजकुमारी!"

द्रौपदी ने जैसे अपने मन को किसी गहरे अंधकूप से खींचकर बाहर निकाला। कुछ देर चुपचाप शैलजा को देखती रही: क्या उत्तर दे सखी के प्रश्न का? उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए भी या नहीं?...और द्रौपदी के पास इस प्रश्न का उत्तर है भी या नहीं?...

"क्या बात है राजकुमारी! तुम उदास ही नहीं, चिंतित भी हो।" फिर जैसे अपनी सखी के दुख से द्रवित होकर शैलजा बोली, "कुछ तो कहो सखि! ऐसे कब तक घुटती रहोगी?"

द्रौपदी की आँखों में अश्रु आ गए; किंतु उसने तत्काल उन्हें पोंछ डाला, "घुटने का अब कोई काम नहीं है शैलजा!" वह रुकी, जैसे प्रत्येक नये वाक्य के लिए उसे ऊर्जा बटोरनी पड़ रही हो, "मैं महाराज द्रुपद की अग्नि-कुंड में से जन्मी संतान हूँ। घुटने और उदास होने का अवकाश ही कहाँ है मेरे लिए। मैं अग्निपुत्री हूँ। मुझे अग्नि बनकर ही जीना है, धूम्र की मेरे जीवन में कोई संभावना नहीं है...।"

"तो फिर यह क्या है सखि?"

"मैंने अपना पिछला जीवन, अग्निदेव को समर्पित कर दिया है।" द्रौपदी मंद स्वर में बोली, "किंतु वह सारा का सारा भस्म ही नहीं पाया है सखि! देखती हूँ कि उस भाजन के कुछ भग्नांश अभी शेष हैं। भग्न हैं, अत्यंत झुलसे हुए हैं, धूम्र से काले हो गए हैं। उनका रूप पहचाना नहीं जाता। किंतु उनकी रड़क अभी शेष है। कदाचित् अग्नि का दाह उन्हें भस्म नहीं कर पाएगा। उन्हीं भग्नांशों को अपने हाथों से बीनकर, अपने नये जीवन से बाहर फेंक रही हूँ।"

शैलजा ने ध्यान से द्रौपदी को देखा: ऐसा कौन-सा दुख है, इस अग्निपुंज राजकुमारी को? उसकी अपने मन की विचित्र स्थिति हो रही थी। न पूछने का साहस हो रहा था; न बिना पूछे ही रह सकती थी!...किंतु राजकुमारी को कुरेदना तो होगा ही; अन्यथा ऐसा न हो कि जीवन से बाहर फेंकने के लिए, उन भग्नांशों को चुनते हुए, राजकुमारी के हाथ क्षत-विक्षत हो जाएँ, और उनका रक्त रोके न रुके।...

"कोई वंचना राजकुमारी?"

"वंचना! हाँ! वंचना ही तो है!" द्रौपदी जैसे शून्य में देखती हुई बोली,

"किंतु क्या कहूँ, कौन वंचित हुआ ? किस वस्तु से वंचित हुआ; और किसने वंचित किया ?"

शैलजा अवाक् देखती रह गई : उसके नयनों की जिज्ञासा को शब्द नहीं मिल सके !

"सखि ! एक उद्यान में दो तितलियाँ सख्य-भाव से पुष्पों पर विहार कर रही हों; और अकस्मात् ही एक तितली यह संकल्प कर ले कि उसे अब पुष्पों में विहार नहीं करना है। वह न केवल काँटों में रहेगी, वरन् स्वयं भी एक कंटक हो जाएगी, ताकि किसी श्येन के वक्ष में गड़कर, उसे नष्ट कर सके।...ऐसी स्थिति में वह दूसरी तितली, उसके साथ आएगी क्या ?"

शैलजा सोचती रही : क्या है राजकुमारी के मन में ? क्या यह कोई प्रेम-प्रसंग है ?...क्या उत्तर दे वह राजकुमारी को—जो राजकुमारी के मनोनुकूल भी हो और राजकुमारी की चिंता भी कुछ कम करे...

अंतत. वह बोली, "दूसरी तितली को यदि पहली से प्रेम होगा, तो वह कंटकों में भी साथ देगी !"

द्रौपदी के अवसन्न आनन पर मैली-सी एक सहज मुस्कान आई, "बावली हो ! दूसरी तितली के पास संपूर्ण उद्यान है, पुष्प हैं, तितलियाँ हैं, पक्षी हैं, झरने हैं, वृक्ष हैं, फल हैं। उसे क्या आवश्यकता है कि वह इस भरे-पूरे संसार को छोड़कर, मात्र एक तितली का सख्य निभाने के लिए कंटकों को ही अपना संसार बना ले ?"

"ऐसे में तो मैं यही कहूँगी कि उसे पहली तितली से प्रेम ही नहीं है।"

द्रौपदी की दृष्टि जैसे शैलजा की आँखों से चिपक गई। जाने वह उनमें बहुत गहरी डूब गई थी, या फिर वह उनके तल से टकराकर ही लौट गई थी और वहाँ थी ही नहीं। उसमें जब स्पंदन आया, तो वह बहुत तरल थी, "प्रेम की बात मैंने कही ही कब पगली ? मैं तो सख्यभाव की बात कर रही हूँ। प्रेम में तो अभी उसकी परिणति हुई ही नहीं थी। यह कंटकित निर्णय पहले ही हो गया।...और फिर शैलजा !" द्रौपदी के मानस में जैसे कोई नया ज्वार आया, "प्रेम तो मुक्त करता है; प्रिय को बाँधता तो नहीं ! यदि किसी को बाँध लिया जाए, तो प्रेम और स्वार्थ में क्या अंतर होगा सखि ?"

"मैं यह सब नहीं जानती राजकुमारी !" शैलजा बोली, "मैं तो प्रेम का एक ही रूप पहचानती हूँ—दूसरी तितली को पहली तितली का साथ निभाना होगा।"

"यदि इसे प्रेम ही मानें सखि !" इस बार द्रौपदी तत्काल बोली, "तो पहली तितली का प्रेम क्या कहता है ? यदि उसका प्रेम ही न चाहे कि दूसरी तितली अपना भरा-पूरा संसार छोड़कर कंटकवन में आए, तो ?"

और शैलजा के मन में जैसे पूछने का साहस जुट आया, "पहली स्त्री ऐसा क्यों चाहेगी ?"

"क्योंकि जिसके जीवन का आधार प्रेम हो, उसे घृणा के आधार पर जीने के लिए कहना पाप है।" द्रौपदी जैसे अपने-आपसे कह रही थी; "उसके मन में किसी के लिए घृणा नहीं है, अपने शत्रुओं के लिए भी नहीं। वह किसी से घृणा कर नहीं सकता।..."

शैलजा उसके चेहरे को ध्यान से देखती रही, जैसे उसकी भंगिमा में से उसके मन को पढ़ने का प्रयत्न कर रही हो; और फिर सहसा बोली, "राजकुमारी! आप कृष्ण की चर्चा तो नहीं कर रहीं ?"

द्रौपदी कुछ नहीं बोली। न उसने स्वीकृति में कुछ कहा, न अस्वीकृति में !

"तुम उसे त्याग दोगी ?"

"त्यागने की बात किसने कही," द्रौपदी जैसे तड़पकर बोली, "मैं उसकी सखी हूँ। सखी ही रहूँगी। संपूर्ण आर्यावर्त के हृदय में स्पंदित अपने सखा को एक व्यक्ति की प्रतिहिंसा का उपकरण नहीं बनने दूँगी।...मैं उसकी सखी हूँ... उसके जीवन को उदात्त धरातल तक नहीं ले जा सकती, तो उसे हीनतर धरातल पर तो नहीं ही खींचूँगी।"

"इसमें हीन क्या है सखि ! क्या कृष्ण ने अपने शत्रुओं का वध नहीं किया ?"

द्रौपदी की दृष्टि में उग्र प्रतिवाद था, "तुम उसे नहीं जानतीं शैलजा ! उसके मन में किसी के लिए भी घृणा नहीं है। अपने शत्रुओं के लिए भी नहीं। जिनका उसने वध किया है, उनके लिए भी नहीं। उसने जब कंस का वध करने के लिए आघात किया, उसके मन में तो तब भी न घृणा थी, न प्रतिहिंसा। वह प्रेम का पारावार है। उसे घृणा से पुकारो, तो भी उसकी प्रतिध्वनि प्रेम की होगी।"

"यह असंभव है !" शैलजा विश्वास नहीं कर पा रही थी।

"एक असंभव का नाम ही गोविन्द है।" द्रौपदी जैसे अपने-आपसे कह रही थी, "वह प्रेम का अथाह सागर है। एक साथ इतने लोगों से प्रेम करने की क्षमता और किसमें है। वह एक व्यक्ति से प्रेम करता है, तो किसी और के प्रेम का अंश उसे नहीं देता। वह उसी का भाग होता है। इसीलिए तो दूसरे के लिए, उसके पास प्रेम का अभाव नहीं होता।"

"पर यह कैसे संभव है कि व्यक्ति जिसका वध करे, उससे भी घृणा न करे ?"

"यह तो वही जानता है। मैं क्या जानूँ, जिसने घृणा को सायास पोषित करने का संकल्प किया है; किंतु यह सत्य है शैलजे ! कि उसके मन में न कंस के लिए घृणा थी, न जरासंध के लिए है। आवश्यकता पड़ने पर वह जरासंध के

हित के लिए भी तत्काल उठ खड़ा होगा। मैंने सुना है कि गोमंत पर्वत पर जब बलराम, जरासंध को मारने ही वाले थे, तो कृष्ण ने उनकी भुजा थाम ली थी।..."

"मैं समझी नहीं !" शैलजा बोली।

"उसे समझो नहीं, उसे अनुभव करो।" द्रौपदी बोली।

द्रुपद की मनःस्थिति कुछ विचित्र-सी हो गई थी। वह स्वयं समझ नहीं पा रहा था कि ऐसा क्या हो गया था कि वह वर्तमान में रह नहीं पा रहा था। वह या तो अतीत में जीता था, या भविष्य में।...अतीत और भविष्य के कुछ विशिष्ट चित्र जैसे उसकी चेतना से चिपककर रह गए थे।...बहुत प्रयत्न करने पर भी न वह उन चित्रों को धूमिल कर पाता था, और न ही अपनी चेतना से उनको मुक्त कर पाता था।

उसका मन अतीत की ओर भटकता था तो उसकी कल्पना में कौरवों का आक्रमण जैसे सजीव होने लगता था। उसे ऐसा लगता था, जैसे शून्य में एक विचित्र प्रकार के सूक्ष्म कण एकत्रित होने लगते थे। वे कण फिर एक पिंड में बदल जाते थे। वह पिंड एक आकृति में परिणत हो जाता था...और वह आकृति द्रोण की उस आकृति के चारों ओर, वट-वृक्ष के निकट उग आई झाड़ियों के समान, कौरव राजकुमारों की आकृतियां उग आती थीं। उन राजकुमारों के पीछे कौरव सेना होती थी। सेना, पांचालों पर आक्रमण कर देती थी। द्रुपद प्रयत्न करता है कि वह अपना धनुष उठाए; किंतु जाने क्या हो जाता है—उसका धनुष उसके उठाए नहीं उठता; उठ जाए तो उसकी प्रत्यंचा टूटी हुई मिलती है। प्रत्यंचा चढ़ जाए, तो तूणीर में एक भी बाण नहीं मिलता।...द्रुपद बहुत चिल्लाकर धृष्टद्युम्न को पुकारना चाहता है, तो उसके कंठ से वाणी ही नहीं निकलती।...और कौरवों की सेना, जैसे उस पर छाती चली जाती है। उस सेना के आगे-आगे है—अर्जुन !...अर्जुन, जिसके एक संकेत पर, जैसे बाणों की झड़ी लग जाती है। अर्जुन, बढ़ता ही चला आता है।...उसे कोई रोक नहीं पाता। उसके मार्ग में जो कोई भी आता है, अर्जुन उसके आर-पार निकल आता है, जैसे उसके सम्मुख कोई ठोस पदार्थ न हो, केवल वायु हो। और फिर जब तक अर्जुन द्रुपद के निकट पहुंचता है, वह एक मोटी रस्सी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह रस्सी द्रुपद के हाथों, पैरों को ही नहीं, सारे शरीर को लपेटती चलती है, जैसे रस्सी न हो—नागपाश हो।...बंधा हुआ, असहाय द्रुपद, धरती पर किसी जड़ पदार्थ के समान पड़ा है और कहीं से द्रोण और अर्जुन प्रकट हो जाते है। अर्जुन घुटनों के बल बैठकर अपने गुरु के सम्मुख हाथ जोड़ देता है और द्रोण

अपना दाहिना पैर बँधे हुए द्रुपद के वक्ष पर रखकर अर्जुन की ओर आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठा देता है।

द्रुपद का सारा शरीर स्वेद में नहा जाता है। वह स्वयं को झकझोरकर जैसे स्वप्न से जगाता है। जागने के पश्चात भी जैसे उस दु:स्वप्न का प्रभाव नष्ट नहीं होता और द्रुपद का मन उससे मुक्ति पाने के लिए भविष्य बुनने लगता है···

वह देखता है कि वह एक विराट यज्ञ-कुंड के सामने खड़ा है और अग्नि से प्रार्थना कर रहा है। सहसा कुंड में से एक जाज्वल्यमान रथ प्रकट होता है। उसके घोड़े अग्नि की लपटों के बने हुए हैं; रथ भी किसी तप्त धातु का ही बना हुआ है; और उसका रथी है, स्वयं धृष्टद्युम्न! धृष्टद्युम्न अग्नि के कवच से मंडित है और आपादमस्तक अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित है। धृष्टद्युम्न का रथ पृथ्वी पर नहीं चलता। वह वायु में पक्षी के समान उड़ता भी नहीं है। वह वायु में मछली के समान तैरता है। इसलिए वह सेनाओं के ऊपर से नहीं उड़ता—सेनाओं को काटता हुआ, उनके मध्य में से बहुत तीक्ष्ण खड्ग के समान निकल जाता है। धृष्टद्युम्न की आँखें, रक्त के समान लाल हैं। उनमें किसी की कोई पहचान नहीं है। वे जिधर देखती हैं, उधर ही रक्त की वर्षा होने लगती है··· और धीरे-धीरे धृष्टद्युम्न, अर्जुन की ओर बढ़ता है···अर्जुन उस पर बाण चलाता है; किंतु वे बाण वायु में ही कहीं खो जाते हैं। वे धृष्टद्युम्न तक पहुँचते ही नहीं हैं। धृष्टद्युम्न की दृष्टि अर्जुन पर पड़ती है और अर्जुन रक्त में नहा उठता है। धृष्टद्युम्न उसके निकट पहुँचता है और अपने लंबे खड्ग से अर्जुन के दो टुकड़े कर देता है···

द्रुपद का हृदय चीत्कार कर उठता है, "यह तुमने क्या किया धृष्टद्युम्न? यह तुमने क्या किया?"

"क्या हुआ पिताजी?" धृष्टद्युम्न की रक्तिम आँखें पिता की ओर उठती हैं, "क्या शत्रु का वध अनुचित है? अधर्म है? अन्याय है?"

"किंतु वह शत्रु कहाँ था पुत्र?" द्रुपद रुँधे कंठ से कहता है, "तुम नहीं जानते, युद्ध में जब भीम ने पांचाल सेना का संहार आरंभ किया था, तो उसने क्या कहा था?"

"क्या कहा था पिताजी?"

"उसने कहा था, 'हम पांचालों के शत्रु नहीं हैं। हम उनका नाश करने नहीं आए हैं। हम तो केवल गुरु-दक्षिणा चुकाने आए हैं।'" द्रुपद चीत्कार कर उठता है, "ऐसा भी कोई योद्धा तुमने देखा है पुत्र, जो युद्ध भी करता है और मन में शत्रुता तथा वैर भी नहीं रखता! उसके मन में घृणा नहीं होती, द्वेष नहीं होता। वह तो मात्र कर्म करता है।"

द्रुपद की आँखों में अश्रु आ जाते हैं। उसकी समझ में नहीं आता कि उसके

मन में क्या है।...अपने उस सारे अपमान के पश्चात् भी...अर्जुन के मन में उसके प्रति वैर नहीं है...या उसके मन में अर्जुन के लिए कोई विरोध नहीं है...

20

युवराज्याभिषेक से प्राय: एक सप्ताह पूर्व उद्धव हस्तिनापुर पहुँच गया था। वह स्वयं को कृष्ण के आने की पूर्वसूचना कहता था। उद्धव हस्तिनापुर में आ गया था, इसका अर्थ था कि कृष्ण भी आ रहा है। कुंती और पांडवों ने उद्धव को भी पहली ही बार देखा था। जब से अक्रूर आए थे, तब से अपने मायके के प्रति कुंती का वर्षों से दमित भाव जैसे पूर्ण तीव्रता से जाग उठा था। जिनके विषय में उसने न कभी एक शब्द कहा था, न पूछा था: अब उनके विषय में भी उसके मन में लगातार जिज्ञासाएँ उमड़ती रहती थीं। वह कुरेद-कुरेदकर एक-एक व्यक्ति और एक-एक घटना के विषय में पूछती थी; और फिर अपने पुत्रों को बताती थी। पांडवों का भी अपने ननिहाल के प्रति मोह बहुत बढ़ गया था। अब तक तो न चाहते हुए भी कहीं उनके मन में यह धारणा घर किए हुए थी, कि राज-समाज में उन्हें दुर्योधन के समतुल्य नहीं माना जाता था। दुर्योधन के पिता राजा थे; पांडवों ने तो अपने पिता को साधक-रूप में ही देखा था; और अब तो वे थे ही नहीं। दुर्योधन, राजकुमारों के समान, अपने प्रासाद में पला था और उसने राज-गुरु कृपाचार्य से शिक्षा ग्रहण की थी। वे तो वनों में ऋषि-मुनियों से अध्यात्म की ही शिक्षा पाते रहे थे। दुर्योधन का ननिहाल गंधार में था, और उसका मामा हस्तिनापुर में बैठा था; पांडवों के नाना और मामा की कोई चर्चा हस्तिनापुर के राजप्रासादों में कभी हुई ही नहीं थी। किंतु अब स्थिति काफी बदल गई थी। पांडवों का अपने ननिहाल से संपर्क हुआ, तो उनका संबंध इतनी तीव्रता और सघनता से बढ़ा कि सावन के समान सब ओर व्याप्त हो गया। इन दिनों, चारों ओर यादवों की शक्ति की चर्चा थी। स्थान-स्थान पर उनके कृत्यों के गौरव-चिह्न प्रदर्शित हो रहे थे। उनके रथ जिस दिशा में चलते, उस दिशा के सारे राज्य थर्रा उठते थे। कुंती को लगता था कि युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक भी यादवों के शक्ति-प्रदर्शन के कारण ही हो रहा है। यदि अक्रूर न आए होते और उन्होंने कौरवों की राजसभा में आत्मीयता के स्नेह में ही सही, वे धमकियाँ न दी होतीं, तो धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर का राज्याभिषेक कभी न होने देता।

अभिषेक से दो दिन पहले कृष्ण भी, बलराम और अपने कुछ मित्रों के साथ हस्तिनापुर आ पहुँचा। कृष्ण का हस्तिनापुर आना अपने-आपमें एक समारोह

हो गया। कृष्ण के हस्तिनापुर आने से पहले उसकी कीर्ति वहाँ पहुँच चुकी थी। पथों के दोनो ओर लोग उसके दर्शन करने के लिए प्रहरों बैठे रहे थे। जिस समय वह आया, उस समय हस्तिनापुर के नगर-द्वार पर असाधारण भीड़ थी और मार्ग तो एकदम अटे पड़े थे। लगता था कि मुख्य उत्सव युवराज्याभिषेक का नहीं, कृष्ण के आगमन का ही था।

यद्यपि दुर्योधन भी कृष्ण तथा बलराम के स्वागत के लिए नगर-द्वार पर आया था; किंतु कृष्ण ने राजप्रासाद मे ठहरना उचित नहीं समझा। वह अपनी बुआ और उनके पुत्रों के साथ ही ठहरना चाहता था। और बलराम को तो ठहरना ही कृष्ण के साथ था।

कुंती ने अपने घर के द्वार पर ही कृष्ण का स्वागत किया। कृष्ण, चरण-स्पर्श के लिए झुका, तो कुंती ने उसे कंधो से पकड़कर उठा लिया। उसे कंधों से थामे-थामे ही जैसे मौन-मूक उसका निरीक्षण किया और बोली, "तुम ही हो मेरे भाई और भाभी के तारणहार! तुमने ही उनके प्राण बचाए हैं, और उन्हें जीवनदान दिया है! पुत्र! तुमने ही भैया अक्रूर को भेजा और अब स्वयं आए हो। तुम्हें शायद ज्ञात भी न हो कृष्ण! कि हम भी यहाँ एक खुले कारागार मे बंदी थे। हमें भी तुमने ही छुड़ाया है पुत्र।…"

कुंती का कंठ अवरुद्ध हो गया। उसकी आँखों से अश्रु बह निकले; और उसने अपना मस्तक कृष्ण के कंधे से टिका दिया।

"बुआ!" कृष्ण के स्वर में असीम स्नेह था, "मैं जानता हूँ कि मेरी माँ के पश्चात यदि कोई दुखिया नारी है, तो वह तुम हो। मेरी माता ने अपने पुत्र गँवा दिए; और तुम सदा उसी संकट से आशंकित रही। मृत्यु के भय की छाया मे जीना, मृत्यु से कम कष्टप्रद है क्या! किंतु अब चिंता न करो बुआ! पाँच पुत्र तुम्हारे ये है; और दो हम हैं। हम सातों मिलकर संसार मे धर्म संस्थापना करेंगे। अत्याचारियों ने संसार के जितने भी कारागार बनाए हैं, हम उन सबको भंग कर देंगे।"

कुंती को पता ही नही चला कि कब उसका रोना थम गया और कब कृष्ण उसे अपनी बाँहों मे समेटे-समेटे भीतर ले आया। कुंती को लगा, आज तक इतनी आश्वस्त वह किसी के शब्दो से नहीं हुई थी। किसी के कंधे पर मस्तक टिकाकर, उसे न इतना आत्मबल मिला, और न इतना सुख! अपने पुत्रों के कंधों से तो उसने कभी अपना मस्तक टिकाया ही नही था।…यह कृष्ण तो चमत्कार ही है…

"तुम भी मेरे पुत्र हो कृष्ण!" कुंती बोली, "तो मेरे ही पास रहो। अपने इन भाइयों के साथ!"

"बुआ! तुम भी बंधन बाँधने लगी।" कृष्ण मुस्कराया, "हम बंधन काटने

की बात कर रहे थे, बंधन बांधने की नहीं।"

"प्रेम तो बांधता ही है पुत्र !" कुंती बोली, "देखो ! मैंने अपने प्रेम में इन पांच पुत्रों को बांध रखा है। अब मैं तुम्हें भी बांध लेना चाहती हूं।"

"नहीं बुआ !" कृष्ण पुनः मुस्कराया, "तुमने अपने 'स्व' के घेरे को शिथिल कर, उसे विस्तृत किया; और अपने इस आत्मविस्तार में इन्हें पा लिया। अब तुम अपने 'स्व' का और भी विस्तार कर रही हो—मुझे और भैया को पाने के लिए। हम जिससे प्रेम करते हैं, उसे मुक्त करते हैं बुआ ! बांधते नहीं। प्रिय को सीमित नहीं करते, अपना विस्तार करते हैं। जैसे यदि अब मैं कहूं कि बुआ ! मैं थका हुआ हूं, विश्राम करना चाहता हूं; तो तुम कहोगी, 'जाओ पुत्र ! विश्राम करो।' यह कभी नहीं कहोगी, 'नहीं कृष्ण ! तू विश्राम नहीं कर सकता।' "

कुंती ने भुजा में भरकर, उसे अपने कंठ से लगा लिया, "मैंने ठीक ही सुना था पुत्र ! कि तू मोहन नहीं, साक्षात् सम्मोहन है।"

"कृष्ण !" विश्राम करने के लिए लेटे हुए भीम ने कोहनियों के बल, स्वयं को उचकाया, "जब से मातुल अक्रूर से तुम्हारे विषय में बात हुई है, मेरे मन में कुछ प्रश्न बहुत ही उछल-कूद मचा रहे हैं। सोचता हूं कि अपने मस्तिष्क को अधिक कष्ट न देकर, उनके विषय में तुमसे ही पूछ लूं।"

"अवश्य पूछो मध्यम !" कृष्ण ने सहास कहा, "वैसे भी मस्तिष्क को अधिक कष्ट देना, तुम्हारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं होगा।"

"सब यही समझते हैं, किंतु यह भूल जाते हैं कि जहां भीम का मस्तिष्क चलता है, वहां और किसी का नहीं चलता।"

"ऐसा कोई सोचता नहीं मध्यम ! यह सब तो केवल तुम्हारे स्वभाव की विनोदप्रियता का आनंद लेने के लिए ही कहा जाता है।" कृष्ण ने कहा, "अब तुम जल्दी अपना प्रश्न करो, अन्यथा मुझे नींद आ जाएगी।"

"मातुल अक्रूर कह रहे थे कि तुम कहते हो कि कर्म का फल अवश्य मिलता है।"

"हां !" कृष्ण के स्वर में पूर्ण आस्था थी, "अवश्य मिलता है।"

"तो यह बताओ कि हमने आज तक दुर्योधन के साथ भलाई ही भलाई की है; उसका फल हमें क्या मिला ! उसने बदले में हमारी क्या भलाई की ? उसका वश चले तो वह आज ही हमारी हत्या कर दे।" भीम ने जैसे उपालंभ के रूप में कहा।

कृष्ण क्षण-भर चुप रहा, जैसे कोई युक्ति सोच रहा हो; फिर बोला, "मध्यम ! तुमने कभी कंदुक-क्रीड़ा में भाग लिया है ?"

"हाँ ! क्यों नहीं ! अपनी बाल्यावस्था में मैं गेंद से बहुत खेला करता था।"

"तो मध्यम ! यह बताओ कि यदि गेंद को किसी पक्की दीवार पर मारा जाए, तो वह लौट क्यों आती है ?"

"अरे ! उछलना तो गेंद की प्रकृति है।" भीम बोला।

"बात समझने की सुविधा के लिए ऐसा ही मान लो ! कर्म को भी एक गेंद ही समझो, जो जीवन-रूपी दीवार पर फेंका जाए, तो उसका फल वैसे ही लौट-कर आता है।" कृष्ण बोला, "सहमत हो न ?"

"सहमत हूँ भाई !"

"तो हम यह मान लेते हैं कि नियम यह हुआ कि गेंद को जिस वेग से दीवार पर फेंका जाएगा, उतने ही वेग से गेंद लौटकर वापस आएगी।"

"ठीक है।"

"अब इस प्रक्रिया का विश्लेषण करो।" कृष्ण ने कहा, "जो गेंद दीवार पर मारी गई, वह किस पदार्थ की बनी है। उसमें कितनी वायु भरी हुई है; और दीवार किस वस्तु की बनी हुई है। उस गेंद के स्थान पर यदि हम लोहे का गोला फेंकेंगे, तो क्या वह लौटकर आएगा ?"

"नहीं !" भीम ने कहा।

"यदि गेंद को हम बालू के ढेर पर मारेंगे, तो क्या वह लौटकर आएगी ?"

"नहीं !"

"और यदि हम उसे कीचड़ में मारेंगे, तो न केवल गेंद लौटकर नहीं आएगी, हम पर कीचड़ के छींटे भी पड़ेंगे।" कृष्ण ने कहा, "समझे मध्यम ?"

"समझ गया कि दुर्योधन दीवार नहीं है, जो गेंद को लौटा दे।"

"ठीक समझे !" कृष्ण मुस्कराया, "दूसरी बात यह भी समझो कि गेंद, दीवार, बालू, लोहे का गोला, कीचड़—इन सबमें से कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं है। प्रकृति के नियमों में बँधे ये सब पदार्थ स्वधर्म के अनुसार व्यवहार करते हैं। हम काँटे को स्नेहपूर्वक अपने हाथ से सहलाने का प्रयत्न करें और काँटा हमारी अँगुली में गड़ जाए, तो काँटे से रुष्ट होकर बुरा-भला नहीं कहना चाहिए। काँटे से तो और कुछ अपेक्षित ही नहीं है। हुआ केवल यह है कि हमने प्रकृति के उस नियम का ध्यान नहीं रखा और काँटे से अपनी इच्छानुसार व्यवहार चाहा है। यह तो प्रकृति के नियमों पर अपनी इच्छा का आरोपण है। समझे मध्यम ?"

कृष्ण ने भीम की ओर देखा वह ऐसे निश्चिंत खर्राटे ले रहा था, जैसे उसे सोए हुए, बहुत समय व्यतीत हो गया हो !

"भैया कृष्ण !" सहदेव बोला, "मध्यम को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया है। उससे अधिक चिंतन में उनकी रुचि ही नहीं है।"

कृष्ण मुस्कराया, "वही देख रहा हूँ।"

"अच्छा ! मुझे एक बात बताओ भैया ! हमारे गुरुओं ने हमें यह क्यों नहीं सिखाया, जो तुम बता रहे हो ?" सहदेव उठकर कृष्ण के पास चला आया, "उन्होंने सदा यही क्यों सिखाया कि सबके प्रति अच्छा व्यवहार करो । उन्होंने यह क्यों नहीं सिखाया कि गेंद केवल दीवार पर फेंको, कीचड़ में नहीं; स्नेह-भरा हाथ केवल पुष्प के निकट ले जाओ, कंटक के नहीं ?"

"उन्होंने तुम्हें जो कुछ पढ़ाया, वह नीतिशास्त्र है।" कृष्ण बोला, "नीतिशास्त्र हमारे समाज के दीर्घकालीन अनुभवों का निष्कर्ष होता है, उसका विश्लेषण नहीं ! प्रत्येक व्यक्ति इस योग्य नहीं होता अथवा प्रत्येक व्यक्ति के पास इतना समय और समझ नहीं होती कि वह विश्लेषण करे, नियमों को समझे और तब निष्कर्षों पर पहुँचे; इसलिए उसे केवल निष्कर्ष बता दिए जाते हैं, कि उसका व्यवहार कैसा हो।"

"पर मुझे यह बताओ," इस बार अर्जुन बोला, "कि दुर्योधन ने हमारे प्रति जो अपराध किए, या अपनी प्रजा के प्रति जो अत्याचार किए, उनका उसे क्या दंड मिला ?" अर्जुन के स्वर में हल्की-सी कटुता थी, "उसके अधिकार बढ़ते गए, उसकी सुख-समृद्धि का विकास हुआ। उसका अहंकार स्फीत होता गया। उसे आज तक किसी ने भी तो दंडित नहीं किया। उसे तो अपनी दुष्टताओं का लाभ ही हुआ है।"

"प्रकृति में न दंड है, न पुरस्कार।" दंड और पुरस्कार का विधान तो मानव-समाज का बनाया हुआ है। प्रकृति में तो कर्म तथा नियमानुसार उसका फल है। क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया है। यदि कृषक अपने क्षेत्र में बीज बोता है, उसकी भली प्रकार देख-भाल करता है और उपज अच्छी होती है, तो हम कहते हैं कि प्रकृति ने उसे पुरस्कार दिया है; और यदि वह कृषि-कर्म पूरा नहीं करता, कहीं किसी प्रकार की असावधानी करता है, तो उपज नष्ट हो जाती है, तो हम कह देते हैं कि प्रकृति ने उसे दंडित किया है। वस्तुतः प्रकृति न तो उससे प्रसन्न है, न रुष्ट; वह न उसे पुरस्कृत करती है, न दंडित ! वह तो केवल अपने नियमों का पालन कर रही है। और यदि हम अपनी सुविधा के लिए उसे पुरस्कार और दंड की संज्ञाएँ दे भी लें, तो भी हमें समझना चाहिए कि मनुष्य तथा प्रकृति द्वारा किसी को दंडित अथवा पुरस्कृत करने की विधि में बहुत अंतर है। मनुष्य तत्काल ही किसी को दंडित अथवा पुरस्कृत करता है किंतु प्रकृति की प्रतिक्रिया का अपना काल-विस्तार होता है। वह निश्चित रूप से मनुष्य के काल-विस्तार से बहुत अधिक व्यापक और विस्तृत है। मनुष्य का जीवन-काल कुछ वर्षों का है, जबकि प्रकृति का काल-विस्तार अनंत है।"...

"तो तुम कहना चाहते हो कि हम किसी को दंडित ही न करें ?" अर्जुन ने पूछा।

"नही ! मैंने तो ऐसा कुछ नही कहा।" कृष्ण बोला, "मनुष्य हो, समाज हो अथवा प्रकृति हो—उन सबका दंड-विधान, अपनी रक्षा के लिए होता है। हमें तत्काल अपनी रक्षा की आवश्यकता होती है, इसलिए हम तत्काल दंड-विधान करते हैं—प्रकृति को क्रमशः अपनी रक्षा की आवश्यकता होती है, इसलिए प्रकृति क्रमशः दंड का विधान करती है।"

"दुर्योधन के दंड के विषय में क्या कहते हो ?" युधिष्ठिर पहली बार वार्तालाप में सम्मिलित हुआ।

"एक व्यक्ति जिसके पास पेय जल का एक निर्मल सरोवर हो, यदि भूमि के लोभ में, उस सरोवर में कुछ मिट्टी डालकर उसे पाटने का प्रबंध करता है; और यदि उसे कोई इस कार्य से रोकता नही है, तो अंततः वह व्यक्ति सारा सरोवर पाट डालेगा। फिर वह, उस निर्मल जल को पुनः प्राप्त करने के लिए, या तो उतनी ही मिट्टी पुनः खोदेगा, जितनी उसने डाली थी, अथवा प्यास से तड़प-तड़पकर मर जाएगा।" कृष्ण बोला, "आजकल दुर्योधन अपने लोभ में सरोवर को पाट रहा है। वह सरोवर केवल उसका नही, संपूर्ण कुरुकुल का है। यदि कुरुकुल ने उसे उस सरोवर को क्रमशः गँदला करने, कीचड़ बनाने और अंततः सर्वथा पाट देने से नहीं रोका, तो संपूर्ण कुरुकुल या तो वह सरोवर पुनः खोदेगा अथवा प्यास से तड़प-तड़पकर मर जाएगा; क्योंकि निर्मल जल तो सबको चाहिए ही।"

"उस एक व्यक्ति के अपराध का दंड सारा कुरुकुल पाएगा ?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"नही ! अपराधी केवल वही तो नही है, जो अपराध कर रहा है। अपराधी वह भी है, जो क्षमता होते हुए भी उसे रोकता नहीं; वह भी है, जो उसे देखता है, किंतु उसे रोकना अपना दायित्व नही मानता।···वे सब लोग अपने-अपने कर्म का फल पाएँगे।" कृष्ण क्षण-भर रुका, "और वैसे भी दिन-रात षड्यंत्रों में लिप्त, ईर्ष्या-द्वेष और घृणा में जलता हुआ, अहंकार के उन्माद में मत्त व्यक्ति मुझे तो सुखी नही लगता। मैं कैसे मान लूँ कि वह अपने कृत्यों के फलस्वरूप सुख की नींद सो रहा होगा···।"

'तुम लोग सो नही रहे !" सहसा कुंती ने कक्ष में प्रवेश किया, "देखो, बलराम और भीम कैसे सुख से सो रहे हैं। तुम लोग भी सो जाओ ! प्रातः तुम लोगों को अपने पितामह से मिलने भी जाना है।"

प्रातः कृष्ण और बलराम भीष्म से मिलने, उनके भवन में गए।

सूचना मिलते ही उत्सुकतावश भीष्म स्वयं बाहर निकल आए; देखें तो सही कि वे कृष्ण और बलराम कैसे हैं, जिन्होंने अकेले ही अनेक साम्राज्यों को

हिला रखा है।

बलराम बड़ा भी था, लंबा भी और बलिष्ठ भी ! किंतु अपने शरीर की सारी विराटता के होते हुए भी, वह अबोध-सा बालक ही दीख रहा था, जैसे किसी बालक का शरीर असाधारण रूप से बड़ा हो जाय। कृष्ण का रूप आकर्षक था; नयनों में असाधारण चैतन्य था; और शरीर सुगठित और सुंदर था। वह अर्जुन का समवयस्क होगा और उसका वर्ण भी कुछ-कुछ अर्जुन जैसा ही था।

दोनों भाइयों ने भीष्म के चरणों में प्रणाम किया।

भीष्म उन्हें अपने साथ अपने कक्ष में ले आए, "मैंने तुम्हारी बहुत प्रशंसा सुनी है कृष्ण !" भीष्म बोले, "अक्रूर ने मुझसे कहा था कि तुमने न केवल यादवों को अत्याचार से मुक्ति ही दिलाई है, वरन् आत्मरक्षा के लिए बल, तथा जीवन के लिए नया लक्ष्य भी दिया है।"

"मेरी प्रशंसा कर, काका को सुख मिलता है।" कृष्ण मुस्कराया, "प्रशंसा तो मैंने आपकी सुनी है पितामह ! सारा आर्यावर्त्त आपको अटल हिमालय के रूप में देखता है।"

"उन्हें यह पता नहीं है कि बाहर से अटल दिखने वाले इस हिमालय के मन में कितने संकल्प-विकल्प हैं, कितने ऊहा-पोह हैं, कितने संशय और प्रश्न हैं।" भीष्म बोले, "कृष्ण ! अक्रूर के जाने के पश्चात, जाने क्यों मैं अपनी और तुम्हारी तुलना करता रहा, यद्यपि तुमसे मेरी कोई स्पर्धा नहीं है पुत्र !"

कृष्ण खिलखिलाकर हँस पड़ा, निर्दोष और उन्मुक्त हँसी, "मेरी तो आप से स्पर्धा है न पितामह !"

"कैसी स्पर्धा ?" भीष्म ने आश्चर्यमिश्रित स्वर में पूछा।

"बड़ों के साथ स्पर्धा तो बड़े होने की ही होती है !" कृष्ण मुस्कराया, "आपकी दृढ़ता, आपका प्रतिज्ञा-पालन।...सारा आर्यावर्त्त आपका यशोगान कर रहा है पितामह !"

भीष्म सावधान हो गए : कृष्ण के विषय में उन्होंने बहुत कुछ सुना था—वह इसी प्रकार लुभाकर, रिझाकर, सबके मन में प्रवेश पा जाता था। किंतु भीष्म को अपने विवेक को स्थिर रखना था।...पर किससे सावधान रहना है उनको ? इस कृष्ण से ?...

भीष्म ने जैसे कृष्ण को पुनः देखा : उनके पौत्रों का समवयस्क यह तरुण—कितना भिन्न है, उन सबसे ! उन्होंने सोचा था कि वह कोई बहुत धीर-गंभीर, आत्मलीन-सा व्यक्ति होगा ! किंतु वह तो भीम से भी अधिक सरल है; और पर-भाव तो जैसे उसमें है ही नहीं। न दूरी है, न तटस्थता। सर्वथा आत्मीय ! जैसे अपने ही परिवार का कोई तरुण !...उसके चेहरे और मन पर कहीं भीष्म की वयस्था या गुरुता का कोई आतंक नहीं था। वह तो सर्वथा समान धरातल

पर व्यवहार करने वाला व्यक्ति है।···समान धरातल भी क्या···वह तो उन्हें अपना ऐसा पौत्र लग रहा था, जो युवा था, इसलिए असमर्थ नहीं था। वह वार्द्धक्य का सम्मान करते हुए, चरण छूकर प्रणाम भी करता था; और वार्द्धक्य की असमर्थता का बोध कराते हुए, उन्हें अपने कंधे पर उठा भी सकता था। वह तो बालक भी है; और वृद्ध भी···

"आप मुझसे अपनी तुलना किस विषय में कर रहे थे पितामह ?"

भीष्म ने अपना मन आज तक इस प्रकार खोलकर किसी के सम्मुख नहीं रखा था। किसके सामने रखते ? सब उनसे छोटे थे, उनका सम्मान करते थे। भीष्म अपनी दुर्बलता, किसके सामने प्रकट करते—किसको अपना समवयस्क मानकर उससे अपनी समस्याओं की चर्चा करते !···आज मिला था उनको अपना समवयस्क ! वह सामने बैठा पूछ रहा था। आज भी भीष्म यदि नहीं खुले, तो फिर शायद खुलने का अवसर कभी न आए···

"अक्रूर ने कहा था कृष्ण ! कि तुम्हें राज्य नहीं चाहिए। तभी मेरे अहंकार ने तुलना की थी, कि राज्य तो मुझे भी नहीं चाहिए। मैंने तो वर्षों पहले यह राज्य त्याग दिया था; किंतु लगता है, कि राज्य ने तो मुझे आज तक नहीं त्यागा ! मैं इससे मुक्त क्यों नहीं हो पा रहा ?"

"आप कदाचित् मेरी परीक्षा ले रहे हैं पितामह !" कृष्ण शिशु भाव से, उन्मुक्त रूप से हँसा, "जिसके समान रक्षक, संसार का प्रत्येक राज्य खोज रहा है, उसे हस्तिनापुर मुक्त कैसे कर देगा ! लोहा तो चुंबक को नहीं छोड़ेगा, चुंबक ही उसे पकड़ना छोड़ दे, तो छोड़ दे।"

"चाटुकारिता कर रहे हो।" भीष्म को पता ही नहीं चला कि कब वे अपनी गहन-गंभीरता त्याग, कृष्ण के समान ही बालक हो गए, "मैं तो कब से सोच रहा हूँ कि ये बच्चे हस्तिनापुर को सँभाल लें, तो मैं इस राज-काज से मुक्ति पाऊँ।"

"त्याग का विषय पदार्थ नहीं है पितामह !" कृष्ण सहज भाव से बोला, "त्याग का विषय तो आसक्ति है।"

भीष्म का चिंतन-प्रवाह जैसे थम गया। उन्हें क्षण-भर के लिए लगा कि उनके सम्मुख वासुदेव कृष्ण नहीं, कृष्ण द्वैपायन व्यास बैठा है।···नहीं ! यह उनका भ्रम था। उनके सामने तो कृष्ण वासुदेव ही बैठा था, किंतु उसके स्थान पर कृष्ण द्वैपायन भी होता, तो निश्चय ही कुछ ऐसी ही बात कहता।···उन्होंने अवाक् दृष्टि से कृष्ण को देखा - क्या वह चाहता है कि वे हस्तिनापुर की चिंता भी छोड़ दें ? वह अरक्षित होता है, होता रहे; उसमें कलह पनपती है, पनपती रहे ?

"आसक्ति मुझे राज्य में नहीं, अपने वंश में है पुत्र ! अब यह तो नहीं हो सकता कि मैं अपनी आँखों के सामने अपने पूर्वजों द्वारा संचित इस राज्य को

खंडित, पराजित या अपमानित देखूं !"

"तो आपको और अर्जित करने की लालसा चाहे न हो, किंतु पिछले संचित का मोह अवश्य है। उसका त्याग आप नहीं कर सकते।" कृष्ण मुस्कराया।

"संचित का त्याग करने के लिए ही तो योग्य पात्र ढूंढ़ रहा हूं।" भीष्म बोले, "अब युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक हो जाए; वह अपने स्थान पर स्थिर हो जाए। राज्य को सब ओर से संभाल ले, तो सोचता हूं कि मैं भी जाकर, वनवास करूं।"

"उसमें तो बहुत समय लगेगा पितामह !" कृष्ण बोला, "जहां तक मैं समझता हूं, दुर्योधन, युधिष्ठिर को इतनी जल्दी स्थिर नहीं होने देगा।"

"यही तो कठिनाई है।" भीष्म जैसे किसी चिंता में पड़ गए, "मैंने इनको क्या नहीं समझाया, कौन-सा प्रयत्न नहीं किया; किंतु दुर्योधन के मन से पांडवों का विरोध नहीं गया।"

"पितामह ! क्या आपको नहीं लगता कि जब समीर, पुष्प को अपने कोमल करों से छूता है, तो पुष्प उसे अपनी सुगंध अर्पित करता है; किंतु वही समीर जब श्मशान से होकर निकलता है, तो श्मशान उसे शवों की चरायंध ही देता है।" कृष्ण बोला, "दुर्योधन ने आपके प्रेम के समीर को अपनी प्रकृति की दुर्गंध ही अर्पित की है।"

"मैं क्या करूं !" भीष्म का रोष उनके स्वर में मुखरित हुआ, "मैं इनसे इतना प्रेम करता हूं कि मैं उन्हें साधारण जन के समान दंडित भी तो नहीं कर सकता।"

कृष्ण मुस्कराया, "प्रेम में आसक्ति नहीं होती पितामह ! आसक्ति से केवल मोह उत्पन्न होता है। जिसके प्रति प्रेम होता है, उसे हम कुमार्ग पर पग नहीं धरने देते; किंतु मोह तो हमारे हाथ-पांव ही नहीं, विवेक को भी बांध देता है। मोह में किसी का हित नहीं है पितामह ! न आपका, न दुर्योधन का, न हस्तिनापुर का !"

भीष्म को लगा, कृष्ण शायद ठीक ही कह रहा था—वे धृतराष्ट्र के कारण ही नहीं, कदाचित् अपने कारण भी दुर्योधन को कभी रोक नहीं पाए।...किंतु इस समय उनका मन शायद इस समस्या पर विचार नहीं करना चाहता था—उनके मन में और बहुत सारे प्रसंग और विषय थे, जिनके संबंध में वे कृष्ण से चर्चा करना चाहते थे...

"मेरी समस्या यह है पुत्र !" भीष्म का मन वर्षों से अपनी गुंजलकों में दमित समस्या को बलात् कृष्ण के सम्मुख प्रकट कर देना चाहता था—अवसर नहीं था, तो भी; कृष्ण सुनना न चाहता हो, तो भी !..."कि विचित्रवीर्य के पश्चात् जब हस्तिनापुर का राजा चुनने का अवसर आया, तो मैंने यह निर्णय किया कि दृष्टि-

हीन धृतराष्ट्र, राजा होने के योग्य नहीं है।···"

"आपको अपने निर्णय पर पश्चात्ताप हो रहा है क्या ?"

भीष्म को लगा, कृष्ण उनके मन को, किसी ग्रंथ के समान पढ़ रहा है। ·· उन्हें कुछ संकोच हुआ।···उनके मनोग्रंथ में वह पृष्ठ था अवश्य ! किंतु वे कृष्ण के सामने वह पृष्ठ नहीं रखना चाहते थे। बोले, "कृष्ण ! समस्या पश्चात्ताप की नहीं है। मेरी समस्या सदा द्वंद्व की रही है पुत्र ! मैं आज भी मानता हूँ कि जो मेरा धर्म था, वही मैंने किया। किंतु, वह विधाता, जाने मेरे साथ कैसी क्रीड़ाएँ करता है पुत्र ! पांडु जीवित नहीं रहा; और धृतराष्ट्र को राजा न होने पर भी राजा के अधिकार सौंपने पड़े। ··और अब इतने वर्षों का धृतराष्ट्र का शासन साक्षी है कि धृतराष्ट्र ने युद्ध चाहे न किए हों; उसकी नीतियाँ चाहे कितनी विवादास्पद रही हों; किंतु शासन-चक्र थमा नहीं है।···इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी अंधता शासन-कर्म में बाधा नहीं थी; और सिंहासन पर बैठने का अधिकार धृतराष्ट्र का ही था। तो क्या मैंने धृतराष्ट्र के साथ अन्याय किया है ? यदि वह अन्याय था, तो अब उसका प्रतिकार भी होना चाहिए। धृतराष्ट्र को हस्तिनापुर का वास्तविक राजा माना जाना चाहिए; और उसके पुत्र दुर्योधन को युवराज बनाया जाना चाहिए।···" भीष्म ने कृष्ण की ओर देखा; वह शांत-भाव से बैठा, पूर्ण तन्मयता से उनकी बात सुन रहा था। न उसमें किसी निर्णय तक पहुँचने की व्यग्रता थी, न वह उनकी बात बीच में काटकर, कुछ कहना या पूछना चाहता था। लगता था, न अतीत उसे उद्वेलित कर रहा था, न वह भविष्य से आशंकित था। वह तो पूर्णतः वर्तमान में जी रहा था।···भीष्म ने अपनी बात आगे बढ़ाई, "दूसरी ओर, प्रजा और राजसभा की वर्तमान स्थिति मेरे सामने है। कुरुओं की राजसभा में पहले जो शालीनता, गंभीरता, विद्वत्ता और सात्विकता हुआ करती थी—धृतराष्ट्र के राज्य में वह सारी की सारी नष्ट हो चुकी है। कणिक और पुरोचन जैसे लोग महत्त्वपूर्ण हो गए हैं—कौरवों के राज्य के कर्णधार ! दुर्योधन, दुःशासन और उसके मित्रों—कर्ण और अश्वत्थामा जैसे लोगों—में सामान्य शील और शिष्टाचार भी नहीं है। फिर धृतराष्ट्र इस धूर्त शकुनि की बातों को महत्त्व भी बहुत अधिक देने लगा है। विदुर इस राजसभा में आज तक कैसे टिका है, मुझे इस पर आश्चर्य होता है। लगता है, वह कुरुओं की राजसभा नहीं, दुर्वृत्तों की मंडली है।···राजसभा की वर्तमान स्थिति यह सिद्ध करती है कि मेरा निर्णय ठीक था। धृतराष्ट्र का शरीर ही नहीं, उसकी आत्मा भी दृष्टिहीन है। प्रजा के हित में तो उसे अस्थायी रूप से भी सिंहासन के निकट नहीं आने देना चाहिए था। वह मेरी ही भूल थी।···इसलिए उस भूल का प्रतिकार होना चाहिए; और पांडु के पुत्र युधिष्ठिर को तत्काल हस्तिनापुर का शासन सौंप दिया जाना चाहिए।" भीष्म ने रुककर कृष्ण की ओर देखा, "तुम मुझे बताओ

पुत्र ! क्या दृष्टिहीन राजा को प्रजा पर शासन करने का अधिकार है ?"

भीष्म को लगा, अपना द्वंद्व उन्होंने जैसे अपने भीतर से छील-छीलकर निकाला है और कृष्ण के सम्मुख डाल दिया है; किंतु मन के गह्वरों में स्थान-स्थान पर गोह के समान चिपकी हुई शंकाएँ कह रही थीं कि शायद अभी अपनी पूरी बात वे कह नहीं पाए हैं…

"तो अब चिंता की क्या बात है; कल तो युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक हो ही रहा है पितामह !" कृष्ण ने कहा, "उसके पश्चात उसे शीघ्रातिशीघ्र हस्तिनापुर के सम्राट् का अधिकार सौंप दीजिए।"

"तुम ठीक कह रहे हो।" भीष्म जैसे कृष्ण से नहीं, अपने-आपसे ही कह रहे थे, "किंतु मुझे लगता है कि युधिष्ठिर के युवराज बन जाने के पश्चात भी धृतराष्ट्र उसके लिए सिंहासन खाली नहीं करेगा।" उन्होंने कृष्ण की ओर देखा, "हस्तिनापुर के किसी एक घाट से गंगा के जल में यदि एक भांड दूध का मिल जाए, तो सागर तक का गंगाजल ही उसे आत्मसात नहीं कर लेगा, संपूर्ण महा-सागर के जल में भी वह दूध सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहेगा। वैसे ही इस समय, कुरु राजवंश के जीवन के प्रत्येक स्पंदन में, परिस्थितियों की जटिलता का यह विष व्याप्त है।…"

"तो इस परिवेश ने पितामह को उद्विग्न कर रखा है ?" कृष्ण की मोहिनी जैसे किसी अज्ञात गवाक्ष से भीष्म की चेतना में कूद गई थी और उसे अधिक से अधिक उद्घाटित होने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी।

"परिवेश के प्रभाव से मैं सामान्यतः उद्विग्न नहीं होता कृष्ण।" भीष्म बोले, "किंतु एक ओर कुरुओं के जीवन में घुलता यह विष मुझे आशंकित करता है; और दूसरी ओर मेरा अपना मन अपने कर्म की समीक्षा करता हुआ, मुझसे निरंतर पूछता रहता है कि मैंने अधर्म तो नहीं किया ? तब मेरा धर्म क्या था ? और आज क्या है ?" भीष्म की दृष्टि कृष्ण पर टिक गई, "मुझे लगता है कि युवराज्याभिषेक के पश्चात भी राज्याधिकारों को लेकर, हस्तिनापुर में बवंडर उठने वाला है। संभवतः उसे मुझे ही थामना पड़े।…किंतु इस समय तो मैं अपने मन के संशय से लड़ रहा हूँ।"

"युग-युगों का महान् योद्धा, अपने मन के संशय को पराजित नहीं कर पा रहा ?" कृष्ण ने कहा, "पितामह ! आप संशय के स्थान पर आस्था को क्यों अंगीकार नहीं करते ?"

"पुत्र ! उस आस्था को ही तो खोज रहा हूँ तुममें !"

कृष्ण खिलखिलाकर हँस पड़ा, "यह आस्था, आप अपने भीतर ही क्यों नहीं जगाते ! अपने प्रति इतना अविश्वास क्यों पितामह ?"

"संभवतः तुमसे चर्चा कर, मैं अपनी ही आस्था का आह्वान कर रहा हूँ।"

भीष्म बोले, "तुम बताओ, शासन करने का अधिकार किसका है—धृतराष्ट्र का ? युधिष्ठिर का ? अथवा दुर्योधन का ?"

कृष्ण गंभीर हो गया। भीष्म ने आश्चर्य से देखा, कैसे एक क्रीड़ाशील तरुण, क्षण-भर में ही, किसी सिद्ध ऋषि में परिणत हो गया।...उसका वास्तविक रूप कौन-सा है ?...

"मैं चिंतन की इस परिपाटी को ही स्वीकार नहीं करता पितामह ! इस समस्या पर, इस रूप में विचार ही नहीं होना चाहिए कि हस्तिनापुर पर शासन का अधिकार महाराज पांडु का था या धृतराष्ट्र का !"

"तो इस समस्या का समाधान कैसे हो पुत्र ?"

"मैं तो इस रूप में विचार करता हूँ कि किसको किस पर शासन करने का अधिकार है ?" कृष्ण ने कहा, "मेरी चेतना कहती है कि किसी को भी, किसी अन्य पर शासन करने का अधिकार नहीं है ।"

"किसी को भी नहीं ?" भीष्म चकित थे।

"हाँ पितामह ! प्रकृति के सम्मुख हम सब समान हैं। किसी को, किसी पर शासन करने का अधिकार नहीं है।"

भीष्म विस्मयपूर्वक कृष्ण को देखते रहे : क्या कह रहा है यह तरुण ! इसका अर्थ हुआ कि राजा कोई होगा ही नहीं। तो फिर राजा का पालन कौन करेगा ? आततायियों से प्रजा की रक्षा कौन करेगा ?

"किंतु मनुष्य को अपना विकास करना है; उसे अपनी कुप्रवृत्तियों से युद्ध करना है। उसे सद्वृत्तियों का पोषण करना है। इसलिए हमें मात्र स्वशासन का ही अधिकार है।"

"स्वशासन का ?"

"हाँ पितामह !" कृष्ण मुस्कराया, "अधिकार हमें स्वशासन का ही है; यह दूसरी बात है कि हम अपने 'स्व' का कितना विस्तार कर सकते हैं। परिवार का मुखिया अपने परिवार पर शासन करता है, क्योंकि वह पूर्ण परिवार उसके 'स्व' के अंतर्गत है। वह उनका भी उतना ही भरण-पोषण करता है, जितना कि अपना। उनकी भी उतनी ही रक्षा करता है, जितनी की अपनी। उनका भी उतना ही हित चाहता है, जितना कि अपना। इसीलिए उसे परिवार पर शासन का अधिकार है। इसी न्याय से गुरु को शिष्य पर शासन करने का अधिकार है। पति-पत्नी को अपनी क्षमताओं और भावनाओं के अनुसार एक-दूसरे पर शासन करने का अधिकार है।...आप अपने 'स्व' का विस्तार एक पूरे नगर, राज्य, देश समाज, जाति, यहाँ तक कि पूरी सृष्टि तक कर सकते हैं। किंतु जिससे आप अपने ही समान प्रेम नहीं करते, उस पर शासन करने का आपको कोई अधिकार नहीं है।"

"किंतु मैं तो अपने आस-पास 'स्व' का संकोच होते ही देख रहा हूँ।" भीष्म बोले, "विस्तार तो कोई कर ही नहीं रहा।"

"आप ठीक कहते हैं पितामह !" कृष्ण ने उत्तर दिया, "वस्तुतः मनुष्य तो है ही सृष्टि-रूप ! वह अपना संकोच न करे, तो सृष्टि का कोई कण, उसके 'स्व' से बाहर नहीं है। किंतु वह अपनी सीमित दृष्टि के कारण स्वयं को पहचानता नहीं और निरंतर संकुचन की क्रिया में पिसता चलता है। अपने प्रेम का वृत्त संकीर्ण करता है और स्वयं सक्रिय प्रयत्न करके, वह अपने आत्मीय जनों को 'स्व' की परिधि से बाहर धकेलता है, उन्हें पराया बनाता है। सार्वजनिक उद्यान में लगे आम के वृक्ष को वह, अपने संकुचित 'स्व' के कारण अपना नहीं मानता। इसलिए उस वृक्ष को, जो उद्यान में वर्षों तक जीवित रहकर मनुष्य को छाया, हरे पत्ते, मंजरी और रसाल जैसा फल देता रहता, काटकर काष्ठ के एक निष्प्राण खंड के रूप में अपना बनाकर, वह उसे मात्र चूल्हे का ईंधन बना लेता है। वह समझता है कि उसने कोई बड़ी उपलब्धि की है; वह यह नहीं समझता कि वह स्वयं अपने-आपको तथा सारी मानवता को वंचित कर रहा है। इसे वह अपनी बुद्धिमानी समझता है पितामह ! है न प्रकृति की विडंबना कि सबसे मूर्ख व्यक्ति स्वयं को सबसे अधिक बुद्धिमान समझता है; और कभी-कभी अन्य लोग भी उसकी बुद्धि को मान्यता देने लगते हैं।" कृष्ण ने रुककर भीष्म को देखा, "मैं तो कहता हूँ पितामह ! जिस व्यक्ति, संगठन, मत और विचार ने मानवता में दरारें डाली हैं, उनका विभाजन किया है, उसके वर्ग बनाए हैं, उसने मानव की विराटता के प्रति अपराध किया है। मनुष्य को तुच्छ बनाया है; उसके हृदय को संकीर्ण किया है। गंगा जैसी देव-सरिता को उसके जलकणों के आधार पर बाँट देने वाला, गंगा का हितैषी नहीं हो सकता। नंदन कानन को एक-एक वृक्ष अथवा पौधे के रूप में प्रस्तुत करने वाला, नंदन कानन का सौंदर्य तो नहीं बढ़ा सकता न ! महान् वे ही लोग हैं पितामह ! जिन्होंने मानवता के बीच बनाई गई कृत्रिम दीवारें तोड़ी हैं, उसके मध्य की खाइयाँ पाटी हैं। वे वास्तविक मानव हैं, सृष्टि के तुल्य रूप, प्रकृति के समान विराट !"

और सहसा कृष्ण रुककर मुस्कराया, "अपने इस वाचाल बालक को क्षमा कीजिएगा पितामह ! प्रणाम करने आया था और···बोलने लगता हूँ तो भूल जाता हूँ कि जिससे यह सब कह रहा हूँ, वे स्वयं हमारे पितामह हैं—सर्वज्ञान संपन्न ! युग-मेधा के मूर्तिमान पुंज ! अन्यथा, वे क्यों अपने कुल को जोड़ रखने के लिए इतना कष्ट झेल रहे होते···" वह उठ खड़ा हुआ, "चलता हूँ। आपकी सुविधा देखकर फिर कभी आऊँगा।"

कृष्ण के संकेत से बलराम भी उठ खड़ा हुआ। दोनों ने झुककर भीष्म को प्रणाम किया; और कक्ष से बाहर निकल गए।

बाहर अश्वों की हिनहिनाहट और रथ-चक्रों के घर्घर स्वर से जैसे भीष्म की चेतना लौटी···कृष्ण चला गया था।···वह उनके सामने ही तो उठा था, उसने कहा भी था कि वह जा रहा है; किंतु भीष्म मूर्ति सरीखे बैठे रहे, जैसे कृष्ण की इच्छा के बाहर कुछ हो ही नही सकता। नही तो क्या वे उसे थोड़ी देर और रुकने के लिए न कहते। उसकी बाँह पकड़कर बैठा न लेते।···

कृष्ण अब कक्ष में नही था। भीष्म को लग रहा था कि थोड़ी देर पहले जैसे कक्ष में मलय समीर का झोंका आया था, जो उनके मन, शरीर, प्राण—सबको अपने स्पर्श से नीरोग ही नही कर गया, उन सबमें अपनी स्थायी सुगंध भी छोड़ गया था।···किंतु मलय समीर को न तो कोई पकड़कर ला सकता है, न बाँधकर रख सकता है; और न जाने से रोक ही सकता है। वह तो अपनी इच्छा से ही आता है, अपनी इच्छा-भर ठहरता है, और अपनी इच्छा से चला जाता है···

तभी भीष्म चौंके! उन्होंने कृष्ण से एक प्रश्न किया था। उसका उत्तर उसने नही दिया। किन्ही और बातों में उलझाकर चला गया। विश्व-मानवता की बड़ी-बड़ी बातों में उनका छोटा-सा पारिवारिक प्रश्न खो गया···

किंतु दूसरे ही क्षण भीष्म को लगा—नहीं! शायद कृष्ण सारा समय उन्हीं के प्रश्न का उत्तर दे रहा था।···हमें केवल स्वशासन का ही अधिकार है। हम जिनसे प्रेम करते हैं, उन्ही पर शासन का अधिकार है हमको।··· धृतराष्ट्र का 'स्व' तो शायद स्वयं अपने-आप तथा अपने पुत्रों तक ही सीमित है। वह दुर्योधन से प्रेम करता है। संभवतः अपने अन्य पुत्रों तथा उनके मित्रों से भी प्रेम करता हो। तो उसे उन्ही पर शासन करने का अधिकार है। किंतु उन पर तो वह शासन करता ही नहीं; उल्टे वे ही उस पर शासन कर रहे है। क्यों? शायद इसलिए कि उसके मन में प्रेम नही आसक्ति है। ठीक कहता है कृष्ण कि यह तो मोह है। उस मोहग्रस्त धृतराष्ट्र का 'स्व' सीमित ही तो होगा। वह तो अपने भ्रातुष्पुत्रों तक से प्रेम नही कर पाया। वह कुरु-राज्य की प्रजा से क्या प्रेम करेगा। वह उन पर शासन करने का प्रयत्न अवश्य कर रहा है और करता रहेगा।···कृष्ण ने ठीक ही कहा है, धृतराष्ट्र जैसे दृष्टिहीन, बुद्धिशून्य लोग, अपने भंडार में पड़े ईंधन-रूप, काठ के लट्ठे से ही प्रेम कर सकते हैं, उद्यान मे हँसते-मुस्कराते आम्र-वृक्ष से नहीं! प्रेम क्या है, वे नहीं जानते! उनकी बुद्धि कभी मोह से आगे बढ़ी ही नही।···यदि धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठा रहा तो यह सारा आम्र-कानन, ईंधन के भंडार मे परिणत हो जाएगा···

ओह! कृष्ण उनके प्रश्न का कितना सटीक उत्तर दे गया था!

21

एकांत देखकर उद्धव ने कृष्ण से कहा, "मथुरा से गुप्तचर आया है। कुछ अति आवश्यक सूचनाएँ देना चाहता है।"

कृष्ण सावधान हो गया, "क्या समाचार है ? तुम्हें कुछ नहीं बताया ?"

"नहीं !" उद्धव बोला, "वह केवल तुम्हें ही सूचनाएँ देगा।"

"अच्छी बात है !" कृष्ण कुछ चिंतनलीन स्वर में बोला, "बलराम भैया कहाँ हैं ?"

"वे तो भीम को गदा-युद्ध सिखा रहे हैं। आजकल उनका अधिकांश समय भीम के साथ ही व्यतीत हो रहा है। भीम उनसे मल्लयुद्ध और गदा-युद्ध, दोनों ही सीख रहा है।"

"दुर्योधन ने प्रयत्न नहीं किया, भैया से गदा-युद्ध सीखने का ?"

"नहीं ! मुझे भी कुछ आश्चर्य ही हुआ !" उद्धव बोला, "बलराम भैया हस्तिनापुर में आए हों और गदा-प्रेमी दुर्योधन, उनसे कुछ न सीखना चाहे।..."

"उसने स्वयं ही मान लिया होगा कि भीम के मातुल-पुत्र, भीम से द्वेष रखने वाले दुर्योधन को गदा क्यों सिखाएँगे !" कृष्ण रुका, "अर्जुन कहाँ है ?"

"युधिष्ठिर और अर्जुन कदाचित विदुर काका से मिलने गए हैं और नकुल-सहदेव राजसभा में समारोह की तैयारी की देख-रेख कर रहे हैं।"

"तो आओ ! बुआ से कह आओ कि हम तनिक घूमने जा रहे हैं।"

जब तक उद्धव, कुंती को सूचना देकर आया, कृष्ण ने वाहुक से रथ तैयार करवा लिया था। वाहुक को विश्राम करने को कह, अश्वों की वल्गा उसने स्वयं अपने हाथ में ले ली थी। उद्धव को देखते ही कृष्ण ने उसे रथ पर आने का संकेत किया।

उद्धव रथारूढ़ नहीं हुआ। वह कृष्ण के बहुत निकट आकर धीरे से बोला, "वह तुमसे सर्वथा एकांत में बात करना चाहता है।"

"तो भी तुम आओ !"

उद्धव के रथ में आते ही, कृष्ण ने रथ दौड़ा दिया।

नगर से बाहर निकल, गंगा-तट पर एक निश्चित स्थान पर कृष्ण ने रथ रोका।

"आओ ! थोड़ी देर जल-क्रीड़ा करें।"

कृष्ण ने गंगा में छलांग लगाई और जैसे उद्धव को पछाड़ने के प्रयत्न में तीव्र गति से तैरता हुआ, दूसरे तट पर जा पहुँचा। उसके तट पर पहुँचते ही एक संन्यासी उसके निकट आकर, जल में हाथ-पाँव धोने लगा।

"क्या समाचार है ?" कृष्ण ने पूछा।

"जरासंध का अभियान आरंभ हो गया है। उसकी सेना छोटी-छोटी टुकड़ियों में चल पड़ी है। वह मार्ग-भर में अपनी चौकियां स्थापित करेगी। अपने मित्र राजाओं को भी उसने युद्ध का निमंत्रण दिया है। पंचालराज द्रुपद के पास भी उसने दूत भेजा है, जो उनसे मैत्री-संधि की चर्चा के साथ-साथ यह प्रार्थना भी करेगा कि मथुरा की ओर जाती हुई उसकी सेना को पंचालराज अपने राज्य में से निकलने का मार्ग दें और वासुदेव !···"

"बोलो !"

"लगता है कि यह सब ऊपर का आडंबर मात्र ही है। इस बार उसकी योजना कुछ और है।" सन्यासी बोला, "उसका एक दूत कालयवन की राजसभा में भी गया है।···"

कृष्ण के माथे पर चिंता की रेखाएं उभरी, "तो जरासंध बर्बर राक्षसों को अपने व्यूह में सम्मिलित करना चाहता है।···" उसने संन्यासी को देखा, "और कुछ ?"

"नहीं !"

"तो तुम वापस मथुरा जाओ। ये सूचनाएं मथुरा में प्रचारित न हों। सब कुछ यथापूर्व ही चलता रहे, यादव अपने युद्धाभ्यास में लगे रहें। मथुरा की सुरक्षा का प्रबंध चौकस रहे। युद्धक नौकाएं तैयार रखी जाएं। रथों की प्रतियोगिताएं होती रहें। अन्न का भंडार बढ़ाया जाए। गोधन को बहुत दूर न भेजा जाए।···"

तभी उद्धव गंगा से बाहर निकला, "मैं तो बहुत ही पिछड़ गया गोविंद !"

"तुम मथुरा जाना चाहोगे ?" कृष्ण ने पूछा।

उद्धव समझ गया था कि गुप्तचर एकांत में जो सूचनाएं देना चाहता था, वह दे चुका था; और अब कदाचित कृष्ण उसे किसी कार्यवश मथुरा भेजना चाहता है।

"कोई आवश्यक कार्य है क्या ?" उद्धव बोला, "यदि मैं अकस्मात् ही चला गया, तो बुआ क्या सोचेंगी !"

"चलो, मत जाओ।" कृष्ण बोला, "मैंने तो इसलिए पूछा था कि यह महामति मथुरा लौट रहा है; तुम्हें यदि घर की याद आ रही हो, तो तुम भी चले जाओ। न जाना चाहो तो युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक का उत्सव देखो, भीम का गदा-प्रशिक्षण देखो, या विदुर काका से ज्ञान-चर्चा करो।"

उद्धव हंसा ! या तो यह कृष्ण का परिहास मात्र था, अथवा उसने अपनी योजना बदल दी थी, या फिर यह महामति के लिए संकेत था कि गंभीर राजनीतिक वार्तालाप समाप्त हुआ।···उद्धव ने जब-जब सोचा था, उसका आश्चर्य बढ़ता ही गया था : कैसे यह कृष्ण क्षण-भर में स्वयं को एक मनःस्थिति में से

निकालकर, सर्वथा भिन्न या विपरीत मन:स्थिति में डाल लेता है। वह जिस मन:स्थिति में रहना चाहता है, उसी में बना रहता है। कोई भाव, कोई परिस्थिति, कोई सूचना, उसे उस मन:स्थिति में से निकाल नहीं सकती···

"अच्छा महामति !" कृष्ण ने संन्यासी-रूपी गुप्तचर को हाथ जोड़ प्रणाम किया और महामति ने संन्यासी के ही समान, आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ उठा दिया।

कृष्ण ने पुन: गंगा में छलांग लगा दी, "उद्धव ! तुम बहुत शिथिल हो रहे हो। लगता है कि आजकल तुम दर्शनशास्त्र अधिक पढ़ रहे हो और जलक्रीड़ा को बहुत कम समय दे रहे हो। अभी शरीर शिथिल करने का समय नहीं आया है सखा !"

"क्या कोई गंभीर समाचार आया है ?" उद्धव ने पूछा।

"समाचार तो गंभीर ही होते हैं; किंतु चिंता की कोई बात नहीं है। बस यही ध्यान रखना कि युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के पश्चात हम अधिक देर तक हस्तिनापुर में रुक नहीं सकते। यह न हो कि किसी के प्रेम-भरे आग्रह पर तुम यहां अधिक रुकने का संकल्प कर लो, या बलराम भैया को भीम के अतिरिक्त भी शिष्य मिल जाएं; और वे यहां अपना आश्रम ही स्थापित कर लें।" कृष्ण ने उसकी ओर देखा, "बस यह समझ लो कि युधिष्ठिर के युवराज्याभिषेक के तत्काल पश्चात हमारे रथ मथुरा की ओर दौड़ पड़ेंगे, किंतु न हस्तिनापुर में किसी को आभास हो कि हमें मथुरा पहुंचने की शीघ्रता है; और न मथुरा की ओर जाने वालों को यह अनुमान हो कि वहां पहुंचते ही हमें कार्य में जुट जाना है।"

"पिताजी !" बिना किसी सूचना और भूमिका के दुर्योधन आकर धृतराष्ट्र के सम्मुख खड़ा हो गया।

धृतराष्ट्र राजसभा में जाने की तैयारी कर रहा था। दासियों ने उसका प्रसाधन कर, वस्त्र पहना, उसे जाने के लिए तैयार कर दिया था। किंतु उसका अपना मन ही अभी प्रस्तुत नहीं हो पाया था। राजसभा में जाना उसे कभी भी इतना कठिन नहीं लगा था, जितना कि आज लग रहा था।···

उस दिन उसने अक्रूर की योजनाओं-प्रतियोजनाओं में बंधकर, स्वयं ही युधिष्ठिर के युवराजत्व की घोषणा कर दी थी और मान लिया था कि जिन तर्कों में बंधकर, उसने वह घोषणा की थी, वे तर्क जैसे संसार का अंतिम सत्य थे। वे जैसे उसके अनुमान नहीं थे, विधाता के लेख थे। कई दिनों तक वह बहुत प्रसन्न रहा था कि उसने युधिष्ठिर को उसके ही जाल में बंदी कर दिया था !··· किंतु जैसे-जैसे अभिषेक का दिन निकट आता गया था, उसका मन, उसके अपने

तर्कों और अनुमानों को अमान्य करता गया था, और उसे लगने लगा था कि वह सब यादवों की एक चाल थी, जिसमें वह आकस्मिक रूप से फँस गया था। वैसा कुछ भी नहीं होने जा रहा था, जिसका भय अक्रूर ने दिखाया था। सब कुछ ऐसा ही रहेगा, जैसा कि है। हस्तिनापुर पर किसी का आक्रमण नहीं होगा। युधिष्ठिर निश्चित होकर राज्य करेगा, और पांडव हस्तिनापुर की इस अथाह संपत्ति का भोग करेंगे।···

और आज प्रातः से ही उसे लग रहा था कि वह युधिष्ठिर के मस्तक पर किरीट रखने नहीं जा रहा, वह दुर्योधन के कंठ में यम-पाश डालने जा रहा है···

"क्या बात है पुत्र ?" धृतराष्ट्र अपने पुत्र के स्वर के आवेश को पहचानता था। वह जानता था कि दुर्योधन के कंठ से ऐसा स्वर तभी निकलता है, जब वह कोई अत्यंत बीहड़ कर्म करने का दृढ़ संकल्प कर चुका होता है।

"रंगशाला में आपने कर्ण का अर्जुन से द्वंद्व-युद्ध क्यों नहीं होने दिया ?"

"उसे मैंने नहीं, कृपाचार्य ने रोका था पुत्र !"

"आप आचार्य की इच्छा के विरुद्ध भी तो अनुमति दे सकते थे।"

"नहीं ! वह अनुचित होता !"

"तो फिर आज यह द्वंद्व-युद्ध हो जाने दीजिए।"

"क्या अभिप्राय है तुम्हारा ?"

"पिताजी !" दुर्योधन के स्वर में, श्मशान में विलाप करती प्रेतात्माओं का चीत्कार था, "मैं युधिष्ठिर का युवराज्याभिषेक नहीं देख सकता।"

"तो ?"

"तो हमें अनुमति दीजिए कि राजसभा में आने से पूर्व ही हम पांडवों पर आक्रमण कर उन्हें समाप्त कर दें।"

धृतराष्ट्र का मन कैसा तो कातर हो रहा था : कैसा था उसके पुत्र का भाग्य ! जो अपने शैशव से एक ही खिलौना बार-बार माँग रहा था; और पिता होकर भी वह अपनी मुट्ठी में बंद खिलौना अपने पुत्र को दे नहीं पा रहा था।···कभी-कभी धृतराष्ट्र को लगता था कि उसने अपनी निराशा से कम पीड़ा पाई है; पुत्र के माध्यम से वह अधिक यातना सहता रहा है।···अपनी पीड़ा को तो उसने कभी सहन किया था, कभी उसकी उपेक्षा की थी, कभी उससे संघर्ष किया था, और कभी उसे बहला लिया था··· किंतु दुर्योधन के माध्यम से सही गई यह पीड़ा, इसलिए भी अधिक कष्टप्रद हो गई थी; क्योंकि उसे तो बस असहाय होकर देखा और सहन ही किया जा सकता था। उसे कम करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जा सकता था···

"दुर्योधन !" धृतराष्ट्र ने अपनी कातरता से उबरकर अत्यंत दृढ़ स्वर में कहा, "तुम अपनी और अपने मित्रों की सामूहिक हत्या करवाना चाहते हो ?"

"सामूहिक हत्या से क्या अभिप्राय है आपका ? हमारे पास शस्त्र नहीं हैं, या हमारी भुजाओं में बल नहीं है ? हम, सबके देखते-देखते, उन्हें समाप्त कर देंगे।" दुर्योधन की उत्तेजना का अंत नहीं था।

"मेरी हार्दिक इच्छा है कि ऐसा हो सकता; किंतु वह संभव नहीं है। कृष्ण, बलराम, युयुधान, सात्यकी, उद्धव···सब तो उनके पक्ष में खड़े हैं। वे सब मिलकर तुम लोगों का वध कर देंगे।···कोई उन्हें दोष भी नहीं दे सकेगा; क्योंकि आक्रमण तुम लोग करोगे। और पुत्र···" धृतराष्ट्र का स्वर कुछ कोमल हुआ, "शत्रु को प्रत्यक्ष मारने में व्यक्ति को यश मिलता है; बंधुओं का प्रत्यक्ष नाश नहीं किया जाता···।"

"वे हमारे बंधु नहीं हैं। शत्रु हैं हमारे।"

"संसार उन्हें तुम्हारा बंधु मानता है; वे मेरे भाई के पुत्र हैं।"

"वे पांडु के पुत्र नहीं हैं।" दुर्योधन जैसे विक्षिप्त-सा हो गया था, "वे कुंती और माद्री के पुत्र हैं। वे सम्राट् विचित्रवीर्य के वंशज नहीं हैं।"

"सावधान !" धृतराष्ट्र अकस्मात् इतने आवेश में आ गया कि वह स्वयं ही काँप-काँप गया, "सावधान ! ऐसी बात अपनी जिह्वा पर कभी मत लाना··· और ··और यदि हो सके तो इसे अपने मन और स्मृति से भी निकालकर, कहीं दूर फेंक आना !"

दुर्योधन अपनी उस विक्षिप्तावस्था में भी अपने पिता के क्रोध को देखकर स्तब्ध रह गया। उसने ऐसा क्या कह दिया कि पिता की यह स्थिति हो गई ? किन्तु पूछने का उसका साहस नहीं हुआ।

"इस तर्क से चलोगे तो मैं भी विचित्रवीर्य का नहीं, अंबिका का ही पुत्र हूँ··· तो तुम भी सम्राट् विचित्रवीर्य के वंशज नहीं हो।"

और सहसा दुर्योधन का सारा आवेश लुप्त हो गया। वह अत्यंत कातर हो उठा। प्रयत्न करने पर भी वह अपने अश्रु रोक नहीं पाया, "मैं क्या करूँ फिर ? मैं क्या करूँ ?"

धृतराष्ट्र की समझ में नहीं आ रहा था कि वह पहले स्वयं को शांत करे, अथवा पुत्र को सांत्वना दे ! वह चुपचाप बैठा अपनी दृष्टिहीन आँखों से शून्य को घूरता रहा। और फिर सहसा बोला, "अभी मैं जीवित बैठा हूँ पुत्र ! सत्ता मेरे हाथ में है। मैं हस्तिनापुर का राजा हूँ। अभी से निराश होकर आत्महत्या करने की आवश्यकता नहीं है।···"

"तो फिर पिताजी ! मुझे अनुमति दीजिए कि मैं हस्तिनापुर छोड़कर कहीं चला जाऊँ।" दुर्योधन ने नया प्रस्ताव रखा।

"नहीं !" धृतराष्ट्र का स्वर आदेशात्मक हो गया, "तुम मेरे साथ राजसभा में चलो; और देखो कि हस्तिनापुर छोड़कर कौन जाता है !"

दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अपने पिता को देखता का देखता ही रह गया। उसका यह भीरु और दुर्बल पिता कभी-कभी बहुत दृढ़ भी हो जाया करता था।...

अतिथियों के कारण आज राजसभा में उपस्थिति बहुत अधिक थी। वैसे भी राजनीतिक विचार-विमर्श का वातावरण न होकर, उत्सवी परिवेश के कारण यह राजसभा से अधिक, कोई समारोह-स्थल ही प्रतीत हो रही थी।

मुहूर्त देखकर कृपाचार्य की देख-रेख में पुरोहितों ने मंत्र-पाठ आरंभ किया। युधिष्ठिर को सिंहासन पर बैठाकर, अनेक नदियों और तीर्थों के जल से उसका अभिषेक किया गया; और स्वयं धृतराष्ट्र ने अपने हाथों से युधिष्ठिर के सिर पर किरीट रखा।

युधिष्ठिर ने गुरुजनों के चरण-स्पर्श कर, उनकी वंदना की और उनसे आशीर्वाद पाकर अपने स्थान पर जा बैठा।

"युवराज!" विदुर ने उल्लसित होकर उसे संबोधित किया, "राजसभा तथा प्रजा के प्रतिनिधियों के सम्मुख अपनी प्रतिज्ञा प्रकाशित करें, ताकि प्रजा आश्वस्त हो सके।"

युधिष्ठिर ने क्षण-भर के लिए विदुर को देखा और फिर उसकी दृष्टि कृष्ण पर टिक गई, "मेरा लक्ष्य कुरु शासित प्रदेश में धर्म-राज्य की स्थापना होगा। हमारी नीति होगी—आनृशंसता! हम किसी के भी प्रति नृशंस नहीं होंगे। वर्ण, जाति अथवा वर्ग-भेद के कारण किसी के अधिकार अथवा भावनाओं का निरादर नहीं होगा। मैं प्रत्येक वर्ण तथा वर्ग में से अपने लिए मंत्रियों की नियुक्ति करूँगा; और उनके प्रत्येक धर्म-सम्मत परामर्श का पूर्ण आदर करूँगा। प्रजा को न्याय, सम्मान, सुख-सुविधा तथा सुरक्षा प्रदान करना मेरा राजनीतिक दायित्व होगा। मेरे राजदंड ग्रहण करने पर भी यदि प्रजा को कोई दुख हो, तो मुझे विधाता रौरव नरक का दंड दें।"

युधिष्ठिर के मौन होते ही सभा में उसका जयजयकार गूंजा; और अभी लोगों की हर्ष-ध्वनि शांत भी नहीं हुई थी कि धृतराष्ट्र ने अपना दायाँ हाथ उठाकर शांति का संकेत किया तथा उतावले स्वर में बोला, "युधिष्ठिर को युवराज पद पर नियुक्त करने के साथ ही आज मैं कुछ और घोषणाएँ भी करना चाहता हूँ।"

सभा में शांति छा गई।

"राजकुमारों की शस्त्र-शिक्षा पूर्ण हो चुकी, किंतु मैं यह नहीं समझता कि हस्तिनापुर में आचार्य द्रोण का कार्य सम्पन्न हो गया है। न ही उनकी युद्धशाला

की उपयोगिता ही समाप्त हुई है। मेरी इच्छा है कि आचार्य द्रोण की युद्धशाला अब मात्र गुरुकुल अथवा राजकुमारों के शस्त्राभ्यास का ही स्थल न रहे। वह कुरु सेनाओं का प्रशिक्षण तथा संचालन-केंद्र हो। मैं आचार्य को आज से कुरु सेनाओं और सेनापतियों का संचालक नियुक्त करता हूँ···।"

सबने आश्चर्य से धृतराष्ट्र की ओर देखा : इसका क्या अर्थ ? भीष्म, विदुर, बाह्लीक, सोमदत्त···स्वयं द्रोण भी चकित थे। राजगुरु केवल राजकुमारों के ही प्रशिक्षक हुआ करते थे। स्कंधावारों के निर्माण का कार्य राजगुरु नहीं, राज पुरुष किया करते थे।···यह आचार्य का महत्त्व बढ़ाने का प्रयत्न था, अथवा किसी के अधिकार-क्षेत्र को सीमित करने का ? अभी तक तो, कुल-वृद्ध होने के नाते, भीष्म ही सेनाओं और सेनापतियों का संचालन करते थे। क्या धृतराष्ट्र अपने एक ही आदेश से द्रोण की शक्ति बढ़ाकर, उन्हें अपने पक्ष में करने; और भीष्म को अपेक्षाकृत निर्बल करने का प्रयत्न कर रहा था; अथवा वह युवराज को ही अधिकारशून्य करना चाहता था ?

"यह क्या है कृष्ण ?" अर्जुन ने जैसे अपना विस्मय प्रकट किया।

"दृष्टिहीन की दूर दृष्टि !" कृष्ण मुस्कराया, "पुत्र ने तुम लोगों के विरुद्ध कर्ण का बल प्राप्त किया था, पिता उसी रूप में आचार्य का उपयोग करना चाहता है। संभवतः आचार्य की निष्ठा क्रय की जा रही है।"

"मुझे प्रसन्नता है कि एक लंबे अंतराल के पश्चात हस्तिनापुर में युवराज का अभिषेक हुआ है।" धृतराष्ट्र ने पुनः कहना आरंभ किया, "आज तक हस्तिनापुर का राजा दृष्टिहीन और असमर्थ था; और युवराज था ही नहीं। इसलिए हम अपने पूर्वजों की कीर्ति पर संतोष किए, तेजहीन से बैठे रहे। अब हस्तिनापुर के तेज में वृद्धि होगी, राजकोश की समृद्धि होगी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि युवराज युधिष्ठिर अपने पूर्वजों के गौरव में वृद्धि करेंगे। मेरा आशीर्वाद उनके साथ है।"

कृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा, "तुम्हारे पितृव्य ने सेना सम्बन्धी अधिकार आचार्य को दे दिए और दायित्व युवराज के स्कंधों पर डाल दिए।"

"हमारे पितृव्य ऐसे चमत्कार करते ही रहते हैं।" अर्जुन धीरे से बोला।

धृतराष्ट्र राजसिंहासन से उठकर खड़ा हो गया। यह सभा विसर्जित किए जाने का संकेत था।

"ऋषि कृष्ण द्वैपायन कहीं दिखाई नहीं दिए।" सभागार से बाहर निकलते हुए, उद्धव ने अर्जुन से पूछा, "क्या उन्हें आमंत्रित नहीं किया गया था ?"

"आमंत्रित तो किया गया था !" अर्जुन ने उत्तर दिया, "किंतु वे आए नहीं।"

"क्यों ? उन्हें युधिष्ठिर के युवराज बनने की प्रसन्नता नहीं हुई या वे राज-परिवार से अपना संबंध नहीं मानते ?"

"नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है।" सहदेव ने वार्तालाप में सम्मिलित होते हुए कहा, "उन्होंने युवराज को अपना आशीर्वाद भिजवाया है और अपने न आने के विषय में कहलवाया है कि 'साधना के लिए समारोह विघ्न-स्वरूप होते हैं। इस समारोह में मेरी कोई उपयोगिता नहीं है। अतः अपनी साधना का त्याग नहीं कर रहा। जब मेरी आवश्यकता होगी, आ जाऊँगा।' जब संदेशवाहक ने पूछा, 'क्या आपको इस समारोह से प्रसन्नता नहीं हुई ?' तो उन्होंने उत्तर दिया, 'उत्सवों और समारोहों की प्रसन्नता राजाओं के लिए होती है, ऋषि की प्रसन्नता तो 'सत्व' की वृद्धि में है।' संदेशवाहक ने पूछा, 'क्या राजकार्य से ऋषि का कोई संबंध नहीं है ?' तो उन्होंने उत्तर दिया, 'ऋषि का संबंध जन-कार्य से है; राज-कार्य से नहीं। जन-कार्य की अपेक्षा होगी तो ऋषि राजसभा में भी जाएगा और राजप्रासाद में भी; अन्यथा ऋषि का सुख अपने स्थान में ही है।' "

"मैंने सोचा था कि शायद यहाँ उनसे साक्षात्कार हो जाए।" उद्धव के स्वर में अप्राप्ति का भाव था।

"जन-कार्य में लगो," कृष्ण ने कौतुक के साथ कहा, "कहीं-न-कहीं ऋषि से साक्षात्कार हो ही जाएगा !"

"तुम्हारे मातुल मद्रराज शल्य भी दिखाई नहीं दिए !" सात्यकी बोला।

"आमंत्रित तो उन्हें भी किया गया था !" उत्तर नकुल ने दिया, "किंतु या तो उन्हें हमसे कोई मोह नहीं है, अथवा वे किसी महत्वपूर्ण कार्य में व्यस्त हैं।"

"वे जरासंध के सैन्य-अभियान में सहायता करने में व्यस्त हैं !" कृष्ण मुस्करा रहा था।

भीष्म राजसभा से लौटकर अभी थोड़ा विश्राम भी नहीं कर पाए थे कि द्वारपाल ने युवराज युधिष्ठिर के आने का समाचार दिया।

भीष्म को प्रसन्नता के साथ-साथ आश्चर्य भी हुआ। लगता है, कि राजसभा से निकलकर युधिष्ठिर सीधा इधर ही आ गया है।

"आओ वत्स !" उन्होंने उसका स्वागत किया, "बैठो !"

"पितामह !" युधिष्ठिर ने उनके चरणों का स्पर्श किया, "मुझे आशीर्वाद दें, मैं धर्म से कभी पीछे न हटूं !"

"इस पृथ्वी पर तुम्हें छोड़कर धर्म को दूसरा निवास ही कहाँ मिलेगा पुत्र !" भीष्म बोले, 'आशीर्वाद तो बड़ा साधारण शब्द है। आज मेरे रोम-रोम से जैसे कोई सूक्ष्म प्रेरणा निकल-निकलकर तुम्हारी ओर प्रवाहित हो रही है। मेरा हृदय,

मेरी आत्मा, मेरा धर्म, मेरी कामनाएँ—सब तुम्हारी ही ओर प्रवृत्त हैं पुत्र ! तुम्हें कैसे बताऊँ कि आज मैं कितना प्रसन्न हूँ।" भीष्म की आँखें सजल हो उठीं, "मेरी वर्षों की साध आज पूरी हुई है। आज मैं पूर्णकाम हुआ हूँ !"...

पितामह की गद्‌गद स्थिति देखकर युधिष्ठिर कुछ कह नहीं पाया। बस अवाक् उन्हें देखता रह गया।

"संसार में अधिकार प्राप्त करना बहुत कठिन है पुत्र !" भीष्म ने स्वयं को सँभालकर स्वतः ही कहा, "आधिपत्य जमाने वाली शक्तियाँ इतनी अधिक हैं इस संसार में कि चारों ओर केवल अधिग्रहण ही है, अधिकार नहीं !..."

युधिष्ठिर ने चौंककर भीष्म की ओर देखा : क्या पितामह आज अपने अतीत पर दृष्टिपात कर रहे हैं ?

किंतु भीष्म ने उसे अधिक सोचने नहीं दिया। वे बोले, "तुम्हें आज अपना अधिकार मिला है, यह हस्तिनापुर की प्रजा का सौभाग्य है। किंतु इसे बनाए रखना कठिन होता है पुत्र ! बहुत कठिन !"

"अब क्या कठिनाई है पितामह ?" युधिष्ठिर ने एक अत्यंत अबोध बालक की मुद्रा में पूछा।

"कठिनाई !" एक शब्द कहकर भीष्म जैसे आत्मलीन हो गए; और फिर स्वयं ही सजग होकर बोले, "आधिपत्य और अधिग्रहण में भाग बाँटने के लिए अनेक स्वार्थी सहायक मिल जाते हैं; किंतु अधिकार तो सत्य पक्ष का नाम है पुत्र ! वह तो धर्म का दूसरा रूप है। उसका प्रयोग अन्याय और अत्याचार के रूप में नहीं होता। इसलिए वह कर्तव्य बन जाता है। समझ रहे हो पुत्र !" उन्होंने युधिष्ठिर की ओर देखा, "तुम्हारा अधिकार असहाय, पीड़ित, दमित तथा शोषित प्रजा का कवच बन जाएगा। तुम्हारा कर्तव्य होगा कि तुम उनकी रक्षा करो, उनका पालन करो।..."

"तो इसमें आप संशय न करें पितामह !" युधिष्ठिर बोला, "आप आशीर्वाद दें कि मेरा अधिकार, मुझे अपने कर्तव्य के रूप में ही स्मरण रहे।"

"मुझे संशय तुम्हारी ओर से नहीं है पुत्र !" भीष्म बोले, "संशय मुझे उन लोगों की ओर से है, जो प्रजा को अपना ग्रास समझ, उसका भक्षण करना चाहते हैं। अधिकार और अधिग्रहण में भयंकर वैर है पुत्र ! अधिग्रहण की शक्तियाँ क्यों चाहेंगी कि तुम्हारा अधिकार, उनका मार्ग रोके ! वे सब तुम्हारे विरुद्ध संगठित होंगे।"

"तो कठिनाई क्या है पितामह !" युधिष्ठिर बोला, "हम भी संगठित हो सकते हैं।"

"हो सको तो अच्छा है।" भीष्म बोले, "किंतु आज तक देखा यही गया है कि अनधिकार ही संगठित होता है। अधिकार तो सदा ही एकाकी रह जाता है।"

"क्यों पितामह ?"

"क्योंकि अधिकार जानता है कि वह स्वामी नहीं, मात्र रक्षक है। मन के लोभ को नियंत्रित कर रक्षक तथा पालक बनना बहुत कठिन होता है पुत्र ! लोभी मन स्वामी बन जाना चाहता है, ताकि वह प्रजा का भोग कर सके।..."

"मैं प्रयत्न करूंगा पितामह ! कि मैं 'अधिकार' का वास्तविक रूप ही ग्रहण करूं। मैं प्रजा का रक्षक बनूं। उसकी समृद्धि में अपनी समृद्धि की पहचान प्रजा के सर्वांगीण विकास का मार्ग चुनूं ! प्रजा को वंचित कर, अपनी समृद्धि की अट्टालिका का निर्माण न करूं।"

"विधाता तुम्हारे शब्दों को कर्म में परिणत करे।" भीष्म ने अपना हाथ, युधिष्ठिर के मस्तक पर रख दिया।

कक्ष से निकलकर युधिष्ठिर बाहर चला गया और भीष्म जैसे आत्मलीन-से खड़े सोचते ही रह गए : क्या उनके शब्द, कृष्ण की बातों की ही प्रतिध्वनि मात्र नहीं थे ?...

□□□